मुद्रा की रूपरेखा

(An Outline of Money)

सूची

प्रकाशकीय	...	...	॥—
अंग्रेजी संस्करण की भूमिका	...	...	॥≡
द्वितीय संस्करण	...	...	॥≡
प्रथम संस्करण	...	...	॥≠
१. मुद्रा की परिभाषा	...	...	१
रुपये का आविष्कार	...	...	१
बहुमूल्य धातुएँ तथा सिक्के	...	...	५
कागजी मुद्रा	...	...	१२
रुपया क्या है ?	...	...	२५
२. बैंक	...	...	२८
बैंकों की प्रकृति	...	...	२८
मुद्रा का सर्जन	...	...	३४
तलपट	...	...	४४
केन्द्रीय बैंक	...	...	५५
केन्द्रीय बैंक के विस्तार का हाल	...	...	७६
मुद्रा तथा मुद्रा-तुल्य : मुद्रा-बाजार	...	...	८४
बैंक क्या है ?	...	...	१००
३. मुद्रा का मूल्य	...	...	१०७
मूल्य-स्तर	...	...	१०७
मूल्य में घट-बढ़	...	...	११५
व्यवसाय-चक्र	...	...	१२५
स्फीति और विस्फीति	...	...	१३८

४. मुद्रा का परिमाण **१४०**

आनुपातिक विनिमय १४०

भ्रमण-प्रवाह की प्रगति १५१

परिमाण सिद्धान्त की सीमा १५८

५. बचत और पूंजी **१६१**

मुद्रा एवं आय १६१

चालू पदार्थ और टिकाऊ पदार्थ १६५

पूंजी और ऋण १७१

मुद्रा की मांग १७५

दो भूलें १९१

बचत, विनियोग और व्यवसाय-चक्र १९१

युद्ध-काल में मुद्रा २१४

६. मुद्रा-नीति **२२९**

मुद्रा-नीति के उद्देश्य २२९

केन्द्रीय बैंक के अस्त्र २४३

व्यावहारिक संभावनायें २५४

७. विदेशी विनिमय **२६४**

विदेशी मुद्रायें २६४

विदेशी विनिमय-बाजार २७१

विनिमय की दर २७९

मुद्राओं का मूल्य २८७

निष्कर्ष ३०५

८. विनिमय-प्रबन्ध और नियन्त्रण **३०८**

विनिमय-प्रबन्ध के उद्देश्य ३०८

अप्रत्यक्ष नियन्त्रण	...	...	३१९
हस्तक्षेप	...	...	३२३
विनिमय की रोक-छेंक	...	...	३३०
विनिमय-भुगतान	...	...	३४१
विनिमय-नियन्त्रण के गुण	...	...	३५२
९. स्वर्ण-मान	....	...	**३६०**
स्वर्ण-मान के कार्य	...	...	३६०
घरेलू स्वर्ण-मान	...	...	३७०
अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान	...	...	३८५
अन्तर्युद्ध स्वर्ण-मान : पुनर्स्थापन	...	...	३९७
अन्तर्युद्ध स्वर्ण-मान : विपर्यय	...	...	४०६
अस्थिर विनिमय	...	...	४१४
ब्रेटन उड्स	...	...	४१९
१०. अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलन	...	...	**४३३**
संतुलन की समस्या	...	...	४३३
आदान-प्रदान की समानता	...	...	४३९
अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग	...	...	४५४
अन्तर्युद्ध असंतुलन	...	...	४६५
पौंड और डालर	...	...	४८९
अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राष्ट्रीय नीति		...	५०५
परिशिष्ट	...	...	५१७
अग्रिम विनिमय	...	...	५१७

प्रकाशकीय

हिन्दी आज राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन हो चुकी है। यह हर्ष का विषय तो है ही साथ ही अब इस बात के लिए सतत प्रयत्नशील हो जाने की आवश्यकता है कि राष्ट्र-भाषा में किसी भी उपयोगी विषय के साहित्य का अभाव न रहे। यही महसूस करते हुए हमने विभिन्न उपयोगी विषयों की पुस्तकों के प्रकाशन का प्रयास किया है। ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा कि राष्ट्र-भाषा में अर्थशास्त्र विषयक पुस्तकों का अभाव खटकने योग्य है। हम ऐसा कहना भी नहीं चाहते कि सिर्फ हमारे द्वारा ही इस अभाव की पूर्ति हो जायगी, किन्तु अगर राष्ट्र-भाषा के विद्वान, साहित्य-मर्मज्ञ और अध्यापकों ने मेरे इस प्रयास का स्वागत किया तो अवश्य ही इससे उत्साहित होकर हम राष्ट्र-भाषा की सेवा में और भी प्रवृत्त रहेंगे।

हमने यह निवेदन किया है कि यह हमारी संस्था का प्रथम प्रयास है। प्रारम्भ में किसी भी काम में त्रुटि की ही अधिक संभावना है। अतः हम अपने राष्ट्र-भाषा के उदार सेवियों से यह विनम्र निवेदन करते हैं कि वे जहां-कहीं भी जिस प्रकार की भूल देखें, उसकी ओर हमारी दृष्टि आकर्षित कर संशोधन के लिए वाध्य करने में जरा भी न हिचकिचाएँ।

कुछ अनुवाद के विषय में। हिन्दी में प्राविधिक तथा अन्य अनेक विषयों के प्रबन्ध में आनेवाले शब्दों का निरूपण तो हो गया है परन्तु वह सिक्के की तरह अभी पूरा-पूरा चालू नहीं हो सका है। अनुवादक के समक्ष भी यह कठिनाई रही। प्रस्तुत पुस्तक के विषय का बहुत कुछ बाजारू और महाजनी क्षेत्र से सम्बन्ध है। ऐसे मुद्दों के लिए महाजनी या बैंक-व्यवसाय एवं बाजार में प्रचलित शब्दों को ही रखा गया है। भाषा बोलचाल की रखी गयी है।

अन्त में हम श्री अनिरुद्ध कर्मशील, सह-सम्पादक "नवभारत टाइम्स", कलकत्ता को हृदय से धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण पुस्तक का यह हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। साथ ही हम डा० बी आर० मिश्र, पटना विश्वविद्यालय और डा० आर० द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिन्होंने इसकी प्रतिलिपि के कुछ अंश के अवलोकन का कष्ट स्वीकार किया है। हम श्री रमेश नन्दन शरण के भी आभारी हैं जिन्होंने सम्पूर्ण प्रूफ-संशोधन कर पुस्तक को अंतिम रूप देने में हमलोगों की सहायता की है।

कलकत्ता

अगस्त, १९५१

अंग्रेजी संस्करण की भूमिका

द्वितीय संस्करण

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण की भूमिका १९४० के विक्षुब्ध सितम्बर महीने में लिखी गयी थी और उस समय चारो ओर जो संघर्ष चल रहे थे उनका ख्याल करते हुए उस समय यह आशा नहीं की जा सकती थी कि यह पुस्तक युद्ध की समाप्ति पर पुरानी नहीं पड़ जायगी। फिर भी यह आशा थी कि "इन पृष्ठों में जिन आर्थिक सिद्धान्तों का वर्णन किया जा रहा है वे पीछे असम्पूर्ण भले ही ठहर जायें, अशुद्ध तो कदापि नहीं ठहरेंगे"।

मेरी समझ में आता है कि यह आशा अधिकांश में पूरी हुई है। इस दूसरे संस्करण में बहुत-से परिवर्तन भी करने हा पड़े हैं। न केवल उदाहरणों को बदलना और काल को परिवर्तित करना पड़ा है, वरन् नये-नये अध्याय भी जोड़ना और दो को सम्पूर्ण रूप से निकाल देना पड़ा है। यह सब होने पर भी सैद्धान्तिक दीवार ज्यों की त्यों है। मैं नहीं समझता कि किसी भी महत्वपूर्ण प्रश्न पर मुझे अपना मत बदलने की आवश्यकता है, और किसी खास मुद्दे पर जो जोर देना पड़ा है तो उसमें न तो बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है और न उन परिवर्तनों की संख्या ही अधिक है।

असल में इस पुस्तक के उपस्थित दूसरे संस्करण में तो एक ही साधारण-सी बात है जो मुझे अनुभव हो रही है। मैं १९४७ साल में आश्चर्य के साथ देखता हूं कि परिमाण सम्बन्धी समस्याओं से मूल्य सम्बन्धी समस्याओं पर ध्यान देने की आवश्कयता है १९४० साल से भी अधिक है (अथवा यों कहें कि युद्ध प्रारम्भ के ठीक पहले के कुछ सालों में जिस समय यह किताब लिखी जा रही थी)। मूल्य-स्तर के परिवर्तन की दृष्टि से व्यवसाय-चक्र पर अधिक विवाद उठाना और बेकारी के विषय या राष्ट्रीय आय के आकार पर इस व्यवसाय-चक्र का जो प्रभाव होता है उसकी ओर उतना ध्यान न देना अब इस समय कुछ पुराना रिवाज-सा लगता है। अथवा, कहा जाय कि विनिमय-नियन्त्रण के विषय को चलनशील मुद्राओं के अति-मूल्यन किंवा लघु-मूल्यन के विचार से देखना और व्यवसाय के दोनो मदों के बीच की असमानता को मिटाने की दृष्टि से न देखना भी वैसा

ही भद्दा लगता है। जिस समय इस पोथी का प्रथम संस्करण हो रहा था उस समय अर्थशास्त्र की परिपाटी निश्चित-मूल्यता की ओर से हट कर परिवर्तनशील परिमाण की ओर जा रही थी और इस विचार-धारा के उन्नायक लार्ड केनीज थे।

इसके बाद आज तक जो विचार-धारा चलती आयी है उसमें इस विषय पर अधिकाधिक जोर देने की आवश्यकता से अधिक और कुछ नहीं हुआ है। परन्तु इस पुस्तक के संशोधन में हम पर यह रहस्य खुला है कि पिछले १० वर्षों के भीतर आर्थिक समस्याओं पर हमारा दृष्टिकोण कितना बदला है। हम सोचते हैं कि अब इस पोथी में नयी विचार-धारा का अथवा विचार करने के नये ढंग का समावेश हो गया है। परन्तु यदि इस किताब ने तीसरा संस्करण भी देखा तो हम यह देखकर विस्मित नहीं होंगे कि महत्वपूर्ण विषयों पर जोर देने की आवश्यकता में और भी उलट-फेर करना पड़ रहा है।

यह ध्यान दिला देना अच्छा होगा कि इस पुस्तक में प्रधान-प्रधान परिवर्तन क्या हुए हैं। अध्याय ८ में जो उदाहरण दिये हैं उन्हें अप-टू-डेट कर दिया है, बैंक-संगठन पर युद्ध के कारण जो प्रभाव हुए हैं उनके वर्णन में कई परिच्छेद और जोड़े गये हैं, और मुद्रा-बाजार की जो विवेचना है उसको बहुत बढ़ाया गया है जिसमें खासकर इस विषय को लिया गया है कि राष्ट्रीय ऋण के कारण किस तरह मुद्रा-प्रणाली पर असर पड़ता है। अध्याय ३ में कुछ बदलना नहीं पड़ा है और ४ में थोड़ा जोड़ना पड़ा है। अध्याय ५ में हमने विषय-सरणि को बदले बिना उसकी दलील को और साफ करने की चेष्टा की है और हमने अपना ध्यान-विंदु इस विषय पर बढ़ा दिया है, जिसे मुद्रा के परिमाण, जनता द्वारा मुद्रा-तरलता की प्रियता और ब्याज की दर का त्रिकोणात्मक सम्बन्ध कहते हैं। इस अध्याय के जिस अनुच्छेद का शीर्षक पहले "युद्धकालीन अर्थ-विज्ञान" था उसे फिर से लिख डाला गया है और इसके दायरे को सीमित करके "युद्धकाल में मुद्रा" इतना भर रहने दिया गया है। अध्याय ६ को अच्छी तरह संशोधित करना पड़ा है। बैंक आफ इंग्लैंड नियन्त्रण की जो युक्तियां लगा सकता है, उसपर विचार करते हुए, प्रथम संस्करण में मुद्रा के प्रसार और संकोच, और ब्याज-दर की वृद्धि तथा ह्रास-युक्तियां बतायी गयी थी। इस संस्करण में इन दोनो युक्तियों को एक ही तत्व के दो पृथक-पृथक रुख मान कर चला गया है।

सरकारों द्वारा आज-कल अर्थनीति पर जो इतना अधिक नियन्त्रण किया जाने लगा है, (जो १९३९ से पहले न था और न जिसको प्रशंसा की बात मान सकते

हैं) उसने इस धारणा में परिवर्तन करने की आवश्यकता पैदा कर दी है कि केन्द्रीय बैंक ही मुद्रा-नीति का प्रधान विधायक है ।

पुस्तक के उत्तरार्ध में अध्याय ७ में बहुत कुछ हेर-फेर की आवश्यकता नहीं पड़ी है परन्तु हमने यह अच्छा समझा है कि अग्रिम विनिमय के अनुच्छेद को परिशिष्ट में ले जाया जाय क्योंकि ऐसा लगता है कि आने वाले दिनों में यह एक संग्रहालय की चीज होकर रहेगी । अध्याय ८ में कई अनुच्छेद (विनिमय-प्रबन्ध और नियंत्रण) परिवर्तित करने पड़े हैं और इसका अन्तिम अनुच्छेद तो नया ही लिखना पड़ा है । पर हमें आश्चर्य लगा है यह देख कर कि इस अध्याय के ढांचे में कितना कम परिवर्तन करने की आवश्यकता हुई है । अध्याय ९ जो अधिकांश में ऐतिहासिक वर्णन है, उसमें केवल अन्तिम भाग में ही काफी परिवर्तन करने पड़े हैं । इसमें ब्रेटन उड्स सम्बन्धी एक नया अनुच्छेद लगाना पड़ा है । अध्याय १० का मुख्य भाग तो अपरिवर्तित है परन्तु उसके प्रारम्भ में कुछ बदलना पड़ा है और अन्त में अमेरिका और ग्रेटब्रिटेन की, युद्ध के पश्चात की व्यवसाय-शेष की स्थितियों से उत्पन्न समस्याओं पर भी कुछ जोड़ना पड़ा है । सामाजिक ऋण विषय को परिशिष्ट से निकालना पड़ा है । अब तो यह विषय संग्राहलय में भी रखे जाने योग्य नहीं समझा जाता ।

अब हम उन सभी मित्रों को धन्यवाद देना चाहते हैं जिन्होंने इस पुस्तक का त्रुटियों के सम्बन्ध में कुछ सुझाव दिया है । इनमें एक भारी भूल तो ऐसी थी कि उसको छापे में देखे बिना उसका भान भी नहीं हो सकता था । हम उनके प्रति भी आभार प्रदर्शन करते हैं जिन्होंने द्वितीय संस्करण के लिये कुछ परामर्श दिया है । आशा है वे भविष्य में भा हमें परामर्श देते रहेंगे ।

लंदन
दिसम्बर, १९४७

—ज्योफ़्रे क्राउथर

प्रथम संस्करण

इस पुस्तक का केवल एक ही लक्ष्य है, न यह मुद्रा-सिद्धान्त में कोई नया तत्व जोड़ने चली है न यह किसा विशेष मुद्रायिक नीति की वकालत करने आयी है ; केवल यह बताना इस पुस्तक का लक्ष्य है कि हमलोगों की मुद्रा-नीति आजकल किस तरह चलती है। हम जान-बूझकर कठिनाइयों से नहीं भाग रहे फिर भी इस पुस्तक के पाठकों और आलोचकों से हम यह कह देना चाहेंगे कि इसका उद्देश्य, इस विषय के किसी उत्तम टेक्स्ट बुक में जैसी होनी चाहिये, वैसी सम्पूर्णता और विशदता से इस विषय का वर्णन नहीं है। इस पुस्तक का उद्देश्य एक अनाड़ी आदमी को मुद्रा के विशाल क्षेत्र की केवल प्रारम्भिक झांकी दे देना है।

पुस्तक की तैयारी में बहुत समय लगा। इसका पहला खाका १९३२ में प्रारम्भ हुआ था और १९३५ में वह समाप्त हुआ पर उपस्थित पुस्तक में शायद उसका एक वाक्य भी अब मौजूद नहीं है। यह दूसरा ढांचा भी महा-युद्ध प्रारम्भ के समय ही तैयार हो गया था। महायुद्ध और उसके अंतिम परिणामों ने हमलोगों को बहुत कुछ सिखाया है। अब तो मुद्रा विषयक बहुत-से विचार बदलेंगे और इस सम्बन्ध की मान्यतायें परिवर्तित होंगी। आज एक ऐसी किताब को प्रकाशित करना जिसके सभी उदाहरण प्रायः युद्ध-पूर्व के समाप्तप्राय युग से लिये गये हैं मूर्खता समझी जा सकती है। परन्तु कुछ ऐसे कारण हैं जिनपर सोचा जा सकता है कि इस बार जो परिवर्तन होंगे वे प्रथम महायुद्ध के समय के परिवर्तनों के समान भीषण न होंगे। उस समय तो एक युग-व्यापी प्रतिष्ठित प्रणाली के विध्वंस की बात थी। अब तो प्रायः एक युग से हमलोग आर्थिक अशांति भोग कर ही रहे हैं और तभी से हमलोग इस विषय पर गंभीर विचार और तर्क-वितर्क करते आये हैं। हमलोगों के सामने ऐसी समस्यायें भी आयी हैं जो युद्ध काल में ही संभव होती हैं और ऐसी अवस्था में हमलोग बहुत-से मान्य सिद्धान्तों, जैसे स्वर्ण-मान सिद्धान्त, आदि को भी उलट-पलट कर जांचने को वाध्य हुए हैं और यह पता लगाना चाहा है कि मौलिक वास्तविकता क्या होनी चाहिये। इसलिए हम साहसपूर्वक कहना चाहते हैं कि युद्धोत्तर काल में भी अगर यह पुस्तक पढ़ी जायगी तो यद्यपि ये दिये गये बहुत-से उदाहरण पुराने हो चुकेंगे, इसमें वर्णित आर्थिक सिद्धान्त चाहे असम्पूर्ण लगें, वे गलत नहीं लगेंगे।

अन्तिम अध्याय के एकाध अंश को छोड़ कर इस पुस्तक में कोई ऐसी बात नहीं जिसे मौलिक कहा जाय। इसके कहने से यह बात निकली कि हमने इस पुस्तक में जो बातें लिखी हैं वे कहीं न कहीं से ली गयी हैं। और इस कारण

हमने जो उधार लिया है उसके लिये हमें धन्यवाद देना भी चाहिये। परन्तु कहां-कहां से कौन-सा विचार या मुद्दा लिया गया यह स्मरण रखना असंभव ही है। ऐसी अवस्था में हम केवल कुछ के ही विषय में बता सकते हैं कि वह कहां से आया। अपने तीन पूर्ववर्ती सम्पादक-बंधुओं—वाल्टर बैगहौट, श्री हार्टली विदर्स और सर वाल्टर लेटन से हमने इस विषय पर प्रकाश ही नहीं पाया पर यह भी सीखा कि कठिन आर्थिक विषय को कैसे प्रतिपादित किया और बुद्धिग्राह्य बनाया जा सकता है। श्री जे. एम. केनीज के हम कितना भारी ऋणी हैं यह तो इस पुस्तक से ही प्रकट होगा। असल में आज का कोई भी अर्थशास्त्र का विद्यार्थी उनका यह ऋण धारता है। कभी-कभी यह इच्छा होती है कि श्री केनीज द्वारा प्रतिपादित विषयों के किसी-किसी अंश पर स्वयं भी चोंच चलायी जाय पर मूलतः वह धारा वही रहती है जिसे श्री केनीज ने उतारा है। अन्य किसी से इस सम्बन्ध में इनकी कीर्ति ही अधिक है। हम नहीं अन्दाज कर सकते कि उनके १९३० में उनकी ज. किताब 'ट्रिटिज औन मनी' निकली उसने आर्थिक विषयों की विचार-धारा को किस परिमाण में मोड़ा—चाहे उनसे लोग सहमत हुए या असहमत। कैम्ब्रिज स्कूल आफ इकानोमिस्ट्स के सभी भूतपूर्व अथवा वर्तमान सदस्यों में से प्रोफेसर डी. एच. राबर्टसन ने मुद्रा-सिद्धान्तों के निर्माण में लार्ड केनीज के बराबर ही योग दिया है। जैसा कि स्वयं श्री केनीज ने माना है यह जानना मुश्किल है कि इन सिद्धान्तों में कहां तक लार्ड केनीज का है और कहां से प्रोफेसर राबर्टसन का। परन्तु हम तो प्रोफेसर राबर्टसन के शिष्य-रूप से भी ऋणी हैं। खास-खास मुद्दों पर हमें डा. थामस बालौग, श्री डगलस जे और श्री जे. डी. जी. केल्लाक के भी ऋणी हैं। प्रूफ-संशोधन के काम में हमें सुश्री पैट्रीशिया काउनसेल और लिनेट मिल्स से भी बड़ी सहायता मिली है और इन्होंने ही पुस्तक की अनुक्रमणिका बनायी है। सबसे अधिक आभार हम प्रोफेसर जार्ज ओ' ब्रायन का मानते हैं जिनके प्रोत्साहन के बिना यह पुस्तक शुरू भी न की गयी होती। हम अपनी धर्मपत्नी के भी कम आभारी नहीं हैं जिसने यदि हठ नहीं किया होता तो पुस्तक समाप्त न होती।

लंदन
सितम्बर, १९४० —ज्योफ्रे क्राउथर

मुद्रा की रूपरेखा

प्रथम अध्याय

मुद्रा की परिभाषा

THE NATURE OF MONEY

रुपये का आविष्कार

THE INVENTION OF MONEY

रुपया (money) क्या है ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर कम ही लोग दे सकते हैं, यद्यपि सभी सोचेंगे कि इसका उत्तर कुछ कठिन नहीं। इस बात से हमें उस मनुष्य की याद आती है जिसने हाथी की परिभाषा पूछने पर उत्तर दिया कि आप हाथी को केवल देखकर ही जान सकते हैं। व्यवहारतः हर आदमी जानता है कि रुपया-पैसा क्या चीज है। परन्तु पूछने पर कम लोग तुरन्त इसकी परिभाषा दे सकेंगे और यह बता सकेंगे कि रुपये-पैसे तथा अन्य पदार्थों में क्या भेद है। यह पुस्तक मुद्रा-विषयक है। अतएव यह आवश्यक है कि आरम्भ में ही यह बात बिलकुल स्पष्ट कर दी जाय कि हम जिसकी चर्चा करने जा रहे हैं, वह है क्या। किन्तु मुद्रा की परिभाषा देने में एक पूरा अध्याय लग जायगा और तब भी एक सामान्य व्यक्ति को पूर्णतया समझाने के लिए वर्णन का सहारा लेना पड़ेगा। कोषों में हाथी की परिभाषा में लिखा है, "यह एक स्तनपायी जानवर है, जो भारत और अफ्रिका में पाया जाता है और जिसकी नाक लम्बी और हाथ की तरह मुंह में खाना पहुंचाने का काम करती है।" यह परिभाषा बुरी नहीं है। पर इससे हाथी को पहचानने में शायद ही सहायता मिले। इसी प्रकार मुद्रा की शब्दकोष में दी गयी परिभाषा यह है—"कोई पदार्थ जिसमें विनिमय के माध्यम बनने की योग्यता, प्रचलन या परम्परा से, मानी

जा रही हो अथवा जो विनिमय, मूल्याङ्कन और मूल्य के परिलक्ष्य के लिए व्यवहृत हो।" यह एक पूर्ण परिभाषा तो है किन्तु न तो पूरी तरह विषय-बोधक है न सुसङ्गत। इसलिए अच्छा यह होगा कि मुद्रा (money) के वर्णन का प्रारम्भ हम उसके विकास की कहानी से ही करें। यह बहुत कुछ काल्पनिक है यद्यपि मानव-वंश-विज्ञान की खोजों से उसका अधिकांश सत्य सिद्ध हो चुका है। किन्तु हमारा प्रयोजन इसकी वैज्ञानिकता से उतना नहीं है जितना मुद्रा-विषयक विचारों के अधिक विकास से, और इसलिए कभी-कभी वस्तु-तथ्य की जगह कल्पना से भी काम लेना पड़ सकता है।

मनुष्य के व्यावसायिक जीवन के प्रारम्भ में, उसका व्यापार वस्तु-विनिमय (barter) द्वारा चलता था। शिकारी चमड़े, मांस या शिकार का, किसान के अन्न और घास से विनिमय करता था। इसके कुछ बाद दोनो अपने-अपने सामानों से गांव के कारीगर के सामानों का विनिमय करने लगे। वस्तु-विनिमय द्वारा व्यापार चलाने में कई बड़ी असुविधाएं होती हैं। इनमें से पहली विनिमय की शर्तों के तय होने की कठिनाई है। व्यापार के दो-चार या कुछ और अधिक वस्तुओं के सापेक्ष-मूल्य सर्वविदित हो सकते हैं। उदाहरणार्थ लोगों को परम्परा से यह ज्ञान हो सकता है कि दस बुशल (bushel) अनाज के विनिमय में एक गाय मिल सकती है। पर व्यापार की सैकड़ों अन्य छोटी-छोटी वस्तुओं के विनिमय का आधार निश्चय करना कठिन है।

एक बाघ के चमड़े के लिये कितने मन अनाज मांगा जाय? एक बकरी के लिए कितने केले दिये जायें? नयी पत्नी के लिए कितने सूअर दिये जायें? ये वस्तु-विनिमय की कुछ समस्याएं हैं जो आसानी से हल नहीं हो सकतीं। मुद्रा का पहला काम इन्हीं कठिनाइयों को हल करने में सहायता करना है। मान लीजिए सभी वस्तुओं का मूल्य एक ही वस्तु द्वारा निर्द्धारित कर लिया जाता है। हम मानलें कि यह वस्तु बकरी है (जैसा कि कुछ पूर्वी अफ्रिका की अनुन्नत जातियों में आज भी प्रचलित है)। अब हर एक चीज का मूल्य बकरी के मूल्य

पर ठहरा दिया जाता है और किन्हीं दो वस्तुओं के विनिमय की दर इस प्रकार आसानी से निश्चित हो जाती है। एक शिकारी का छुरा १० बकरियों के बराबर, ५० केले एक बकरी के बराबर, ५ बुशल अनाज दो बकरियों के बराबर और स्त्री, यदि वह युवती और सुन्दरी है तो, उसका मूल्य ६० बकरियों के बराबर है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु का मूल्य स्थिर होता है। हमको यह आविष्कार बहुत सरल प्रतीत होता है। इसी प्रक्रिया के अनुसार लम्बाई नापने के लिए गज, फुट या मीटर का; वजन जांचने के लिये मन, सेर, पौंड आदि का; तापमान नापने के लिए डिगरी का तथा ऐसे ही अन्य परिमाणों का निश्चय हुआ है। उस युग में यह एक बड़ा आविष्कार था जिसका करनेवाला कदाचित एक सुबुद्ध किन्तु आलसी व्यक्ति था जो यह तय करने में बहुत परेशान हो जाया करता था कि यदि तीन बुशल अनाज ५ केलों के बराबर, बीस केले एक बकरी के बराबर और २० बकरियां एक व्याघ्र-चर्म के बराबर हों, तो एक बाघ के चमड़े के लिए शिकारी को कितने बुशल अनाज मिलने चाहिये। और सचमुच यह एक नया आविष्कार था क्योंकि मनुष्य को वस्तु-विनिमय के सहज व्यापार को मुद्रा की गणना के आधार पर लाने में बुद्धि और तर्क का प्रचुर उपयोग करना पड़ा होगा।

मुद्रा के तीन प्राथमिक प्रयोजनों में से यह पहला है (1) मुद्रा हिसाब-किताब में इकाई का काम करती है। यह मानदण्ड की तरह है जिसकी सहायता से अन्यान्य पदार्थों की तुलना हो सकती है। व्यापार में अब भी वस्तु-विमिमय चलता है। अनाज से केले का और चमड़े से फूल का विनिमय अब भी होता है। किन्तु विनिमय की शर्तें अब एक ही निश्चित वस्तु के आधार पर तय होती हैं। अब समाज बकरा को विनिमय का आधार (goat standard) बना लेने की अवस्था में है और इस प्रकार मुद्रा का आगमन होता है।

पर हिसाब-किताब की एक इकाई के निश्चित हो जाने से ही विनिमय की सभी कठिनाइयां हल नहीं हो जातीं। अब भी दोनों पक्षों को एकत्र करने की कठिनाई है। जॉन के पास अन्न है और उसको चमड़े की आवश्यकता है। यह चमड़ा

हेनरी के पास तो है पर उसको अन्न की आवश्यकता नहीं है और विलियम का अन्न की आवश्यकता है तो उसके पास चमड़ा है ही नहीं। अब विनिमय किस तरह हो ? एक छोटे समाज में जहां पदार्थों की संख्या सीमित है विनिमय का कोई उपाय निकल भी सकता है। पर व्यवसाय की उन्नति, श्रम-विभाजन एवं विनिमय-योग्य पदार्थों की संख्या-वृद्धि के साथ विनिमय की कठिनाइयां बढ़ती जाती हैं। मुद्रा इस कठिनाई को भी हल करती है। हिसाब-किताब या योग की वह इकाई विनिमय का भी माध्यम बन जाती है। अब अनाज का चमड़े के साथ सीधे विनिमय नहीं होता। अनाज बकरियों की कीमत पर बिकता है और उधर चमड़े के बदले बकरियां दे दी जाती हैं। इस नई परिस्थिति में बकरियां लेकर कुछ भी दिया जा सकता है और फिर बकरियां देकर कोई भी दूसरी वस्तु ली जा सकती है। प्रत्येक क्रय-विक्रय में मुद्रा अब न केवल विनिमय-दर निश्चित कर रही है वरन विनिमय में मध्यस्थ का भी काम कर रही है। अनाज से बैल के चमड़े का इकहरा विनिमय अब से बन्द हो गया; अनाज से बकरी और बकरी से बैल के चमड़े का दुहरा विनिमय होने लगा। अब अनाज वाले को चमड़े वाले को ढूंढ़ने के लिए परेशान होने की आवश्यकता नहीं। अब उसका काम एक मध्यस्थ द्वारा चल रहा है। मुद्रा अब प्रारम्भिक दलाल का काम कर रही है।

मुद्रा के ये दो अनिवार्य गुण हैं—हिसाब और योग की इकाई बनना और विनिमय का माध्यम होना। इनके अतिरिक्त मुद्रा का एक तीसरा काम भी है जो इन दोनों से कम महत्व नहीं रखता। वस्तु-विनिमय की अर्थ-व्यवस्था में वह व्यक्ति सब से धनी है जिसके पास आवश्यक पदार्थों का सब से बड़ा भण्डार है। उसके पास अनाज पैदा करने के लिए खेत, शिकार के लिए जंगल, बोझा ढोने और दूध के लिए पशु, खेत जोतने, शिकार कर लाने और पशुओं की देखरेख करने के लिए आदमी और अभाव के दिनों के लिए संचय के निमित्त बखार चाहिए। मुद्रा के आविर्भाव से धन की प्राप्ति और सुरक्षा का कार्य सरल हो गया। क्योंकि यदि बकरी मुद्रा का काम कर रही है तो उससे अनाज भी खरीदा जा

सकता है, शिकार के उपयुक्त और घरेलू पशु भी तथा आवश्यकता के अनुसार उसी से अन्य किसी की मिहनत भी खरीदी जा सकती है, एवं अकाल के समय दूसरे का सामान भी। अर्थात इससे भाड़े पर नौकर भी पा सकते हैं और मूल्य देकर अपने पास न होनेवाला पदार्थ भी। अब धनी आदमी को अपनी सारी सम्पत्ति बकरियों के रूप में रखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना है। इस प्रकार मुद्रा में क्रय-शक्ति का संचय है और यह उसकी तीसरी सार्थकता है।

किसी भी पदार्थ में, जिससे मुद्रा का काम लेना हो, ये तीन गुण होने चाहिये। इन्हीं तीनों गुणों के समन्वय से मुद्रा का आविर्भाव होता है। मुद्रा के सभी परवर्ती गुण इन्हीं तीनों प्राथमिक और अनिवार्य विशेषता के आधार पर उनके संशोधित रूप हैं। मनुष्य के सभी आविष्कारों में मुद्रा का आविष्कार भी एक मूलगत स्थान रखता है। ज्ञान की प्रत्येक शाखा में एक मूलगत अन्वेषण पाया जाता है। यन्त्रकला में चक्र, विज्ञान में अग्नि, राजनीति में 'मत' (vote) का जो स्थान है, अर्थशास्त्र में मुद्रा का वहा स्थान है। मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व के सम्पूर्ण आर्थिक पक्ष मुद्रा पर आधारित हैं।

बहुमूल्य धातुएं तथा सिक्के

PRECIOUS METALS AND COINS

ऊपर बकरी-मुद्रा (goat-money) का जो उदाहरण दिया गया है वह केवल काल्पनिक नहीं है। प्रारम्भिक कृषक-समाज में घरेलू पशु ही धन का रूप लिये हुए थे और उनका व्यवहार मुद्रा के रूप में बराबर होता था। पर पशु का मुद्रा के रूप में व्यवहार करने में कठिनाइयां हैं। सभी बकरियों का आकार-प्रकार समान नहीं होता। यदि कोई आदमी अपने खेत को २० बकरियों के दाम पर बेचता है और उसे खरीदार की बकरियों के झुंड में से चुन-चुनकर रोगी और दुबली-पतली बकरियां दे दी जाती हैं तो वह अपने आपको ठगा हुआ समझेगा। इसके अतिरिक्त बकरियों के साथ अन्य असुविधाएं भी हैं। बकरियों में किसी बीमारी के लग जाने से

मनुष्य का धन घट जा सकता है और उनके प्रजनन के मौसम में समाज भर में धन का प्राचुर्य हो जा सकता है। फिर इस बकरी-धन के लिए यह भी देखते रहना पड़ता है कि यह कहीं भाग या खो न जाये अथवा किसी जंगली जानवर का शिकार न बन जाय। घरेलू पशुओं को मुद्रा बनाने में यदि कई भारी कठिनाइयां हैं तो कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जिनको मुद्रा बनाने में उतना हा सुविधा है। धातुओं में मुद्रा बनने की अन्य सभी वस्तुओं से अधिक योग्यता है, यह बात मालूम हुए मनुष्य को बहुत अधिक दिन नहीं हुआ। उनका आदान-प्रदान सुगमता पूर्वक हो सकता है, उनकी गिनती अपेक्षाकृत आसानी से हो सकती है, उनके खोने की आशंका नहीं रहती, उनको रखने के लिए बहुत कम स्थान की आवश्यकता होती हैं और उनकी उतनी देखरेख की जरूरत नहीं है। और धरती के गर्भ में जितनी धातुएं हैं उनका एक छोटा-सा अंश ही प्रति वर्ष बाहर निकाला जा सकता है इसलिए उनका प्राचुर्य नहीं हा पाता या ऐसा नहीं होने पाता कि किसी साल उनका प्राचुर्य हो और किसी साल अभाव। इसलिए सभ्यता के दूसरे पर्व में हम धातुओं को सिक्के के रूप में प्रयुक्त होते हुए पाते हैं।

धातुओं में जो मूल्यवान मानी जाती हैं वे, और खासकर सोना और चांदी ता अब सिक्के की ही धातु हो गयी हैं। दूसरी धातुओं का भी प्रयोग सिक्कों में हुआ है: तांबा, लोहा, कांसा सबका कभी न कभी चलन था। किन्तु कम से कम पश्चिमी सभ्यता में तो सोना-चांदी ने ही दूसरी धातुओं को हराया। यहां पर थोड़ा विषयान्तर करके अब हमें इसकी जांच करनी चाहिये कि बहुमूल्य धातुओं और मुद्रा के बीच क्या सम्बन्ध है ?

जैसे ही मुद्रा का आविष्कार हुआ यह मनुष्यों की कामना का केन्द्र हो गया। इसमें क्रय-शक्ति है, इस कारण यह संग्रहणीय पदार्थ हो गया है। असली बात यह थी कि मनुष्य धन चाहते थे और यह धन मुद्रा द्वारा प्राप्त हो सकता था। कंजूस को, जो रुपये को रुपये के लिए ही इकट्ठा करता है और इसकी प्राप्ति के लिए अपने सुखों का बलिदान करता है, यथार्थतः एक असाधारण प्राणी समझा जाता है। परन्तु पूर्णतः साधारण मनुष्य भी उस कृपण के दोष से सम्यक

रूप से मुक्त नहीं होता क्योंकि वह भी रुपये को अपने आप में मूल्यवान मानता है। कोई जाति, मुद्रा के रूप में जब किसी मूल्यवान पदार्थ को चुनती है तब वह किसी न किसी बहुमूल्य पदार्थ को ही पसन्द करती है, क्योंकि किसी बहुमूल्य पदार्थ के मुद्रा की तरह प्रयुक्त होने में बहुत-कुछ सुविधाएं हैं। यह बात आगे साफ हुई जाती है। परन्तु धातुओं की बहुमूल्यता ही इन सुविधाओं का कारण नहीं है। कोई भी निर्मूल्य पदार्थ उतनी ही पूर्ण योग्यता से मुद्रा का काम कर सकता है। इसे हमलोग, जो नोटों का प्रयोग करते हैं, जानते हैं।

मुद्रा सभी प्रकार के धन की प्राप्ति का साधन है, अतएव इसमें स्वकीय बहुमूल्यता भी कुछ होनी चाहिये, ऐसा विश्वास मनुष्य के मन में बहुत बद्ध-मूल है। आज भी एक साधारण मनुष्य, रुपया को कीमती बनाने वाला तत्व क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में यही कहेगा कि उसकी बहुमूल्यता ही उसका मोल है। अब चूंकि सोना ही सबसे कीमती धातु है इसलिये सुवर्ण मुद्रा को ही वह सबसे पक्की मुद्रा समझता है और तब यदि उससे पूछें कि फिर हमलोग कागजों के रद्दी टुकड़ों को कैसे मुद्रा-रूप में स्वीकार करते हैं तो वह कहेगा, "क्योंकि वह बैंक आफ इंग्लैण्ड में सुरक्षित उतने ही मूल्य के सोने की गारंटी है"। इस विश्वास को कि मुद्रा में या तो कोई स्वकीय मूल्य हो अथवा वह किसी अन्य मूल्यवान पदार्थ की प्रतिनिधि हो, कभी-कभी बहुत दूर तक खींच कर ले जाया जाता है। उदाहरण के लिए, १९२३ में, जब कि मुद्रा-स्फीति हो जाने के कारण जर्मनी की मुद्रा पर से वहां की जनता का विश्वास एकदम उठ गया था और लोग पक्की मुद्रा की मांग जोर-शोर से करने लगे थे, जर्मन सरकार ने एक नयी मुद्रा "रेटेन मार्क" का प्रचलन किया था जो देश की भूमि का प्रतिनिधि थी। यह सही है कि देश की समस्त भूमि पर एक कानूनी दावा चढ़ाया हुआ था, पर यह रेटेन मार्क न तो स्वयं ही भूमि और न कोई ऐसा तरीका था जिसके द्वारा 'रेटेन मार्क' नोट का रखने वाला उस जमीन को कब्जे में कर ले सकता जिसकी गारन्टी इस नोट के द्वारा होती थी। पर इस भारी चकमे ने भी काम किया और जिस मुद्रा पर कुछ जमीन पाने का अधिकार

हो वह 'पक्की' मुद्रा है, यह विश्वास जर्मनी के लोगों के मन में ऐसी दृढ़ता से जमा कि 'रेटेन मार्क' नोट चल गये।

किन्तु यह विश्वास भ्रमपूर्ण है। मुद्रा में मूल्य का जो तत्व है उसी के कारण वह पक्की मानी जाय, यदि यह बात होती तो हर एक जाति के भीतर वह चीज मुद्रा बनता जिसे वह मूल्यवान समझती। किन्तु ऐसा तो कहीं नहीं है। मूल्यवान रत्न—हीरे, मोती, माणिक आदि तो संसार के सभी देशों में सब काल में धातुओं से वहुमूल्य माने जाते रहे हैं पर उन्हें किसी ने मुद्रा नहीं बनाया। मूल्यवान धातुओं में भी, जो धातु सबसे अधिक मूल्यवान है, उसे भी मुद्रा नहीं बनाया गया। सोना हमेशा चांदी से कीमती माना गया है, पर चांदी को ही प्राय: सिक्कों में प्रयुक्त किया गया है, सोने को नहीं। फ्रान्सीसी भाषा में तथा अंगरेजी की कई स्थानीय वोलियों में मुद्रा के लिए ऐसे शब्द का प्रयोग आज भी हो रहा है जिसे चांदी के लिए भी इस्तेमाल करते हैं। यदि हम इस बात का पता लगावें कि लोग सबसे मूल्यवान धातु को छोड़ कर क्यों औसत मूल्य की धातु का सिक्का चलाते हैं तो हमें सम्पूर्ण रहस्य का ज्ञान होगा। इतिहास के अधिकांश कालों में सोने के सिक्कों का इस्तेमाल नहीं हुआ। वह इस कारण कि इसका सिक्का बनाने में सुविधा नहीं होती, यद्यपि सदा से सोना बहुमूल्य धातु माना जाता रहा है। सचमुच सोना बहुत मूल्यवान पदार्थ है और ऐसे बहुत मूल्यवान पदार्थ की मुद्रा नहीं हो सकती। अगर हमें एक डबल रोटी लेना हो जिसका मूल्य कुछ आने हैं, तो हमें उसके लिये सोने का बना इतना छोटा सिक्का निकालना पड़ेगा जिसको गिन नहीं सकते और जिसे कहीं रख दें तो खो जाय। ऐसी दशा में बड़े-बड़े लेन-देन तो सोना के सिक्कों के सहारे हो लेंगी पर छोटे-मोटे क्रय-विक्रय सोना से नहीं चल सकेंगे। हमारे ही देश में (ब्रिटेन में) दादा-बाबा के काल में सुवर्ण को माध्यम रखा गया था पर इसपर भी हमलोगों को छोटे-छोटे लेन-देन में प्रयुक्त करने को चांदी और तांबा के सिक्के बनाने ही पड़े थे।

सम्पूर्ण मध्य युग में सोने का मुद्रा बनाने योग्य धातु क्यों नहीं माना गया, इसका

कारण यह था कि यह कम मिलता था। अब हम ऐसे विषय पर आते हैं जो इस पुस्तक में आदि से अन्त तक लगा रहेगा—अर्थात मुद्रा का उचित परिमाण क्या हो ? हम अभी कह आये हैं कि मुद्रा को स्वल्प-सुलभ नहीं होना चाहिये क्योंकि ऐसा होने से वह असुविधाजनक रूप में, अल्पतम परिमाण में, लोगों को प्राप्त होगी। इसे बहुत सुलभ भी नहीं होना चाहिये, नहीं तो लोगों के पास इसका ढेर हो जायगा। यही कारण है कि सिक्का बनाने में लोहा फेल कर गया। कोई आदमी सेरों लोहा उठाये हुए बाजार करने को जाना पसंद नहीं करेगा। इसलिए मुद्रा के लिए चुनी हुई वस्तु या धातु में स्वल्पता तो होनी चाहिये पर अत्यधिक नहीं। और चूंकि धातुओं में कुछ अन्य योग्यताएं भी मुद्रा बनने की हैं, इसलिए मुद्रा निर्माणार्थ सबसे अच्छी धातु वह होगी जो बहुमूल्य हो पर अत्यधिक बहुमूल्य न हो। इसी कारण पहले चांदी का और पीछे सोने का सिक्का बना और प्लेटिनम जो अत्यन्त अल्प वस्तु है एवं लोहा जो यथेष्ट परिमाण में स्वल्प नहीं है, सिक्कों में प्रयुक्त नहीं हुए।

इस तरह निष्कर्ष यह निकला कि मुद्रा-वस्तु का निर्वाचन वस्तु की मूल्यता नहीं वरन उसकी सन्तुलित अल्पता करती है। हमारा यह कथन पहेली-सा मालूम होगा क्योंकि बहुमूल्य वस्तुएं स्वल्प और स्वल्प वस्तुएं तो बहुमूल्य होती ही हैं। मुद्रा-इतिहास के अधिकांश भाग में यह बात सही थी, पर आज यह बात सही नहीं रही। हम लोगों में आज एक ऐसी मुद्रा-सामग्री का आविष्कार हो गया है जो स्वल्प-प्राप्त है फिर भी बहुमूल्य नहीं है। वह है कागजी मुद्रा। जाली नोट बनाने पर जो प्रतिबन्ध है उसके कारण वह स्वल्प-प्राप्त है पर जिस कागज पर वह नोट छपा है वह तो कुछ भी मूल्य नहीं रखता। उसकी स्वल्पता उसे सुयोग्य मुद्रा बनाती है और उसकी मूल्यहीनता इसमें कुछ भी बाधक नहीं होती।

कागजी मुद्रा का वर्णन तो एक पूर्वकल्पना है। मुद्रा के इतिहास में हम बहुमूल्य धातुओं से आगे नहीं बढ़ पाये हैं और हमें पुनः उसी की चर्चा करनी है। पर इस विषयान्तर से एक बात सिद्ध हो गई है कि मुद्रा का निर्माण किसी बहुमूल्य

पदार्थ से ही किया जाय इसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। चांदी और सोने को केवल उनके गुणों के कारण ही मुद्रा बनाने के लिए चुना गया। वे गुण हैं लेन-देन की सुविधा, उनका ह्रास नहीं होना। उनमें उचित मात्रा में स्वल्पता भी है और उनके विषय में यह भरोसा किया जा सकता है कि उनका उत्पादन न सहसा बढ़ जायगा और न घट जायगा; केवल धीरे-धीरे ऐसा हो सकता है। पर प्रारम्भिक युग में मूल्यवान धातुओं में भी दो ऐब थे। पहला यह दोष था कि उनके अच्छे और बुरे, खरे और खोटे होने का अनुमान करना कठिन था। हर समय धातु की जांच करना असम्भव तो नहीं परन्तु कष्ट-साध्य अवश्य था। और दूसरा दोष यह है कि धातु की मुद्रा को जितने भाग में चाहें सरलता से विभाजित नहीं कर सकते। किसी आदमी को यदि एक गाय खरीदनी हो और जिसका दाम दो औंस सोना हो तो सोने के एक पासे में से उतने वजन का टुकड़ा काटा कैसे जाय और काटा हुआ वजन एक ही बार में सही कैसे उतरे? धातव मुद्रा की ये कठिनाइयां ही आगे चलकर धातु के सिक्कों के निर्माण का कारण बनीं। खासकर धीरे-धीरे यह भार राजा ने अपने ऊपर ले लिया कि धातु की ढेरी में से समान तौल, आकार और प्रकार के, भिन्न-भिन्न कई मूल्यों के सिक्के निर्मित करायंगे और प्रामाणिकता के लिए उनपर अपनी मुहर लगा देंगे। सिक्कों का प्रादुर्भाव इसी तरह हुआ। जिस समय तक जनता को यह विश्वास रहता है कि राजा ईमानदारी से यह सिक्के बनवाने का काम कर रहा है, और यह कि उसके पास कम वजन, घटिया धातु और जाली ढंग के सिक्के बनना रोकने की पर्याप्त शक्ति है, तबतक जनता उस राज-मुद्रा को खुशी-खुशी लेती रहती है। किन्तु जहां उसकी ईमानदारी अथवा उसकी पुलिस-शक्ति पर जनता को अविश्वास हुआ कि उसकी मुद्रा की प्रामाणिकता गयी और वह साधारण धातु के टुकड़े के समान बाट और कसौटी पर चढ़ी।

अब हमलोग इस विषय का वर्णन करते हुए ऐतिहासिक काल की सीमा तक आ पहुंचे। इस काल के बाद और आधुनिक युग के प्रारम्भ तक मुद्रा की निर्माण-रीति में बहुत कम परिवर्तन या विकास हुआ है। मुद्रा-निर्माण-इतिहास में कुछ

घटनाएं जरूर घटीं। धातु बदली तो साथ ही उनका नाम और अर्थ भी बदला। (क) सिक्कों की धातुओं में मिलावट भी चली और नकली सिक्के भी चले और किसी भी युग में ऐसा समय बहुत कम रहा जब सिक्के केवल विश्वास पर ले लिये जाया करें। किन्तु इन शताब्दियों में मुद्रा सभी व्यवहारों के लिए सिक्कों में ही परिणत हो चली।

किन्तु इसकी तह में एक दूसरा दिलचस्प परिवर्तन भी साथ ही हो रहा था। प्रारम्भ में सोना-चांदी को सिक्के के लिए इस कारण चुना गया कि अन्य कारणों के साथ-साथ कम पाये जाने का एक कारण भी उनमें था और इस दुष्प्राप्यता के कारण उनमें बहुमूल्यता आ गयी था। जब हम कहते हैं कि अमुक वस्तु कम है तो इसका अभिप्राय स्पष्ट ही यह होता है कि जितनी मांग इसकी है उतने से यह कम है। मूल्य का निश्चय मांग और पूर्ति के सम्बन्ध पर होता है और किसी भी वस्तु की अधिक मांग होनी हा उसके मूल्यवान होने के लिए पर्याप्त नहीं है। सोना और चांदी मुद्रा बनने के पहले भी मूल्यवान थीं। इसका अर्थ यह हुआ कि अलंकार आदि के रूप में इनकी मांग उत्पादन की अपेक्षा इतनी अधिक थी कि मांग बराबर बनी ही रहती थी और इसी कारण वे धातुएं दुष्प्राप्य और कीमती बन गयीं। फिर उनकी दुष्प्राप्यता और बहुमूल्यता ने उन्हें मुद्रा चुने जाने में योग दिया।

जब चांदी और सोने की सिक्के के लिए खोज होने लगी तब उनकी मांग बढ़ी। मुद्रा में चांदी और सोने का प्रयोग ज्यों-ज्यों बढ़ा त्यों-त्यों वे अलंकार बनाने, दांतों में लगाने एवं अन्य औद्योगिक कार्यों में व्यवहारार्थ कम मिलने लगे। इस विषय का स्पष्टीकरण यह है कि आज कल जितना सोना खानों से निकलता है उसका आधा

(क) अंगरेजी में जो पौंड सिक्के के लिए चलता है वह प्रारम्भ में केवल एक पौंड भर चांदी के लिए प्रयुक्त होता था। पर सिक्के की इकाई पौंड और एक पौंड वजन भर चांदी के बीच जो सम्बन्ध था वह अब गायब हो गया है। यह जानना भी दिलचस्प होगा कि फ्रांसीसी मुद्रा 'फ्रांक' का सम्बन्ध लिब्रे से ज्ञात होता है जो शुरू-शुरू में अंगरेजी पौंड से मिलती-जुलती थी। किन्तु आज इतना अन्तर आ गया है कि ८६४ फ्रांक का एक पौंड होता है।

सिर्फ सिक्के में लग जाता है। शेष आधे का भी आधा पूर्वी दुनिया में लाग सहेजने और संग्रह करने के लिए ले लेते हैं और इसका भी धन सम्बन्धी व्यवहार ही कहेंगे। इस तरह उद्योग-धंधों और दांतसाजी में—धन की तरह नहीं, शुद्ध धातु की तरह—सोने का इस्तेमाल, इसकी पूरी मांग का एक अंश मात्र ठहरता है।

परन्तु सोने का मूल्य अब भी मांग और उत्पादन के सम्बन्ध पर निश्चित होता है। अगर सुवर्ण का मुद्रा के रूप में प्रयोजन न हो और इसका प्रयोग केवल उद्योग-धंधों तक सीमित रह जाय तो यह निश्चय ही आज से बहुत कम कीमती हो जाय। (क) इसलिए आज यह विचित्र परिस्थिति है कि प्रारम्भ में बहुमूल्य होने के कारण सिक्कों के काम के लिए चुने जाने पर भी, अब यह बहुमूल्य इस कारण है कि इसका प्रयोग सिक्कों के रूप में होने लगा है। इस बात की सत्यता चांदी पर गुजरी हुई दशा से भी दिखाई जा सकती है। १० साल पहले चांदी के अधिकतर सिक्के बनते थे और उस समय सोने का मूल्य चांदी के मल्य से लगभग १६ गुना था। पर इसके बाद एक के बाद दूसरे, इस तरह संसार के अनेक देशों ने चांदी के सिक्के बनाना छोड़े। अब इन देशों में चांदी का इस्तेमाल रेजगारियां बनाने में ही होता है। ब्रिटेन का शिलिंग चांदी का है पर वह मुख्य सिक्के का खुदरा अंश है और इस कारण महत्वपूर्ण नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि चांदी की मांग घट गयी और उसका मूल्य गिर गया। मांग की यह कमी १९३८ में, विगत महायुद्ध के पहले, चरम सीमा तक पहुंच गई थी। उस साल प्रायः ९६ औंस चांदी एक औंस सोने के बराबर थी।

कागजी मुद्रा
PAPER MONEY

मुद्रा के इतिहास में सिक्कों के बाद कागजी रुपये का चलन मुद्रा-विकास का महत्वपूर्ण घटना है। वास्तव में सिक्का के आविष्कार के बाद, मुद्रा के इतिहास में इसके बराबर

(क) 'मुद्रा की भांति प्रयोग' का सिर्फ यही मतलब नहीं कि जनता उसे मुद्रा की तरह हथफेर करती है। सोना तो अब भी मुद्रा की तरह प्रयुक्त होता है यद्यपि साधारण जन इसका दर्शन भी नहीं कर पाते। इस बात को अध्याय ९ में अच्छी तरह समझाया गया है।

की घटना दूसरी नहीं है। इस चीज में किसी अन्य चीज से अधिक लाभ करने की भी शक्ति है और हानि करने की भी। पर कागजी मुद्रा अपनी सम्पूर्ण योग्यताओं सहित किसी उर्वर मस्तिस्क का आकस्मिक आविष्कार नहीं है। प्रत्युत क्रमिक विकास के अनन्तर यह व्यवस्था आयी है और इस विकास-क्रम के कम से कम चार पर्व तो स्पष्ट देखे जाते हैं।

धातु-निर्मित सिक्के में यह गुण है कि उसे आसानी से ले आया और ले जाया जा सकता है। साथ ही इसमें यह दुर्गुण है कि इसकी चोरी भी आसानी से हो जाती है। फलतः प्राचीन काल में लेखवद्ध प्रमाण ही व्यापारी लोग अपने पास रुपये-पैसे के बजाय लेकर सौदा खरीदने को निकलते होंगे। समझा जाता है कि ऐसे समय अवश्य ही रुपया लेकर नहीं बल्कि उस रुपये की विद्यमानता का कोई लिखित प्रमाण लेकर वे निकलते रहे होंगे। ये लिखित प्रमाण, यात्री का चेक (traveller's cheque) एवं हुंडी (letter of credit) जिसके वंशज हैं, अपने आपमें मुद्रा तो नहीं होते थे—किसी चीज की खरीदारी में उन्हें ही नहीं दिया जा सकता था—पर एक तरह से वे रुपये के अस्थायी स्थानापन्न तो अवश्य ही थे। अगर वे गुम अथवा नष्ट हो जाते तो उससे कुछ हानि न होती। रुपया जहां का तहां पड़ा रहता और उस व्यापारी के हस्ताक्षर के बाद ही वह उसे मिलता। ये कागज स्वभावतः व्यापारी के निवासस्थान के किसी प्रसिद्ध और परिचित व्यक्ति द्वारा प्रदत्त प्रमाण-पत्र के रूप में होते थे जिसे हम प्रारम्भिक महाजन कह सकते हैं। इसमें यह लिखा होता था कि अमुक व्यक्ति ने अमुक धन उसके पास जमा किया है और वह वादा करता है कि उस रुपये में से वह व्यापारी के पावनेदार को उनके पावने के अनुसार हिसाब से देगा। यह प्रथम पर्व है। यह कागज अभी तक रुपया नहीं है, रुपये का एक स्थानापन्न है।

अब, समय पाकर ये कागज निश्चय ही रुपये की तरह व्यवहृत होने लग जायेंगे। अगर कोई अंगरेज स्विजलैंण्ड में छुट्टियां बिताने के लिए जाय और

अपने पास यात्री-चेक लेता जाय, तो सिद्धान्ततः उसे अपने होटल वाले का बिल चुकाने के लिये वहां के बैंक में जाकर अपने चेक को स्विजलैण्ड के सिक्के में परिवर्तित कराना पड़ेगा। पर व्यवहार में वह देखेगा कि होटलवाला स्वयं ही उसका चेक लेकर उसे खुद बैंक तक जाने के झंझट से छुट्टी दे देने को तैयार है। जब ऐसा है तब वह चेक स्वयं रुपये का काम कर रहा है। और इस आधुनिक उदाहरण से स्पष्ट है कि व्यवसाय के इतिहास में कैसे, बहुत प्रारम्भ में ही, महाजन द्वारा किया गया अदाकारी का वादा, रुपये के वादा से बढ़ कर रुपया ही हो गया। यह एक बिलकुल स्वाभाविक प्रगति भी थी कि वादा की पुर्जी, जो किसी व्यक्ति के लिए किसी धन की अदायगी के लिए बना दी गयी थी, किसी भी लानेवाले के हक का समझा जाय जिसके हाथ में वह कागज जा पड़े, अगर वह सुविधाजनक झंझटविहीन रकम की हो। जॉन ने महाजन के पास जो २८३ पौंड १९ शिलिंग ५ पेंस जमा किये और महाजन ने उसे इसके लिए इस वादे का कागज दिया कि वह इस रकम तक के ड्राफ्ट या हुंडी जारी कर सकता है जिसे स्वीकृत किया जायगा, वही कागज अब इस वायदे के कागज के बदले १ पौंड, ५ पौंड, १० पौंड या १०० पौंड अदा करने की प्रतिज्ञा वाला कागज बन गया जिसके द्वारा चाहे कोई भी इतना रुपया ले जा सकता है। अब यह समझा जाने लगा कि यह कागज लाने वाला ही उसका वास्तविक अधिकारी है। यही हुआ पूरे अर्थों में बैंक-नोट। आज के बैंक-नोटों पर भी यह छपा होता ही है कि यह कहां से जारी हुआ है। उदाहरण के लिए बैंक आफ इंग्लैंड के हर एक नोट पर यह छपा रहता है कि "मैं इस नोट के वाहक को मांग करने पर अमुक परिमाण में रुपया दूंगा" और उसपर सरकार और बैंक आफ इंग्लैंड की ओर से प्रधान खजांची का हस्ताक्षर होता है। अब यहां तक आकर कागजी मुद्रा के प्रसार में दूसरा अध्याय शुरू हुआ। बैंक-नोट का आगमन तो हो गया पर अब भी यह बैंक में जमा की गयी रकम की रसीद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। रुपये की तरह इसका प्रयोग हुआ पर साधारणतः

चेक होटल के बिल की भरपायी में ले लिया था और इस तरह उसने कार्यतः उसे रुपया ही माना। फिर भी वह इस चेक को रुपया नहीं, रुपये का अधिकारपत्र ही समझ रहा है और चेक ले लेने के बाद वह इसे भुनाने को अपने बैंक में दौड़ा जाता है।

जब क्रमशः बैंक-नोटों का प्रचार बढ़ा तब वे रुपये के स्थानापन्न न रहकर स्वयं ही रुपया माने जाने लगे। बैंक-नोट सिर्फ एक ही बार के लेन-देन के भुगतान में काम नहीं आया और होटल वाले के हाथ से सीधा बैंक नहीं चला गया। बैंक से यह दूसरे व्यक्ति के पास गया और वहां से तीसरे के, और इस तरह इसने सैकड़ों आदमियों के बीच लेन-देन कराया। होटल वाला इस नोट को लेकर बैंक में न दे आया बल्कि उसने इसे अपने नौकर को उसकी मजदूरी में दे दिया, और उसने इसे अपने पावनेदारों को खानेदारी के बकाया की अदाकारी में दे दिया। इस प्रकार वह नोट घूमने लगा। इस ढंग से जिस बैंक ने यह नोट जारी किया था, उसके हक में एक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि नोट एक के पास से दूसरे के पास पहुंचता रहा और तुरन्त यह लौट कर बैंक में नहीं आया। बैंक ने इस तरह के जितने नोट जारी किये थे उनमें से कुछ ही लौट कर नगद रुपये के लिए बैंक में आये, शेष यों ही चलते रहे। इसका फल यह हुआ कि, बैंक वाले ने अनुभव किया कि यदि उसका बैंक यथेष्ट साख वाला है, और बिना साख के बैंक का कारबार नहीं चल सकता, तो उसके द्वारा जारी किये गये नोटों की महज एक छोटी-सी संख्या ही बाजार से निकलकर नगद रुपये के लिए उसके पास लौट रही है और शेष बाजार में चल रही हैं। वह छोटा-सा अंश जो लौट कर आया उसका भी रुपया बैंक ने नहीं दिया। उसके बदले नये नोट दिये। इस हिसाब से बैंक के लिए यह संभव हुआ कि उसके पास जितना नगद रुपया खजाने में जमा था उससे अधिक के नोट भी उसने निकाल डाले। उसने ऐसा क्यों और कैसे किया यह दूसरे परिच्छेद में बताया जायगा—यहां अभी इस विषय पर विचार चल रहा है कि नगद जमा रुपये से अधिक मूल्य के नोट भी बैंक

निकालते हैं और न केवल वे अधिक से ही संतोष करते हैं बल्कि नगद जमा रुपयों से कई गुने अधिक मूल्य के नोट वे चला डालते हैं। उदाहरण के लिए मान लें कि बैंक वाले ने यह देखा कि उसके जारी किये गये नोटों में २० में से १ ही नगद रुपये के लिए लौट कर बैंक में आते हैं, शेष बाजार में चलते रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि बैंक वाले को अपना कारबार चालू रखने के लिए चालू नोटों के मूल्य का केवल ५ प्रति शत नगद रुपया तैयार रखने की जरूरत है। हो सकता है कि कोई होशियार बैंक वाला एकदम निश्चिन्त रहने के विचार से ५ के बदले १० प्रति शत नगद रुपया एकत्र करके रखे रहे। किन्तु तो भी प्रति १०० रुपये मूल्य के नोटों को चालू करने पर उसे १० रुपया ही अपने खजाने में तैयार रखे रहने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दो में यदि कहीं से उसके पास १० के नगद सिक्के आ गये तो वह बेखटके १०० के नोट चालू कर सकता है।

अब कागजी मुद्रा की यह तीसरी अवस्था हुई और यह इसके विकास का महत्त्वपूर्ण एक चरण है। अब तक, पहली और दूसरी अवस्थाओं तक, बैंक-नोट या तो रुपया नहीं था अथवा धातु-निर्मित सिक्के का कागजी स्थानापन्न मात्र था। दूसरी अवस्था तक में प्रत्येक १०) के नोट के लिये १०) नगद (धातु निर्मित सिक्कों में) बैंक में जमा रहते थे—बैंक की कुल नगद पूंजी में कुछ भी वृद्धि नहीं करते थे। पर तीसरी में ये बैंक-नोट रुपये के स्थानापन्न रहने की भूमिका से निकल कर साक्षात रुपये ही हो जाते हैं। अब वे बैंक की पूंजी में वृद्धि करने लगते हैं।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी बैंक-नोटों के जमने का युग थी। प्रारम्भ में तो, जैसा कि प्रत्येक नये प्रयोग की प्रारंभिक अवस्था में होता ही है, बैंक-नोट के आविष्कर्ताओं ने इसका खूब दुरुपयोग किया और यह बहुत बदनाम भी हो गया। जन साधारण ने यह सोचना शुरू किया कि यदि बैंक वाले इसी तरह बिना पूंजी के नोट बनालेते हैं तो वे बेईमान भी हुए और खतरनाक भी। (इन दोनों सवालों पर—अर्थात् बैंक-नोटों को जारी करना क्या रुपया बनाने के समान है? और क्या यह काम

अनैतिक है--हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।) कई बैंकों के सम्बन्ध में जब यह बात प्रकट हुई कि उन्होंने पूंजी से अधिक नोट बना डाले हैं, तो विवश होकर उन्हें अपना कारबार बन्द करना पड़ा। इन बैंकों के नोट जिनके पास थे उनकी यह शिकायत तो नहीं हुई कि बैंकों ने बेईमानी या ठगी की है, पर उन्हें यह समझ पड़ा कि वे मजबूत नहीं रहे और इस कारण वे अपने नोटों को लेकर उनसे रुपया निकालने के अभिप्राय से बैंक पर चढ़ दौड़े। जनता के मन में जहां ऐसा अविश्वास नहीं आया वहां बैंक के अधिकारी स्वयं ही अपनी नयी विचित्र शक्ति के मद में इतने उन्मत्त हो गये कि उन्होंने न केवल जमा रुपये से अधिक, बल्कि अपने रोकड़ में तैयार रुपये से कई गुना अधिक, के बैंक-नोट छाप दिये। परिणाम यह हुआ कि मांग होने पर वे चालू नोट का एक छोटा-सा हिस्सा भी नहीं दे सके। और यह तो है ही कि यदि नोट पर छपे हुए वादे को बैंक वाला चाहे केवल एक बार भी पूरा करने में असमर्थ हो जाय तो उसके नोट जितने लागों के पास होंगे सब घबड़ाकर अपना रुपया मांगने को बैंक पर टूट पड़ेंगे। बैंक-नोटों का अधिकांश केवल उसी अवस्था में बैंक में पलट कर नहीं पहुंचेगा जब जनता देखेगी कि बैंक को लौटाये गये नोटों का चुकता वह झटपट कर देता है। बैंकों के बराबर फेल होते रहने और अठारहवीं शताब्दी में 'जॉन लॉ' के जैसे फ्रांस में हुए भारी साहसिक कामों से, जिसमें फ्रांसीसी बैंकों ने बहुत-सी कल्पना-बहुल भारी योजनाओं को भारी-भारी रकमों के नोट छाप-छाप कर अमर्यादित धन अपनी ही ओर से दिये, बैंक-नोटों की बड़ी बदनामी हुई और उत्पन्न दुःस्थिति को सम्भालने के लिए सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा। यह खराबी न भी होती तो भी सरकार को तो देखरेख करनी ही पड़ती क्योंकि किसी ऐसे आविष्कार की ओर से सरकार विमुख कैसे रह सकती है जो धन को कई गुना कर दे और समाज में भयानक उथल-पुथल ले आवे? केवल दो सौ साल पहले तक इस तरह के आर्थिक सिद्धान्तों का कोई चिन्ह नहीं था पर उन दिनों के राजपुरुषों को इस तरह के किसी भी सद्धान्तिक ज्ञान की आवश्यकता न थी जिसके द्वारा उन्हें यह अनुभव होता कि बैंक-नोटों का अनियन्त्रित प्रेषण राज्य के सम्पूर्ण आर्थिक ढांचे को ही

अस्त-व्यस्त कर देता है। इस सम्बन्ध म जो कानून समय-समय पर और देश-देश में वने, उनका रूप भिन्न-भिन्न होता था। पर साधारणतः बैंक-नोटों का प्रेषण या तो बैंक की पूंजी के हिसाब से (इसके मालिकों द्वारा इसमें जमा किये गये नगद सिक्कों के हिसाब से) अथवा इसमें जमा कुल रकम के हिसाब से (इसमें अन्यों द्वारा जमा नगद सिक्कों के हिसाब से) बराबर कठोरता से सीमित किया जाने लगा। बैंक के हाथ में जितना रुपया तैयार रहे उससे अधिक मूल्य के नोटों के छापने पर कठोरता पूर्वक प्रतिबन्ध या नियन्त्रण लगाया गया था।

इंग्लैण्ड में, प्रारम्भ से ही, 'बैंक आफ इंग्लैण्ड' को एक सुविधाजनक स्थिति इस सम्बन्ध में दी गयी थी और आज इस बात को प्रायः दो सौ साल हुए कि उसे नोट चलाने का प्रायः एकाधिकार दे दिया गया। धीरे-धीरे उसका यह अधिकार सम्पूर्ण कर दिया गया और आज यद्यपि स्काटलैंड, आयलैंण्ड एवं 'आइल्स आफ मैन' में अन्य वैंक भी नोट निकाल सकते हैं पर इंग्लैण्ड और वेल्स में बैंक आफ इंग्लैण्ड को छोड़ कर अन्य किसी को वैधानिक रूप से नोट चलाने का अधिकार नहीं है। बैंक आफ इंग्लैंड के नोटों को सिर्फ इतनी ही सुविधा मिली हुई नहीं है, उसे और भी सुविधाएं प्राप्त हैं। सन् १८३३ में यह कानून बना कि बैंक आफ इंग्लैण्ड के नोटों को कानूनी टेंडर माना जायगा। इसका अर्थ यह है किसी ऋण की भरपायी भी कानूनी दृष्टि में मान्य होगी। अब बैंक आफ इंग्लैंड के नोट, न केवल प्रचलन के कारण मुद्रा मान लिये गये हैं, उन्हें कानून के द्वारा भी मुद्रा-पद प्राप्त है।

जब तक बैंक-नोट विकसित होते-होते बैंक आफ इंग्लैंड के नोट की हैसियत तक आये तव तक उनसे सिक्कों का दावा, अथवा उनका स्थानापन्न होने की प्रारम्भिक स्थिति, सम्पूर्ण भावेन छूट चुकी थी। तो भी इनके उद्गम के कारण की चर्चा तो इसके साथ लगी ही रही। बैंक-नोटों को निरापद और सुदृढ़ तब तक नहीं माना जाता था जब तक उनके लिए मांगे जाने पर, सुवर्ण मुद्रा न मिले। यह सही है कि बैंक आफ इंग्लैण्ड के नोटों की विनिमय-शक्ति (उनका सोने से बदले जाने का गुण) सन् १७९६ से लेकर १८१९ तक नेपोलियन-युद्ध के कारण स्थगित कर दी

गयी थी। किन्तु विनिमय के इस स्थगन को अस्थायी माना जाता था और उसे युद्धकाल का कुफल समझा जाता था। उस समय जो अदृढ़ आर्थिक व्यवहार और आर्थिक गोलमाल व्याप्त था, इस स्थगन को भी उसी में से एक समझा जाता था। यह एक अपवाद था, जो इस नियम का परिपोषक माना जाता था कि कागजी मुद्रा को विश्वसनीय होने के लिए आवश्यक है कि उसमें सर्वदा सोने में परिवर्तित हो जाने की योग्यता हो। जब १९१४ में पुनः महायुद्ध छिड़ा तो इस योग्यता को पुनः स्थगित किया गया। पर तो भी विनिमयशीलता के तत्व की ओर जनसमुदाय का जोर रहा ही, क्योंकि नोटों को, मांग होने पर, सुवर्ण-मुद्रा में परिवर्तित किये जाने का जो कानून था वह कानून की किताब में ज्यों का त्यों रहने दिया गया था। परन्तु नोटों की विनिमयशीलता पर अस्थायी प्रतिबंध लगाये जाने के साथ यह भी आदेश दिया गया था कि सोना गलाने और उसके निर्यात पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाया जाय। इसलिए नोटों का सोना ले लेना भी कोई मानी नहीं रखता था क्योंकि सोना लेकर भी उसका क्या उपयोग होता? सन् १९२५ में यह विनिमयशीलता का स्थगित नियम पुनः स्थापित किया गया पर इस बीच कागजी मुद्रा के सम्बन्ध में जो थोड़ी-बहुत हिचक लोगों के मन में रह गयी थी वह पूर्ण रूप से मिट चली थी; क्योंकि इस बीच बैंक आफ इंग्लैंड का जो नया कानून बना उसमें नोटों की परिवर्तनीयता के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गयी कि छोटे-छोटे नोटों के बदले बैंक से सोना नहीं मांगा जा सकता। कोई १ पौंड के नोट देकर यदि गिन्नी मांगे तो वह बैंक उसे नहीं देगा। पर सोना मिलेगा, यदि आप एक साथ सोने का एक पासा ले लेने लायक नोट बैंक में लावें—यानी १७०० पौंड के नोट दें। इसलिए जनसाधारण अब अपने पास के नोटों का सोना नहीं भुना सकता था। पर इसके लिए उसको कोई परवाह भी नहीं थी।

सचाई अब सुस्पष्ट हो चली थी। प्रारम्भिक नोटों पर इस कारण विश्वास किया जा सकता था कि उन्हें सोने से बदल ले सकते थे। पर बैंक आफ इंग्लैण्ड के नोटों को दो सौ साल से देखते-देखते जनसाधारण उन्हें यों ही लेने लगा। साधा-

रण जनता बैंक आफ इंग्लैंड का नोट लेकर सन्तुष्ट हो जाती, क्योंकि उसे यह पूर्ण भरोसा होता था कि ये नोट वे सारी सेवाएं देने में समर्थ हैं जो उन्हें सिक्के दे सकते थे। यह बात तो १८३३ से ही शुरू हो गयी थी जिस समय नोटों को कानूनी टेंडर की मान्यता दे दी गयी थी। कहा जाय तो इससे पहले भी यही बात थी, किन्तु इन नोटों के सम्बन्ध में जो वास्तविक अवस्था थी, कानून को उसे मान लेने में एक सौ साल लग गये। १९३१ में सुवर्ण-मान एक बार पुनः स्थगित कर दिया गया। उस समय नोटों के सम्बन्ध में जो बात थी वह सम्पूर्ण रूप से पूरी हो गयी क्योंकि उस समय से बैंक आफ इंग्लैंड के नोट एकदम अपरिवर्तनीय हो गये हैं। नोटों पर मुद्रित "मैं प्रतिज्ञा करता हूं....................." आदि शब्द व्यर्थ और निरर्थक हैं। अब १७०० पौंड के नोट दे कर भी आप सोने का पासा बैंक आफ इंग्लैंड से नहीं पा सकते। अब तो नोट, कागज के एक टुकड़े के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इसका कोई अपना मूल्य नहीं है। और अगर इसे अदल-बदल के लिए बैंक को दिया भी जाय तो बैंक अब इस नोट पर छपे हुए वादे को दूसरे नोट या चांदी के सिक्के (क) देकर पूरा करता है। पर यही नोट सम्पूर्ण ब्रिटेन में मुद्रा माना जाने लग गया है। यह चौथी अवस्था है—बैंक-नोटों के विकास की अन्तिम अवस्था। और अब वह सुवर्ण मुद्रा जो चांदी की मुद्राओं को साथ लिये हुए, वास्त-

---

(क) इस अध्याय के प्रारम्भ में हमने चांदी और तांबे के जिन सिक्कों के विषय में चर्चा की है उनको वर्तमान सिक्कों के साथ समझने की गड़बड़ी नहीं करनी चाहिए। युद्ध के पहले जो सावरेन या गिन्नी इंग्लैण्ड में चालू थी उसमें ठीक १ पौंड का सोना होता था और शुरू से प्रायः अब तक बहुलांश में सिक्कों का मूल्य उसमें लगी धातु के मूल्य के बराबर होता था। परन्तु आजकल की एक शिलिंग के सिक्के में चांदी बहुत कम है—वह १ शिलिंग मूल्य की तो हर्गिज नहीं है। अब जो शिलिंग है उसका मूल्य इस कारण है कि एक पौंड के लिए हम २० शिलिंग ले या दे देंगे। इस तरह आज के शिलिंग को भी हम एक प्रकार का नोट ही कह सकते हैं जो धातु पर छापा गया है जिससे उसे उठाने धरने में सुविधा हो। इस तरह के सिक्कों को लाक्षणिक सिक्का (token coins) कहते हैं।

विक अथवा दृश्यमान धन थी, गायब हो गयी। बहुमूल्य धातुओं का राज्य इतना लम्बा रहा कि उन्हें एक तरह से दैवी अधिकार प्राप्त हो गया था। पर आखिरकार उसका अन्त हुआ और अब संसार में कुछ ही देश ऐसे होंगे जहां सिक्कों को प्रतीक से अधिक समझा जाता हो। ये अब कागजी मुद्रा रूपी सेनापति के सिपाही के रूप में रह गये हैं।

नोटों में सोने के साथ विनिमय की योग्यता-विषयक लोक-धारणा के निश्चय ही ऊपर वर्णन किये गये कारणों के अलावा भी कुछ कारण थे। जितने प्रकार के भी अपरिवर्तनीय नोटों को इतिहास ने देखा है, उनके साथ मूल्य की अस्थिरता लगी रही है, यह भी देखा गया है। जब तक नोटों को बदल कर सिक्के देने की मजबूरी रखी जाती है, बैंक के अधिकारी पर, नोट जारी करने के सम्बन्ध में वह एक रोक के समान काम करती है। जब यह मजबूरी हट जाती है तो बैंक-अधिकारियों की, बहुत अधिक नोट जारी करने की, लालच भी बड़ी जबर्दस्त हो जाती है। और इसमें विस्मय की कोई बात नहीं है कि नोट की अविनिमयता कहने से ही यह ज्ञात होता है कि बहुत अधिक नोट छापे जायेंगे। अब इस संबंध में जानना चाहिये कि नोटों के विषय में जो गड़बड़ी है वह इसकी विनिमयता अविनिमयता के सम्बन्ध में नहीं है—वह सम्बन्धित है अनन्त संख्या में नोट-प्रचलन से। इसलिए बैंक-नोट सुवर्ण से विनिमय योग्य रहें इस तत्व पर हठ करना, इस संबंध की बुराइयों को रोकने का उपाय नहीं है पर नोटों की संख्या सीमित करने की कुछ और व्यवस्था करना इसका उपाय है। ऐसी युक्ति हो जाय तो अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा भी कम सन्तोषदायक सिक्का न होगी। इस बात को १९३१ से हम लोग इंग्लैंड में देखते रहे हैं। किन्तु यह एक भारी विषय है और इसकी बहुत-सी शाखा-प्रशाखाएं हैं। इनका विचार अध्याय ६ में होगा—यहां उनपर विचार करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

आज की दुनिया में जो मुद्राएं व्यवहृत होती हैं उनमें से एक ही किस्म के सिक्के का वर्णन अब शेष रह गया है। यह वह मुद्रा है जो 'चेक' द्वारा प्रदत्त और प्राप्त

होती है। पहली नज़र में ऐसा लगता है कि यह किसी अन्य मुद्रा से बिलकुल ही भिन्न वस्तु है। किन्तु आधारभूत सिद्धान्तों में वह बैंक-नोट का ही एक दूसरा रूप है। यह स्मरण होगा कि प्रारम्भिक कागजी मुद्राओं में एक सुविधा थी—उस दशा को हमने प्रारम्भिक दशा कहा है। वह सुविधा यह थी कि ये मुद्राएं, मुद्रा नहीं थीं किन्तु मुद्रा का दावा थीं, और इसलिए चोरी अथवा खो जाने के भय से निर्द्वन्द हो कर इन्हें लेकर जा सकते थे। पर ज्यों ही बैंक-नोट धन बन गया, उसका यह गुण जाता रहा। अगर आज आपने बैंक आफ इङ्गलैंड का कोई नोट खो दिया या आपका नोट कहीं चोरी हो गया तो आपका उसी तरह नुकसान हुआ, जैसा सोने के सिक्के के खो जाने से होता।

चेक के आविष्कार से यह कठिनाई दूर हुई। याद रखना चाहिए कि बैंक-नोट इस बात का प्रमाण भी है कि इस नोट के जारी करने वाले बैंक पर इतने रुपये पावने हैं। यह एक आई० ओ० यू० (I O U—मैं आपका ऋणी हूं) का पत्र है जिसमें पावनेदार का नाम खाली छोड़ा हुआ है। बैंक-नोट द्वारा बैंक के ऋण का एक प्रमाण दिया जाता है—जब स्मिथ जॉन को १ पौंड का एक बैंक-नोट देता है तो इसका अर्थ यह होता है कि बैंक आफ इंग्लैण्ड के ऊपर स्मिथ का जो १ पौंड पावना था वह उसने जान को दे दिया। यह नोट इस कारण चलता है कि जनता को यह विश्वास है कि बैंक अपना पावना अदा करेगा। अब चेक भी यही काम करता है। स्मिथ ने १ पौंड बैंक में जमा किया होगा। इसका अभिप्राय यह कि उस जमा रकम के लिए बैंक जो स्मिथ को ऋण का एक पुर्जा देता, छपा पुर्जा नोट न देकर उसके नाम पर बैंक की बही में उतनी रकम जमा कर लेता है और उसे एक चेक बही देता है। स्मिथ अगर किसी को उस चेक बही में से १ पौंड का एक चेक काट कर दे तो इसका अर्थ यह हुआ कि स्मिथ ने बैंक को हिदायत दी कि उसके नाम पर जमा १ पौंड की रकम को चेक पाने वाले को दे दिया जाय या उसके नाम पर चढ़ा दिया जाय और स्मिथ का नाम काट दिया जाय। और इस तरह वह रकम स्मिथ के खाते से निकल कर जॉन के

खाते में चढ़ जायगी—या तो उसी बैंक में या किसी दूसरे में। अब इस चेक में भी वे ही प्रक्रियाएं हुईं जो बैंक-नोट में होतीं यानी बैंक का देना एक आदमी से हट कर दूसरे के पक्ष में गया। यह सही है कि बैंक-नोट और चेक में भेद है। चेक में देने लेने वाले दोनों पक्षों का खुलासा और अन्तिम दायी बैंक का भी हवाला होता है। यह एक निश्चित रकम का होता है, और सब से बड़ी बात यह कि एक निश्चित अवधि के बाद एक बार के लेन-देन के पश्चात् समाप्त हो जाता है। पर चेक तो कोई मुद्रा नहीं है जिससे हिसाब साफ हो; यह तो वास्तविक मुद्रा को एक के हिसाब से दूसरे के हिसाब में ले जाने का एक साधन मात्र है (जो बैंक में जमा है) अर्थात् वह रुपया जो बैंक धारता है। अगर बैंक में चेक वाले का रुपया जमा नहीं है तो उसके चेक को स्वीकार नहीं किया जायगा और इसी कारण व्यापारी चेक लेने में प्रायः हिचकिचाते हैं कि वे नहीं जानते कि चेक को स्वीकार किया जायगा या अस्वीकार कर दिया जायगा। पर बैंक में जमा रुपये के हस्तान्तरण को स्वीकार करने में किसी को कोई इन्कार न होगा। अर्थात यह वह जमा रकम है जो 'धन' कहा जाता है। अब बैंक-नोट और 'बैंक के जमा' में फर्क यही रहा कि पहले मामले में बैंक का ऋण एक कागज के टुकड़े में सिमट कर चला गया है और वह कागज एक से दूसरे के हाथ में जाने के साथ वह भी हस्तान्तरित होता रहता है। दूसरे मामले में पावनेदार के पावने की रकम केवल बैंक की बही में दर्ज हुई रहती है और पावनेदार द्वारा लिखित चेक के आधार पर उसका हस्तान्तरण होता है। दोनों हालतों में बैंक के ऋण का स्थानान्तरण ही होता है। दोनों में कुछ न कुछ खास-खास सुविधाएं हैं और आज की दुनिया में दोनों का प्रचलन है।

विशुद्ध सुविधा का विचार ही यथेष्ट था कि चेक का जन्म होता पर इंग्लैण्ड में बैंक-नोटों के जारी करने का सीमा-बंधन भी इसके आविष्कार में सहायक हुआ। १८४४ के बैंक-कानून के बाद बैंक आफ इंग्लैण्ड या किसी भी बैंक के नोट जारी करने का अधिकार बहुत सीमित कर दिया गया। पर समाज को, जो दिन-दिन

धन और आकार दोनों में वृद्धि-प्राप्त हो रहा था, रुपये-पैसे की रोज-रोज बढ़ती हुई आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे कारणों से भी, जिनकी चर्चा अगले अध्याय में की जायगी, बैंकों को इसमें बड़ा लाभ-कर व्यवसाय दिखायी दिया कि उनकी पावनेदारी के पुर्जे (IOU) मुद्रा की तरह चलते रहें। और जब उनके द्वारा छपवाये हुए आइ . ओ . यू पूर्जों (नोटों) के मनमाना जारी होने पर प्रतिबन्ध लगाया गया, तब वे दूसरे तरीके, जमा और चेक की रीति, पर पड़ गये। चेक, या इसी तरह की एक चीज, सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में लोगों के सामने आ चुकी थी पर इनका प्रभूत विस्तार १८४४ के बैंक-कानून के बाद से और इसी प्रकार के बैंक-नोटों पर प्रतिबंध लगाने के अन्य कानूनों के बाद से हुआ। इस धारणा को इस बात से समर्थन मिलता है कि अमेरिका को छोड़ कर, जहां की परिस्थिति प्राय: इंग्लैण्ड के समान ही था, और ब्रिटेन के उपनिवेशों को बाद देकर, जिनकी आर्थिक व्यवस्था इंग्लैण्ड का अनुकरण करती है, अन्य देशों में चेक का चलन बहुत कम है।

पर इसके प्रतिकूल, ग्रेटब्रिटेन में रुपया-पैसा हस्तान्तरण करने के लिए चेक का प्रयोग खूब तेजी से बढ़ा और इस मतलब से काम में लाये जाने वाले तरीकों में यही सब से अधिक प्रचलित है। इंग्लैण्ड में जितने बैंक-नोट चालू हैं उनसे चौगुनी रकम बैंक के डिपाजिट की है और सभी प्रकार की मुद्राओं के योगफल से भी यह दो-तीन गुनी अधिक है। किन्तु बैंक की जमा पूंजी भी अभी विकास के रास्ते में तीसरी अवस्था में है। वे कानून-मान्य टेंडर नहीं हैं और कोई भी पावनादार बैंक-डिपाजिट के हस्तान्तरण के लिए चेक पाकर उसके लेने से यदि इनकार करे तो उसे कुछ नहीं कह सकते। बैंक-डिपाजिट अपरिवर्तनीय ही हैं। बैंक-नोट पर अदायगी का जो वादा छपा रहता है बैंक आफ इंग्लैण्ड उसे पूरा करने से इनकार कर सकता है। इसका ऋण-परिशोध का वादा सम्पूर्ण अर्थों में वापस तो नहीं होता पर यह एक ऐसा वादा है जो ब्रिटिश सरकार के कनसोलों (consols) की तरह, दिन-दिन मुल्तबी होता रहता है—कभी उसकी परिसमाप्ति

नहीं होती। अन्य बैंकों पर निश्चय ही यह भार है कि वे अपने यहां जमा किये गये रुपयों को वापस दें और अगर कोई आपना रुपया वापस मांगे तो इन बैंकों का किसी न किसी कानून से मान्य टेंडर के सिक्के में उसे लौटाना पड़ता है और प्रत्येक स्थिति में इंग्लैण्ड में एक ही कानूनी मान्य टेण्डर है, और वह बैंक आफ इंग्लैण्ड का नोट है। अगर आगे चलकर कभी भविष्य में वर्तमान बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो गया और राज्य की ओर से सबका एकीकरण हुआ तो उनकी जमा की हुई रकम अपरिवर्तनीय भी हो जा सकती है और कानूनी टेंडर भी। इस युक्ति को सकारण अवांछित कहा जा सकता है, पर यह पूर्ण रूप से संभव है और यह ढंग निश्चित रूप से काम करेगा। बैंकों की पूंजी तब अपनी विकास-प्रक्रिया में चौथी अवस्था पर पहुंच जायेगी।

रुपया क्या है ?

WHAT IS MONEY ?

हमने अबतक मुद्रा के इतिहास को कुछ विस्तार के साथ और सिद्धान्त रूप से वर्णित किया है। पर हमने अभी तक इसकी परिभाषा नहीं दी है। इन सब विचारों के बाद आखिर मुद्रा है क्या ? यह प्रश्न रह जाता है।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें मुद्रा के उन तीन कार्यों का पुन: वर्णन करना चाहिये जिनसे हमने यह चर्चा शुरू की थी। मुद्रा को मूल्य की माप, विनिमय का साधन और धन के कोष की तरह काम करना चाहिए। इन तीनों कर्तव्यों में से दूसरा सब से अधिक आवश्यक है। दूसरी चीजें भी मूल्य की माप और धन का कोष हो सकती हैं। देखिए, इंग्लैण्ड में अबतक बहुत-सी चीजों का दाम गिनी में रखा जाता है पर बहुत दिन से अब कोई भी सिक्का अथवा मुद्रा का कोई भी रूप गिनी नाम से नहीं रह गया है। स्टाक-विनिमय की जमानतें धन के कोष का एक परिचित स्वरूप हैं, पर आप स्टाक या शेयर से एक सलाई भी नहीं खरीद सकते। न तो गिनी और न कनसोल (consols) ही मुद्रा है।

मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जिसे ये तीनों कार्य करने ही चाहिए और विशेषतः उसमें विनिमय का माध्यम होने की शक्ति ता अवश्य होनी चाहिए। इसलिए इस पुस्तक के लिए, और वास्तव में अन्य सभी कामों के लिए भी, मुद्रा की परिभाषा यही हो सकती है कि "यह वह **चीज** है जिसे **साधारणतः विनिमय-माध्यम मान लिया गया हो** अर्थात् देना-पावना चुकाने का जो साधन हो और साथ ही जो मूल्य की माप और उसके कोष का काम करती हो।"

इस परिभाषा में जो शब्द प्रमुख अक्षरों में हैं वे ही महत्व के हैं। मुद्रा होने के लिए उस वस्तु को स्वीकार्य होना आवश्यक है। बहुत-सी चीजें खास-खास कामों के लिए स्वीकार्य हैं। उदाहरणार्थ उपहार-कूपन बहुत-से पदार्थों के मूल्य-स्वरूप स्वीकार कर लिये जाते हैं। पर वे साधारणतः सभी पदार्थों के मूल्य-स्वरूप तो नहीं लिये जा सकते। इसलिए वे मुद्रा नहीं हुए।

दूसरा तत्व यह है कि कोई भी चीज, जिसे मान लें, मुद्रा कही जा सकती है; इस विषय के सभी विचारकों को यह परिभाषा सन्तोषप्रद न भी लग सकती है। विचारकों में से कुछ ने, खास कर जिनका मस्तिष्क कानूनी है, यह चेष्टा की है कि मुद्रा की इस परिभाषा को "कानून के रूप से" शब्द जोड़ कर सीमित करें अर्थात् उनकी राय में मुद्रा वह है जिसे कानूनी रूप से मान लिया गया हो। पर यह एक भद्दा प्रभेद है, क्योंकि बैंक-डिपाजिट को कानूनी मान्यता प्राप्त नहीं है पर उसे उसी तरह प्रयुक्त किया जाता है, और उसका वही आर्थिक प्रभाव है जो बैंक-नोट का है जिसे कानून नें मान लिया है। इसलिए कानूनदां चाहे जो सोचें, पर एक अर्थज्ञ के लिए मुद्रा की यह परिभाषा माने बगैर गुजारा नहीं है कि "कोई भी वस्तु जिसे देना-पावना के लिए प्रयुक्त किया जा सके मुद्रा है"। जब प्रभेद करना आवश्यक हो तो कानून द्वारा स्वीकृत बैंक-नोट को प्रचलित मुद्रा (currency) कहें और कानून ने जिसे मान्य नहीं घोषित किया उसे बैंक-मुद्रा कह सकते हैं। पर मुद्रा दोनो ही हैं। और इसी तरह से कोई भी चीज मुद्रा हो सकती है जिसे साधारणतः हर आदमी स्वीकार करे और जिसका प्रयोग एक बार किसी खास वस्तु के खरीदने

में नहीं, बल्कि बराबर तरह-तरह की चीजों की खरीद-बिक्री में या वेतन-मजदूरी देने में हो, जिससे भाड़ा चुकाया जा सके या चाय-बिस्कुट से लेकर भोजन और दवादारू आदि सब चीजें खरीदी जा सकें।

इसके लिए एक आवश्यक बात यह है कि उसे सब लोग स्वीकार करें। मुद्रा को अपने आपमें मूल्यवान पदार्थ होना कोई जरूरा नहीं है। पर यह बहुत सुलभता से मिलने वाली न हो। यदि पेड़ों में से पत्ते की तरह रुपये अधिकता से मिल सकें तो उससे काम चलने का नहीं। परन्तु यदि हम यह उपाय कर सकें कि इसकी दुर्लभता बनी रहे और यह भी रख लिया जाय कि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कम परिवर्तनीय हो, तो कागज की एक चिट अथवा बैंक-किरानी की कलम की एक लकीर या बैंक-बही की एक पुर्जी से लेकर उत्तम से उत्तम पदार्थ मुद्रा हो सकता है।

दूसरा अध्याय

बैंक

THE BANKS

बैंकों की प्रकृति

NATURE OF BANK

पहले अध्याय में बैंकों के सम्बन्ध में प्रकरणवश कुछ कहा गया है। वास्तव में आज के युग में मुद्रा सम्बन्धी किसी लेख में बैंकों का जिक्र न आये यह असम्भव है, क्योंकि समाज में चालू मुद्रा का एक बड़ा भाग बैंकों द्वारा प्रदत्त "आइ० ओ० यू०" ही है। किन्तु हमें पलट कर अब इन संस्थाओं—बैंकों—की कुछ सूक्ष्म परीक्षा लेनी चाहिए जिन्होंने समाज को रुपया जुटाकर देने का भार अपने ऊपर ले, सिक्के ढालने वाले टकसालों का काम धीरे-धीरे बहुत हलका कर दिया है और जो सामाजिक अर्थ-व्यवस्था की धुरी बन गये हैं। अपनी कहानी के प्रथम अध्याय में हमने नायक (अथवा खलनायक, जिसका वास्तविक स्वरूप कहानी के प्रसङ्ग से प्रकट होगा) की झलक दिखा दी है, उसके एक-दो कार्य-कलापों का भी वर्णन कर दिया है। अब हमें उसकी वंशावली देनी है और उसके चरित्र की रूप-रेखा प्रस्तुत करनी है।

आज के महाजन (banker) के तीन पूर्वज खास ध्यान देने योग्य हैं। एक का परिचय हमने दे दिया है, अर्थात् वह व्यापारी जिसकी ऊंची और विश्वस्त ख्याति अथवा साख उसे उन रुक्कों, या पत्रकों को जारी करने की योग्यता प्रदान करती है जिनको संसार भर में रुपये का अधिकार-पत्र समझा जाता है। आज तक 'व्यापारी महाजन' की पदवी व्यवहारतः उन्हीं पुराने, सर्व-जातीय और खास काम को करने वाले फर्मों के लिए सुरक्षित है, जिनमें से प्रायः हर एक अपना वंश-सम्बन्ध ऐसे किसी व्यापारी से बताता है जो उस समय रुपये-पैसे को छोड़ कर अन्य किसी मोटे बाने का कारबार करता था, चाहे इसमें उसे कम ही मुनाफा होता हो।

बैंकर या महाजन के अन्य दो पूर्वज उत्तमर्ण (ऋण देने वाले) और सोनार हैं। ऋण देना और लेना ये दो कर्म शायद उतने ही प्राचीन हैं जितनी मुद्रा। ग्रामीण उत्तमर्ण एकदम आदिम अवस्था के समाज में भी पाया जाता है। उसको लोग प्रेम की दृष्टि से नहीं देखते थे—सूदखोर शब्द बहुत पहले से तिरस्कार का सूचक रहा है। परन्तु समाज की जो सेवा वह करता था वह उपयोगी और आवश्यक भी थी। भले ही, उसके लिए वह जो कुछ लेता था वह शोषण क्यों न समझा जाय। उन दिनों भी, जब सबकी आय बराबर थी, कुछ लोग ऐसे थे जो धन बचा कर जमा कर लेते थे और कुछ ऐसे थे जो उसके अभाव में रहते थे। और चूंकि आमदनी भी सब की सदा बराबर नहीं रही है इस कारण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास पूंजी के हस्तान्तरण की आवश्यकता और किसी ऐसे साधन का प्रयोजन हो जाता है जिसके द्वारा यह काम सम्पन्न हो। किन्तु ऋण देने वाला महाजन अपनी ही पूंजी लेकर काम करता है। समाज में यदि और भी ऐसे ही व्यक्ति हों जो रुपया बचा सकते हैं तो उनके लिए यह स्वाभाविक ही है कि वे अपनी बचत को भी उसी व्यक्ति के हाथों में ऋण पर उठाये जाने के लिए रख दें जिससे उन्हें भी कुछ लाभ हो। ऋण देनेवाला इस काम का अनुभवी और ऋण वसूल कर लेने की कला का जानकार होता है। इस कारण उसके द्वारा यह काम कराया जाना अच्छा समझा जाता है। उत्तमर्ण जहां इस अवस्था तक पहुंचा कि वह प्रारम्भिक महाजन बन गया; वहीं अब वह ऋण लेनेवाला भी है और ऋण देने वाला भी। प्रारम्भ में उसने अपने ग्राहक का रुपया कमीशन पर ही लगाया होगा जैसा सालिसिटर करता है। पर इन दोनो के लिए यह अधिक सुविधापूर्ण और लाभजनक है कि वह ग्राहक का रुपया अपने ही ऊपर ले ले, इसपर कुछ ब्याज दे और इसे अपने पास के रुपयों में सम्मिलित करके सारे रुपयों को ऋण पर लगा दे। इसमें उसको यह लाभ रहा कि ग्राहक को तो कम ब्याज-दर दी गयी और ऋणी को अधिक ब्याज-दर पर रुपया दिया गया और इस तरह दोनो ब्याज-दरों में जो अन्तर रहा वही उसको लाभ मिल गया।

सम्पूर्ण मध्य युग में पादरी-कुल ब्याज के लेन-देन के सिद्धान्त के औचित्य के सम्बन्ध में बहुत आन्दोलित रहा। साधारणतः तो ब्याज को निन्दनीय माना जाता था पर सूदखोरी में ऋण के ऊपर जो मामूली ब्याज दिया जाता था वह नहीं गिना जाता था। किसी भी तरह हो, गिर्जों के कानून सूद का लेन-देन बंद नहीं कर सके और इनकी दर भी सचमुच भारी थी। आज भी प्रायः हर राज्य में छोटे-छोटे बोहरों के लिए सूद की ज्यादा से ज्यदा दर को निश्चित करने वाले कानून बनाने की आवश्यकता है। ब्याज की कोई भी दर नीति के विचार से या उचित आर्थिक दृष्टिकोण से आवश्यक है या नहीं, यह एक मनोरंजक प्रश्न है; पर इस पुस्तक में हमको उसपर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

हर एक बैंक की स्थापना के पीछे बहुत-से रुपया लगाने वालों का हाथ होता है। यह उनका रुपया लेता है जिनके पास फाजिल रुपया हो अथवा जो अपनी आय में से कुछ बचा पाते हैं और इस जमा धन में से वह उन्हें रुपया देता है जिन्हें आवश्यकता होती है। किसी भी समाज में यह एक बहुमूल्य और आवश्यक काम है। सचमुच, जैसा कि आगे हम इसी किताब में दिखायेंगे, यदि आज की मिश्रित आर्थिकता को ठीक-ठीक चलाना हो तो इस बैंक नाम के एक विचित्र किन्तु अत्यावश्यक साधन को रखना ही होगा। बहुत-सी संस्थाएं जो अपने को बैंक कहती हैं इसके अतिरिक्त कुछ नहीं करतीं। एक सेविंग्स बैंक, उदाहरणार्थ, ठीक यही काम करता है। भेद यह है कि व्यक्तियों को इस धन में से ऋण देने के बजाय इसके रुपये को किसी 'इनवेस्टमेंट' (investment) में लगाते हैं। बंधकी बैंक (इंग्लैण्ड में जिसे बिल्डिंग सोसाइटी कहते हैं) ऐसा ही काम करता है क्योंकि इसका काम व्यक्ति-व्यक्ति से रुपया लेकर जमा करना और उन्हें दूसरे व्यक्तियों को ऋण देना है जो उससे अपने लिए मकान बनाना या खरीदना चाहें। बैंक शब्द सुनते ही जिन बड़ी-बड़ी संस्थाओं का ध्यान आ जाता है, और जिनकी शाखा-प्रशाखाएं हर एक गली के कोने-कोने में हैं, वे भी अपना बहुत-सा समय और उत्साह इसी काम में खर्च करती हैं—वे रुपया इकट्ठा करती हैं और उन्हें वितरित करती हैं।

अगर बैंकों का इतना ही काम होता तो यह अध्याय यहीं पर समाप्त कर देना पड़ता। किन्तु ऐसा नहीं है। हमलोग यहां पर अबतक उन लोगों के विषय में चर्चा करते रहे हैं जिनके पास फाजिल रुपया है—फाजिल, अर्थात दैनिक साधारण खर्च के लिए जिस धन को हाथ पर रखने की उनको आवश्यकता नहीं है और जिसको कि अच्छा हो कि किसी ऐसी जगह रख दिया जाय जहां उसपर कुछ ब्याज आ जाय। पर वर्तमान समय में बैंक का काम इससे कहीं अधिक है। साधारण डिपाजिटर अपना कुल रुपया बैंक में ही रख देता है और अपना दैनिक लेन-देन वहीं से लेकर चुकाता है। इसके अतिरिक्त बैंक, दूसरे आदमियों से रुपया इकट्ठा करना और फिर दूसरे के हाथ उन्हें लगा देना, इतने काम से ही सन्तुष्ट नहीं रहते। जैसा कि हम पिछले अध्याय में लिख आये हैं, वे समाज के धन की पूर्ति को बनाने और सृजन करने में भी प्रबलता से लीन रहते हैं। इसलिए एक साफ-साफ विभाजक रेखा खींचकर हमें जान लेना चाहिये कि साधारण बैंक (अपने साधारण अर्थ में) और उन संस्थाओं में क्या अन्तर है जिनका नाम बैंक या कुछ और होता है पर जो केवल प्राचीन काल के उत्तमर्णों की वंशानुगत मात्र हैं। सेविंग्स बैंक अथवा भवन-निर्माण-संस्थाओं के "आइ० ओ० यू" मुद्रा की तरह नहीं चलते पर बैंक के चलते हैं। यही इनमें मुख्य अन्तर है। कहा गया है कि मुद्रा में दो गुण हैं—यह चिपटी होने से संचित की जा सकता है और गोल होने से भ्रमणशील है। रुपये का लेन-देन करने वाले के वंशज चिपटी मुद्रा से सम्बन्धित हैं और रुपये की गोलाई से सेविंग्स अर्थात् संरक्षा का सम्बन्ध है। सुनार का वंशज गोलमटोल रुपयों का प्रेमी है—वह रुपया जो घूमे-फिरे; नगद रुपया। आज के बड़े-बड़े बैंक दोनों काम करते हैं। हमने उनकी पैदाइश एक ओर उत्तमर्ण से दिखायी है; अब हमें इनके दूसरे पूर्वज सुनार की ओर फिरना है।

वर्तमान बैंकों का सुनार—वंशानुक्रम विशुद्ध अंगरेजी है। सत्य ही चलनशील मुद्रा जुटाने वाले बैंक एकदम अंगरेजी आविष्कार हैं जो सभ्य संसार के किसी अन्य भाग में अभी तक फैल नहीं पाये हैं। सुनारी काम के लिए आवश्यक साज-सरंजामों

में एक सुरक्षित सुदृढ़ तिजोरी भी आवश्यक है। इसके बिना वह रोजगार कर नहीं सकता। और सुनार आज भी अपने ग्राहकों के सोने-चांदी के प्लेटों को अपनी तिजोरी में सुरक्षित रखने के लिए लेता है। उस जमाने में जब कि लोगों का धन केवल सोने-चांदी के रूप में ही रहता था और जमीन छोड़ कर अन्य किसी वस्तु में उस धन को लगाया नहीं जा सकता था—अन्य प्रकार से रुपये फंसाने वाले काम ही उस समय नहीं थे—खानगी आदमी आज की अपेक्षा बहुत अधिक सोना-चांदी अपने पास रखते थे। ऐसा दशा में यह स्वाभाविक ही था कि वे अपना यह सोना-चांदी सुनार को अपनी तिजोरी में सुरक्षित रखने को दें और उससे इसकी रसीद ले लें। लंदन में, नगर के व्यापारी बहुत दिनों तक अपना रुपया-पैसा लंदन के "टावर" में सुरक्षित रख आया करते थे। पर सन् १६४० में राजा चार्ल्स ने, जिसे रुपये-पैसे की बहुत तंगी रहती थी, इस टावर में रखा हुआ व्यापारियों का सारा सोना जप्त कर लिया। इससे व्यापारी अब वहां सोना रखने में डरने लगे और तब सुनारों का काम फिर उनके पास लौट आया। प्रारम्भ में यह विशुद्ध, तिजोरी में सुरक्षित रखने का रोजगार था और उसमें जो रसीद मिलती थी उसको सोना-चांदी वापस करने के लिए ही काम में लाया जाता था। किन्तु पूरे बैंक-कारबार का विकास जल्दी-जल्दी और सुगमता से होता जा रहा था। पहले तो यही जमा की रसीद मुद्रा की तरह से चलने लगी। सचमुच ऋण की अदायगी के लिए सुनार के यहां से सोना निकाला जाय, उसे महाजन के घर ढोकर पहुंचाया जाय और फिर महाजन उसे सुनार के यहां ले जाकर जमा करदे इससे तो सुविधा-जनक यह है कि उस सोने की एक रसीद के छोटे से कागज का इधर-उधर हेर-फेर हो। इस तरह वही जमा करने की रसीद, जहां रसीद देने वाले सुनार की ख्याति और साख जमगयी कि, प्रारम्भिक बैंक-नोट बनी। दूसरी बात यह हुई कि यह रसीद भी बिकने लगी। सुनार को अब केवल एक पत्र द्वारा यह लिख देना यथेष्ट होता कि अमुक आदमी ने जो सोना उसके पास शुरू में जमा किया था वह उसने अपने महाजन को दे दिया इसलिए उसके नाम से हटाकर अब उस सोने का नये अमुक

आदमी के नाम पर जमा कर दिया जाय। इसी से अब 'चेक' का जन्म होता है। सबसे पहला 'चेक' जो इसी तरह से लिखा हुआ है लंदन के एक सोनार के नाम का है, उसपर १६७५ सन् लिखा है और वह अबतक अजायबघर में सुरक्षित है। और अंत में वह सुनार जो अब परिपूर्ण बैंकर-महाजन हो गया है, यह समझता है कि उसके पास जो सोना जमा है उससे अधिक की सञ्चय-रसीद भी वह बेखटके जारी कर सकता है। यह बात तत्व-शून्य है कि वह जमा से अधिक रसीदें छपवा कर रख लेता है और उन्हें ऐसे लोगों को जिन्हें इनकी आवश्यकता होती है, भर कर देता है (अथवा इन रसीदों का इस्तेमाल वह अपने खानेदारी के बिल चुकाने में करता है) या इस रसीद को वह अपने ग्राहकों के जमा सोने के मूल्य से ऊपर का भी दे देता है। किसी भी स्थिति में एक महत्त्वपूर्ण युक्ति तो हो ही गयी—मुद्रा के सृजन का तत्त्व निकल आया। पहले-पहल यह सुनार अपने सृजन के सम्बन्ध में बहुत चौकसी रखता रहा, पर पीछे जब हौसला बढ़ने लगा तो उसने बहुत आगे बढ़कर हाथ मारना शुरू किया। पर धीरे-धीरे उसने अनुभव से यह जाना कि जारी किये कागजों के मुकाबिले में उसे कितना सोना अपने पास हमेशा सुरक्षित रखना आवश्यक है।

आज का बैंकर अपने तीनों पूर्वजों के चरित्र की विशेषताओं से युक्त है। व्यापारी की तरह वह आज विदेशी व्यापार के लिए मुद्रा-सञ्चय में विशेषज्ञता रखता है, और विनिमय-बिल जैसे कागज जारी करने (जिसके विषय में हम आगे चलकर विचार करेंगे) जैसे खास-खास तरीकों से अपना काम चलाता है। रुपये का लेन-देन करने वाले की तरह वह कुछ लोगों की बचत की रकम एकत्र करता है और दूसरों को देता है। उसकी संचित पूंजी में बहुत बड़ा भाग उन डिपाजिटों का होता है जिनकी रकम को चेक के द्वारा नहीं निकाला जा सकता—निकालने के लिए बैंक को नोटिस देनी पड़ती है। यह रुपया निश्चय ही प्रचलित रुपया नहीं है। वह चिपटा रुपया है जिसको उसके मालिकों ने सुरक्षित रखने के लिए बैंक को दिया है। अब अपने-अपने ढङ्ग से ये दोनों काम महत्वपूर्ण हैं। पर बैंकर का

विचित्र काम, और वह काम जिसपर उसकी चर्चा इस किताब में विस्तार से करना पड़ती है, तीसरा है। वह है, एक ऐसी युक्ति निकालना जिसके द्वारा आदमी एक दूसरे के साथ आसानी से लेन-देन किया करें और इसके लिए उन्हें अपने कन्धे पर सोना-चांदी के सिक्के लाद कर न जाना पड़े। और इस युक्ति को निकालने जा कर वह रुपये का संग्रह अथवा उनका 'सृजन' भी कर लेता है। मानों उसने वह कला निकाल ली है जिसकी खोज में प्राचीन रसायनशास्त्री हैरान रहा करते थे—उसे रुपया बनाना आ गया है। कम से कम मालूम ऐसा ही पड़ता है कि बैंक वाले रुपया 'बनाते' हैं और अब हमें इनके इसी कौतूहल-जनक मुद्रा-सृजन-व्यापार की प्रक्रिया की कुछ सूक्ष्मता से जांच करनी है।

मुद्रा का सर्जन
THE 'CREATION' OF MONEY

कल्पना करें कि कोई ऋण-प्रार्थी अपने बैंक के पास १०० पौंड के ऋण के लिए गया। वह बैंकर को इस बात का विश्वास दिलाने में यदि समर्थ हो गया कि वह इस रकम पर ब्याज भी देगा, असल भी लौटा देगा और यह ऋण उसके पास निरापद रहेगा तो उसे ऋण मिल जाता है। अब इसके बाद वास्तव में होता क्या है? बैंकर अपनी तिजोरी नहीं खोलता और खोलकर १०० पौंड की रकम का सोना या चांदी निकाल कर ऋण-प्रार्थी के हाथ पर नहीं रख देता। वह करता यह है कि अगर राज्य की ओर से उसे नोट चालू करने का अधिकार मिला हुआ है तो वह ऋण-प्रार्थी के हाथ पर एक-एक पौंड के ताजे नये नोट छापाखाने से मंगा कर धर देता है। पर अधिकतर ऋण देने का प्रचलित नियम यह है कि प्रार्थी के खाते पर ऋण की रकम जमा कर दी गयी। प्रार्थी इस १०० पौंड की रकम में से कुछ तो नगद मांग सकता है (उदाहरणार्थ मजदूरी आदि देने के लिए) पर ज्यादातर वह इस रकम को किसी को चेक देकर ही खर्च करेगा और इस हालत में वह १०० पौंड की उसके खाते से रकम निकल जायगी और दूसरे के खाते पर चढ़ जायगी।

इसमें ध्यान देने की बात यह है कि बैंक वाले का ऋण बढ़ा कर यह ऋण दिया गया (चाहे ऋण की रकम नोटों के रूप में ले ली जाय अथवा संचित धन में दे दी जाय, दोनों हालतों में यह सही है)। बैंकर के पास अब ऋणी का ऋण वापस करने का वादा है और उसे उसका ब्याज मिलेगा पर इस ऋण-दान के कारण उसका देय तो बढ़ा ही। प्राचीन बैंक-सम्बन्धी कहावत के अनुसार "प्रत्येक ऋण संचित धन की वृद्धि करता है," बैंक का देय (चाहे वह नोट हो या डिपाजिट), जैसा कि हमने देखा है, मुद्रा का काम करता है। इसलिए १०० पौंड के ऋण देने के परिणाम-स्वरूप, अतिरिक्त १०० पौंड की मुद्रा-वृद्धि हुई है। ऋण जब चुका दिया जायगा तो ऋणी के खाते में १०० पौंड जमा हो जायगा और ऋण के कट जाने के कारण १०० पौंड की मुद्रा का भी ह्रास हो जायगा।

डिपाजिट पूंजी पैदा करने का तरीका ऋण देना ही नहीं है। अगर बैंकर १०० पौंड का ऋण-पत्र स्टाक एक्सचेंज से खरीदता है और उस १०० पौंड का चुकता वह सिक्यूरिटी बेचने वाले के नाम पर उस रकम को जमा कर के करता है, तो भी उसने अपने डिपाजिट को १०० पौंड से बढ़ाया है क्योंकि सिक्यूरिटी भी मुद्रा है। इस बात से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं कि सिक्यूरिटी का बेचने वाला उस सिक्यूरिटी के खरीदने वाले बैंक का ग्राहक है या नहीं क्योंकि अपनी सिक्यूरिटी की बिक्री पर १०० पौंड का जो चेक वह पायगा वह किसी बैंक में तो जमा करेगा, चाहे इस बैंक में न करे। किसी बैंक वाले के द्वारा १०० पौंड का सिक्यूरिटी का क्रय डिपाजिट की उतनी रकम को बढ़ाता ही है, चाहे उसके बैंक की या किसी अन्य बैंक की। किसी भी तरह हो समष्टि रूप से तो बैंक का डिपाजिट १०० पौंड बढ़ ही गया। सिक्यूरिटी के क्रय के सम्बन्ध में जो बात है, बैंक द्वारा किसी जायदाद के क्रय के सम्बन्ध में भी वही है। कोई बैंक नया मकान खरीदता है। वह भवन-निर्माण-संस्था को डिपाजिट के रूप में ही तो मूल्य चुकायेगा? अब वास्तव में बैंक सुयोगपूर्ण स्थिति में हैं कि अपनी आवश्यकता की कोई भी चीज वे बदले में केवल अपना 'आइ ओ यू' देकर पा सकते हैं क्योंकि इनके "आइ ओ यू" को मुद्रा समझा जाता है और

उनसे मूल्य चुकाने के लिएकोई दबाव नहीं डाला जाता । जिस तरह कोई व्यक्ति अपना "आइ ओ यू" लिख सकता है उसी तरह बैंक भी लिख सकते हैं और इस तरह वे मुद्रा का सृजन करते और उसका उपयोग वे आवश्यक वस्तु के खरीदने में करते हैं ।

पर यह भूलना नहीं चाहिए कि जो मुद्रा बैंक वाले बनाते हैं वे उनका देय भी हैं। किन्तु यह सम्पूर्ण ढांचा इस बात पर चलता है कि बैंकों के "आइ ओ यू" का शायद ही कभी भुगतान के लिए भेजा जाता है। सब तो नहीं पर उनमें से कुछ आते भी हैं। समाज को कुछ रुपया नगद रूप में भी चाहिए और बैंक को यह जुटाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त जो डिपाजिट हैं वे एक बैंक से दूसरे तक बराबर घूमते भी रहते हैं। हर रोज मिडलैंड बैंक के ग्राहक लायड्स बैंक के नाम के चेक काटते रहते हैं और उधर लायड्स बैंक के ग्राहक भी इसी तरह मिडलैंड बैंक के ग्राहकों के नाम के चेक काटा करते हैं। ये सभी चेक निपटारा-घर (clearing house) होकर गुजरते हैं जहां एक को दूसरे के विरुद्ध भुगतान दिया जाता है। पर सभी चेकों का भुगतान हर दिन इस तरह तो सम्भव नहीं है—इसमें कुछ न कुछ बच जाते होंगे और पावनादार बैंक अपनी फाजिल रकम पाने के लिए मांग भी करता होगा। इसलिए देनदार बैंक को यह रकम देने के लिए भी तैयार रहना पड़ता है। इस तरह बैंकों को दो सूत्रों के दावे भुगतान करने पड़ते हैं—(१) जन-साधारण के दावे जो अपने दैनिक व्यय के लिए चालू मुद्रा की मांग करते हैं और (२) अपने साथी बैंकों के दावे जो क्लीयरिङ्ग हाउस से फाजिल हो कर उनके सिर आ पड़ते हैं। पर ये अदायगियां तो, समाज में जितनी रकम का कारबार होता है उसका एक बहुत ही छोटा-सा अंश है और अनुभव से ज्ञात हो चुका है कि बैंक की कुल डिपाजिट-रकम का महज छोटा-सा भाग ही इन दोनों प्रकार की भुगतानों के लिए हाथ पर नगद रखने की आवश्यकता है। बैंक वाले इस अन्दाज से प्रायः दूनी रकम नगद अपने हाथ पर रखा करते हैं जिसमें कि वे भुगतान के सम्बन्ध में पूर्ण निश्चिन्त रहें। पर इतना होने पर भी उनकी नगद रकम इंग्लैण्ड में आज-कल कुल डिपाजिट के ८ प्रतिशत से अधिक नहीं जाती।

किन्तु हाथ पर कुछ नगद रकम सुरक्षित रखने की आवश्यकता से, चाहे वह कितनी भी छोटी क्यों न हो, बैंकों के स्वेच्छानुसार मुद्रा-सृजन की शक्ति पर कुछ रोक पड़ ही जाती है। मुद्रा-सृजन से बैंकों के जमा-देन में वृद्धि हो जाती है और कोई बैंक अपनी कुल जोड़ डिपाजिट-देन के ८ प्रतिशत से कम नगदी का सुरक्षित कोष रखकर पार नहीं पा सकता। यदि इस नगदी रकम को ६ प्रतिशत या उससे भी नीचे ५ प्रतिशत भी कर दें तो भी बैंक के कारबार में किसी तरह की बाधा का भय नहीं है। पर जनता बैंकों के सुरक्षित कोष के सम्बन्ध में ऊंची आनुपातिक दर की इतनी आदी हो गयी है कि जो बैंक अपने नगदी रोकड़ के अनुपात को ८ से कम हो जाने देता है, उसकी ओर तिरछी नजरों से वह देखने लगती है। अन्य आदमियों की तरह बैंक वाले ऐसा कुछ नहीं कर सकते जो बैंक के पद को खतरे में डाल दे; यही नहीं, वे ऐसा कुछ भी नहीं कर सकते जिसके कारण जानता की यह धारणा हो जाय कि बैंक पर खतरा उपस्थित हो जायगा। उसका सारा कारबार उसकी साख, उसके प्रति जनता के इस विश्वास पर निर्भर करता है कि मांग होते ही पावने अदाकर देने की बैंक में पर्याप्त शक्ति है। यदि उसका सुरक्षित कोष विशाल हो तो उसकी अदायगी की क्षमता पर कौन शंका कर सकता है? किन्तु अगर उसका सुरक्षित कोष उस रकम से घटने लगा जिसकी जनता अभ्यस्त हो गयी है तो दुर्बलहृदय रुपया जमा करने वाले ग्राहकों को तुरत यह ख्याल होगा कि बैंक हमारे डिपाजिट रुपये अदा कर सकता है या नहीं और अपनी शंका के निवारणार्थ भी वे अपना डिपाजिट वापस करने की मांग करने लगेंगे। बैंक के कारबार में बहुत-सी अजीब बातें भी हैं। यह ध्यान रखना चहिये कि यदि सब लोग एक ही साथ अपना-अपना रुपया वापस मांगने आ जायें तो कोई भी बैंक अपने सभी लेनदारों को एक ही साथ और एक ही दिन रुपया नहीं चुका सकता। इस दृष्टि से तो हर एक बैंक वाला हर घड़ी दिवालिया है। किन्तु बैंक का सारा कारबार सम्पूर्ण रूप से उसकी साख पर, जन-साधारण में उसके सम्बन्ध में प्रचलित इस धारणा पर टिका हुआ रहता है कि उसमें किसी भी मांग को, किसी भी समय

बिना हिचक या झगड़े के पूरी करने की पूरी क्षमता है। जितनी ही बड़ी तहबील उसके पास होगी उतनी ही कम जरूरत नगद रुपये की उसको होगी। यह एक विचित्रता इसमें है। फलतः रोकड़ जितना कम होगा उतनी अधिक मांग उसपर पड़ेगी।

इसलिए कोई भी समझदार बैंक वाला इस बात को अपना नियम बना लेगा और इसको कभी नहीं तोड़ेगा कि उसके हाथ पर नगद रकम उसके कुल जमा से एक खास अनुपात से कम न हो। किसी-किसी देश में तो कानून ने इस चीज को बैंक की बुद्धिमानी पर ही न छोड़ कर अपने ऊपर ले लिया है और एक निम्नतम सुरक्षित धन का अनुपात निश्चित कर दिया है। उदाहरणार्थ, अमेरिका में यह कानून है कि संघीय सुरक्षा बैंक से सम्वद्ध प्रत्येक बैंक अपने यहां की निश्चित अवधि-डिपाजिट का (जिसमें चेक नहीं चलता और जिसको वापस लेने के लिए बैंक को एक महीने पहले खबर देनी पड़ती है) कम से कम ३ प्रतिशत रकम सुरक्षित रखे और अन्य प्रकार के डिपाजिटों में ९ से १३ प्रतिशत के अनुपात में धन सुरक्षित रखने का नियम कर दिया गया है। यह स्थिरीकरण भिन्न-भिन्न स्थानों पर बैंकों की अवस्थिति के हिसाब से उसी ९ से लेकर १३ प्रतिशत के भीतर का अनुपात ठीक कर दिया गया है। इसके अलावे सुरक्षित धन के कानूनी अल्पतम अनुपात को संघीय सुरक्षा समिति (Federal Reserve Board), यदि वह उचित समझे, बढ़ा भी सकती है और कई वर्षों तक इस अल्पतम दर पर इस सुरक्षा-धन को रखने दिया गया है।

इस तरह स्पष्ट है कि बैंक अपने नगद सुरक्षित रोकड़ की बारह गुनी तक मुद्रा बना सकते हैं। इस अध्याय के अंतिम परिच्छेद में हम इस विषय के वर्णन देने की ओर बढ़ेंगे कि इस अभिप्राय से नगदी शब्द का अर्थ क्या है; अभी हम यह समझलें कि यह क्या नहीं है, तो हमारा काम चल जाता है। बैंक का नगद रोकड़ किसी प्रकार की उन मुद्राओं में नहीं है जिन्हें बैंक वाले अपनी इच्छा से बना या फैला सकते हैं। बैंक का रोकड़ एक ऐसा धन होना

चाहिए जिसके द्वारा बैंक से यदि तलब किया जाय तो वह अपना देय दे सके। जो संचित धन बैंक स्वयं बनाता है उससे यह काम नहीं हो सकता क्योंकि ये दोनों तो बैंक के ऋण हैं। नगदी का जो अंश बैंक अपने हाथ में रखता है या यह कहना अधिक ठीक होगा कि सभी बैंक वाले जितना नगद रुपया हाथ में रखते हैं उसको निश्चित करना बैंक के वश की बात नहीं है। इसलिए मुद्रा-सृजन की बैंक की शक्ति उस नगदी के द्वारा सीमित होती रहती है जो उसके हाथ में आता है। नगद हाथ पर आया हुआ एक पौंड प्रायः १२ पौंड मुद्रा-सृजन कर सकता है या गया हुआ पौंड उतनी ही रकम की राह बंद करता हुआ जाता है। बैंक की मुद्रा-सृजन-शक्ति पर यह पहला नियंत्रण है।

दूसरा नियंत्रण उस कार्य-प्रणाली द्वारा बैंक पर आता है जिसके द्वारा डिपाजिट प्राप्त किये जाते हैं। जैसा हमलोग देख चुके हैं, बैंक-डिपाजिट तब जमा होते हैं जब कि बैंक कुछ सम्पत्ति प्राप्त करता है या जब कोई व्यक्ति बैंक से ऋण ले या जब बैंक कोई सिक्यूरिटी, कोई मकान या अन्य कोई सम्पत्ति खरीदे। जितनी सम्पत्तियां हैं वे एक प्रकार के धन हैं। यह चीज, स्टाक या शेयर या मकान होने से तो साफ-साफ नजर में आती है। बैंक प्रायः सभी ऋण किसी न किसी प्रकार की जमानत लेकर देता है। जहां यह बिना किसी जमानत के दिया जाता है वहां भी ऋण लेने वाले की कमाने की क्षमता देख ली जाती है जो एक तरह से धन ही है। इस तरह बैंक जो धन सृजन करता है वह शून्य रूपों को ही मुद्रा में परिवर्तित कर देता है। पुराने समय के रासायनिक भी शून्य से सोना पैदा करने की उम्मीद नहीं करते थे। बैंक की शक्ति यह भी नहीं है कि वह किसी मूल्यहीन पदार्थ को धन में परिवर्तित कर दे। वह केवल अचल सम्पत्ति को चल (या तरल) धन में बदल सकता है। वह अचल सम्पत्ति को अपने धन के रूप में लेता है और 'आइ ओ यू' उसके बदले में दे देता है, जो मुद्रा है। बैंक वाले के कारबार का यही गुण है।

बैंक की क्षमता में जन-साधारण का जो विश्वास है वह इस आधार पर स्थित है कि बैंक से जिस प्रकार की मुद्रा चाही जाय वह दे सकता है। कहने का मतलब यह है कि इसी विश्वास के बल से जन-साधारण अपनी खरीदारी चलाता है और अपना ऋण अदा करता है। परन्तु यह साफ-साफ समझ लेना चाहिए कि वह इन्हीं अर्थों में बैंक के लिए धन नहीं है। जनता के लिए बैंक-नोट एक सम्पत्ति है; बैंक के लिए यह एक प्रकार का ऋण है। कोई बैंक जब अपने डिपाजिट या नोट की संख्या-वृद्धि करता है तब वह अपना ऋण ही बढ़ाता है, और यह उचित है कि इसके लिए उसे क्षति-पूर्ति मिले। बैंकों के कारबार के सम्बन्ध में जनता में जो ढीली-ढाली धारणा फैली हुई है वह इसी तत्व को ठीक-ठीक तरह से न समझने के कारण है। यह सच है कि बैंक का डिपाजिट या नोट जितना अधिक होगा उतना ही अधिक उसका लाभ भी होगा। बैंक वाले इसी कारण अपने ऋण की वृद्धि को सदा उत्सुक रहते हैं। यह जो कुछ हो, बैंक अपने ऋण के द्वारा तो लाभ नहीं करते पर उस सम्पत्ति के द्वारा करते हैं जो उन्हें अपने ऋण के बदले में प्राप्त होता है। जब यह किसी को ऋण देते हैं तो हम देख चुके हैं कि ये अपने अदायगी के वादों की संख्या बढ़ा कर देते हैं। पर इन्हें जो नफा होता है वह अपने ऋण की अदायगी के वायदे से नहीं होता, ऋणी के वायदे पर होता है। एक ही लेन-देन में से दोनों बात पैदा होती हैं, ऋण लेने वाले का वादा और बैंक का वादा। पर दोनों अलग-अलग दो चीजें हैं। यदि धन गायब हो जाय (यानी उदाहरणार्थ यदि ऋण लेने वाला दिवालिया हो जाय) तो भी नोटों या डिपाजिटों का जो देय बैंक पर है वह तो गायब नहीं हो जाता—वह रह जाता है। और अगर ऋण गायब हो जाता यानी बैंक-नोट बरबाद हो जाते हैं तो सम्पत्ति (assets) रह जाती है। इस गड़बड़ी का दौर कहां तक चल सकता है इसका उदाहरण उस घटना से मिल सकता है जिसमें अठारहवीं शताब्दी में आयर्लैण्ड की जनता ने एक अप्रसिद्ध बैंक के नोटों की होली जलायी थी कि वह फेल कर जाय।

इसलिए बैंक-नोटों के उत्पादन की ठीक-ठीक प्रक्रियाओं पर यदि ध्यान दिया जाय तो इसे मुद्रा-सृजन शब्द से अभिभूत करना कठिन ज्ञात होता है। सृजन शब्द कहना भी चाहिए तो उन शर्तों को ध्यान में रख लेना चाहिए जो ऊपर लिखी गयी हैं। बैंक मुद्रा का सृजन करे तो उन्हें उनकी कुल जोड़ का कम से कम ८ प्रतिशत हाथ में नगद रखना चाहिए। तो भी धन की पैदाइश नहीं होती जब तक उससे बैंक के लिए कोई साकार सम्पत्ति न हासिल की जाय अथवा बैंक के देन को बढ़ाया न जाय जो नगद या देय है। किन्तु यदि बैंक पर लगे हुए ये बंधन पूरे-पूरे रखे भी जायें तो भी उसकी शक्ति प्रभूत है। उसके कर्मों की सीमा है पर इस सीमा के अन्दर रहकर भी बैंकों के पास वर्तमान धन का परिमाण, और यह धन जिन व्यक्तियों के पास रहेगा उन्हें निश्चित करने की बड़ी भारी शक्ति रहती है।

बैंकों के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसे युद्ध-स्थिति में कई तरह से संशोधित करना पड़ जाता है। युद्ध-काल में बैंकों के धन में बहुत वृद्धि होती है। उदाहरणतः लंदन क्लीयरिंग हाउस के सदस्य बैंकों अर्थात् लंदन के सभी बड़े बैंकों की संयुक्त पूंजी सन १९३९ में २२५०० लाख पौंड थी जो १९४७ में ५५००० लाख पौंड हो गयी। इस तरह देखा गया कि युद्ध-काल में ३२५०० लाख पौंड की अतिरिक्त बैंक-मुद्रा बैंकों ने चलायी। जिस विधि से यह सृजन हुआ वह ठीक वही है जो ऊपर के परिच्छेदों में वर्णन किया गया है। यानी बैंकों ने जो सम्पत्ति लाभ किया वह इस वादे के पहले कि हम संचित का रुपया अदा करेंगे। किन्तु यह कहना कठिन है कि यह सम्पत्ति कोई वास्तविक धन थी क्योंकि प्रायः सम्पूर्ण धन सरकारी 'आइ ओ यू' में न्यस्त थे, जो बैंकों के मामले में तो चोखा हैं क्योंकि इसमें कोई संदेह नहीं कि सरकार अपने वादे को पूरा करेगी। पर वे किसी असली धन के बजाय युद्ध के विनाश को ही सूचित करते हैं। और दूसरे, बकों ने उनके जारी करने की तो कोई इच्छा नहीं प्रकट की, उन्होंने सिर्फ वही किया जो उन्हें करने को कहा गया। युद्ध-काल में रुपये-पैसे की स्थिति क्या

होती है यह एक परवर्ती अध्याय में लिखा जायगा। इस स्थान पर इतना ही कह देना यथेष्ट है कि जो सरकार लड़ाई में लगती है उसे अपना खर्च चलाने के लिए बहुत धन उठाने की आवश्यकता पड़ती है। यह पहले तो जहां तक हो सकता है जनता से ऋण और कर के रूप में रुपया लेती है, पर इस उपाय से जितना प्राप्त होना संभव है, जब वह सब प्राप्त हो जाता है तो शेष में उसे बैंकों से कर्ज लेना पड़ता है जो इस काम के लिए बैंक-मुद्रा का सृजन करते हैं। चूंकि सरकारी नीतियों में युद्ध में विजय प्राप्त करने की नीति का प्रथम स्थान होता है इसलिए बैंक वैसा ही करते हैं जैसा सरकार का आदेश होता है।

साधारण समय में भी बैंक सरकार की घोषित नीति में बाधा डालने की चेष्टा नहीं कर सकते। असल में १९४५ में बैंक आफ इंग्लैण्ड के राष्ट्रीयकरण-कानून की स्वीकृति के बाद से तो बैंकों को ऐसा प्रतिवाद करने का कोई अधिकार भी नहीं रहा। पर सरकार के अतिरिक्त अन्य लेनदारों के सम्बन्ध में जहां तक सवाल है, बैंकों का मुद्रा-सृजन अथवा उससे अस्वीकार करने की शक्ति एक महत्वपूर्ण वस्तु है। अकेले-अकेले बैंक इस बात की शिकायत कर सकते हैं कि उनमें ऐसी योग्यता रहते हुए भी इस सम्बन्ध में जो अयोग्यता की बात लिखी गयी है वह अतिरंजित है। मान लें कि किसी देश में पांच बैंक हैं। इनमें से अ बैंक के पास ८ पौंड नगद किसी तरकीब से आ जाता है। अब मान लें कि अपने सम्बन्ध में लिखी गयी बातों को इस स्थान तक पढ़ कर उस बैंक वाले ने अपना डिपाजिट १०० पौंड बढ़ा लिया। अच्छी बात है, बढ़ाया तो। पर जिन आदमियों ने उस बैंक से ऋण काढ़ कर उसका डिपाजिट बढ़ाया है, वे अब उस ऋण की रकम को खर्च करने लगेंगे। अब, जब उस स्थान में पांच बैंक हैं तो यह भी संभावना है कि वे आदमी इस तरह प्राप्त किया हुआ धन उसी अ बैंक में न जमा करके ब स द और य बैंकों में जमा दें। इन चारो बैंकों का अब बैंक अ पर ८० पौंड का पावना हो जायगा। अब इस १०० पौंड सृजन का नतीजा यह है कि उतना रुपया सिरिज कर बैंक के हाथ में जो ८ पौंड नगद थे

वे भी गये और ऊपर से उसपर ९२ पौंड और चढ़ गया। इसलिए अ बैंक वाले का कहना है कि धन-सृजन की चर्चा मूर्खतापूर्ण है। यदि बैंक के पास ८ पौंड अतिरिक्त है तो यह उतना ही खर्च कर सकता है—न कम, न ज्यादा। बैंक वालों का कहना है कि वे मुद्रा नहीं सिरजते, वे केवल उस रुपये को लगा सकते हैं जो जमा करने वाला उनको देता है।

इस आपत्ति के दो उत्तर हैं—एक उत्तर सैद्धांन्तिक है और दूसरा व्यावहारिक। सैद्धान्तिक उत्तर यह है कि व्यवहारकुशल बैंक वाले ने इस विश्लेषण की सम्पूर्ण बातों को ध्यान में नहीं रखा है; वह वहां पर आकर रुक जाता है जहां पर बैंक ब स द और य को बैंक अ से ८० पौंड पाने का अधिकार हो जाता है। पर अब २०–२० पौंड के इस नकदी से वे चारो बैंक जो डिपाजिट बढ़ाना शुरू कर देंगे बैंक अ वाले को इसका ध्यान कहां रहा? उनके द्वारा निर्मित मुद्रा में से कोई न कोई भाग तो बैंक अ में भी लौट कर आयेगा और इस तरह से वह अपना खोया हुआ ८ पौंड भी पा जायगा और इसके अतिरिक्त भी उसे कुछ मिलेगा। किन्तु उसका यह ८ पौंड बैंक की दुनिया से न आकर किसी दूसरे स्थान से आया हो (मान लें कि अफ्रिकी सोना के रूप में) तो यह किसी न किसी बैंक में तो जायगा ही और वहां अपने बल पर नगद रोकड़ को विस्तृत करेगा और जब तक कि १०० पौंड की नयी मुद्रा न निर्मित करा ले पांचों बैंकों के सुरक्षित नगदी रोकड़ को उनके साधारण नित्यवर्ती रोकड़ से बढ़ाता फिरेगा और उसका यह जाना-आना तब तक जारी रहेगा जब तक कि इसके आधार पर कहीं १०० पौंड का अतिरिक्त धन "पैदा" नहीं हो जाता।

अब इस आक्षेप का दूसरा उत्तर लें जो व्यावहारिक है। जिस समय यह पुस्तक लिखी जा रही है कुल ब्रिटिश बैंकों का डिपाजिट जमा ६०००० लाख पौंड है। देश में कुल नगद रुपया (जो बैंकों के डिपाजिट के अतिरिक्त है) कभी १६००० लाख से अधिक नहीं बढ़ा और कभी ऐसा समय नहीं आया कि देश का धन सम्पूर्ण अंश में जा कर जमा हुआ हो। असल में बैंकों में २५०० लाख पौंड से अधिक

कभी नकद जमा नहीं रहा। अब अगर बैंकों ने रुपया बनाया नहीं तो यह ५७५ करोड़ पौंड अतिरिक्त कहां से आ गया ? किसी या सभी बैंकों से संयुक्त आंकड़े लेकर देखना सम्भव होगा कि नगदी के घट-बढ़ से किस प्रकार वहां डिपाजिट की रकम में ९ या १० गुना घट-बढ़ होता रहता है। इसलिए किसी आदमी को, जो इस विषय के पूर्वार्द्ध वर्णन से आगे बढ़ कर सभी बातों पर विचार करेगा और वस्तु-स्थिति का विश्लेषण करके देखेगा, उसे यह स्पष्ट पता लग जायगा कि बैंक अपना डिपाजिट सृजन करते हैं। इस सृजन को नियन्त्रित करने की एक ही सीमा नगदी रोकड़ का परिमाण है।

तलपट

THE BALANCE SHEET

इस विवाद में हमने बैंक-कारबार के दो प्रमुख सिद्धान्तों का परिचय पा लिया है। इसमें से एक तो अनुपात वाला सिद्धान्त है अर्थात् बैंक-डिपाजिट के लिए कानून द्वारा उसी के अनुपात से एक रकम बैंकों के लिए नगद हाथ पर रखने का नियम बना हुआ है। दूसरा सिद्धान्त देने और पावने की समतुल्यता है। यह पिछला सिद्धान्त केवल बैंक के कारबार में ही लगता हो, और कहीं नहीं, यह बात नहीं है। हर एक तलपट उस संस्था का अन्दाज बताता है। चाहे वह मिडलैंड बैंक का तलपट हो अथवा किसी क्लब का। किन्तु एक बैंक का कारबार, बहुधा विशेष अर्थ में देना-पावना को समतुल्य करता है। एक बैंक अपना धन अपना ऋण बढ़ाकर प्राप्त करता है, घुमा-फिराकर नहीं, जैसा कि अन्य व्यवसायों में होता है, बल्कि बिलकुल सीधा। बैंक का धन उसके ऋण का सीधा तबादला है। अगर आप किसी लोहे के कारखाने के कारबार की जांच करना चाहें तो सब से पहली बात जो आप जानना चाहेंगे वह यह होगी कि कारखाने में कितना इस्पात तैयार होता है और दूसरी चीज इसकी भट्टी तथा इसकी जांतियों की दशा

की जांच होगी। कारखाने का तलपट तो पीछे आयेगा। पर एक बैंक के हिसाब में, जो देना-पावने का ही कारबार मुख्य रूप से करता है, सब से पहली चीज जो आप जानना चाहेंगे वह यह होगी कि बैंक का पावना कितना है और देना कितना है। इस तरह बैंक के समस्त कारबार का निचोड़ इस तलपट में होता है। यह तलपट एक ही नज़र में यह भी दिखा देता है कि बैंक किस अनुपात में काम-काज कर रहा है। इसलिए बैंक के सम्बन्ध में विचार को और आगे बढ़ाने के लिए हमें देखना चाहिए कि तलपट क्या है। नीचे दो नमूने के तलपट प्रस्तुत किये गये हैं—एक तलपट लंदन के क्लीयरिंग हाउस (clearing house) के कुल ग्यारह बैंकों का संयुक्त तलपट है, जैसा कि वह नवम्बर १९४६ में था और दूसरा अमेरिका की फेडरल रिजर्व संस्था के सभी सदस्य बैंकों का संयुक्त तलपट है, जैसा कि वह ३० सितम्बर १९४६ में था। इन दोनों नमूनों को संक्षिप्त रूप से दिया जा रहा है।

मासिक तलपट—लंदन क्लीयरिंग बैंक्स
नवम्बर १९४६

(Monthly Statement of London Clearing Banks)

देना—	हजार पौंड में	**पावना—**	हजार पौंड में
पूंजी और सुरक्षित कोष	१४५,६७१	बैंक आफ इंग्लैंड में जमा दिये सिक्के, बैंक-नोट और बाकी—	५७३,८२५
डिपाजिट	५,५०२,५१३	उगाही में दिये गये—	१९५,७८५
चालू नोट	१,१०२	तलबशुदा और इन्दुलतलब रुपया	३२३,८१८
अन्य मद	१८०,८१६	वसूली के लिए पड़े हुए बिल—	४९७,०५१
		ट्रेजरी-डिपाजिट-रसीदें—	
		सम्पत्ति में न्यस्त धन—	१,४१०,०८३
		प्रदत्त ऋण—	९५५,१८५
		अन्य मद—	२४६,३५५
कुल जोड़—	५,८३०,१०२	कुल जोड़—	५,८३०,१०२

फेडरल रिजर्व सिस्टम के सदस्य बैंकों का तलपट
३० सितम्बर १९४६

(Member Bank of the Federal Reserve System)

देना—	हजार डालर में	**पावना**—	हजार डालर में
पूंजी और सुरक्षित कोष	८०७७०००	नगद खजाने में—	१३८२०००
डिपाजिट—	११९६८००००	फेडरल रिजर्व बैंक में सुरक्षित—	१५७९२०००
फेडरल रिजर्व बैंक से प्राप्त—	७७०००	दूसरे बैंकों में बाकी—	५६६००००
		संपत्ति में लगी पूंजी—	७४९३१०००
		प्रदत्त ऋण—	२४७७५०००
		अन्य मद—	५२९४०००
कुल जोड़—	१२७८३४०००	कुल जोड़—	१२७८३४०००

तलपट का ऋण की तरफ का भाग तो अपेक्षा कृत सरल है। प्रथम स्थान में तो, बैंक के भागीदारों का इसपर जो ऋण है उसका समावेश इसमें है—यानी वह पूंजी जो शुरू-शुरू में भागीदारों से एकत्रित हुई थी और उसके साथ वह रकम जो मुनाफे में प्राप्त हुई थी पर जिसे बांटा न गया था। सब से बड़ी रकम नाम के ओर की वह है जिसमें जनता का धन नोटों और डिपाजिटों के रूप में बैंक के ऊपर है। यही वह रकम है जो देश को प्राप्त होने वाले धन के अधिकांश भाग का प्रतिनिधित्व करती है। अमेरिका में तीसरा मद "फेडरल रिजर्व बैंक से प्राप्त" नाम का है। फेडरल रिजर्व बैंक की रीति के सम्बन्ध में भी हम थोड़ा लिखेंगे, अभी के लिए इस रकम को बैंक का वह देना समझ लें जिसमें उसने अस्थायी तौर पर कुछ नगदी मंगाकर रखा है। और अन्त में फुटकर देना की एक रकम है जो बैंक पर कारबार के सिलसिले में उपजा है। अभी हमको जितना कुछ समझना और विचारना है

उसको देखते हुए हम इस विषय को अधिक विस्तार में न ले जायें तो भी चल सकता है ।

बैंक के तलपट के जमा की तरफ के इन्दराज अधिक उलझनपूर्ण भी हैं और दिलचस्प भी । उसे अपने धन को जिन-जिन सम्पत्तियों के अर्जन में लगाने की छूट मिली हुई है उनमें अपना धन लगाते हुए बैंक को दो विषयों का विचार रखना पड़ता है। सब से पहले यह आवश्यक है कि नगद रुपये की जो मांग उससे हो उसे उसी समय पूरा करने की क्षमता यह अपने में रखे । हमने देखा है कि इस उद्देश्य से बैंक अपने पास कुछ नगद मुद्रा सुरक्षित रखते हैं । इसके अतिरिक्त अपनी स्थिति को पूर्ण सुरक्षित रखने की दृष्टि से, अपनी सामर्थ्य का एक बड़ा भाग वह अल्पावधि ऋण के रूप में लगा देता है जिनमें से कई तो इतने स्वल्प कालिक होते हैं कि एक दिन की नोटिस पर ही देय हो जाते हैं । साधारण उत्पादक या व्यवसायी ऐसा ऋण ले कर क्या करेगा जो उसे २४ घण्टे की नोटिस पर भर देना पड़े ? ऐसे ऋण वे लोग लेते हैं जो अन्य प्रकार के रोजगार करते हैं और इन्हीं को लेकर वह बाजार है जिसे "मुद्रा-बाजार" (money market) कहा जाता है ।

दूसरी बात जिसपर बैंक वाले को ध्यान देना चाहिए, आमदनी है । उसे अपने धन का इस प्रकार उपयोग करना चाहिए जिससे इतनी आय हो जिसमें उसके कर्मचारियों का वेतन चले, लिये हुए ऋणों का ब्याज अदा हो सके, कुछ सुरक्षित कोष जमा हो और फिर कुछ और भी बच जाये जिसको भागीदारों में उनके शेयर के लाभ के रूप में बांटा जा सके । उसके नगद सुरक्षित धन पर उसे कुछ नहीं मिलता । बैंक जो अस्थायी ऋण देता है उसपर भी बहुत ही कम आमदनी होती है क्योंकि ऋण लेने वाले को इसमें सुविधा ही कितनी मिलती है कि वह अधिक ब्याज देगा ? इसलिए बैंक की पूंजी का शेष धन इस ढंग से लगाना पड़ता है कि उससे अच्छी आय हो । किन्तु असल बात यह है कि लगायी रकम से जितनी अधिक आय करने की चेष्टा करेंगे उतनी ही कम सम्भावना रुपये शीघ्र वापस होने की रहेगी । बैंकर यह भी नहीं भूल सकता कि उसके सभी जमा के मदों के सिर

पर नाम की रकमें भी हैं इसलिए वह इन रकमों को किसी ऐसी जगह नहीं फंसाता जहां वह जमा हो जाय। बैंक की मंशा यही रहती है, चाहे व्यवहार में आने पर पूरा-पूरा इस शर्त का पालन न हो सके। बक के कुछ रुपयों को वापस होने में बरसों लग सकते हैं। बैंक अपने बचाव के लिए अस्थायी ऋणों का दिखावा-सा ही रखता है। असल में होता यह है कि वे ऋण जब अवधि शेष होने पर आते हैं तो उन्हें नयी लिखा-पढ़ी कर के पुनः ताजा कर के छोड़ दिया जाता है।

इसलिए ऋण की तरलता (तुरत वापस हो जाने की योग्यता) और लाभ-देयता दोनों दो विपरीत तत्त्व हैं। नगद तो पूर्णतः तरल मद है पर उसमें कुछ आमदनी नहीं होती। दूसरी ओर ऐसे ऋण हैं जो ऊंची दर की ब्याज देते हैं पर वे बिलकुल ही 'तरल' नहीं हैं। सफल बैंक-व्यवसाय का रहस्य यह है कि बैंक अपने ऋणों पर तरलता और लाभदेयता के दोनों तत्त्वों को ऐसे अन्दाज से रखे कि उनके हाथ में (या मांग के साथ ही आ जानेवाली) पर्याप्त रकम रहे जिससे जब जैसी भी मांग होवे पूरी कर सकें। बैंक को ब्याज से इतनी आय भी हो जिससे अपना खर्च चलाते हुए वह अपने शेयर होल्डरों को भी कुछ दे सके। नगद रोकड़ और रोजाना कर्जों के अतिरिक्त, जिनका जिक्र ऊपर किया गया है, बैंक के धन चार भागों में बांटे जा सकते हैं। ये, आय की उत्तरोत्तर वृद्धि और तरलता के उत्तरोत्तर ह्रास के हिसाब से रखे जाने पर, यह हैं—बिल, जिसे कभी-कभी दलाली (discount) कहते हैं; ट्रेजरी डिपाजिट रसीद (T. D. R.); लगायी हुई पूंजी, और ऋण [जिन्हें कभी-कभी पेशगी (advance) भी कहते हैं]। विनिमय के पत्रकों (exchange bills) को तो हम सरकार, बड़े-बड़े बैंकों अथवा प्रतिष्ठित व्यवसायियों का 'आइ ओ यू' समझ सकते हैं जिनकी अवधि तीन या छः महीनों के भीतर समाप्त हो जाती है। लन्दन में और न्यूनाधिक अन्य आर्थिक केन्द्रों में, बिल का बाजार बहुत क्रियाशील है। ये अपनी लिखित रकम पर कुछ दलाली ले-देकर बेचे या क्रय किये जाते हैं। इनकी दलाली की दर प्रचलित ब्याज दर की घटा-बढ़ी तथा इन बिलों की मियाद के तारतम्य के विचार से उतरती-चढ़ती

रहती है। (क) इन बिलों की दलाली का दर एक दिन के ऋण की ब्याज-दर से कुछ ऊंची होती है यद्यपि यह उस ब्याज-दर से नीची ही रहती है जो दूसरे प्रकार के ऋणों में प्राप्त हो सकती है। परन्तु ये बहुत तरल बिल होते हैं। इनका बाजार बहुत क्रियाशील नहीं है अपितु ये ऐसे हैं कि यदि इन्हें लेकर कुछ समय के लिए संग्रह किया जा सके तो ये आप से आप देय बन जाते हैं और इनका भुगतान स्वतः आने लगता है। इसके अतिरिक्त बैंक ऑफ इंग्लैंड हमेशा "प्राइम बिलों" (prime bills —वे बिल जिनपर पार्टी का हस्ताक्षर होता है) की जमानत पर नगद रुपया उधार देने को प्रस्तुत रहता है।

इधर वर्षों से लन्दन के मुद्रा-बाजार में जितने बिल आये हैं उनमें अधिकता ट्रेजरी-बिलों की ही रही है—अर्थात् ये सरकारी आइ ओ यू (IOU) रहे हैं। ट्रेजरी-बिल भावपत्र पर जारा किये जाते हैं और तीन महीने में देय हो जाते हैं। शुरू-शुरू में ये ट्रेजरी-बिल, सरकार के लाभ के विचार से, दलाली के बाजार में मिलने वाले कम ब्याज-दर से फायदा उठाने के लिए जारी किये गये थे। प्रथम महायुद्ध के पहले तक बाजार में जितने बिल आते थे उनमें सारे बिलों के बीच ट्रेजरी-बिलों की संख्या बहुत कम होती थी। शेष बिल ऐसे नये-नये व्यवसायों की पूंजी जुटाने के लिए जारी किये गये होते थे जिनका समारम्भ इंग्लैंड में कभी हुआ ही नहीं। उसके बाद दो महायुद्धों का जो प्रभाव पड़ा और इन दोनों के बीच के समय में मुद्रा-सम्बन्धी जो गड़बड़ी हुई, उनके कारण ट्रेजरी-बिलों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई और व्यवसाय-बिल कम आने लगे। आज इसी कारण मुद्रा-बाजार में ट्रेजरी-बिलों की ही बहुतायत है। इससे स्पष्ट होता है कि ब्रिटेन के बैंक के तलपट में जो "बिल्स डिसकाउन्टेड" का मद दिखाया गया है वह मुख्यतः ऐसे रुपये

(क) अगर छूट या दलाली की दर ४ प्रतिशत प्रति वर्ष हो तो एक बिल जिसकी मियाद पूरी होने में तीन महीने हों और जिसका दिखाऊ दाम १००० पौंड हो, ९९० पौंड में खरीदा जा सकता है। १० पौंड का जो फर्क है वह तीन महीने तक ९९० लगे रहने का ब्याज समझना चाहिए।

का प्रतिनिधि है जो सरकार को, तीन महीने के लिए उधार दिया गया है। अलबत्ता व्यावसायिक बिलों की तरह ट्रेजरी-बिलों को जमानत पर रखकर भी बैंक आफ इंग्लैण्ड से जब जरूरत हुई, नगद रुपया उधार ले आया जा सकता है।

गत द्वितीय महायुद्ध-काल में १९३९-४५ में ट्रेजरी-डिपाजिट रसीद (treasury deposit receipts) चलायी गयी थी जिससे सरकार को उधार रुपया मिलने की और भी सीधी युक्ति हाथ लगे। इसमें बैंक वाले सरकारी खजाने का रुपया 'जमा' कर लेते हैं और उसके बदले में एक रसीद ले लेते हैं। टी. डी. आर. (T. D. R.) की अवधि ६ महीनों की होती है और ट्रेजरी-बिल पर मिलने वाले व्याज का आंशिक अधिक ब्याज इनपर दिया जाता है। एक ब्रिटिश बैंक के मामले में 'लगानी' का अर्थ प्रायः चोखी सरकारी सिक्यूरिटी होता है जिससे कि वह उस रुपये का प्रतिनिधित्व करती है जो सरकार को ऋण-स्वरूप दिया गया। दूसरे देशों में बैंकों को लगानी के लिए मद चुनने का क्षेत्र कुछ और बड़ा है। पर किसी भा सुसंचालित बैंक-व्यवसाय में यह लगानी प्रथम श्रेणी की अतिशय सुरक्षित सिक्यूरिटियां ही होंगी। वे बिलों की अपेक्षा कुछ अधिक ब्याज देती हैं पर उसकी दर बहुत ऊंची नहीं होती। अन्त में वह धन है जा बैंक अपने ग्राहकों को ऋण या पेशगी (advance) देता है। इसमें किसी के घरेलू हिसाब-किताब में, कभी-कभी बैंक जो दो-चार शिलिङ्ग का अधिक लेखपत्र (overdraft) देता है उसको लेते हुए, किसी बड़े औद्योगिक कारखाने को जो बैंक लाखों रुपया ऋण देता है, वह सब शामिल है। इस अन्तिम प्रकार के धन में भी बैंक शीघ्र चुकता का विचार नहीं छोड़ता। बैंकों को दीर्घकालीन ऋण से सहज अरुचि होती है। वे साल भर से अधिक समय के लिए बहुत कम ऋण देते हैं और प्रायः चेष्टा करते हैं कि उनका ऋण दो-चार महीनों से अधिक काल का न हो। जिन ऋणों की अवधि समाप्त होती है उनको व्यवहारतः चालू किया जा सकता है। व्यवहार में ऐसा भी होता है कि कोई देनदार कठिनाई में पड़ जाये और ऋण अदा करने के समय को कुछ बढ़ा देने के लिए कहे। पर सिद्धान्ततः ऋण भी एक 'तरल' धन ही है।

किस अनुपात में १९४६ में बैंक अपने धन को इस पांच विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करते थे, यह चीज़ पृष्ठ ४५ पर दी गयी तालिका से जानी जा सकती है। पर ये आंकड़े युद्धोत्तर प्रभाव को बताते हैं जिसमें बैंकों ने सरकारी सिक्यूरिटियां ट्रेजरी-बिल तथा अन्य प्रकार के सरकारी कागजों को अधिकतर लेकर अपनी जमा अधिक बढ़ा ली थी। १९४६ के जो आंकड़े हैं वे न तो साधारण अवस्था के प्रतीक हैं और न उस अवस्था को बैंक वाले स्वयं पसन्द करेंगे। १९२९ में मैकमिलन कमेटी के समक्ष गवाही देते हुए सबसे बड़े बैंक के मैनेजिङ्ग डाइरेक्टर ने नीचे दिये गये वितरण-हिसाब को ऐसा आदर्श बताया था जिसके समीप तक पहुंचने की चेष्टा उसका बैंक करता है (क)—

नगद	११ प्रतिशत	(कुछ नहीं)
मांगा हुआ ऋण	७ ,,	(३½ प्रतिशत)
बिल	१५ ,,	(४ ,,)
लगानी	१२ ,,	(४½ ,,)
ऋण	५५ ,,	(५½ ,,)

कोष्ठ में जो आंकड़े दिये हुए हैं वे उस समय विभिन्न प्रकार के मदों पर प्राप्त होने वाली आय के निकटतम अनुमान हैं। उस समय भी बैंकवाले अपने धन का वितरण ठीक उसी हिसाब से करने में समर्थ नहीं होते थे जैसा वे चाहते थे और १९२९ के बाद से तो वे अपने आदर्श से दूरतर होते चले आये हैं। प्रथम स्थान में तो, १९३१ में जो सुवर्ण-मान का परित्याग किया गया तब से और फिर १९३२ में "वार लोन कन्भर्सन" (war loan conversion) के समय से, इस बात का लगातार प्रयत्न हो रहा है कि विभिन्न प्रकार के धन पर प्राप्य मुनाफे की दर घट जाये। १९४६ के बाद मांगे हुए ऋण ½ से ¾ प्रतिशत तक और ट्रेजरी-बिल ½

(क) आर्थिक कमेटी के सामने (१९३१ में) दी गयी गवाहियों के 'मिनट' से जिल्द १ पृ० ५६

प्रतिशत से थोड़ा ऊंचा ब्याज लाते थे। कम अवधि के जो ऋण बैंक ख़रीदा करते थे वह भी २ प्रतिशत से अधिक ब्याज नहीं देते थे और यद्यपि यह जानना ऋणों के सम्बन्ध में कठिन है कि उनपर कितना ब्याज आता था तो भी अन्दाज है कि औसतन दर प्रायः ४ प्रतिशत से अधिक नहीं थी।

दूसरे, जैसा कि पिछले पृष्ठ पर समझाया गया है, इधर सरकारी ऋण के कागजों का बैंक की सम्पत्ति में बाहुल्य हो गया है जिससे कि बिल और लगानी बढ़ गयी है और नये प्रकार के ट्रेजरी-डिपाजिट रसीदों का आविष्कार हुआ है और उधर ऋणों में साधारण-सी ही वृद्धि हुई है। ये परिवर्तन नीचे की तालिका से प्रकट हैं, जो १९२९ के आदर्श आंकड़ों के साथ-साथ १९३८ और १९४६ में बैंकों की पूंजी के वितरण की स्थिति दिखाते हैं। (क)

	१९२९ का आदर्श	१९३८ में असली	१९४६ में असली
नगदी	११ प्रतिशत	११ प्रतिशत	११ प्रतिशत (ख)
मांगे गये ऋण	७ ,,	७ ,,	६ ,,
बिल	१५ ,,	१२½ ,,	९ ,,
ट्रेजरी-डिपाजिट रसीद	—	—	३१ ,,
लगानी	१२ ,,	२९ ,,	२६ ,,
ऋण	५५ ,,	४४ ,,	१८ ,,

यह देखा जायगा कि १९४६ में बैंकों की पूंजी का दो तिहाई से ज्यादा किसी न किसी प्रकार का सरकारी ऋण था। नगदी में सरकारी बैंक आफ इंगलैण्ड में जमा किये गये डिपाजिट अथवा उसी बैंक के नोटों की रकम थी और मांगे हुए ऋण में खासकर मुद्रा-बाजार के फर्मों के ऐसे ऋण थे जिन्हें सरकारी कागज की ख़री-

(क) ये आंकड़े जोड़ कर हर हालत में सौ प्रतिशत नहीं हैं क्योंकि इनमें बैंक की सम्पत्ति के सभी प्रकार शामिल नहीं हैं, न इसमें सभी ऋण।

(ख) ८ प्रतिशत नगद रखने का निश्चय, जिसे काम करने का अनुपात माना गया था, जनवरी १९४७ से पहले अमल में नहीं आया।

दारी के लिए लिया गया था। यह कहा जा सकता है कि (दो तिहाई नहीं) पांच में से चार हिस्सा बैंक की पूंजी में सीधे या घुमा-फिरा कर दिये गये सरकारी ऋण ही आते थे। भिन्न-भिन्न ढङ्ग की पूंजी पर प्राप्तव्य आय में भी बहुत तारतम्य रहता था—जिस समय बाजार में "सस्ता रुपया" के काल में ब्याज-दर कम रहती थी, तब कम आय होती थी और जब रुपये की तेजी होती थी तब आय की दर अच्छी होती थी। आज कल तो १९२९ की अपेक्षा इसमें बहुत कम आय हो गयी है।

एक बार पुनः इस बात पर ध्यान दिला दिया जाना चाहिए कि यह सब पूंजी अदायगी के वादे पर ही इकट्ठी हुई है। बैंक वाला ऋणों का व्यवसायी है और उसकी पूंजी और उसका देना दोनो ही केवल विभिन्न प्रकार के ऋणों को लेकर बनते हैं। इस तरह समूचा बैंक-कारबार देने के वादे पर बनाया गया एक महल मात्र है जिसका आधार पतला-सा नगद रोकड़ होता है। जिस देश में हजारों बैंक हों (जैसा कि अमेरिका में है) उसमें कोई बैंक जिसने अपनी पूंजी को सावधानी से लगाया हो, वह बड़ी आसानी से अपने को 'तरलायित' कर सकता है अर्थात् अपनी पूरी पूंजी के एवज में नगद रुपया उगाह ले सकता है। किन्तु किसी देश के सभी बैंक यदि एक ही बार अपनी पूंजी को नगदी में परिवर्तित करना चाहें तो वे ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि इसके भीतर महज सीधा कारण यह है कि उतनी नगद मुद्रा है ही नहीं (क)। इतना ही नहीं, ५ बड़े ब्रिटिश बैंङ्कों में से यदि एक भी अपनी समस्त पूंजी को झटपट बेचकर नगद रुपया हाथ में लेना चाहे तो शायद यह असम्भव ही होगा। इसलिए तारतम्य एक सापेक्षिक तत्त्व है। इसका अभिप्राय यही है कि खतरे की अवस्था में बैंक अपना सभी देना फ़ौरन चुका दे सकते हैं। इसका मतलब यह है कि तरलता की ओर अधिक ध्यान देना अपने कारबार को सावधानता पूर्वक चलाने की दिशा में एक अच्छा सहायक है।

(क) उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में दिसम्बर १९४६ में सभी बैंकों की संम्मिलित पूंजी, उन बैंकों की पूंजी जो क्लीयरिङ्ग हाउस के एजेन्ट हैं, करीब ६०००० लाख पौंड थी। पर उन बैंकों में उस समय केवल १६२०० लाख पौंड नगद था।

इस तरलता के विचार से निर्द्धारित सीमा के भीतर, और कुल पूंजी का एक अंश नगदी में रखने की आवश्यकता के कारण, कोई बैंक (या अधिक सटीक कहें तो बैंक-व्यवसाय) अपने तलपट के योग को ठीक वैसा ही बना सकता है जैसा बनाना वह चाहता है। १९३१ के अन्त और १९३८ की समाप्ति के काल के बीच लन्दन के क्लीयरिङ्ग बैंकों ने (clearing banks) अपनी कुल पूंजी १९७४० लाख पौण्ड से बढ़ा कर २५२३० लाख पौण्ड कर ली। यह वृद्धि उन्होंने मुख्यत: ३३९० लाख पौण्ड की लगानी अतिरिक्त खरीद कर की, जिसके लिए उन्होंने डिपाजिट बढ़ाकर अदाकारी के वादा-पत्रक निकाल कर कीमत चुकायी। और वे ऐसा इस कारण कर सके कि उनके हाथ पर नगदी रुपये की आमदनी अधिक हो गयी थी। पिछले पृष्ठ ३८ पर हमलोगोंने नगदी की परिभाषा कुछ और दी है। हमने नकारात्मक रीति से इसकी परिभाषा बतायी है कि यह बैंकों की एक ऐसी पूंजी है जिसपर बैंकों का नियंत्रण नहीं है—यह एक ऐसी मुद्रा है जिसे बैंक वाले नहीं निर्मित कर सकते। पूर्वक्त विचारों द्वारा अब यह स्पष्ट है कि यही नगदी का मद सम्पूर्ण बैंक-रीति का तत्व है। इसकी वृद्धि कीजिए, और इसके साथ सम्पूर्ण बैंक-व्यवसाय और इसीके साथ वर्त्तमान मुद्रा का परिमाण बढ़ जायगा—घटाइए तो घट जायगा। हमलोगोंने १९३१ के आंकड़ों को १९३८ के आंकड़ों से मिलाकर देखा है कि कैसे नयी नगद मुद्रा की वृद्धि से बैंक-व्यवसाय वृद्धिगत होता है। अगर यह बैंक की समस्त पूंजी की ही अनुपात के अनुकूल वृ नहीं करता तो कोई बात नहीं, इनमें वह न्यूनाधिक बहुत वृद्धि कर देता है। नगदी के 'कोच का ठीक उलटा प्रभाव है। यदि बैंक व्यवसाय में से अचानक सारा नगदी का कारबार गायब हो जाय तो इसको उसी अन्दाज से अपना पूंजी भी घटा लेनी पड़ेगी। पर इसको शुरू करने में ऋण तो घटाया नहीं जा सकेगा, पर अवधि पूरी हो जाने पर बिलों को बदला नहीं जा सकता, लगानी सब बेच देनी पड़ेगी और दैनन्दिन ऋणों का भुगतान मंगा लेना पड़ेगा। और जैसे-जैसे ऋण के कागज फिर से नया करने के लिए आते जायेंगे उन्हें रोकते जाना पड़ेगा। इस तरह व्यवसाय-संकोच का तत्व

सम्पूर्ण व्यवसाय में व्याप्त हो जायगा। इसका नतीजा यह होगा कि बैंकों से कर्ज लेना अधिकाधिक कठिन होता जायगा और जनता के डिपाजिटों का योग—इसके धन का सूत्र—ह्रासमय हो जायगा।

बैंक का नगद रोकड़ ही, इस विचार से वह कुंजी है जिसके सहारे इसका इतना विशाल ढांचा खुलता है। अब मौका आ गया है कि बैंक की इसी कुंजी—नगद रोकड़—के सम्बन्ध में हम कुछ बारीकी से विचार करें।

केन्द्रीय बैंक

THE CENTRAL BANK

बैंक की नगदी का एक प्रकट उपादान वास्तविक चल मुद्रा है—यानी नोट और सिक्के। किसी बैंक में हमेशा कुछ न कुछ चल मुद्रा रहनी चाहिए जिससे उस ग्राहक को भुगतान दिया जा सके जो चेक भुनाने को लाता है। प्रायः सभी आधुनिक देशों में (यद्यपि सब में नहीं) चल मुद्रा में मुख्यतः वे नोट आते हैं जिन्हें एक संस्था जारा करती है जिसको ईसू बैंक या सेन्ट्रल बैंक कहेंगे। ब्रिटेन में बैंक आफ इंग्लैण्ड ईसू बैंक है। फ्रान्स में बैंक आफ फ्रांस और स्वीडन में रिक्स बैंक हैं। अमेरिका में चल मुद्रा का प्रधान भाग (सम्पूर्ण भाग नहीं) बारह फेडरल रिजर्व बैंकों द्वारा प्रचलित किया जाता है जो अपने-अपने प्रदेशों के ईसू बैंक हैं। नोट—खास क़र वे नोट, जिन्हें वैधानिक भावपत्र माना जाता है—जारी करने का अधिकार प्रायः प्रत्येक देश में इसी एक संस्था को है।

पर हर एक बैंक का सम्पूर्ण नगद रोकड़ ईसू बैंक अथवा केन्द्रीय बैंक के ही नोटों में नहीं रहता। उदाहरण के लिए १९४६ में इंग्लैण्ड में बैंकों के कुल नगद रोकड़ ५७५० लाख पौण्ड में से केवल २४५० लाख पौंड नोट और सिक्कों में था। शेष केन्द्रीय बैंक के पास डिपाजिट जमा के रूप में था।

ऊपर बताया गया है कि बैंक बराबर एक दूसरे पर दावा रखा करते हैं। बैंक अ के ऊपर का चेक जो ब बैंक में जमा किया गया है, अ बैंक में जमा किये

गये ब बैंक के ऊपर के चेकों से लेन-देन कर दिया जायगा और दोनों में जो अंतर होगा उसी को नगद देकर मिटाया जायगा। अब इस अंतर को या तो नगद चल मुद्रा देकर मिटाया जायगा—और कई देशों में तो सचमुच नगद चल मुद्रा देकर हिसाब साफ किया भी जाता है–या जैसा कि बहुत-से देशों में होता है, इस रकम के लिए बैंकों के बैंक, केन्द्रीय बैंक, पर उतनी रकम का चेक काट कर हिसाब साफ करते हैं। इस विधि का प्रारम्भ इंग्लैण्ड में हुआ और इसका कारण अधिकतर यह है कि प्रायः १५० साल तक बैंक आफ इंग्लैण्ड ही इस देश में सब से बड़ा और सब से धनी बैंक था। शुरू-शुरू में तो यह बैंक साधारण बैंक-व्यवसाय करता था और इसके वहुत-से स्वतंत्र ग्राहक भी थे। आज भी इनमें से कुछ बैंक से सम्बन्ध रखे हुए हैं यद्यपि उनकी संख्या अब गिनी-चुनी है (इनमें से ब्रिटिश सरकार ही एक है और जाहिर है कि यह सब में प्रधान है)पर धीरे-धीरे बैंक का कारबार खानगी व्यक्तियों से कम पड़ता गया और यह बैंकों के बैंक की तरह बढ़ता चला गया। अब तो यह मुख्यतः बैंकों का बैंक ही हो गया है। हर एक अन्य अंगरेजी बैंक इस बैंक से अपना हिसाब रखता है और किसी दिन के लेन-देन के हिसाब में यदि किसी बैंक का अतिरिक्त किसी दूसरे बैंक पर आता है तो देनदार बैंक के लिए नगद रुपया देने की अपेक्षा इसी में अधिक सुविधा होती है कि वह बैंक आफ इंग्लैण्ड पर उतनी रकम का चेक अपने डिपाजिट के ऊपर काट कर दे। और "सम्मिलित पूंजी" वाले बैंक या सदस्य बैंक (क) यह जानते हैं कि वे अपना बाकी किसी भी समय बैंक आफ इंग्लैण्ड से नगदी के रूप में ले ले सकते हैं (क्योंकि बैंक आफ इंग्लैण्ड का यह वादा होता है कि अन्य बैंक वाले जिस रूप में डिपाजिट जमा करते हैं उसी रूप में और मांगने पर चल मुद्रा में भी वह डिपाजिट वापस किया जायगा) इसलिए वे इसे नगदी ही समझते हैं।

(क) केन्द्रीय बैंक को छोड़कर अन्य बैंक साधारणतः "ज्वायेंट स्टाक बैंक" कहे जाते हैं। अमेरिका में इन्हें 'सदस्य बैंक' कहते हैं (अर्थात् फेडरल रिजर्व सिस्टम के सदस्य)। यहां सदस्य बैंक शब्द इसी कारण प्रयुक्त हुआ है कि यह अधिक सार्थक है।

यह तरीका, जो इंग्लैण्ड में संयोग से चल गया, अन्य सभी देशों में अपना लिया गया है। बहुत-से देशों में सदस्य बैंक को कानून के द्वारा यह मजबूरी दे दी गयी है कि वह केन्द्रीय बैंक में अपने डिपाजिट का कम से कम एक निश्चित प्रतिशत भाग हमेशा डिपाजिट में बनाये रखे।

इस तरह सदस्य बैंकों का जो नगद रोकड़ होता है वह कुछ तो केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी हुए नोटों में और कुछ केन्द्रीय बैंक में जमा किये गये डिपाजिट के रूप में होता है। पर दोनो मामलों में—और यही इस सम्बन्ध में आवश्यक तत्त्व है—सदस्य बैंक का नगद रोकड़ केन्द्रीय बैंक के दाय (क) के रूप में होता है। बैंक की नगदी के दोनों प्रकारों में केन्द्रीय बैंक में जो डिपॉजिट होता है वही अधिक लचीला होता है। हम जब सदस्य बैंक के नगद रोकड़ के ह्रासोत्कर्ष (variation in the total of the member Bank's Cash) की चर्चा करते हैं तब केन्द्रीय बैंक में इनका जो डिपाजिट होता है उसी की बात हमें ध्यान में लानी चाहिए।

केन्द्रीय बैंक का सदस्य बैंकों के साथ वही सम्बन्ध होता है जो इन बैंकों का जन-साधारण के साथ होता है। साधारण जन अपने बैंक की धरोहर को नगद रुपया ही समझता है। यह डिपॉजिट उसे उसी बैंक के अन्य मुवक्किलों को भुगतान देने का एक बहुत सुगम उपाय लगता है और यदि वह बस-भाड़ा या मजदूरों की मजदूरी देने के लिए नगद पैसे चाहता है तो अपने बैंक से अपने हिसाब में से निकाल कर ले सकता है। इसी तरह का भरोसा सदस्य बैंक को केन्द्रीय बैंक पर रहता है; वह इससे अपने साथी पावनेदार बैंकों को रुपये की भरपायी करा सकता है। वह अपने डिपाजिट को भी नगदी ही समझता है और उसको जैसी जरूरत हो उसके अनुसार वह इस बैंक से कानूनी 'टेंडर' वाले नम्बरा नोट ले सकता है।

(क) इसमें उन सिक्कों की बात नहीं आती जिन्हें बैंक वाले अपने नगद सुरक्षित कोष में रखते हैं और जो राज्य के ऋण हैं। पर केन्द्रीय बैंक में जितना नोट और डिपाजिट रहता है उसकी तुलना में यह अत्यल्प है।

इस सम्बन्ध में एक और भारी समानता है। सदस्य बैंक उन सीमाओं के भीतर रहकर जिनकी चर्चा पहले ही की गयी है, (जिसके मुताबिक यह बात है कि बैंक को हमेशा अपने पास कुछ नगदी रखना चाहिए) अपनी पूंजी को घटा या बढ़ा सकते हैं, और इसी तरह अपना पावना भी वे न्यूनाधिक कर सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे अपनी इच्छा से जनता के हाथ में जाने वाले रुपये की संख्या को घटा-बढ़ा सकते हैं। केन्द्रीय बैंक एक विचित्र ढंग का बैंक है, इसके विशेष काम हैं और इसका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं है पर यह भी एक बैंक ही है और अन्य बैंकों के समान यह भी मूल्य चुकाने के वादे पर सम्पत्ति प्राप्त कर सकता है। किन्तु केन्द्रीय बैंक जब अपना देना-पावना तथा पूंजी बढ़ाता है तब इसके साथ वह सदस्य बैंकों का नगद रोकड़ भी बढ़ाता है और इसके बदले में ये बैंक सामाजिक सम्पत्ति, देना-पावना और नगद रोकड़ की वृद्धि करते हैं। जिस तरह सदस्य बैंक, यदि यथेष्ट नगद सुरक्षित धन हो, रुपये का 'सृजन' कर सकते हैं, उसी तरह केन्द्रीय बैंक भी सदस्य बैंकों के नगदी रोकड़ को बढ़ा सकता है। और यह जो कुछ बना सकता है, उसे बिगाड़ भी सकता है।

बैंकों में किस प्रक्रिया में काम-काज होता है, यह समझने के लिए इसकी बनावट को समझना बहुत आवश्यक है। इसलिए यहां पर उसके वर्णन की कोशिश की जाय तो हर्ज नहीं। केन्द्रीय बैंक जब किसी को ऋण देता है तो जैसा अन्य बैंक करते हैं, वह भी ऋण को ऋणी के नाम पर अपने यहां जमा कर लेता है। अगर यह रुपया लेने वाला कोई सदस्य बैंक (उदाहरणतः सरकार) न हो, तो अपना देना बढ़ाने के लिए ही वह ऋण नहीं काढ़ेगा वरन इस ऋण से वह अदायगी भी शुरू कर देगा। केन्द्रीय बैंक के अपने कोष पर वह जो चेक काटेगा, उसे चेक पाने वाला किसी सदस्य बैंक में जाकर जमा कर आयेगा। यह बैंक चेक को लेकर केन्द्रीय बैंक के पास भुगतान के लिए भेज देगा। केन्द्रीय बैंक इस चेक का भुगतान इस तरह करेगा कि प्रथम कर्जदार के हिसाब से चेक का रुपया निकाल कर वह बैंक के हिसाब पर चढ़ा देगा जिससे सदस्य बैंक की नगदी रोकड़ में बढ़ोतरी होती है। अब सिक्यूरिटी

बेचने वाला दो ही तरह से अपनी चीज की कीमत पा सकता है। या तो सिक्यूरिटी की कीमत की रकम बैंक में उसी के खाते पर चढ़ा दी जायगी या (चूंकि केन्द्रीय बैंक के साथ इने-गिने खानगी आदमियों का ही हिसाब रहता है) यह बैंक सिक्यूरिटी के मूल्य की रकम का एक चेक अपने ही ऊपर काटेगा। यह चेक किसी सदस्य बैंक में जमा कर दिया जायगा जो इसे केन्द्रीय बैंक में ही भुगतान के लिए भेजकर रुपया मंगा अपना नगद रोकड़ बढ़ायगा। इसलिए केन्द्रीय बैंक अपनी पूंजी बढ़ाने के लिए जो वादे का पत्रक जारी करता है, वह पहले चाहे कहीं जाय, अंत में घूम-फिर कर सदस्य बैंक के पास ही आता और उसके सुरक्षित नगद कोष की वृद्धि करता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक द्वारा एक छोटा-सा 'सृजन' सदस्य बैंक को बहुत बड़े 'सृजन' का मौका देता है। उदाहरण के लिए यदि केन्द्रीय बैंक (सिक्यूरिटी खरीद कर अथवा उतनी ही रकम का कर्ज स्वीकृत करके) अपनी सम्पत्ति को १० लाख पौंड से बढ़ा लेता है तो सदस्य बैंकों का नगद रोकड़ भी उसी हिसाब से १० लाख पौंड बढ़ जायगा। पर यदि सदस्य बैंक अपने सुरक्षित कोष-सम्बन्धी अनुपात पर कायम रहा अर्थात ८ प्रतिशत (क) हाथ पर रखा, तो वह अपनी सम्पत्ति उसी १० लाख पौंड पर ११० लाख पौंड और बढ़ा सकेगा अर्थात कुल सम्पत्ति (नगदी नहीं) वह १२० लाख पौंड कर ले सकता है।

स प्रकार देखा जा सकता है कि केन्द्रीय बैंक में जन-साधारण के हाथों में जाने वाले रुपये का परिमाण ऊंचा-नीचा करने की बड़ी महत्वपूर्ण शक्ति होती है। क्या इस शक्ति पर कोई पाबन्दी भी है? हमलोगों ने साधारण बैंकों के अधिकार की

(क) यह नहीं समझना चाहिए कि इस अनुपात को हर हालत में कायम रखा जाता है। कानून और रिवाज दोनो इस अनुपात को गिरने नहीं देते। परन्तु यदि सदस्य बैंकों को बहुत अधिक तादाद में नगद धन ऐसे समय मिल जाये जब उन्हें ऋण लगाने में या जायदाद की खरीदारी में दिक्कत हो रही हो तो वे अपने नगद सुरक्षित कोष को बढ़ा भी ले सकते हैं जिसकी उन्हें छूट है।

चर्चा करते हुए देखा है कि इनके हाथ में जितना रुपया नगद रहे उसी के अनुपात में ये अपना देना-पावना बढ़ा-घटा सकते हैं। केन्द्रीय बैंक पर भी यों ही पाबन्दियां लगी होती हैं क्योंकि इसका देने का वादा भी, उसी तरह जब मांग हो, चलन्त मुद्रा के सहारे पूरा होना चाहिए। केन्द्रीय बैंक द्वारा अदायगी के वादावाले कागजों में से एक वे नोट हैं जो स्वयं चल मुद्रा हैं और पिछले पृष्ठों में इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है उससे यह ध्वनि निकलती होगी कि केन्द्रीय बैंक केवल इस बात का वादा करते हैं कि वे अपना अदायगी का वादा पुनः नया वादा करके ही पूरा करेंगे। बहुत-से देशों में सचमुच यही चीज होती भी है। बैंक आफ इंग्लैण्ड के हर एक १ पौण्ड वाले नोट पर यह वादा छपा होता है, "मैं देने की प्रतिज्ञा करता हूं..." और इसके नीचे बैंक के प्रधान खजांची का हस्ताक्षर होता है। किन्तु सचाई यह है कि तत्वतः बैंक आफ इंग्लैंड उस १ पौण्ड के नोट के एवज में सिक्का देने को बाध्य नहीं है। वह १ पौण्ड के नोट लेकर उसके स्थान पर १०-१० शिलिङ्ग के दो नोट या १ पौण्ड के छोटे सिक्के दे सकता है। इसलिए प्राप्तव्य रुपये की कुल रकम को बढ़ा देने का केन्द्रीय बैंक का अधिकार तब तक असीम ही मानना होगा जब तक कि मुद्रा का अन्तिम रूप, जिसमें अन्य सभी रूप परिवर्तित होने वाले होते हैं, सिक्का नहीं है, पर अदायगी के वादे का कागज है।

मुद्रा के इतिहास में कभी-कभी, और मुख्यतः १९२३ में जर्मनी में, केन्द्रीय बैंकों ने रोज बढ़नेवाले परिमाण में ही मुद्रा का सृजन कर लिया था, जिसका प्रलयकारी परिणाम भी उन्हें भोगना पड़ा था। पर बहुत-से देशों में उनकी इस शक्ति पर नियंत्रण रखा जाता है। उन देशों में जिनमें स्वर्ण-मान हैं, कानून कहता है कि केन्द्रीय बैंक पर जो पावना किसी का हो वह बैङ्क को यथावश्यक प्रदान करना पड़ेगा और वह भी न केवल चलन्त मुद्रा में ही अदा होगा वरन् सोना में भी। इस बात से देना बढ़ाने की शक्ति पर रोक लग जाती है, क्योंकि सोना केन्द्रीय बैंक भी तो नहीं बना सकते। इसलिए सोने का केन्द्रीय बैङ्क में भी वही काम होता है जो छोटे-छोटे बैङ्कों में नगद रुपया करता है। बहुत-से देशों में, चाहे वहां सुवर्ण-मान हो या

न हो (क), कानून है कि केन्द्रीय बैङ्क का देना, जितना उसके पास सोना हो उससे एक निश्चित गुना से अधिक नहीं होना चाहिए। उदाहरण के लिए युद्धपूर्व फ़्रांस में यह नियम था कि बैंक आफ फ्रांस ने जितने नोट निकाले हों और जितना डिपाजिट रुपया हो उसके ३५ प्रतिशत मूल्य का सोना उसको अपने पास तैयार रखना होगा। उन देशों में भी, जिनमें इस प्रकार की सीधी रोक-छेंक नहीं है एक अप्रत्यक्ष रोक रखने के लिए केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रचारित नोटों के परिमाण की एक मर्यादा नियत कर दी जाती है। क्योंकि जब केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंकों को जन-साधारण का डिपाजिट बढ़ा देने की अनुमति देता है तो जनता उसी बढ़ोतरी के हिसाब से अधिक परिमाण में चलन्त मुद्रा भी बैंक से लेना चाहेगी, यानी केन्द्रीय बैंक के नोट की मांग करेगी। अब इस बात से ये सदस्य बैंक केन्द्रीय बैंक से नोट की मांग करेंगे। केन्द्रीय बैंक जब अपनी साख बढ़ाना चाहता है, तब उसको यह ध्यान में रखना होता है और चूंकि उसके नोट चलाने की एक मर्यादा नियत कर दी गयी है, इसकी देन बढ़ाने की शक्ति पर भी एक अप्रत्यक्ष नियंत्रण पड़ जाता है।

इन तरीकों से केन्द्रीय बैंक की मुद्रा-निर्माण-शक्ति की सीमा बांध दी जाती है। प्रचलित मुद्रा को कम करने की जो शक्ति है उसपर वैधानिक नहीं, परन्तु प्राकृतिक नियंत्रण लगा हुआ है। ऋण देने का विलोम ऋण मांगना है और सिक्यूरिटी के क्रय का विलोम है सिक्यूरिटी का विक्रय। पर कोई केन्द्रीय बैंक उस परिमाण से अधिक ऋण नहीं उठा सकता है जितना इसने लगाया हो, न उससे अधिक सिक्यूरिटा ही बेचने का उसे अधिकार होगा जितनी उसने खरीदी हो। यह अपनी सभी सिक्यूरिटियां बेच भी नहीं सकता और न अपना सारा ऋण वापस ले सकता है क्योंकि ऋणों पर जो ब्याज आता है वही तो इसकी आय है; वह न रहे तो इसका व्यय भी कैसे चले? इस तरह से एक हद बंध जाती है।

(क) सुवर्ण-मान की व्याख्या अध्याय ९ में की गयी है। अभी आगे विचार के लिए समझ लेना चाहिए कि जिस देश के केन्द्रीय बैंक पर नोट के बदले सोना देने का भार हो, उसे सुवर्ण-मान वाला देश कहेंगे।

अब कानूनी और स्वाभाविक रोक के बिलकुल अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक अपनी शक्ति का उपयोग समाज के सर्वाधिक हित के विचार से ही करता है। बहुधा यह केन्द्रीय बैंक एक खानगी संस्था भी होता है पर यह जो लाभ बांटता है वह, कानून से नहीं तो रीति के अनुसार, बहुत सीमित और समान होता है और इसे मुख्यतः वैयक्तिक लाभ प्राप्ति के उद्देश्य से चलाया नहीं जाता है। १९४६ में ब्रिटेन की सरकार द्वारा बैंक आफ इंग्लैण्ड को जो ले लिया गया, उससे इसके कारवार की नीति में पहले से अधिक कोई अतिरिक्त जन-हित-भावना नहीं आ गयी। केन्द्रीय बैंकों में से अधिकतर तो अपने पास अपनी आवश्यकता से अधिक और उस अंदाज से भी अधिक सुरक्षित कोष रखते हैं जितने से पर्याप्त लाभ का ध्यान रखते हुए वे अपना कारबार चला सकते हैं। हमलोगों ने देखा है कि सदस्य बैंकों का सुरक्षा-कोष ८ प्रतिशत के समान नीचा हो सकता है, और वास्तव में वह बराबर ही इतना नीचा रहता है। १९३९–४५ के महायुद्ध के पहले तक प्रधान देशों के केन्द्रीय बैंक अपने देन के ३० प्रतिशत तक की रकम का सोना अपने सुरक्षित कोष में रखते थे और कभी-कभी तो यह अनुपात ७० प्रतिशत या इससे भी ऊंचा रखा जाता था। परन्तु महायुद्ध में, जिसने सभी लड़ाकू राष्ट्रों को अपनी सारी शक्ति युद्ध में लगा देने को वाध्य कर दिया था बहुत-से केन्द्रीय बैंकों के सुवर्ण-कोष पर भीषण प्रहार हुआ और अब अमेरिका, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका और दो-चार कृपापात्र निर्दल देशों के पास ही सुवर्ण का कोष रह गया है। बैंक आफ इंग्लैण्ड की भारी सुवर्ण-राशि को ब्रिटिश सरकार के हाथ बेचना पड़ गया क्योंकि सरकार को उससे अमेरिका तथा अन्य सुवर्ण-मान वाले देशों से बहुत-सी युद्ध-सामग्री मंगानी पड़ी। १९४६ आते-आते बैंक में रक्षित सोना इसकी सम्पूर्ण दाय का ·०१ प्रतिशत ही रह गया था। और अब तो यह विचार हुआ है कि देश में सोने का कोष यदि भविष्य में रखने की आवश्यकता समझी जाय तो वह बैंक आफ इंग्लैण्ड के तहखाने में नहीं, वरन सरकार के पास रहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि अपने देना-पावना

को बढ़ाने के लिए बैंक आफ इंग्लैण्ड को जो हदबंदी दी गयी थी वह अब इसके सुवर्ण-कोष के आकार पर नहीं पर इसके वैधानिक नोट जारी करने के अधिकार की सीमा के आधार पर स्थित हो गयी है। जहां तक बैंक आफ इंग्लैण्ड का बात है यह एक बाहरी सीमा है जिसको वह अपने से परिवर्तित नहीं कर सकता। पर यह इस तत्व के कारण पहले से भिन्न पड़ती है कि सुवर्ण-कोष तो मनुष्य-कृत सीमा थी[1] जिसे सरकार बदल भी दे सकती थी। संक्षेपतः बैंक आफ इंग्लैण्ड के कार्य की सामा किसी सो`श्य परिस्थिति पर निश्चित नहीं की गयी है, पर इस चीज का स्वयं सरकार या बैंक की नीति और फैसले पर छोड़ दिया गया है।

इसके सुरक्षा-कोष के आकार और प्रकार पर कानून की ओर से जो प्रतिबंध लगाया गया है उसको रखते हुए, केन्द्रीय बैंक, बिलकुल ही अपने मन में, यह निश्चित कर सकता है कि जनता के हाथ पर कितना रुपया बना कर देना चाहिए। यह सदस्य बैंक के डिपाजिटों का योग भी निश्चित कर दे सकता है। अब भा यह बात सदस्य बैंकों के निर्णय पर ही रखी हुई है कि इनमें से किसके तहबील में सुरक्षित कोष रखा जायगा। यह काम वे अपनी विभिन्न ढंग की सम्पत्ति या ग्राहकों के लिए आपसी प्रतिद्वन्दिता का विचार करते हुए करते हैं। इस तरह केन्द्रीय बैंक निश्चित करता है कि रकम कितनी होगी और सदस्य बैंक तय करते हैं कि इसका प्रकार क्या होगा।

इस ढंग से स्पष्ट है कि रुपये के परिमाण को निश्चित करने का जो सब से महत्वपूर्ण कार्य है वह केन्द्रीय बैंक करता है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि केन्द्रीय बैंक इस सम्बन्ध के परिवर्तन में स्वयं प्रेरणा देने जाता है। केन्द्रीय बैंक के तलपट का एकाध नमूना यहां पर प्रस्तुत करना उचित है। अगले पृष्ठ पर बैंक आफ इंग्लैण्ड के तलपट का एक नमूना दिया गया है जिसमें तिथि आदि का चुनाव १९३९-४५ में होने वाले महायुद्ध के पहले की तिथियों में से कोई एक यों ही कर लिया गया है। महायुद्धोत्तर काल का भी एक तलपट उपस्थित करेंगे। पृष्ठ ६५ पर अमेरिका के १२ फेडरल रिजर्व बैंकों के संयुक्त तलपट का लेखा भी उपस्थित कर रहे हैं। इस तलपट की तिथि १९२८ जैसी पुरानी चुनी

गयी है क्योंकि दूसरे महायुद्ध के कारण जो सब गड़बड़ी हुई उसके दस साल पहले, यानी १९२८ में ही, अमेरिकी मुद्रा-बाजार में भारी मंदी आयी थी और उसने अमेरिका की मुद्रा-प्रणाली पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला था।

ये तलपट पृष्ठ ४६ पर छापे गये सदस्य बैंकों के तलपटों के अनुरूप हैं, यह स्पष्ट देखा जा सकता है। इसमें प्रधान अन्तर यह है कि देना की ओर नोट भी बहुत बड़ी तादाद में दिखाये गये हैं, पर जैसा कि पहले बता दिया गया है, डिपाजिट से नोटों का कोई आधारभूत प्रभेद नहीं रहता। सदस्य बैंकों के तलपट के मामले में सब से महत्त्वपूर्ण आंकड़ा नाम की तरफ डिपाजिट का ही था जो जनता को नगद मुद्रा जुटाता है।

बैंक आफ इंग्लैंड, १४ जून १९३९

(Bank of England, 14 June 1939)

देना—	पौण्ड	पावना—	पौण्ड
नोट—	४९४,९५१,८६५	सोना-चांदी	२२७,५६३,३७२ (क)
जनता का डिपाजिट (जो ब्रिटिश सरकार का डिपाजिट है)	२२,०७८,७७०	सरकारीसिक्यूरिटी	४१५,४०७,३८९
बैंकों के डिपाजिट (यानी जो ब्रिटेन के ज्वायंट स्टाक बैंकों की पूंजी है)—	१००,२९६,९१५	अन्य सिक्यूरिटियां	२२,९९५,५००
अन्य डिपाजिट (यानी वह डिपाजिट जा ब्रिटिश सरकार की या अन्य बैंकों की नहीं है, स्वतंत्र है)	३६,३९९,३२०	छूट और पेशगी—	५,६३१,९७५
पूंजी और अतिरिक्त	१७,८७१,१८६		
कुल जोड़—	६७१,५९८,०५६	कुल जोड़—	६७१,५९८,०५६

(क) सब का सब प्रायः सोना।

फेडरल रिजर्व बैंक, ३१ दिसम्बर १९२८

(Federal Reserve Banks, 31 December 1928)

देना—	डालर	पावना—	डालर
नोट—	१,८०९,०००,०००	सोना—	२,५८४,०००,०००
सरकारी डिपाजिट—	२३,०००,०००	अन्य प्रकार की नगदी—	२०५,०००,०००
सदस्य बैंकों का डिपाजिट—	२,३८९,०००,०००	सदस्य बैंकों को उधार-पैंचा—	१,०५६,०००,०००
अन्य डिपाजिट—	२७,०००,०००	सिक्यूरिटी—	२३८,०००,०००
पूंजी और अतिरिक्त—	४०१,०००,०००	विनिमय बिल—	४८९,०००,०००
अन्य प्रकार का खुदरा देन—	१३,०००,०००	अन्य प्रकार की खुदरा सम्पत्ति—	९०,०००,०००
कुल जोड़—	४,६६२,०००,०००	कुल जोड़—	४,६६२,०००,०००

इस तरह केन्द्रीय बैंक के तलपटों में सबसे महत्त्वपूर्ण तात्पर्य सदस्य बैंकों के डिपाजिट वाला है (बैंक आफ इंगलैण्ड में अन्य बैंकों का डिपाजिट) जिसमें नोटों को साथ लिये सदस्य बैंकों का नगद रोकड़ आता है।

इस तलपट का जो जमा का मद है वह भी बैंकों के तलपट के समान ही है। इसमें नगद लगायी हुई पूंजी, और ऋण के तीन प्रमुख मुद्दे हैं। नगद तो अन्त में जा कर सोने की सिल का रूप ले लेता है और यह देखेंगे कि १९३९ में बैंक की कुल जमा पूंजी में अधिक भाग सोने का ही था—यह सदस्य बैंकों के मुकाबिले कहीं अधिक था। लगानी या तो सरकारी सिक्यूरिटी का स्वरूप लेता है अथवा विनिमय बिल जैसे किसी अल्पावधि ऋण-पत्रक में बदल जाता है। ऋ केन्द्रीय बैंक के ग्राहकों को दिये गये पेशगी हैं। अमेरिकी फेडरल रिजर्व बैंक के सम्बन्ध में तो उसके ग्राहक उसके सदस्य बैंक ही हैं। इंग्लैंड में यह रिवाज है कि बैंक आफ इंग्लैंड से उसके सदस्य, सम्मिलित

पूंजी वाले बैंक, कर्ज नहीं लेते। जब उन्हें रुपये की आवश्यकता होती है तो वे उन ऋणों की मांग करते हैं जो उन्होंने मुद्रा-बाजार को "कॉललोन्स" (call loans) के रूप में दिया है और मुद्रा-बाजार को बैंक आफ इंग्लैंड से रुपया कर्ज लेकर छोटे-छोटे बैंकों को देना पड़ता है। परिणाम वही है जो अमेरिका की सीधी पद्धति में होता है।

केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंकों के सुरक्षित कोष को घटाने-बढ़ाने का काम अपनी ही पूंजी को घटा-बढ़ा कर करता है। इसमें भी वही सिद्धान्त है जो हमने 'मुद्रा-सृजन' के अध्याय में वर्णित किया है। इस बात को बैंक आफ इंग्लैण्ड के तलपट के १९४७ के हिसाब में से एक दिन का हिसाब यो हीं लेकर उसका मिलान ऊपर दिये गये १९३९ के तलपट से कर के देखेंगे--

बैंक आफ इंग्लैण्ड, १५ अक्टूबर १९४७

(Bank of England, 15 October 1947)

(लाख पौंड में)

१४ जून १९३९ से परिवर्तन (change since 14 June 1939)

देना—		पावना—	
नोट	१३,६८६ + ८७३६	सोना और चांदी—	२४ — २२५२
जनता का डिपाजिट	११५ — १०६	सरकारी सिक्यूरिटी	१७५९९ + १३,४४५
बैंकों का डिपाजिट	२९५८ + १९५५	अन्य सिक्यूरिटियां	२०१ — २९
अन्य डिपाजिट	९४६ + ५८२	छूट	५८ + ११२२
पूंजी और अतिरिक्त	१७७ — २	पेशगी	... + २
कुल जोड़—	१७,८८२ + ११,११६	कुल जोड़—	१७,८८२+११,१६६

यह देखा जा सकता है कि तलपट का योगफल दूने से अधिक हो गया है। युद्ध के कारण बहुत बड़े पैमाने पर मुद्रा का 'सृजन' होता है। क्यों, यह बात आगे

चलकर समझायी जायगी। १९३९ और १९४७ के सितम्बर महीने (दोनो तलपटों में दी गया तारीखों पर नहीं) के बीच की अवधि में औसतन, ब्रिटेन की जनता के हाथ पर रुपये का परिमाण, नोट और बैंक-डिपाजिटों को लेकर, २७०७० लाख पौण्ड से बढ़ कर ६९७४० लाख पौण्ड हो गया। मुद्रा की वृद्धि का सम्पूर्ण भार बैंक आफ इंग्लैंड पर पड़ा! नोटों की वृद्धि की आवश्यकता को तो इसने सीधा नोट छाप कर पूरा किया। इस तरह प्रायः ९००० लाख पौण्ड के नोट और छापे गये। इनमें से कुछ नोट तो बैंकों ने 'टिलमनी' (till-money फिरता-घुरता के लिए रखा हुआ रुपया) की तरह व्यवहार करने के लिए लिया। सदस्य बैंकों में जनता के डिपाजिट की वृद्धि बैंक आफ इग्लैंड में बैङ्कों के डिपाजिट में प्रायः २००० लाख पौण्ड की वृद्धि कर के की गयी। यह रकम सदस्य बैंकों की नगदी के समान हुई। इससे वे इस बात में समर्थ हुए कि अपने डिपाजिट को ३३५०० पौण्ड बढ़ा (क) ले सकें। इस सम्पूर्ण ढांचे का आधार यही हुआ कि बैंक आफ इंग्लैड ने प्रायः १०००० लाख पौण्ड पूंजी बढ़ायी। और यह वृद्धि इस उपाय से संभव हुई कि बैंक आफ इंग्लैंड ने उतने ही परिमाण की सरकारी सिक्यूरिटी खरीद ली। जैसा कि दिये गये हिसाब से स्पष्ट है, प्रायः १३००० लाख पौण्ड की सिक्यूरिटियों से भी अधिक की आवश्यकता इन सम्पूर्ण कार्यों के लिए थी क्योंकि हम पहले कह आये हैं कि बैंक आफ इंग्लैंड ने अपना सम्पूर्ण सोना सरकार को दिया, और उसके एवज में सिक्यूरिटी ले ली।

अमेरिका में भी मुद्रा-वृद्धि में प्रायः यही सिद्धान्त काम करता रहा है। बल्कि उस देश में तो यह चीज युद्ध-काल से भी पहले हुई। अगले पृष्ठ की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

(क) इस तरह सदस्य बैंक की नगदी के अनुपात में कुछ ह्रास था। १९३९ में औसतन सिक्के, नोट और शेष जो बैंक ऑफ इंग्लैण्ड में थे, वे कुल डिपाजिट का १०·८५ प्रतिशत थे। सितम्बर १९४६ में यही ८·२८ प्रतिशत हुआ।

फैडरल रिजर्व बैंक, २९ दिसम्बर १९३८

(Federal Reserve Banks, 29 December 1938)

(लाख डालर में)

देना—		१९२८ से परिवर्तन (change from 1928)	पावना—		१९२८ से परिवर्तन (change from 1928)
नोट	४४,७००	+ २६,६१०	सुवर्ण की सर्टिफिकेट	१,१७,८८०	+ ९२,०४०
सरकारी डिपाजिट	९४१०	+ ९१८०	अन्य प्रकार की नगदी	३३५०	+ १३००
सदस्य बैंकों के डिपाजिट	८५,७७०	+ ६१,८८०	सदस्य बैंकों को ऋण	७०	− १०,४९०
अन्य डिपाजिट	५०५०	+ ४७८०	सिक्यूरिटी	२५,६४०	+ २३,२६०
पूंजी और अतिरिक्त	३१००	− ९१०	विनिमय बिल	१०	− ४,८८०
खुदरा देना	७०८०	+ ६९५०	खुदरा पूंजी	८,१६०	+ ७,२६०
कुल जोड़—	१,५५,११०	+ १,०८,४९०	कुल जोड़—	१;५५,११०	+ १,०८,४९०

ये आंकड़े मुद्रा-संकट (The Great Depression) और नवीन पद्धति (New Deal) के दिनों के हैं। ह्रास के साल मुद्रा-संकोच के साल थे। पर जब श्री रूजवेल्ट प्रेसिडेन्ट हुए वे व्यवसाय-ह्रास को समाप्त करने की चेष्टा में जी-जान से जुट गये। और इसके लिए साख बढ़ाना उपाय सोचा गया। हर एक संभव सूत्र से लेकर आर्थिक ढांचे में रुपया ठेल दिया गया और उसका जो परिणाम हुआ वह ऊपर दिये गये आंकड़ों से स्पष्ट होता है। सदस्य बैंकों का डिपाजिट जो उनका नगदी है, २३८९० लाख से बढ़कर ८५७७० लाख डालर हो गया, अर्थात् तीन गुने से भी अधिक। इसके अतिरिक्त प्रारम्भ के वर्षों के छोटे आंकड़ों का करीब आधा सीधे रिजर्व बैंक से लिया गया था (पृष्ठ ६५ पर 'सदस्य बैंकों' को ऋण की जो, १०५६० लाख डालर की रकम दिखायी गयी है उससे)। १९३८ आते-आते यह सब ऋण प्रायः चुकता भी हो गया। सदस्य बैंकों की सुरक्षित पूंजी की भारी

वृद्धि के अतिरिक्त, फेडरल रिजर्व बैंक ने अपने चालू नोटों का परिमाण दूना से अधिक कर दिया। नतीजा यह हुआ कि रिजर्व बैंकों का कुल देना तिगुना हो गया।

यह आर्थिक मद कैसे पैदा किया गया यह दाहिने हाथ की ओर के हिसाब में दिखाया गया है। सबसे बड़ा भाग इस विस्तार का सुवर्ण से आया—१९२८ के २५८४० लाख डालर से बढ़कर ११७८८० लाख डालर १९३८ में। यह ध्यान देना चाहिये कि 'सोना' अब 'सोना के प्रमाण-पत्र' में परिवर्तित हो गया है। इसका अर्थ यह है कि वास्तविक सुवर्ण-राशि को मध्य कालीन समय में अमेरिकी सरकार के हवाले कर दिया गया है जिसने रिजर्व बैंक को उतने का प्रमाण-पत्र दिया। आज कल 'सुवर्ण-प्रमाण-पत्र' एक तरह का नोट है जिसपर शत प्रतिशत सोना दिये जाने की गारंटी रहती है। इन दिनों संसार के अन्य देशों से सोने का भारी प्रवाह अमेरिका पहुंचा। पर यह सब कैसे हुआ इसपर अध्याय १० में विचार किया जायगा। यहां यही बता देना काफी है कि इसी प्रवाह के कारण वह आधार प्राप्त हुआ जिसपर रिजर्व बैंकों ने मुद्रा का परिमाण बढ़ाया। पर इस समय ये रिजर्व बैंक केवल अन्यमनस्कता से इस सुवर्ण-प्रवाह का निरीक्षण नहीं करते थे। यह इस बात से स्पष्ट है कि इन्होंने भी उस समय २३२६० लाख डालर की सरकारी सिक्यूरिटियां खरीदी। इसमें उनका उद्देश्य यह था कि कारबार (ऋण देने का) बढ़ाया जाय और अगर सोने की आमदनी से उन्हें इसका अच्छा मौका नहीं मिल गया होता तो, वे निःसंशय रूप से, और भी अधिक सिक्यूरिटियां खरीद कर (यद्यपि उतना अधिक नहीं) अपने लक्ष्य की पूर्ति करते।

हमलोगों को इस अध्याय में केवल बैंक-व्यवसाय के संगठन पर विचार करना है। तो भी यहां पर यह कह देना अयुक्त न होगा कि मुद्रा-परिमाण के प्रसार की इस नीति में आंशिक सफलता ही मिली। पहली बात यह कि सदस्य बैंकों को जब संघीय बैंकों की ओर से अवसर मिला कि वे अपने सुरक्षा-कोष की वृद्धि करलें तो भी इन्होंने अपना व्यय उस हिसाब से नहीं बढ़ाया जिस हिसाब से कोष-वृद्धि की गयी थी। २९ दिसम्बर १९३८ में सदस्य बैंकों का सुरक्षित कोष ८५७७०

लाख डालर था। इसमें प्राय: ३०००० लाख डालर आवश्यकता से अधिक था अर्थात अतिरिक्त जमा के लिए इनको आधार बनाने की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। और दूसरे, नवीन पद्धति का साल यद्यपि अमेरिका में व्यवसाय के पुनर्जीवन और कार्यक्रम-व्यस्तता का नया समय से आया था पर उधार का विस्तार करके व्यापार बढ़ाने की बात सोचने वालों ने जितनी आशा की उतनी पूरी नहीं हुई।

इस तरह युद्ध के पहले ही संघीय रिजर्व-प्रथा का देना-पावना बहुत अधिक विस्तार लाभ कर गया था। पर १९२८—३८ के बीच के काल में बैंक-व्यवसाय का जो विस्तार हुआ उससे युद्ध-काल में जो विस्तार हुआ उसे ग्रहण-सा लग गया।

फेडरल रिजर्व बैंक, २९ अक्टूबर १९४७

(Federal Reserve Banks, 29 October, 1947)

(लाख डालर में)

देना—		१९२८ से परिवर्तन (change from 1928)	पावना—		१९३८ से परिवर्तन (change from 1938)
नोट	२,४४,५३० +	१,९९,८३०	सुवर्ण-प्रमाण-पत्र	२,०३,६३० +	८५,७५०
सरकारी जमा	१३,५५० +	४,१४०	अन्य प्रकार के नगद	९,४७० +	३,४६०
सदस्य बैंकों का जमा	१,६८,५९० +	८२,८२०	सदस्य बैंकों को ऋण	३,७३० +	६,१२०
अन्य जमा	९,१६० +	४,११०	सिक्यूरिटी	२,२१,२९० +	१,९५,६५०
पूंजी और अतिरिक्त	७,१७० +	४,०७०	विनिमय बिल	२० +	१०
अन्य प्रकार के देन	२३,५२० +	१६,४४०	खुदरा पावना	२८,३८० +	२,०२२०
कुल जोड़—	४,६६,५२० +	३,११,४१०	कुल जोड़—	४,६६,५२० +	३,११,४१०

युद्ध-काल की इस वृद्धि की तुलना जब हम पृष्ठ ६६ पर दी गयी ब्रिटेन की तालिका से करते हैं तो कई मनोरंजक बातें मालूम होती हैं। जब ब्रिटेन का नोट-विस्तार

तीन गुना से थोड़ा कम ही रहा, संघीय रिजर्व बैंक (अमेरिका) के नोट प्रायः छ गुने हो गये और ये नोट ही अमेरिका में नहीं चलते, अन्य भी चलते हैं। सदस्य बैंकों का नगद सुरक्षित धन भी इंग्लैण्ड में तीन गुने से कुछ कम विस्तार लाभ कर गया पर वह अमेरिका में प्रायः दूना हुआ। (सदस्य बैंकोंकी जमा, जिसको अमेरिका में सचमुच सुरक्षित कोष की तरह प्रयुक्त भी किया जाता है—अर्थात वह धन का जोड़ जिसमें अतिरिक्त सुरक्षित कोष नहीं है—प्रायः तीन गुना बढ़ा। ब्रिटेन के आंकड़ों के साथ तुलना में यही समझना ठीक है।) मुद्रा-प्राप्ति के दायरे में युद्ध-काल में इतने विस्तार की आवश्यकता क्यों पड़ गयी इसका किसी अगले अध्याय में वर्णन किया जायगा। यहां पर तो हमलोगों को बैंक-व्यवसाय की प्रक्रिया से सम्बन्ध रखना है और दी गया तालिकाएँ साफ-साफ दिखा रही हैं कि यह कैसे हुआ। रिजर्व बैंकों के ३१० करोड़ डालर की कुल वृद्धि-प्राप्त पूँजी में एक चौथाई तो सोना-प्राप्ति के कारण वृद्धि हुई—वह सोना जो अन्य देशों ने या तो सुरक्षित रखने के लिए अथवा गोला-बारूद अथवा अन्य आवश्यक पदार्थों की खरीदारी के मूल्य में अमेरिका भेजा। शेष का प्रायः सम्पूर्ण अंश इस तरह जमा हुआ कि बैंकों ने उतनी रकम की सरकारी सिक्यूरिटी खरीद की।

इस तुलना से ज्ञात होगा कि खास-खास समय पर सचमुच कैसे क्या होता है। पर इससे यह नहीं व्यक्त होता कि इतना होने में केन्द्रीय बैंक का हाथ कितना था। सब से बड़ी प्रेरक शक्ति तो निश्चित रूप से युद्ध करने की सरकारी नीति थी। पर उस नीति को क्रियान्वित करने में केन्द्रीय बैंक ने अपनी ही प्रेरणा से यह सब किया अथवा वह चुपचाप तमाशा देखती रही और अन्यों द्वारा किये गये कार्यों की प्रतिक्रिया को स्वीकृत करने को तैयार रही, यह बात स्पष्ट नहीं हुई।

जहां तक सुवर्ण-संचय की बात है, संघीय बैंक तो एकदम निष्क्रिय रहा। इंग्लैण्ड में बैंक आफ इंग्लैण्ड के पास का सोना निकल जाने का तो कारण यह था कि सरकार का निर्णय सम्पूर्ण सुवर्ण को अपने ही पास संचित रखने का था क्योंकि

जरूरत पर वहां से सुवर्ण का विक्रय गुप्त रूप से हो सकता है और बैंक के कारबार पर उसका कोई आकस्मिक प्रभाव भी नहीं पड़ सकता। पर अमेरिका में संघीय रिजर्व बैंक की सुवर्ण-राशि में जो वृद्धि हुई उसका मुख्य कारण विदेशी सरकारों और बाहर के आदमियों का कार्य था जिन्होंने या तो वहां के बैंकों में सुरक्षित रखने को अथवा उसके द्वारा डालर खरीद कर उन डालरों से अमेरिकी सामान खरीदने को उसे अमेरिका भेज दिया। दोनो देशों में संघीय बैंक निष्क्रिय दर्शक रहे।

पर केन्द्रीय बैंक की लगायी हुई पूंजी में जो परिवर्तन हुए वे तो उसके अपने कार्यों के कारण हुए। जहां तक सरकारी ऋण-पत्र खरीदने की बात है, वहां तक तो यह बिलकुल सही है। अगर ये घटते-बढ़ते हैं तो इसका सीधा कारण तो यही है कि केन्द्रीय बैंक इसे जान-बूझ कर बेचता या खरीदता है। विनिमय-बिलों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि केन्द्रीय बैंक उन्हें अपनी इच्छा से बेचते-खरादते होंगे पर ऐसा भी हो सकता है कि मुद्रा-बाजार की उन्हें प्रेरणा मिली हो।

किन्तु ऋण तो एक मात्र लेने वाले की इच्छा पर निर्भर रहते हैं। केन्द्रीय बैंक के कारबार का यह ढंग रहा है कि अपने ग्राहक को वह कभी ऋण देने से इनकार नहीं करते यदि वह कर्ज के लिए स्वीकार-योग्य जमानत दे सकते हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि केन्द्रीय बैंक अपने ऋण के आकार-प्रकार को प्रभावित करने में बिलकुल शक्तिहीन है। अगर बैंक अपना ऋण का कारबार कम करना चाहे तो वह खूब कड़ा ब्याज मांग सकता है अर्थात बैंक-दर को बढ़ा दे सकता है और अगर वह इसे बढ़ाना चाहे तो बैंक की ब्याज-दर को कम कर सकता है। बैंक की ऊंची ब्याज-दर की प्रतिक्रिया जल्दी होती है—उतनी जल्दी उसकी कम ब्याज-दर की प्रतिक्रिया नहीं हो सकती। बैंक के व्यापारी सोचने लगते हैं कि ऊंची ब्याज-दर, मान लीजिए ६ प्रतिशत, देने की अपेक्षा यह अच्छा है कि जल्दी-जल्दी ऋण चुकता कर दें। किन्तु यदि रुपया लगाने का कोई अधिक लाभकर

सूत्र नहीं मिलता तो बैंक की ब्याज-दर कम होने पर भी वे ऋण लेना पसंद नहीं करेंगे।

इस तरह संघीय बैंक को अपनी पूंजी पर पूरा नियंत्रण होता है। इसी कारण केन्द्रीय बैंक का अधिकार सदस्य बैंकों के नगद सुरक्षित कोष पर भी होता है। और इसी से जनता के हाथ में जाने वाली मुद्रा के परिमाण पर भी उसका पूरा-पूरा आधिपत्य होता है। इसकी लगायी हुई पूंजी तो मुख्यतः इसकी अपनी इच्छा के अधीन होती है पर इसका ऋण का कारबार इसके द्वारा निश्चित ब्याज-दर के स्तर पर निर्भर करता है। इसलिए केन्द्रीय बैंक के दो भारी हथियार ये हैं—ऋण-पत्र का क्रय और विक्रय की इसकी शक्ति, जिसका कारबारी नाम खुले बाजार में लेन-देन का कारबार (open market operation) है, और ब्याज का दर घटाने-बढ़ाने की इसकी शक्ति जिसे कारबार में "बैंक–दर-नाति" (bank rate policy) नाम दिया जाता है।

इन अस्त्रों का प्रयोग भी लेकिन बिलकुल सीमाहीन ढंग से नहीं किया जाता। इस तरह जबतक केन्द्रीय बैंक पर सुवर्ण-कोष रखने की शर्त है तब तक वह अपने सुवर्ण के स्टाक पर निगाह करेगा ही। अगर देश में स्वर्ण-मान है तब तो यह बात प्रकट सत्य है कि ऐसा करना ही पड़ेगा। सुवर्ण-मान-सम्बन्धी केन्द्रीय बैंक की नीति के भेद-प्रभेदों के सम्बन्ध में हम अध्याय ९ में विचार करेंगे। पर देश सुवर्ण-मान पर न भी हो तो भी, अर्थात् जिस समय केन्द्रीय बैंक पर अपने नोटों के एवज़ में मांग होने पर सोना देने का उत्तर-दायित्व न हो उस समय भी, इसे कानून से वाध्य किया जा सकता है कि यह जितना नोट जारा करे उसके निश्चित अनुपात में अपने पास सोना भी जमा कर एक निश्चित परिमाण-सम्बन्ध दोनो चीजों के बीच बनाये रखे। इस तरह नियम है कि संघीय रिज़र्व बैंकों के नोट उनके पास के सोना से ढाई गुना से अधिक न होंगे। उस हालत में भी जब कि युद्ध-जनित व्यवस्था के कारण

इसके पास की सुवर्ण-राशि ले ली गयी हो (जैसा सम्प्रति संसार के प्रायः सभी देशों के केन्द्रीय बैंकों का सोना सरकार के पास जमा हो गया है), इसपर यह प्रतिबंध लगाया जा सकता है कि यह अपने नोटों को एक खास परिमाण के नीचे ही रखे। इसलिए केन्द्रीय बैंक को इस बात में सावधानी रखनी होती है कि देश के ऋण के ढांचे को अन्दाज़ से ही बढ़ाया जाय क्योंकि जनता का अधिक रुपया यदि बैंक में जमा हो जाय, तो, यदि अन्य बातें समान हों, यह अपना रुपया नोटों के रूप में ही वापस लेना पसन्द करेगी और केन्द्रीय बैंक को कानून के अन्दर रहते हुए इतना नोट जनता को देने की व्यवस्था रखनी होगी। इस विषय पर आगे के अध्याय में भी विचार किया जायगा। इस स्थान पर हम केवल यही दिखाना चाहते हैं कि केन्द्रीय बैंक पर भी इसके कारबार के सम्बन्ध में कुछ न कुछ प्रतिबंध रहता है।

सरकार की आर्थिक व्यवस्था शांति काल में भी केन्द्रीय बैंक की नीति पर प्रभाव रखती है और युद्ध-काल में तो बैंक की नीति सर्वथा सरकारी नीति की आश्रित होती है। सरकारी कारबार केन्द्रीय बैंक के साथ रहता है। जब कर की उगाही होती रहती है, जनता की भारी संख्या सदस्य बैंकों पर अपने कारबार के ऊपर सरकार के पक्ष में चेक काट-काट कर देती रहती है। इन चेकों का संग्रह संघीय बैंक में सरकारी डिपाजिट को बढ़ा देता है और सदस्य बैंकों का डिपाजिट उसी हिसाब से कम होता है। पर सदस्य बैंकों का डिपाजिट तो 'मुद्रा-सृजन' का नगदी आधार है और सरकारी डिपाजिट नहीं है। इसलिए कोई युक्ति जो जनता की मुद्रा-निधि को सरकार के पक्ष में करती है (जनता का अर्थ यहां पर सदस्य बैंक है) वह वास्तव में मुद्रा के परिमाण को संकुचित करती है। इसकी उलटी दिशा में जब सरकार केन्द्रीय बैंक के अपने हिसाब में से, सरकारी नौकरों के वेतन देने में अथवा राष्ट्रीय ऋण का ब्याज भरने में, चेक द्वारा रुपये की तलबी करती है, इसके द्वारा दिये गये चेक सदस्य बैंकों के पास जमा होते हैं और उनके द्वारा सरकार के पास भेजे जाते हैं। और वे जब केन्द्रीय

बैंक पहुंचते हैं तब उनसे सदस्य बैंकों के डिपाजिट में वृद्धि होती है। इंग्लैण्ड में यह कोई बड़ी बात नहीं है क्योंकि वहां सरकार ऐसा नहीं करती कि एक बार तो केन्द्रीय बैंक में बहुत अधिक रुपया जमा हो जाने दे और फिर दूसरी बार उसे एकदम घटा दे। जब सरकारी कोष में खर्च से अधिक रुपये की आमदनी होने लगती है, सरकार उस अतिरिक्त रुपये से अपना ऋण भरना शुरू कर देती है और जब इसका व्यय आमदनी से बढ़ता है, यह अस्थायी रूप से उधार काढ़ती है और इस तरह अपना बैंक-शेष सन्तुलित रखती है। किन्तु अमेरिका एवं कुछ अन्य देशों में सरकार का बैंक-शेष, बहुत घटता-बढ़ता रहता है। पर यह बात हमेशा केन्द्रीय बैंक के हाथ की है कि वह सरकारी खजाने की कार्य-वाहियों का बुरा प्रभाव न पड़ने दे। अगर सरकारी ऋण अपना पावना बढ़ा रहा हो और इस तरह सदस्य बैंक के नगद रोकड़ पर रोक पड़ती हो तब केन्द्रीय बैंक ऋण-पत्र क्रय करते हैं अथवा ब्याज-दर कम कर देते हैं जिससे कि ऋण-प्रार्थी उत्साहित हों। और अगर सरकारी कोष अपना पावना घटा रहा हो तो केन्द्रीय बैंक या तो ऋण-पत्र बेच देता है अथवा ब्याज-दर बढ़ा देता है।

इस तरह से केन्द्रीय बैंक की उस शक्ति की सीमा है जिसके द्वारा वह देश में चालू मुद्रा के परिमाण पर नियन्त्रण कर सकता है। किन्तु ये सीमाएँ प्रशस्त और लचीली हैं। सभी साधारण समय में केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंकों के नगद सुरक्षा-कोष के आकार के सम्बन्ध में फैसला कर सकता है और वह एकाध अंश तक कम, जनता के उन डिपाजिटों के सम्बन्ध में ऐसा करता है जो सदस्य बैंकों के पास होते हैं। आधुनिक राज्यों में मुद्रा की संख्या पर केन्द्रीय बैंक का बहुत बड़ा शासन होता है। "वर्तमान मुद्रा का परिमाण कौन निश्चित करता है ?" इस प्रश्न का यह उत्तर है—"केन्द्रीय बैंक की नीति यह काम करती है और ऐसा करते हुए बैंक अपनी उस स्वेच्छा का इस्तेमाल करता है जो उसे कुछ सीमाओं के साथ प्राय: अबाध मिली हुई है।" यह शक्ति अत्यन्त सामाजिक महत्व की है। इसके अतिरिक्त इस शक्ति का कोई प्रतिद्वन्दी भी नहीं है और अधिकारियों की जानकारी भी इस काम में

साथ रहती है। इस तरह केन्द्रीय बैंक अपने क्षेत्र में एक 'डिक्टेटर' या 'तानाशाह' से कम नहीं है। इस तानाशाह का साम्राज्य कहां तक विस्तृत है इस विषय की विवेचना हम आगे के अध्यायों में करने जा रहे हैं।

केन्द्रीय बैंक के विस्तार का हाल

THE GROWTH OF CENTRAL BANKING

केन्द्रीय बैंक बिलकुल दो-चार युगों के मध्य की सृष्टि है। इसका प्रादुर्भाव पहले इंग्लैण्ड में हुआ और वह भी संयोग से ही। इंग्लैड में, बैंक आफ इंग्लैण्ड को छोड़कर अन्य बैंकों को इसमें सुविधा होती थी कि वे अपने शेष अतिरिक्त को बैंक आफ इंग्लैंण्ड के ऊपर चेक काटकर भुगतान किया करें और इस कार्य के लिए बैंक आफ इंग्लैण्ड में उनका जो शेष-हिसाब होता था उसको वे नगदी के बराबर ही मानते थे। यह तरीका क्रम-शून्य ढंग से चल रहा था और बैंक आफ इंग्लैण्ड के निर्देशक ब्याज-दर बढ़ाने और घटाने के प्रभाव के कुछ अस्पष्टता के साथ जानकार भी थे। यह बात १८४४ के उस बैंक-कानून के बनने से पहले से हो रही थी जिससे कि ब्रिटेन के बैंकों का रूप-विधान (frame work) निश्चित किया गया। परन्तु ऋण-नियन्त्रण के सिद्धान्त उस समय तक ठीक-ठीक लिखे नहीं गये थे जब तक १८७३ में वाल्टर बैग हौट का "लोम्बार्ड स्ट्रीट" पत्र प्रकाशित नहीं हुआ। किन्तु इसके बाद भी वे सिद्धान्त पक्के नहीं हो पाये जिनपर बैंक अपना कारबार करते हैं। वे तब तक भी मनमाने नियमों पर अपना कार्य करते थे और १९१४-१८ वाले प्रथम महायुद्ध-काल तक बैंक-व्यवसाय के सम्बन्ध में किसी व्यवस्थित सम्वद्ध नीति के निश्चय का जान-बूझकर कोई प्रयत्न किसी के द्वारा नहीं हुआ।

१९वीं शताब्दी के सम्पूर्ण या अधिकांश भाग में फ्रांस और जर्मनी में भी इन देशों के केन्द्रीय बैंक थे। पर कुछ तो इस कारण कि इन देशों में लंदन के समान लचीले और विस्तृत मुद्रा-बाजार नहीं थे और कुछ इस कारण कि इन देश के निवासियों में ठीक लन्दन के निवासियों के समान ही सुविस्तृत रूप से 'चेक' के इस्तेमाल

करने की आदत नहीं लगी थी; कुछ इसलिए कि बैंक आफ इंग्लैंड ने अपने सदस्य बैंकों या सरकार की सेवा करने की ओर जितना पग बढ़ाया उसी हिसाब से बैंक आफ फ्रांस चाहे रिक्स बैंक ने पैर नहीं बढ़ाया बल्कि वे देश भर में स्थापित अन्य बैंकों से प्रतिद्वन्दिता करने पर तुल गये। इन देशों के बैंकों में अंगरेजी बैंकों के कारबार की बारीकी और सुकुमारता नहीं आ पायी। यूरोप के अन्य व्यावसायिक देशों में से हालैंड, स्वीडेन, डेनमार्क आदि में भी कुछ दिनों तक केन्द्रीय बैंक का अस्तित्व रहा और उन्होंने न्यूनाधिक विशुद्ध अंगरेजी केन्द्रीय बैंक की रीति-नीति पर काम किया।

अमेरिका में, पिछली शताब्दी के तृतीय दशक में, दूसरे बैंक आफ यूनाइटेड स्टेट्स के टूटने के बाद संघीय बैंक जैसा कोई संगठन नहीं रह गया। सन् १९०७ की बैंक-विरत्ति के बाद, जिस समय बैंक वाले अपना देना नगद अदा करने में सामूहिक रूप से असफल हो गये और इस कारण उन्हें "निपटारा-घर-प्रमाण-पत्र" (clearing certificate) चालू करने को लाचार होना पड़ा, जिसे एक प्रकार से आपत्ति-कालीन अतिरिक्त वैधानिक मुद्रा कह सकते हैं, एक बात स्पष्ट रूप से जाहिर हुई। उस समय यह ज्ञात हुआ कि अच्छे, बुरे और उदासीन तरह के नाना असंयुक्त बैंकों की स्थापना से क्या-क्या बुराइयां पैदा हो सकती हैं। छोटे-छोटे बैंक आपत्ति के समय बड़े बैंकों से सहायता लें यह हो सकता है पर जब किसी सार्वजनिक आतंक के कारण बड़े बैंकों का कारबार भी शिथिल हो रहा है, तब तो ऐसी दूसरी कोई संस्था नहीं रह जाती है जिसके सामने कुछ अतिरिक्त नगद रुपये की अस्थायी सहायता के लिए हाथ पसारा जाय। इस दृष्टिकोण से कई वर्षों तक विचार और परीक्षण के बाद १९१३ में संघीय रिजर्व कानून नामक कानून की सृष्टि हुई। इस कानून से जो रीति प्रचलित हुई उसके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त अङ्गरेजी नमूने के थे। अर्थात्, सदस्य बैंक एक निश्चित अनुपात में सुरक्षित कोष संघीय रिजर्व बैंक में जमा रखता है। ये 'शेष' (balance) के रूप में रहते हैं। रिजर्व बैंक इस शेष पर ब्याज-दर घटाकर (यानी जिस दर पर ये अपने सदस्य बैंकों को ऋण या छूट

देंगे उससे कम) या खुले बाजार में ऋण-पत्रों की खरीद-बिक्री करके कारबार बांधते हैं। पर इसके अतिरिक्त नये कानून में कुछ बड़ा दिलचस्प नवीनताएँ भी थीं। अमेरिका के जन-जीवन में जो सहयोगिता-भाव तथा संघीय प्रवृत्ति छिपी हुई है उसी के अनुरूप, इस कानून से अकेले न्यूयार्क में ही कोई एक केन्द्रीय बैंक स्थापित नही हुआ वरन देश भर में १२ संघीय रिजर्व बैंक विभिन्न प्रान्तों या राज्यों में स्थापित हो गये जो एक दूसरे से सम्वद्ध थे और सबके ऊपर वाशिंगटन में स्थापित एक बैंक-बोर्ड सबके कारबार को सन्नद्ध रूप में चलाने और सब पर नियन्त्रण रखने का काम करने लगा। यह तो हो गया, पर बैंकों के इतिहास के पिछले २५ वर्षों के अनुभव ने इस योजना की पूर्ण उपयोगिता सिद्ध नहीं की। सम्पूर्ण संघीय रिजर्व संगठन दिन-दिन प्रायः इस तरह काम करने लगे हैं जिससे ज्ञात हो कि वे एक हैं और विभिन्न बैंकों में अपने भीतर जो स्वाधीनता होनी चाहिये वह घटती-घटती एकदम नाम मात्र की रह गयी। ऋण-पत्रों का विक्रय, जिसका इस कारबार में बहुत बड़ा हाथ होता है, न्यूयार्क में हा चल सकता है जो देश में सबसे बड़ा बाजार है। इसके अतिरिक्त संघीय रिजर्व बैंकों ने इस बात की अधिकाधिक कोशिश की कि बैंक-कारबार सम्बन्धी नीति निश्चित तथा उसे चालू करने का काम भी उसी के हाथों में रहे और अलग-अलग बैंकों को केवल उस नीति को काम में लाने का काम रह जाय; जो कुछ हो, पर यह बात होनी ही थी क्योंकि एक ही देश में एक से अधिक ऋण-नीति चले यह भी ठीक नहीं होता, जहां चुंगी-क्षेत्रों की अनुपस्थिति और एक ही रूप की मुद्रा के चलन के कारण हर प्रदेश को एक दूसरे के ऊपर अनिवार्य रूप से निर्भर रहना आवश्यक है। संघीय रिजर्व-प्रथा के परीक्षण के बावजूद और सम्भवतः इसी कारण हमलोगों ने एक मुद्रा और एक केन्द्रीय बैंक का सिद्धान्त स्थिर किया है।

१९१४-१८ के महायुद्ध के बाद यह नीति बदलकर एक बिलकुल ही अन्य प्रकार की नीति में आ गयी। वह है, "हर मुद्रा के लिए अलग-अलग केन्द्रीय बैंक"। युद्ध-जनित परिस्थिति के कारण उन सभी सूत्रों का सर्वनाश हो गया था जिनसे यूरोप के सभी देशों की विभिन्न मुद्राएँ आपस में जु ा रहती थीं। मूल्य-स्फीति तथा विनि-

मय-दर के चढ़ाव-उतार के कारण बैंक का कारबार एक हंगामा के बराबर हो गया था। इसके अतिरिक्त यूरोप में कई नवीन एवं कट्टर राष्ट्रीयतावादी राष्ट्रों का आविर्भाव हो गया था। ऐसे हर देश की अपनी खास-खास मुद्रा थी और हर एक की चेष्टा यही थी कि अपनी मुद्रा के अनुरूप ही अपनी मुद्रा-नीति भी बने। ब्रूसेल्स और जेनेवा में १९२० और १९२२ में जो सम्मेलन हुए उनमें यह विचार हुआ कि यूरोप की इस आर्थिक विश्रृंखलता में एक तारतम्य लाया जा सकता है यदि हर देश अपने-अपने यहां एक संघीय बैंक की स्थापना कर ले और अपने देश की मुद्रा एवं बैंक-कारबार की व्यवस्था का संचालन और नियन्त्रण उसके सपुर्द कर दिया जाय। इस प्रकार केन्द्रीय बैंकों के बीच सहयोग स्थापित होने पर एक समन्वय-वादी आर्थिक नीति की स्थापना संभव हो सकती है। इसके बाद बैंक आफ इंग्लैंड के नेतृत्व में राष्ट्र-संघीय निरीक्षकों के तत्वावधान में, युद्ध के बाद के दिनों में, यह नीति काम में लायी जाने लगी और एस्टोनिया, डैनजिग और अलबानिया जैसी छोटी-छोटी इकाइयों में भी केन्द्रीय बैंक की स्थापना हुई। उधर अमेरिकी प्रेरणा पर दक्षिण अमेरिका में भी यह प्रथा फैली और १९३९ के द्वितीय महायुद्ध छिड़ने के समय तक संसार में कोई ही ऐसा देश बच गया जहां केन्द्रीय बैंक की स्थापना अथवा स्थापना का प्रस्ताव नहीं हुआ।

यह नहीं सोचना चाहिए कि हर एक देश में केन्द्रीय बैंक की शक्ति और बैंक-कारबार पर उसकी देखरेख समान रूप में थी। अंग्रेजी-भाषी देशों में बैंकिंग शब्द से जो बोध होता है, वह अब भी बहुत-से उन देशों में अज्ञात है जहां केन्द्रीय बैंक हैं। ऐसे देशों में अभी भी बैंक-कारबार अपने पुराने महाजनी के कारबार में ही लगा हुआ है जिसकी चर्चा हम आरम्भ में कर आये हैं। इनका काम है राष्ट्र की बचत को एकत्र करना और वितरण करना, और इनके कारबार का सम्पूर्ण देना-लेना चेक के द्वारा न होकर नोटों के द्वारा होता है। इन परिस्थितियों में ऋण का कोई कारबार नहीं रह जाता जिसपर केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण की आवश्यकता हो—ये बैंक केवल निकासी बैंकों के समान हैं।

बहुत उन्नत देशों में भी देश-देश के केंद्रीय बैंक की अधिकार-सीमा में फर्क पड़ जाता है। उदाहरण के लिए कह सकते हैं कि बैंक आफ इंग्लैण्ड अपने क्षेत्र में जैसा तानाशाही अधिकार रखता है अमेरिकी संघीय बैंकों के उतने अधिकार नहीं हैं। इसका एक कारण यह है कि संघीय रिजर्व बैंक उन सदस्य बैंकों की सृष्टि है जिन्होंने इसको संगठित किया। फलतः यह केन्द्रीय बैंक अपने सदस्य बैंकों के साथ अधिक कठोरता का आचरण नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त बैंक आफ इंग्लैंड अपने सदस्य बैंकों का सीधे कभी ऋण नहीं दिया करता। बाजार को रुपया देने के उद्देश्य से या तो वह ऋणपत्र क्रय कर लेता है (जिन्हे वह अपने आप ही बेच भी सकता है) अथवा विनिमय-बिलों की जमानत पर मुद्रा-बाज़ार को रुपया देता है। और चूंकि बिल पर प्राप्त होनेवाली छूट से बैंक-ब्याज की दर हमेशा कुछ अधिक रहती है इसीसे यह बात निकलती है कि बैंक आफ इंग्लैण्ड से ऋण लेनेवाला प्रत्येक आदमी मुद्रा खोया करता है, जब तक वह ऋण भर नहीं जाता। परिणामतः यह एक प्रकार की गारंटी है जिससे मन में भरोसा रहता है कि ऋण चुकता होने में यथासम्भव जल्दी ही की जायगी। अमेरिका में संघीय रिजर्व बैंक अपने सदस्य बैंकों को सीधे ऋण दे दिया करता है और यद्यपि ऋण की जमानत में जिस विशेष प्रकार की जमानती सम्पत्ति दी जाती है, उससे जो ब्याज की आय होती है उससे बैंक-ब्याज की दर अधिक ही होती है; तो भी सदस्य बैंकों के लिए हमेशा यह अधिकार रहता है कि वे अपने कुछ अन्य व्यय बढ़ा दें और इस तरह वे जो रिजर्व बैंक में अधिक ब्याज भर रहे हैं उसके बचाव के लिए इस प्रकार अपनी ब्याज-दर औसत तौर पर ऊँची कर लें। पर किसी बैंक को ऐसा करने की सुविधा उस समय नहीं दी जा सकेगी जिस समय सदस्य बैंकों की पर्याप्त संख्या ऋण के लिए प्रार्थी न हो और भारी-भारी रकमें न उठावें क्योंकि इससे यह होता है कि बैंकों की स्थिति अधिकाधिक रुपया लगाने के विचार से सुविधापूर्ण हो जाती है और व्यावसायिक प्रतिद्वन्दिता के कारण ब्याज-दर बढ़ायी नहीं जा सकती। पर सदस्य बैंक जब एक साथ ऋण ले रहे हों तो उन्हें हो सकता है कि इसी में लाभ दीखने लगे और वे यह क्रम चालू कर दें और इस प्रकार

जब कि आवश्यकता अधिक है इस विषय का नियन्त्रण ही रिजर्व बैंक के हाथों से खिसक जाय।

एक ऐसा भी काम है जिसे करने का भार केन्द्रीय बैंक पर है और जो कभी-कभी तो सबसे आवश्यक हो उठता है। केन्द्रीय बैंक अंतिम महाजन है। हर एक देश में बैंकों पर प्रायः ऐसी भीड़ आ जाया करती है जिसमें जनता के बीच कुछ न कुछ घबड़ाहट के कारण अपने रुपये बैंक से नगद वापस ले आने की होड़ लग जाती है। उन्हें कभी यह डर हो जाता है कि बैंक वाले हमारे रुपये को ऐसी जगह फंसा रहे हैं जहां वह बेकार हो रहेगा या यह भय होता है कि बैंक बंद होने को है और इसलिए अब हमारा रुपया डूब जायगा। अथवा अन्य हजारों कारणों में से किसी कारण से जनता के मन में यह बात कभी-कभी आ जाती है कि अपने बैंक-शेष की रकम वह नगद या ऐसा ही. किसी प्रचलित मुद्रा में वापिस ले। कम उन्नत देशों से पूर्ण उन्नत देशों में ही अधिक भय इस बात का होता है जहां बैंक का काम चरम सीमा पर पहुंच चुका है। पर होता सभी देशों में है—इस नगदी की प्रवृत्ति की झोंक से बचा हुआ कोई देश नहीं है। संसार में ऐसा कोई देश नहीं है जो साधारणतः सिक्के की इतनी अधिक राशि रखता है जिससे हर एक आदमी को वह एक साथ मनमाना रुपया या नोट दे सके या एकाएक अपना सारा देना एक ही दिन चुका देने की क्षमता उसमें हो। यदि ऋण का कारबार तोड़ न देना हो और जन-विश्वास को भारी धक्के से बचाना हो तो आवश्यकता के समय के लिए कोई ऐसी युक्ति होनी चाहिए जिससे रुपये की आमदनी बढ़ायी जा सके। केन्द्रीय बैंक यह काम कर सकते हैं। ये अपने सदस्य बैंकों के डिपाजिट को अपने खाते में बढ़ा दे सकते हैं या यदि जनता नोट की मांग कर रही हो तो यह नये नोट छाप कर जनता को दे सकते हैं। हर एक देश के कानून में केन्द्रीय बैंक के लिए नोट छापने की सीमा निर्धारित की हुई है पर यह भी नियम है कि बहुत आवश्यकता पड़ने पर एकाध बार इस सीमा को तोड़ भी दे सकते हैं। इंग्लैण्ड में यह प्रथा थी कि ऐसे

अवसरों पर बैंक-कानून को कुछ दिन के लिए स्थगित कर देने की घोषणा कर देते थे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कुछ काल के लिए उस कानून का प्रयोग रोक कर अंग्रेजी सरकार बैंक आफ इंग्लैण्ड को यह अनुमति दे देती थी कि वह अस्थायी रूप से नोट जारी करने के सम्बन्ध में दी गयी इस कानून की सीमाओं के बाहर जाकर काम करे। बैंक-कानून में इस तरह का कुछ लचीलापन रहना भी चाहिए नहीं तो बहुत दिवाले होंगे, जिनका कारण यह नहीं होगा कि बैंक का कारबार सचमुच दिवाले की अवस्था में आ गया है—उसके पावने से उसका देना अधिक है; पर यह होगा कि अस्थायी रूप से विधान-सम्मत प्रचलित सिक्कों की इसकी राशि कमजोर हो गयी है और जनता की मांग को यह पूरा नहीं कर सकता। ऐसी ही बात १९०७ में अमेरिका के बैंक-संकट के सम्वन्ध में हुई थी जिस समय, चूंकि नोटों की संख्या को वे बढ़ा नहीं सकते थे, न्यूयार्क के बैंकों को वाध्य होना पड़ा था कि वे निपटारा-घर-प्रमाण-पत्र चालू करें जो बैंक-नोट ही थे पर विधान उन्हें वैसा न मानने का ढोंग करने को वाध्य हुए। इस कारण इस प्रकार के बहाने और तिक म भिड़ाने को मजबूर होने की अपेक्षा यह अच्छा है कि केन्द्रीय बैंक के रूप में कोई अंतिम महाजन बना कर रखें जिसे यह अधिकार हो कि जिस बैंक पर जैसी कठिनाई आये वह उसको उपयुक्त उपाय से दूर करे। यानी वह सभी ठोस बैंकों को आवश्यकता के समय नोट छाप कर दे।

इस तरह हम लोगों ने केन्द्रीय बैंक के कार्यों की एक तालिका बनाली है। यह बैंक वालों का बैंक, सरकार का बैंक (क), कागजी मुद्रा प्रचलित करने वाली संस्था और अन्तिम महाजन है। अंतिम दो काम करने के लिए वरन इसे बैंक रहने की भी आवश्यकता नहीं है। सरकार स्वयं ही चाहे तो नोट जारी करे और आवश्यकता पड़ने पर जनता को उधार भी दे। इसलिए बैंकों के बैंक की

(क) अमेरिकी सरकारी कोष अन्य बैंकों में निश्चित क्रम से अपना डिपाजिट भेजा करता है पर इसके बैंक सम्बन्वी अन्य कारबार संघीय बैंक करते हैं।

आवश्यकता तभी पैदा होती है जब कि बैंकों का कारबार विकसित होकर और एक कदम आगे जाता है और चेक की रीति चलती है जिसमें जनता के धन का भारी भाग बैंक डिपाजिटों के रूप में जा पड़ता है। यहां तक आ जाने पर ही केन्द्रीय बैंक अपनी पूरी भूमिका में उतरता है।

यहां पर सरकार का नाम आने से यह सवाल उठ खड़ा हुआ है कि केन्द्रीय बैंक को सरकार से किस हद तक स्वतंत्र रहना चाहिए या वे रह सकते हैं। राजनीतिक विचारों के प्रभाव से केन्द्रीय बैंक को बहुत दूर तक पृथक रखना चाहिए, इस सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा जा सकता है। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद देश-देश की सरकारों द्वारा अपने-अपने केन्द्रीय बैंकों पर अपनी हानिकर आर्थिक नीतियों के लादे जाने के इतने उदाहरण सामने आये कि उस अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में जो बैंक-कारबार के सम्बन्ध में पीछे हुआ था प्राय: केन्द्रीय बैंक की स्वाधीनता की नीति सिद्धान्त रूप में मानी गयी और यही विचार-धारा आगे बढ़ते-बढ़ते यहां पर आकर ठहरी कि केन्द्रीय बैंक का कारबार बिलकुल ही गैरसरकारी स्वामित्व में हो। पर अब इन विचारों की पुन: प्रतिक्रिया हुई है। व्यक्तिगत स्वामित्व अथवा उनके ही हाथों में केन्द्रीय बैंक का संचालन-भार छोड़ दिया जाय तो वह बड़े-बड़े पूंजीपतियों या औद्योगिकों का ही हित देखना प्रारम्भ करेगा और समूह-रूप से समाज की भलाई उसके ध्यान से निकल जायगी। १९४५ में अधिकारारूढ़ होते ही ग्रेट ब्रिटेन की मजदूर सरकार का सब से पहला काम बैंक आफ इंग्लैण्ड के खानगी मालिकों से उनका हिस्सा खरीद कर उसे अपने हाथ में कर लेने का हुआ। इस युक्ति का बहुत कम विरोध किया गया पर केन्द्रीय बैंक में सरकार का प्रधान हाथ हो या जन-साधारण का, यह प्रश्न आज-कल बहुत देशों में भारी विवाद का विषय बना हुआ है। यहां यह कहना पर्याप्त होगा कि केन्द्रीय बैंक चाहे सरकारी रहे या गैरसरकारी उसपर सरकार को बहुत बड़ा नियंत्रण तो रखना ही होगा। यह बात उसी भारी और महत्वपूर्ण अधिकार से निकलती है जो केन्द्रीय बैंक के हाथ में होता है। वस्तुत:

आज-कल यह प्रवृत्ति है कि केन्द्रीय बैंक सरकारी तत्वावधान में रहे पर इसका वास्तविक संचालन-भार एक गवर्नर अथवा एक बोर्ड के अधीन हो जो उस युग के राजनीतिक दलों के प्रभाव से न्यूनाधिक अछूता रहे और जो एक निश्चित काल के लिए निर्वाचित हुआ हो। जो कुछ हो, अब इस सिलसिले में जो झगड़ा रह गया है वह कृत्रिम है। आज-कल बैंक-नीति के सामाजिक महत्व को अच्छी तरह स्वीकार किया जा रहा है और कोई भी उत्तरदायी सरकार, चाहे वह किसी ढंग की क्यों न हो राज्यों के सर्व प्रथम लक्षण सर्वोच्च सत्ता-धिकार का एक अंश किसी संस्था को देने के लिए तैयार नहीं हो सकती। इस पर अंतिम सरकारी नियंत्रण तो रहता ही है और यह नियंत्रण बैंक के दैनन्दिन कारबार पर कितना रहे इस प्रश्न पर कोई निर्णय अबतक नहीं हो सका है—यह आवश्यकता पर आश्रित है, किसी सिद्धान्त पर नहीं।

मुद्रा तथा मुद्रा-तुल्य : मुद्रा-बाजार

MONEY AND NEAR-MONEY : THE MONEY MARKET

बैंक-कारबार के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए, हमने कुछ ऐसी संस्थाओं का नाम लिया है जो बैंक के पार्श्व में खड़ी होती हैं और जिन सबको मिला-जुला कर "मुद्रा-बाजार" नाम देते हैं। पर ये बैंक नहीं हैं। सम्पूर्ण व्यापार में इन संस्थाओं का भी कम हाथ नहीं होता, इस कारण इनका भी ब्योरेवार वर्णन होना चाहिए।

अध्याय १ में हमने बताया है कि कोई वस्तु, जो विनिमय का माध्यम स्वीकृत हो जाय, मुद्रा है। अब इस परिभाषा पर कोई कहीं ऐसी सुस्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती जहां मुद्रा का अन्त होता है और जहां से उस पदार्थ का प्रारम्भ हो जाता है जो मुद्रा नहीं है। विधान-सम्मत प्रचलित सिक्के निश्चय ही मुद्रा हैं। बैंक की अमानत भी साधारण समयों के लिए मुद्रा ही हैं क्योंकि उन्हें भी साधारणतः अंगीकार किया जाता है। किन्तु जब कभी बैंक पर से विश्वास उठ

जाता है, जैसा कि १९३० में एक बार अमेरिका में हुआ जब कि बहुत-से बैंक टूट गये थे, तब बैंक में जमा धन को लोग स्वीकार नहीं करते। कोई चौकस आदमी उस समय किसी ऐसे बैंक के नाम का चेक दिये जाने पर उसे लेने से इनकार कर देता है जिसे वह नहीं जानता और चेक के बदले नगद या नोट की मांग करता है। ऐसी परिस्थिति में बैंक का डिपाजिट ऐसी वस्तु तो है जो मुद्रा के बराबर है पर फिर भी वह परिभाषागत मुद्रा नहीं है। इस कारण ऐसी मुद्रा को मुद्रा-तुल्य कहेंगे।

मुद्रा-तुल्य के अन्य उदाहरणों में हम 'विनिमय-पत्रक' का नाम पहले ले चुके हैं। भारतीय महाजनी लाइन में इसी को हुंडी कहते हैं। यह हुंडी वा 'विनिमय-पत्रक' वह कागज़ है जिसपर ब्रिटेन की या किसी सरकार की या लंदन अथवा अन्य किसी मुख्य नगर के किसी प्रतिष्ठित व्यापारी की यह प्रतिज्ञा अङ्कित होती है कि वह 'अमुक तिथि पर अमुक संख्या में रुपया देगा'। सरकारी वादेवाले ऐसे ही पत्रकों को 'ट्रेज़री-बिल' नाम दिया गया है। यह वादा तीन माह से अधिक दिनों का नहीं होता। निश्चित तिथि पर तो यह हुंडी वास्तविक रूप में रुपया ही है पर उससे पहले नहीं। और यदि इसका स्वामी चाहता हो कि यह अभी मुद्रा हो जाय, यानी इस हुंडी का रुपया तिथि के पहले ही मिल जाय, तो उसे उसमें कुछ छूट देनी होगी—अर्थात् उस हुंडी पर जितनी रकम मिलने की बात लिखी है उससे कुछ कम रकम मिलेगी।

पहले इसी अध्याय में एक सदस्य बैंक के तलपट (balance sheet) के नमूने में जमा के इन्दराजों के सम्बन्ध में विचार करते हुए, हमने यह बताया था कि 'तैयार रक़म' और 'आय' दोनों दो चीजें हैं। पावना की कुछ रकमें तो बिलकुल 'तैयार' होती हैं अर्थात् उन्हें हम बड़ी आसानी और शीघ्रता से मुद्रा में परिवर्तित करा सकते हैं, पर उनसे आमदनी बहुत कम होती है। दूसरी ऐसी हैं जो कम 'तैयार' होती हैं पर आय उनमें अधिक है। इसलिए जो मुद्रा-तुल्य मुद्रा के जितना ही अधिक निकट होगा उससे उतनी ही कम आय होगी; नकदी से जो धन जितनी हा दूर होगी उसमें आमदनी उतनी ही अधिक होगी। ऐसे मुद्रा-तुल्य के विभिन्न

प्रकारों का जो कारबार करते हैं उन्हीं फर्मों या संस्थाओं का सामूहिक नाम 'मुद्रा-बाज़ार' रखा गया है।

इन विभिन्न कारबारों के विषय में हम एक-एक का वर्णन करें इसके पहले मुद्रा-बाजार के सम्बन्ध में दो साधारण बातें कही जा सकती हैं। यह स्मरण रहे कि बैंकों का खर्च, दो ब्याज-दरों में जो अन्तर होता है उसीसे निकलता है—अर्थात् बैंक जो ब्याज अपने देने पर देते हैं और जो ब्याज वे अपने पावने पर पाते हैं, और यह अन्तर क्यों है इसका कारण यह हैं कि बैंक का देना (उनके डिपाजिट) मुद्रा है अथवा यदि वह साफ़-साफ़ मुद्रा नहीं है तो किसी भी मुद्रा-तुल्य से अधिक वे मुद्रा के निकट हैं। उधर उनके पावने में थोड़ी मुद्रा होती है, थोड़ा मुद्रा-तुल्य और थोड़ा ऐसा धन होता है जो इतने 'तैयार' नहीं हैं कि हम उन्हें मुद्रा में परिगणित कर सकें। दूसरे शब्दों में यह कहें कि बैंक वाले कम अवधि के लिए उधार लेते हैं और लम्बी अवधि पर लगाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वह अवधि जिसके भीतर उन्हें अपना देना चुकता कर देना है, उस अवधि की अपेक्षा कम होता है जिसके भीतर उन्हें अपना पावना भर पाने का अधिकार है। इस प्रकार के काम में जोखिम भी है पर बैंक इस प्रकार की जोखिम के विषेषज्ञ और आदी हो जाते हैं। मुद्रा-बाज़ार के प्रत्येक भाग में प्रायः इसी ढंग का काम होता है। वे जितने दिन के लिए रुपया लगाते हैं उससे कम दिनों के लिए लेते हैं। उनका देना औसत तौर पर उनके सभी प्रकार के पावने की अपेक्षा मुद्रा के कुछ निकट ही पाया जायगा। बैंक वाले कुछ विशेष जोखिम उठाकर और दो प्रकार के मुद्रा-तुल्य की ब्याज-दर के बीच जो अंतर रहता है उसको पाकर अपनी जीविका चलाते हैं। इसके साथ ही साथ, जैसा हम लोग आगे चल कर देखेंगे, ये एक ओर वैधानिक चालू मुद्रा और दूसरी ओर कम चालू लगायी हुई पूंजी के रूप में सरलता से क्रमवद्ध विभिन्न प्रकार की मुद्राओं की व्यवस्था करते हैं।

दूसरी प्रारम्भिक टीका यह है कि कई हालतों में दलालों और व्यापारियों के बीच कुछ अन्तर है, ऐसा जान पड़ेगा। दलाल वह व्यक्ति या फर्म है जो स्वयं

उस वस्तु का स्टाक या क्रय नहीं करता जिसका वह काम करता है। उदाहरण के लिए "मुद्रा का दलाल" या शराफा का दलाल वह व्यक्ति है जो उन बैंकों की जानकारी और उनसे सम्बन्ध रखता है जिन्हें कुछ रुपया लगाना हो। उधर वह दलाल शराफा बाजार के ऐसे व्यापारियों से भी सम्पर्क रखता है जिन्हें फौरन रुपये की जरूरत है और वह भी मात्र एक दिन के लिए। अब यह दलाल न तो स्वयं रुपया लगाता है और न लेता है, वह तो केवल एक मध्यस्थ है और अपने काम के लिए मामूली-सी दलाली पाता है। इसी तरह छूट (discount) या मुद्दत का दलाल न तो खुद छूट क्रय करता है और न बेचता है। (डिसकाउंट मानी विनिमय-पत्रक, जिसे डिसकाउंट इस कारण कहा जाता है कि उसपर ब्याज-दर लिखी नहीं रहती पर जो कुछ डिसकाउंट यानी छूट पर क्रय-विक्रय किया जाता है—देखिए पाद-टिप्पणी पृ ४९)। यह दलाल उनलोगों को, जो विनिमय-पत्रक की बिक्री करना चाहते हैं उनलोगों के सम्पर्क में लाता है जो क्रय करना चाहते हैं। अथवा कोई स्टाक-बाजार का दलाल स्वयं स्टाक या शेयरों का क्रय-विक्रय नहीं करता, वह अपने ग्राहक को एक दूसरे के सम्पर्क में ला देता है। इन तीन प्रकार के दलालों के समान तीन प्रकार की संस्थाएं भी हैं जो ऋण देती या लेती हैं, क्रय या विक्रय करती हैं। दुर्भाग्यवश कोई ऐसी एक ही परिभाषा नहीं हैं जो तीनो में लागू होती। वह आदमी जो स्टाक या शेयर बेचता और क्रय करता है, स्टाक-जाबर (stock-jobber) या स्टाक का काम करने वाला कहा जाता है। जिस दुकान में विनिमय-पत्रक क्रय-विक्रय किये जाते हैं उसे "डिसकाउंट हाउस" कहते हैं। अगर यह पता नहीं है कि कोई फर्म विशुद्ध डिसकाउंट-ब्रोकर है अथवा इसके पास अपने बिल भी हैं, तो ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उठेगा कि क्या वे अपना अलग बही-खाता रखते हैं?

अब हमलोग जरा मुद्रा-बाजार की सैर करें और मुद्रा से आरम्भ कर के धीरे-धीरे उन सभी मुद्रा-तुल्य तक पहुचें जो कम चालू हैं। प्रथम श्रेणी की मुद्रा वह है जो टकसाल घर में तैयार हुई हो और जिसे बैंक आफ इंग्लैण्ड ने

(ब्रिटेन के मामले में) जारी किया हो। ऐसी मुद्रा वैधानिक प्रचलित मुद्रा के अन्तर्गत है। दूसरी श्रेणी में बैंक-डिपाजिट आते हैं जो इच्छानुसार प्रचलित मुद्रा में परिणत हो सकते हैं और सभी प्रकार की देन की अदायगी में जिन्हें स्वीकार कर लिया जा सकता है। साधारण समय के लिए ये दोनों वस्तुएं पूर्ण मुद्रा ही हैं और हमने इनके सम्बन्ध में विचार कर लिया है।

मुद्रा-तुल्य और मुद्रा-बाजार में तो हमलोग तीसरे अध्याय में पहुंचते हैं, यानी अब हम उस मुद्रा के सम्बन्ध में बोल रहे हैं जो प्रार्थनीय या अल्प अवधि पर लगी हुई हैं और यह स्मरण करना चाहिए कि बैंकों केत लपट में नगदी सुरक्षित कोष के बाद ही हम इनका स्थान दे आये हैं। यह दूसरा चालू रकम है। "अल्प अवधि" पर लगा हुआ सभी ऋण, चौबीस घंटों की भुगतान की सूचना पर देय नहीं होते। इनमें कई प्रकार की प्रथानुसार अवधियां होती हैं। चाहे जिस हालत में हो प्राप्ति की सूचना में समय बहुत कम दिया होता है और इस क्षेत्र में दैनन्दिन ऋण की एक विशेष विधि है। जिस समय ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं दैनन्दिन हिसाब वाले लेन-देन के लिए लंदन में अर्ध प्रतिशत प्रतिवर्ष का ब्याज मिलता है—यानी १० लाख पौंड के ऋण के लिए २० पौंड से भी कम ब्याज एक दिन के लिए मिलेगा। स्पष्ट है कि कोई रकम जो इस तरह से अच्छी जमानत पर लगी हुई हो (और बिना अच्छी जमानत के यह दैनन्दिन ऋण नहीं दिया जाता) नगदी के ही तुल्य है। कल वह नगदी ही हो जायगी। इस तरह के दैनिक ऋण का काम लंदन में खूब होता है क्योंकि बैंक वाले नित्य अपने पद को संतुलित और अपने अनुपात को बचाकर रखने की चेष्टा करते रहते हैं। प्रतिदिन कोई न कोई बैंक ऋण मांगता है और फिर कोई न कोई बैंक रुपया लगाना भी चाहता है और ऋणी, जिसके पास बैंक की ओर से रुपया लौटाने का अनुरोध आ गया है, एक बैंक को देने के लिए दूसरे से रुपया लेते हैं। यहीं पर शराफा बाजार का दलाल अपना काम करता और उससे अपनी जीविका चलाता है। कभी किसी दिन तो देने से अधिक

लेने की आवश्यकता मुद्रा-बाजार को रहती है। उस समय कहा जाता है कि लोम्बार्ड स्ट्रीट में आज रुपये की तेजी है और उस दिन उसका ब्याज भी कुछ तेज हो जा सकता है। फिर किसी दिन उगाहने से अधिक चाह लगाने की होती है। कहा जाता है कि उस दिन बाजार मंदा है या 'बराबर' है।

रुपये की साधारण तेजी या मंदी का यह काल बैंक आफ इंग्लैण्ड और अन्य बैंकों के आपसी सम्बन्ध का परिणाम है। उदाहरण के लिए प्रायः पहली जनवरी को अधिक आदमी आयकर अदा करते हैं। साल भर में अन्य किसी एक दिन इतनी अदायगी नहीं होती। साल के पहले तीन महीनों में आभ्यन्तरिक करों के चुकाने में लोग अपने-अपने बैंकों के ऊपर खूब चेक काटा करते हैं। बैंक आफ इंग्लैण्ड सरकारी बैंक का भी काम करता है; इस कारण ये बैंक सीधे या घुमा-फिरा कर बैंक आफ इंग्लैण्ड में ही जाते हैं और क्लीयरिंग हाउस (निपटारा घर) में उनका भुगतान होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि करों के प्रदान से सदस्य बैंकों का वह डिपाजिट घटता है जो बैंक आफ इंग्लैण्ड में जमा है और हमलोगों ने देखा है कि सदस्य बैंकों का यही सुरक्षित कोष है। जब सदस्य बैंक अपना नगद सुरक्षित कोष इस तरह गिरता हुआ देखते हैं तो अल्प अवधि वाले अपने ऋण को वापस मंगाते हैं और इस तरह उत्पन्न स्थिति का सामना करते हैं। इसलिए करों का प्रदान अकेले भी रुपये की तेजी का कारण बनता है। पर इसे अकेले कभी नहीं लिया जाता। सरकार जो रुपया कर-दाताओं से इस प्रकार पाती है उसको वह बैंक आफ इंग्लैण्ड में संचित नहीं करती जाती, इस रुपये से अपना ऋण भी कुछ न कुछ उतारती जाती है। और ठीक जिस प्रकार सदस्य बैकों द्वारा जो अदायगी होती है उससे उनका सुरक्षित कोष घटता है, उसी तरह सरकारी अदायगी, उदाहरणतः ऋण-परिशोध, से सदस्य बैंकों का सुरक्षित कोष बढ़ता है। सरकारी कोष और बैंक आफ इंग्लैण्ड, इन दोनों प्रक्रियाओं को संभाल में रखते हुए- एक दूसरे से बहुत असंतुलित न होने देने की बहुत-सी युक्तियां जानते हैं और इस काम में वे बहुत अनुभवी भी हैं।

वे ऐसा कुछ करते हैं कि नित्यप्रति लगने और वसूल होने के मद की जो धन-राशियां होती हैं उनमें बहुत तारतम्य नहीं होने पाता। मतलब कहने का यह है कि बैंक आफ इंग्लैण्ड जब चाहे तभा शराफा बाजार में तेजी या मंदी हो सकती है, नहीं तो साधारण समय में नहीं। तब क्या होता है यह अभी पता लगा जाता है।

अब हमें सबसे पहले इन दैनिक हिसाब वाले ऋणों के सम्बन्ध में विचार करना है। इस तरह के ऋए लगाने वाली पार्टी तो बैंक हैं पर लेनेवाली पार्टी कौन है? इस सिलसिले में सबसे प्रमुख लेनदार डिसकाउन्ट का काम करनेवाली संस्थाएं हैं। वे बैंकों से यह दैनन्दिन ऋण लेकर उससे विनिमय-पत्रक ऋय करती हैं। वे (इन पंक्तियों के लिखे जाने के समय) अर्ध प्रतिशत ब्याज पर रुपया लेती हैं और ९/१६ से ५/८ प्रतिशत छूट की दर पर विनिमय-पत्रक खरीद करती हैं। इस तरह उन्हे १/१६ या १/८ प्रतिशत का लाभ मिलता है। पर इस तरह १० लाख पौंड की रकम पर भी साल भर के लिए १/८ प्रतिशत के हिसाब से केवल १२५० पौंण्ड होता है और १/१६ के हिसाब से ६२५ पौण्ड। इसलिए इन डिसकाउन्ट का काम करनेवाली गद्दियों को कुछ अच्छी लब्धि करने के लिए बहुत बड़ी-बड़ी रकमों का उलट-फेर करना पड़ता है। साधारणतः डिस्काउन्ट की गद्दियों को अपनी पूंजी के आधार पर ३० गुना तक ऋण लेना और लगाना बुरा नहीं माना जाता।

'विनिमय-पत्रक' की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। प्रारम्भ में तो यह बिलकुल व्यावसायिक लेन-देन में पैदा हुआ। उदाहरण के लिए, टेक्सास शहर का एक व्यापारी लिवरपूल के एक व्यापारी को रूई बेचता है। टेक्सास वाले ने रूई की लदाई जहाज में कर दी है। अब वह लिवरपूल के व्यापारी के नाम से एक 'बिल' लिखता है। यह बिल असल में एक मांग की चिट्ठी है जिसमें लिखा है कि इस चिट्ठी को देख लेने के दिन से ९० दिन के भीतर वह रूई का अमुक मूल्य चुकता करेगा। लिवरपूल का व्यापारी यह 'बिल' पाकर इसपर अपना दस्तख़त कर देगा कि उसने इसको स्वीकार किया। अब यह चिट्ठी बाजार में बिकने योग्य

बन गया। पर रूई-आयात का काम करनेवाले हर एक आदमी को, हो सकता है, शराफा बाज़ार जानता न हो अथवा उसे यह अनुमान न हो कि यह पक्ष कैसा है। इसलिए ऐसा व्यापारी किसी बैंक से अपने 'स्वीकार' का 'स्वीकार' कराता है या महाजनी का काम करनेवाले किसी भारी महाजन से ही स्वीकार करा लेता है और इस बिल पर बैंक या किसी स्वीकार करनेवाले महाजन की दस्तखत या मुहर जहां पड़ गयी कि वह कागज 'मुख्य' (prime) बिल बनकर बाज़ार में बिक जाने योग्य हो गया। (अध्याय ७ में इस सम्बन्ध में कुछ और बताया जायगा—इसमें दिखाया जायगा कि 'विनिमय-पत्रक' किस तरह आयात-निर्यात-व्यापार को बढ़ाने की सुविधा प्रदान करते हैं।)

ऊपर के अध्याय में वर्तमान काल का प्रयोग हुआ है। पर इसे भूतकाल में होना चाहिए था क्योंकि व्यापारी हुंडी या व्यापार-पत्रक—यानी वह कागज जो किसी व्यापार के सिलसिले में निकलता है—आज-कल बट्टा-बाज़ार में अल्पसंख्यक हो गया है। आज-कल कारबार अधिकतर सरकारी हुंडयों का होता है। सरकारी हुंडी सरकारी कागज है। इसमें इसके जारी होने के तीन महीने बाद एक निश्चित रकम देने का वादा लिखा होता है। यह आरम्भ में विनिमय-पत्रक की नकल था। इस उपाय से सरकारी ख़ज़ाना, अपने क़र्ज़ में, मुद्रा-बाज़ार में उस समय प्रचलित नीची दर के ब्याज से लाभ उठाता था। उन्नीसवीं शताब्दी में व्यापारी हुंडियों की अपेक्षा सरकारी हुंडियों की संख्या बहुत कम रहती थी। पर बीसवीं सदी में जब व्यवसाय की पूंजी दूसरे-दूसरे साधनों से अधिक से अधिकतर आनी शुरू हुई, सरकार ने भा अधिक से अधिक ऋण हुंडियों के सहारे लेना प्रारम्भ किया। और अब बाजार में मुद्रा-पूर्ति का सबसे बड़ा साधन यह सरकारी हुंडी हो गयी है। सरकारी हुंडी के लिए प्रति सप्ताह भावपत्र मांगा जाता है। सरकार हर शुक्रवार के दिन यह बताती है कि उसे कितने बिल जारी करने हैं—मान लें १५ करोड़ पौंड। इसके बाद 'बट्टा' का काम करनेवाली गद्दियां जो भावपत्र देती हैं यह कहती हैं, कि वे अमुक भाव पर अमुक रकम की सरकारी हुंडी

खरीदना चाहती हैं। टेंडर में जो दाम दिखाया जाता है वह प्रतिशत क्या छूट चाहिए इस हिसाब से होता है। जिस समय ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं उस समय छूट की औसत दर इधर कई सप्ताह से अर्ध प्रतिशत का एक भाग चल रही है। कुछ भावपत्र बैंक आफ इंग्लैण्ड के खैरखाह ग्राहकों के हक में भी, टेंडर के बाहर जारी किये जाते हैं जैसे दूसरे देशों के केन्द्रीय बैंकों को भी कभी-कभी टेंडर मिल जाता है, जिनका रुपया लंदन में हो।

साधारण अवस्था में 'बट्टे' का काम करनेवाली गद्दियों का जीवन गति-शून्य होता है—कुछ लोग तो कहेंगे कि यह नीरस जीवन बिताते हैं। ये नित्यप्रति बैंकों से रुपया मंगाते हैं, ये इस रुपये से सरकारी हुंडी मंगवा कर रखते हैं, ये साप्ताहिक भावपत्र में सम्मिलित होते हैं, ये इन सरकारी हुंडियों में से कुछ अपने पास रखते हैं और कुछ को थोड़ा लाभ लेकर उन बैंकों के हाथ बेच देते हैं जो भावपत्र नहीं देते अथवा अन्य ग्राहकों के हाथ बेच देते हैं। पर अब, मान लें कि, किसी कारण से बैंक आफ इंग्लैण्ड वर्तमान रुपये के परिमाण में कमी करना चाहता है जो सदस्य बैंकों के डिपाज़िट में है। यह बैंकों के डिपाज़िट को घटाने की युक्ति करता है क्योंकि यह शायद कर-अदायगी के प्रवाह को रोकने में सफल नहीं हो सका है। अब बैंकों के नगद रोकड़ का अनुपात कम ही लगता है और वे अपने दैनन्दिन ऋणों का भुगतान मांगकर अपने रोकड़ की स्थिति को सम्हालना चाहते हैं। किन्तु चूंकि इस समय सभी बैंक लेनेवाले ही हैं, ये बट्टावाले एक बैंक से लेकर दूसरे बैंक को अब रुपया नहीं दे पाते। उनको कहीं से रुपया जुटाना होता है। सदस्य बैंकों से वे जब रुपया नहीं पा सकते तो वे अब बैंक आफ इंग्लैंड के पास ही जाते हैं। बैंक आफ इंग्लैण्ड हमेशा जमी हुई बट्टा-गद्दियों को ऋणपत्र-बिल की जमानत पर ऋण देने अथवा उनसे ख़रीदने को तैयार रहता है। पर ऐसा करने के लिए वह कुछ जुर्माना लेता है। वह इस प्रकार कि, जो ब्याज वह लेता है अथवा छूट की जिस दर पर वह बिल खरीदता है, वह बैंक-दर होती है—यही वह प्रसिद्ध बैंक-दर है और यह दर बाज़ार के ब्याज या छूट की दर से हमेशा कुछ

ज्यादा रहती है । उदाहरण के लिए, इन दिनों बाज़ार की दैनिक ब्याज-दर $\frac{१}{२}$ प्रतिशत है और छूट की दर $\frac{५}{८}$ प्रतिशत है तो बैंक-दर २ प्रतिशत है। अब अगर शराफा बाजार को बैंक की शरण लेने की विवशता हो जाय तो बट्टा के काम करने वाली गद्दियों को अपने बिलों पर १$\frac{३}{८}$ प्रतिशत घाटा देना पड़ेगा, उन्हें $\frac{१}{८}$ प्रतिशत का लाभ कहां तक होता । इसके दो परिणाम होंगे । पहला परिणाम यह होगा कि गद्दीवाले जहां तक शीघ्र हो सके ऋण से मुक्त हो जाने की चेष्टा करेंगे और इसका परिणाम यह होगा कि चारो ओर से रुपये की मांग होगी और कारबार सिमटने लगेगा । दूसरे जिन बिलों को वे बिलकुल खरीद चुके हैं उनके विषय में तो अब कुछ नहीं करते सिवा इसके कि उसमें घाटा पड़ते हुए भी उसे रखे रहें, पर अब वे नये बिल ऐसी दर पर न खरीदेंगे जिसमें बैंक-दर से लाभ न दिखायी पड़े, और ऐसा वे तब तक करते रहेंगे जब तक बैंक आफ इंग्लैण्ड का दरवाजा खटखटाने की आवश्यकता वाली स्थिति बनी रहेगी । इस कारण ये छूट का काम करनेवाली गद्दियाँ एक ऐसे नाजुक और शीघ्र काम करनेवाली मशीन का काम करती हैं जिनके द्वारा बैंक आफ इंग्लैंड ऋण-व्यवसाय के परिमाण पर अपना प्रभाव डालता रहता और बाज़ार में उठनेवाली ब्याज-दर पर नियन्त्रण रखता है । इसके बाद हम समझाएंगे कि यह शक्ति कितनी महत्त्वपूर्ण है ।

मुद्रा से मुद्रा-तुल्य तक के सिलसिले में अब सरकारी हुंडियों का नम्बर चौथा है । पहले तीन, प्रचलित मुद्रा, बैंक-डिपाजिट और दैनन्दिन उधार, की तो चर्चा हो चुकी । अब पांचवे प्रकार के वर्णन पर उतरने के पहले हमें संक्षेपतः एक और अर्ध मुद्रा का नाम बता देना है जिसे स्टेज ४-क कह सकते हैं । इसे सरकारी डिपाजिट रसीद समझिए जिसका नाम तलपट में आ चुका है । यह युद्ध-काल की उपज है । जिस समय बैंक वाले सरकारी हुंडी खरीदते रहते हैं अथवा 'छूट' या दलाली पर काम करनेवाली गद्दियों में रुपया लगाते हैं, जो उससे सरकारी हुंडी खरीदते हैं, तो वास्तव में वे सरकार को तिमाही ऋण ही देते हैं। पर यही काम वे इस तरह से करते हैं कि यदि उनकी इच्छा हो तो केवल एक दिन की नोटिस पर उससे

अलग हो सकते हैं। सरकारी डिपाजिट रसीद इसी कार्य का और भी सीधा रूप है। बैंक सीधे सरकारी ख़ज़ाने को ६ महीने की नोटिस पर और सरकारी हुंडी पर प्राप्य ब्याज-दर के प्रायः समान दर पर ही, निश्चित रकम ऋण देते हैं। ऐसी व्यवस्था है कि यदि किसी बैंक को ६ महीने के भीतर रुपये की कमी पड़ जाय तो वह अपनी सरकारी रसीदों को बैंक आफ इंग्लैंड के हाथ बेच सकते हैं पर इसके साथ यह अव्यक्त शर्त लगी हुई है कि ज़रूरत होगी तभी ऐसा किया जायगा, अन्यथा नहीं। सरकारी डिपाजिट का बाज़ार नहीं लगता इसलिए अब उनके आगे वर्णन की आवश्यकता इस पुस्तक के लिए नहीं है।

मुद्रा-तुल्य का पाचवां विभेद शार्ट बांड (short bond) है। यह क्या है इसको समझाने के लिए थोड़ा विषयांतर करके राष्ट्रीय ऋण के सम्बन्ध में वर्णन करना होगा। किसी भी समय के लिए ब्रिटिश सरकार पर विभिन्न प्रकार के वचनों को पूरा करने का भार है। इस भार में एक छोर पर सरकारी हुंडी है जो तीन महीने की पूर्ति पर पूर्ण करने योग्य हो जाती है, एवं सरकारी डिपाजिट रसीद हैं जो छ महीने में भुगतान योग्य होती हैं। अब इन सरकारी ऋणों को लोग हमेशा नया-नया करते हुए रखना ही चाहते हैं पर यदि वे न चाहें, तो सरकारी कोष को पके हुए सरकारी बिलों या रसीदों को चुकता करना ही होगा। इन दोनों कागजों, और बैंक आफ इंग्लैण्ड द्वारा सरकारी खजाने पर दिया गया उपाय और साधन सम्बन्धी अग्रिम (ways and means advance) के कागज, इन्हीं तीन से लेकर वह रकम बनती है जिसे चालू ऋण (floating debt) कहा जाता है। अब राष्ट्रीय ऋण रूपी डंडे की दूसरी छोर पर साखपत्र (consoles) हैं जो स्थायी ऋण हैं यानी उनके पकने न पकने का कभी सवाल नहीं आता। और इन दोनों छोरों के मध्य में कम या अधिक समयों के विभिन्न वादे होते हैं। इन स्टाकों (stocks) में से कुछ पर तो ऐच्छिक अवधि होती है। दाहरण के लिए अभी ८०७० लाख $\frac{१}{२}$ प्रतिशत वाले वार बांड्स (war bonds) पड़े हुए हैं जिन्हें

सरकार १ मार्च १९५२ से लेकर १ मार्च १९५४ के बीच कभा भुना सकती है। इन्हें साधारणतः '२½ सै० ५२/५४' (2½s 52/54) के नामसे पुकारा जाता है। जिन शर्तों पर ये बांड्स निकलते है उनमें कभी-कभी यह भी दर्ज होता है कि निश्चित तिथि के पहले इनका भुगतान नहीं होगा और इसके बाद भी इनका रुपया सरकार चाहे तो और कुछ दिन रोक सकती है। इस तरह सरकारी कागजों की अवधि के भी कई प्रकार हैं। कुछ कागज तो ऐसे होते हैं जो निकट भविष्य में ही वापिसी के योग्य (matured) हो जाते हैं क्योंकि या तो इन्हें चालू करने के समय ही इनकी अवधि कम दे दी जाती है [जैसा कि ३२७० लाख पौंड के १¾ प्रतिशत वाले 'एक्सचेकर बांड' (exchequer bonds) हैं जिन्हें पहली बार ७ नवम्बर १९४४ में जारी किया गया था और जो १५ फरवरी १९५० के दिन परिपक्व (matured) थे] या कोई दूसरा ही कागज हो जिसका अवधि तो लम्बी थी पर जो अब परिपक्वता की तिथि के पास पहुंच गयी है। जो कागज ५ वर्षों के भीतर परिपक्व होते हैं उन्हें "स्वल्पकालीन बन्ध" (short bonds) कहा जाता है। इसके बाद मध्यस्थित कागज (medium bonds) हैं जो ५ से २० साल तक के भीतर परिपक्व होते हैं। इनके अतिरिक्त और जो हैं वे "दीर्घकालीन बन्ध" (long bonds) कहे जाते हैं।

कहीं भी किसी भी क्षेत्र में बाजार में यह संदेह नहीं किया जाता कि ब्रिटिश सरकार का हर एक बन्ध (bond) अवधि की पूर्ति पर देय हो जाता है और सरकार उसका रुपया चुकाती है या नहीं। इस विश्वास का कारण यही नहीं है कि ब्रिटिश सरकार की अनन्य ईमानदारी में दुनिया को अटूट विश्वास है, इसका एक अन्य कारण भी है। वह कारण यह है कि सरकार को अपना ऋण प्रचलित मुद्रा के रूप में चुकाना है और यह मुद्रा सरकार जब चाहे जितना पैदा कर के दे सकती है। इसलिए ये सभी कागज किसी दिन मुद्रा हो जायेंगे। हां, वे स्थायी ऋण-पत्र कन्सोल्स जैसी हैं जिन्हें हम तैयार धन नहीं मान सकते। फिर भी इनका ब्याज तो बीच-बीच में निश्चित समय पर मिलता ही रहता है। पर

तैयार धन और वह धन जो पीछे जाकर तैयार होगा, दोनों में कुछ अंतर है। और यह अन्तर इस बात में है कि ऐसे कागजों की दर चढ़ती-उतरती रहती है। इसलिए आज के भाव में और आगे चलकर क्या भाव होगा इसका जोखिम सिर पर आ जाता है। वह ऋण-पत्र जो परिपक्वता के निकट आ गया है अपने अंकित मूल्य से बहुत इधर-उधर के मूल्य पर नहीं बिकता। इस तरह मान लीजिए कि ३ प्रतिशत वाले कुछ ऐसे कागज किसी के पास हैं जो ठीक दो वर्ष की अवधि में दातव्य (due) हो जानेवाले हैं। यदि इस कागज का मूल्य अभी बाजार में १०१ हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि हर १०१ पौंड पर जो इस समय ऐसा कागज खरीदने में लगेगा, उसे ६ पौंड की आमदनी होगी पर उसके मूलधन में १ पौंड का घाटा पड़ेगा। इसको यों कहें कि इस कागज़ की 'वापसी कीमत' $२\frac{१}{२}$ प्रतिशत प्रतिवर्ष हुई। (क) अब यदि बाज़ार में यह विचार प्रचलित हो कि उस कागज पर, जिसके पूरे होने में दो साल की अवधि शेष है, $२\frac{१}{२}$ प्रतिशत प्राप्ति उचित ही है तो उसका भाव १०१ रह जायगा। पर अब मान लीजिए कि इस कागज की खरीद के बाद बाज़ार अपना विचार बदलता है और यह सोचने लगता है कि दो साल वाले कागजों पर कम से कम ४ प्रति सैकड़ा आय होनी चाहिए। तब इस कागज की कीमत १०१ से ३ पौण्ड घट कर ९८ ही रह जायगी जिसपर क्रेता को दो साल के बाद ६ पौण्ड ब्याज और मूलधन पर २ पौण्ड लाभ हो जायगा (असल में मूल्य की घटा-बढ़ी, उन कारणों से जिनकी चर्चा पाद-टिप्पणी में की गयी है, बहुत कम होती है)। इस तरह हम देखेंगे कि कम अवधि वाले कागजों को रखने में अधिक जोखिम नहीं है। कागज रखनेवाला अपना मूलधन तो वापस पा ही जायगा पर उसपर भाव की जो घटा-बढ़ी होगी यानी अगर

(क) अदायगी पर जो आय होगी उसका यह बहुत सरल हिसाब है। इसमें ब्याज-दरब्याज का ख्याल और आय-कर का भी विचार नहीं किया गया, जो आय हुई नहीं कि लग जाती है पर हानि उठाओ तो कुछ मोजरा नहीं मिलता। इसलिए आंकड़े जो दिये गये हैं उन्हें केवल सिद्धान्त-दिग्दर्शन से अधिक मानना उचित नहीं।

वह अपना कागज किसी कारण बेचने की जरूरत में पड़े तो उसका जो मूल्य बाज़ार में मिलेगा, वह भी एक या दो विन्दु से अधिक ह्रास में नहीं होगा।

पर अब विचार करें कि उसी ३ प्रतिशत वाले कागज के 'पकने' में अभी २५ साल बाकी हैं। तब ऐसी दशा में क्या होगा? अगर बाजार में २५ साल वाले कागज के लिए २½ प्रतिशत उचित ब्याज-दर मानी जा रही है तो अब उस कागज का मूल्य १०७½ पर जाकर ठहरेगा (२५ साल के लिए ७५ पौंड तो ब्याज हुआ, मूल धन में ७½ पौंड की हानि काटकर उसे ६७½ पौंड मिला जो २½ प्रतिशत के लगभग हुआ)। और अगर बाजार की राय बदल गयी और २½ के स्थान पर ४ प्रति सैकड़े के पक्ष में उसका रुख हुआ तो उस कागज़ का मूल्य गिरकर ८७½ पर आ जायगा (ब्याज ७५ पौंड+मूलधन का नफा १२½ पौंड = ८७½ पौड=८७½ पौण्ड का ४ प्रतिशत की दर से २५ वर्ष का ब्याज)। (क) अन्त में यदि ऋण-पत्र स्थायी होता और उसके पक्के हो जाने की कोई तारीख़ नियत नहीं होती तो यह १२० पौण्ड पर रहता, यदि २½ प्रति सैकड़े ब्याज लिया जाता और ७५ पौंड पर मिलता, यदि ४ सैकड़े ब्याज लेना होता। इस तरह ब्याज-दर की घटा-बढ़ी का परिणाम यह होता है कि २½ प्रतिशत से बढ़कर अगर उसे ४ प्रतिशत करते हैं तो स्थायी ऋण-पत्र में ४५ पाइंट का ह्रास होता है, २५ साला कागज में २० पाइंट की हानि होती है और दो साला कागज़ रहने से केवल ३ पाइंट का घाटा पड़ता है।

यों, यद्यपि इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि ऋण-पत्र की अवधि पूर्ण हो जाने पर उसका रुपया प्राप्त हो जायगा, तो भी एक लम्बी अवधि के ब्रिटिश सरकार के ऋण-पत्र में कुछ जोखिम रहता है—हां जोखिम उस आदमी को कोई नहीं रहता जो जानता है कि इन ऋण-पत्रकों को बेचने की उसे कभी कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी अथवा न इनकी जमानत पर उसे रुपया उधार काढ़ना पड़ेगा जब तक उसकी

(क) यह बात फिर भी बता दी जानी चाहिए कि यह हिसाब-किताब सब गलत है। क्योंकि इसमें न दुहरे ब्याज का हिसाब है और न कर का। इन तत्त्वों को भी मिलाया जाय तो हिसाब ऐसा हो जायगा कि समझ में आना मुश्किल होगा।

अवधि पूरी नहीं हो जाती। पर ऐसे आदमी कम होते हैं। जोखिम उठाने का जो यह तत्व है, उसीके बदले दीर्घकालीन बन्धों पर अधिक आमदनी होती है, जब हम उसकी मूल लागत और ब्याज पर ध्यान रखते हैं। किसी भी समय में (यदि बाजार में, असाधारण तेजी-मंदी का तत्त्व न हो) कम अवधि से अधिकाधिक अवधि के ऋण-पत्रों में क्रम-क्रम से अधिक आमदनी है। अतः अब पुनः एक बार हमारे सामने मुद्रा की चलन-शक्ति और आय के बीच का झगड़ा आता है। ब्रिटिश सरकार के सभी ऋण-पत्रक चालू हैं। यह इस अर्थ में कि उन्हें जब चाहें, किसी न किसी दाम पर बेच दे सकते हैं। पर इनमें केवल ऐसे कागजों में जो कम अवधि वाले हैं नगण्य से अधिक हानि की संभावना नहीं हैं। केवल वे ऐसे चालू हैं कि वे हानि-रहित हैं और इसलिए उनपर ब्याज कम मिलता है। मध्यम श्रेणी के ऋण-पत्रक, लम्बी अवधि के ऋण-पत्रक तथा स्थायी ऋण-पत्रकों के, मूल्यानुसार, 'तरलता' है अतः उनपर साधारणतः अच्छा ब्याज प्राप्य होता है।

अब हमलोगों को पांचवीं तरह के मुद्रा-तुल्य पर आना चाहिए जिसे स्वल्प-कालीन बन्ध (short bonds) कहते हैं। कुछ दिन पहले से बट्टा-गद्दियों ने स्वल्पकालीन बन्ध का काम बढ़ा दिया है, इन्हें ५ साल तक की अवधि दी गयी है। इन बन्धों को भी वे उसी तरह बैंकों से रुपया लेकर खरीदते हैं जिस तरह वे सरकारी हुंडी लेते हैं। अगर इनके पास ऐसे बन्ध रहें तो इन्हें बैंक आफ इंग्लैण्ड से भी ऋण मिल सकता है। पर इनमें थोड़ा-सा भेद है। वह भेद यह है कि स्वल्प-कालीन बन्ध की बाजार-दर के गिरने का जोखिम, यद्यपि यह मामूली ही होता है, सरकारी हुंडी की अपेक्षा अधिक है। इसलिए बट्टावाले इन बन्धों का वैसा उल्टा पिरामिड अपनी ही क्षीण पूँजी के बल पर खड़ा नहीं करते जैसा कि सरकारी हुंडी के सम्बन्ध में करते हैं। जहां बट्टावाले १०० पौण्ड ऋण लेकर उससे ९७ पौण्ड तक अन्य प्रकार के कागजों में लगा देते हैं, स्वल्पकालीन बन्धों के सम्बन्ध में वे ९० से अधिक नहीं बढ़ते। और चूंकि अन्य तरह के ऋण-पत्रकों से इन स्वल्पकालीन बन्धों का बाजार-मूल्य बहुत घटता-बढ़ता रहता है, इसी कारण से अन्यों की

अपेक्षा इन कागजों का कार्य करने में लाभ का अधिक अवसर भी मिलता रहता है। (क)

छठे प्रकार के मुद्रा-तुल्य बन्ध (bonds) हैं। यहां आकर तो हम लोग मुद्रा-तुल्य के क्षेत्र से एक तरह बाहर ही निकल जाते हैं और साधारण विनियोग या लगायी हुई पूँजी की सीमा में जा पहुँचते हैं जिसपर इस पुस्तक में विचार करने का मतलब नहीं है। पर फिर भी इसे मुद्रा-तुल्य में सम्मिलित करने का कारण यह है कि इन्हें भी बैंकवाले खरीदते हैं। सदस्य बैंकों के तलपट में सम्पत्ति-न्यस्त धन का जो भारी मद होता है, वह अधिकतर ब्रिटिश सरकार के उन पत्रों का होता है। पूर्व काल में यह समझा जाता था कि बैंकों के खरीदने लायक ऐसे ही बन्ध होते हैं जिनकी अवधि दस साल तक की हो, पर आज-कल यह धारणा है कि धीरे-धीरे बढ़कर यह वर्षों की अवधि बीस पर पहुंच गयी है और अब तो बैंक वाले इससे भी लम्बी अवधि के बन्ध लेते हैं।

यहां पर 'बैंक' शब्द से 'सदस्य बैंक' ही समझना चाहिए। बैंक आफ इंग्लैण्ड के पास भी ब्रिटिश सरकार के ऋण-पत्रों में सिक्यूरिटियों का भारी स्टाक है। इसके बैंक-कारबार में जितने ऋण-पत्रों को डाल दिया गया है वे बहुधा उसी प्रकार के हैं जैसे सदस्य बैंकों के पास हैं। पर ऋण-पत्रों का सबसे भारी स्टाक बैंक आफ इंग्लैण्ड के 'ईसू' विभाग (issue dept.) में है और उसके सहारे नोट जारी किये गये हैं। यह 'ईसू' (निर्णय) विभाग सरकारी खजाने के हिसाब रखने को स्थापित है और इस विभाग के पास जो मध्य बन्धों (medium bonds) की भारी राशि है वही

(क) यह बात भी बता दी जानी चाहिए कि बट्टा-गद्दीवाले स्वल्पकालीन बन्धोंकी अन्य विनियोगों से ऊंची दर पर खरीद कर सकते हैं। वहां गद्दीदार अपनी पूंजी पर आय-कर देता है, अतः पूंजी-ह्रास पर वह कर वापस करा सकता है। इसका मतलब यह है कि किश्त के छूटने का बट्टा-गद्दीवालों को अन्यों से अधिक सम्भव है। इस कारण स्टाक के बड़े हिस्से जो परिपक्व हो जाते हैं, मुद्रा-बाजार में जा पहुंचते हैं जिसमें इनका इतना ऊंचा दाम रहता है, कि लोग बेचने को उद्यत हो जायें।

ऐसी युक्ति बनाती हैं जिससे कि सरकारी खजाने बाजार में हस्तक्षेप कर सकें। सरकारी खजाने के पास तो अन्य कोष भी होते हैं। उदाहरण के लिए बेकारी और स्वास्थ्य बीमा के फण्ड की भारी-भारी शेष रकम, इनके पास विनियोग के लिए रहती है। इनके अतिरिक्त अन्य फंड और अन्य संस्थाएँ भी हैं जो या तो सरकारी खजाने के नियन्त्रण में हैं अथवा सहज रूप से इसके परामर्श से काम करती हैं। इन रुपयों को हाथ में रखने के कारण सरकारी खजाना बाजार के मूल्य-स्तर पर बहुत बड़ा शासन रखता है। जब कागज की अवधि पूर्ण होने लगती है, इन सरकारी खजानों के फंड से इनमें से ऐसे कागज खरीद लेते हैं जो मुद्रा-बाजार से बाहर हैं। उद्देश्य यह होता है कि उस नगदी का परिमाण घटाया जाय जो सरकारी खजाने को अन्यों को देना पड़ता है। और फिर जब सरकारी खजाने में नोट जारी करने की बात चल रही हो, यह अपने हाथ के कोष की क्रय-शक्ति को बाजार के उस विभाग में लगाता है जिससे मतलब हो। उद्देश्य यह होता है कि नये नोट बाजार में प्राप्त स्टाक की बराबरी कर सकें जिससे उसे लेनेवाले आसानी से मिल जायें। हस्तक्षेप की इस शक्ति का दुरुपयोग भी हो सकता है। ऐसे उदाहरण भी हैं कि ब्रिटिश सरकार के अर्थ मन्त्री पर इस बात का दोष लगाया गया है कि उसने बाजार को जान-बूझकर ऐंठा है। पर साधारणतः यह बात उस कारबार की रीति का आवश्यक अंग है, जिसके द्वारा राष्ट्रीय ऋण उठाने और उसकी व्यवस्था करने की आवश्यकता, धन लगानेवालों की यह आवश्यकता कि उनका धन लाभ के साथ लगाया जाय और—हमलोगों को इस किताब में जिस विषय की सबसे अधिक आवश्यकता है—विभिन्न श्रेणियों की मुद्रा के लिए बैंक-कारबार का ढंग, इन सब विषयों को, संगति के साथ एकत्र किया जा सकता है।

बैंक क्या है ?
WHAT IS BANK

पालियामेन्ट को जब इस सम्बन्ध के कानून बनाने की आवश्यकता हुई तब यह प्रश्न उठा कि बैंक की परिभाषा बनायी जाय। पर यह परिभाषा इससे अच्छी

नहीं हो सकती कि, "कोई फर्म या संस्था जो वास्तविक लेन-देन का व्यवसाय करती हो, बैंक है"। इस अध्याय की समाप्ति तक हम भी इससे अच्छी परिभाषा नहीं ही दे सके। हमने बैंक का वर्णन किया है और विभिन्न श्रेणियों के बैंकों का पार्थक्य दिखाया है, पर इसकी सन्तोषजनक परिभाषा हम नहीं दे सके हैं। सम्भवतः सबसे ठीक परिभाषा यह होगी, "बैंक वह संस्था है जो ऋण का कारबार करे— ऋण दे और ऋण ले"। ऋणों के विभिन्न प्रकारों में जब तक कोई आन्तरिक भेद न हो, केवल ऋण के प्रत्यावर्तन की बात कहने से कुछ मतलब नहीं निकलता। बैंक का उद्देश्य इस बात से पूरा होता है और साथ ही साथ उसे भारी सामाजिक महत्व इस कारण मिलता है कि बैंकवाले का ऋण साधारणतः जनता स्वीकार करती है कि पूरा होगा और इसी कारण वह मुद्रा बन जाता है। इसलिए बैंक का काम यह है कि वह दूसरों से उधार रुपया मंगाये और उसके विनिमय में अपना रुपया दे और इस तरह मुद्रा पैदा करे। ऋणों का कारबार ही सही, पर ऋण तो धन का ही प्रतिलोम शब्द है और इसलिए बैंक के लिए यह परिभाषा भी अयुक्त न होगी कि वह धन का नियोजक है।

सम्पूर्ण बैंक-व्यवसाय अनिवार्यतः इस बात पर निर्भर करता है कि जनता बैंक की ऋण चुकाने की शक्ति और तत्परता पर पूर्ण विश्वास करे। यह सच्चे अर्थों में उधार का कारबार है। ग्रेट ब्रिटेन में, जहां जनता के विरले ही सामान्य मनुष्य को किसी तरह के बैंक-गड़बड़ का अनुभव होता है, बैंक के सम्बन्ध में कही गयी ऊपर वाली बातें विचित्र रूप से निरर्थक प्रतीत होंगी। पर दूसरे देशों में जिनमें प्रधानतः अमेरिका को मान लिया जा सकता है, हाल के वर्षों में यह देखने के बहुत-से अवसर मिले हैं कि किसी बैंक पर से जब जनता का विश्वास उठ जाता है तब कैसी गडबड़ी मचती है। विश्वास के ऊपर इतना भार रखने के कारण बैंक वाले का काम विचित्रतापूर्ण-सा लगेगा। जब समय अच्छा रहता है और ऋण अधिक उपलब्ध हो सकते हैं, बैंकवाला भी ऋण देने के लिए प्रस्तुत मिलता है। किन्तु जब समय खराब हो और भय व्याप्त हो जाने के कारण बाजार मन्दा पड़ गया हो,

तब बैंकवाला भी अपेक्षाकृत अधिक सावधान, अनुदार और कड़ा हो जाता है। इसलिए उसके रोजगार की तुलना उस आदमी से की गयी है जो सूखे दिनों में आसानी से छाता उधार दे देता है और जब पानी पड़ता है तब उसे वापस मांगता है।

बैंक वालों और बैंक-व्यवसाय की, सम्प्रति अधिकतर आलोचना-प्रत्यालोचना हुई है। इनमें से एक आलोचना तो बैंक वालों द्वारा .जन-विश्वास पर इतना अधिक बल दिये जाने का अनिवार्य परिणाम है (जन-विश्वास जन-प्रशंसा से भिन्न चीज है) किन्तु बैंकों के सम्बन्ध में अन्य मत भी हैं और वे ससे भी अधिक तत्वपूर्ण हैं। आज बैंक-व्यवसाय की जो पद्धति है उसके सम्बन्ध में जो आलोचनाएं की जाती हैं उनमें से दो प्रमुख आलोचनाओं की संक्षेप में चर्चा करते हुए हम इस अध्याय को समाप्त करें तो अधिक अच्छा होगा।

ब्रिटेन की बैंक-व्यवसाय-रीति के सम्बन्ध में बराबर कहा जाता है कि इसकी प्रतिष्ठा, व्यवसाय—मुख्यत: विदेशी व्यवसाय—के निमित्त हुई। अब यह शिकायत हो गयी है कि व्यवसाय से अधिक ऋण की मांग अब तो देश के भीतर के उद्योग-धंधों में होती है। पर अंग्रेजी बैंकों को तो उद्योग-धंधों की आवश्यकताओं का पता भी नहीं है और न उनके प्रति सहानुभूति है। वे जब ऋण देते हैं तो उसकी अदायगी के लिए इतना कम समय देते हैं कि किसी उद्योग-धंधे के काम में वह लग ही नहीं सकता। वे तैयार माल की जमानत तो मान लेते हैं पर तैयार होनेवाले की नहीं। और अन्त में, उद्योगपति की पहुंच मुद्रा-बाजार तक होनी मुश्किल है। इसी बाजार को घेरकर लंदन का मुद्रा-बाजार बसा हुआ है और यहां बड़ी सुगम शर्तों पर रुपया उधार मिल जाता है।

इन आलोचनाओं में से कुछ तो अतिरंजित हैं। ब्रिटेन के बैंक ब्रिटेन के उद्योग-धंधों के लिए उससे बहुत अधिक करते हैं जितना कहा जाता है। पर इस शिकायत की तह में कुछ सचाई भी है। पूर्व में, जर्मनी या अमेरिका के बैंक उद्योग-धंधों के जितने सहायक रहे हैं, ब्रिटेन के बैंक उतने सहायक नहीं रहे।

जर्मनी में उद्योग-धंधे और बैंकों के बीच तो सीधा और खूब गहरा सम्बन्ध रहा है। प्राय: बैंक किसी फर्म का पूर्ण महाजन रहता आया है—उसने आवश्यकतानुसार पूंजी दी है और अपने आदमी भी फर्म के संचालक-मंडल में रखे हैं। अमेरिका में भी यही है पर वह कुछ कम सीधे तरीके से। बड़े-बड़े अमेरिकी बैंकों ने अपनी सहायक कम्पनियों द्वारा उद्योग-धंधों को बराबर इस बात में सहायता दी है कि वे अपने ऋण-पत्रों को जन-साधारण में प्रचलित करें और इस तरह जनता के रुपये से अपनी पूंजी जोड़ें। बैंकों ने ही इस सिलसिले की सम्पूर्ण कार्य-प्रणाली को संचालित किया और उसमें अच्छा लाभ किया। उन्होंने इस तरह उद्योग-धंधों की संचालन-नीति पर भी प्रभाव स्थापित किया।

ब्रिटेन के बैंकों ने अपने को इस काम से जान-बूझकर अलग रखा है। और जर्मनी तथा अमेरिकी बैंक व्यवसाय के हाल के अनुभवों से ब्रिटिश ढंग की बुद्धिमाना प्रमाणित होती है। उद्योग-धंधों को जो ऋण दिया जाता है उसके साथ यह अयोग्यता लगी हुई है कि वह चालू नहीं होता। एक बार ऋण दिया गया तो उसे कुछ साल बीत जाने के पूर्व तो वापस ले नहीं सकते। इस विषय में ब्रिटिश बैंकों द्वारा दिये गये कुछ अन्य प्रकार के ऋणों की अपेक्षा यह बुरा नहीं है। बैंक जो ऋण लगाते हैं उनमें से कई किसी तरह से बट्टे वाले साबित हो जायें यह और बात है, और यह और बात है कि बैंक, इस सम्बन्ध के विज्ञापन के साथ, ऐसे दो-एक कारखानों से सम्बन्ध जोड़ ले जिनका कारबार अच्छा नहीं है। जब औद्योगिक बैंकदारी यह अमेरिकी ढंग पकड़ लेती है कि किसी उद्योग-धंधे को सीधे ऋण देने की जगह औद्योगिक कल-कारखानों द्वारा प्रदत्त ऋण-पत्र ही खरीद लिये जायें, तब उसमें यह कठिनाई नहीं रहती। क्योंकि ऋण-पत्र को तो स्टाकएक्सचेञ्ज में ले जाकर जब कभी बेच सकते हैं। पर इसमें एक दूसरी कठिनाई है। वह यह कि औद्योगिक ऋण-पत्र का मूल्य बहुत अधिक उतरता-चढ़ता रहता है और बैंक यदि चाहे कि अपने ऋण की तरलता रखे तो उसे अपने प्रथम विनियोग का एक बड़ा भाग खोना पड़ता है।

उद्योग-धंधों के लिए बैंकदारी की वकालत करने वाले मुख्यतः वे लोग हैं जो उद्योग-धंधों के लिए प्रभूत पूंजी की व्यवस्था से समाज को होनेवाले लाभ से प्रभावित हैं। पर बैंक वाले पर उद्योग-धंधों का कोई खास उत्तरदायित्व ही क्या है ? उसका पहला कर्तव्य तो अपने यहां रुपया रखने वालों का विश्वास बनाये रखना है। राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था स्वच्छन्दता से चलती रहे यह देखना राज्य का काम है। बैक वाले इस सरकारी काम को अपने ऊपर क्यों लेने जायें ? उधर वह बैंक-व्यवस्था भी जो आशंका से दबी हुई हो, और जिसको चारो ओर से रुपया निकालने वालों ने घेरे लिया हो, समाज की अर्थ-व्यवस्था की सहायिका न होकर वाधा देने वाली ही है चाहे वह औद्योगिक बैंकदारी की नीति का पालन करती हो या नहीं।

इस पुस्तक का उद्देश्य बैंक-व्यवसाय का वर्णन करना है, उसकी आलोचना करनी नहीं। इसलिए इस बात की आवश्यकता नहीं कि औद्योगिक बैंकदारी बनाम साधारण बैंक-व्यवसाय के सम्बन्ध में कोई निर्णय सुनाया जाय। यहां यह कहा जा सकता है कि बहुत-से अन्य विवाद-ग्रस्त विषयों के सम्बन्ध में जो बात कही गयी है वही इसमें भी है अर्थात सचाई दोनो छोरों के बीच में है। पूर्वकाल में इंग्लैण्ड में एक ऐसे साधन की आवश्यकता थी जिसके द्वारा उद्योग-धंधों में सतत पूंजी प्रवहमान रहे और यह उचित ही था कि जर्मनी अमेरिका की तरह बैंक-व्यवसाय के विशाल दलदल में न फंसकर इंग्लैण्ड के बैंकों से कहा जाय कि वे वैसे ही साधन जुटावें जैसा ऊपर वर्णन किया गया है। यह काम १९४५ में दो अर्थ-संस्थाओं की स्थापना कर किया गया। ये दो अर्थ-साधन ये हैं—(१) औद्योगिक फाइनेन्स कार्पोरेशन और (२) दी इंडस्ट्रियल ऐण्ड फाइनेन्सियल कार्पोरेशन। इन दोनो को ही रुपये-पैसे की सहायता बैंक से मिलती है और ये अपने फंड का व्यवहार ब्रिटिश उद्योग-धंधों या व्यवसाय को ऋण देने में करते हैं। और यह सहायता कुछ इस ढंग से दी जाती है जो बैंक के उपयुक्त नहीं है। पर यदि बैंक के विभिन्न कर्तव्यों में प्रमुख को चुनना हो तो कहना पड़ेगा

कि इनमें सबसे प्रमुख कर्तव्य यह है कि यह रुपया देने की एक सुदृढ़ और सुविधापूर्ण रीति प्रस्तुत करे। उद्योग-धंधों को पूंजी जुटा देने के दूसरे-तीसरे उपाय भी हैं पर वर्तमान समय में बैंक-डिपाजिट के अतिरिक्त इस काम के लिए किसी अन्य साधन का पता लोगों को नहीं है।

वर्तमान बैंक-व्यवसाय के विरुद्ध जो मत अधिकाधिक बल पूर्वक आज-कल दिया जाने लगा है वह यह है कि वे संस्थाएं जिनके हाथ में इतनी ताकत हो, कुछ व्यक्तियों के हाथों में न छोड़ देनी चाहिये। सचमुच इस तर्क की दो शाखाएं हैं। प्रथम यह है कि चूंकि बैंक-मुद्रा 'उत्पादित मुद्रा' है इसलिए बैंकों को इसके व्यवहार पर ब्याज मिलनी नहीं चाहिए। यह भी कहा जाता है कि जन-विश्वास ही वह चीज है जो जनता की ओर से बैंकों को मिलती है और उसी के भरोसे वे मुद्रा-प्रणयन कर सकते हैं, इस कारण इस सम्बन्ध के लाभ जनता को मिलने चाहिये न कि बैंक को। दूसरी दलील वाले यह तो मानते हैं कि बैंकों को मुद्रा पर ब्याज लेने का अधिकार है पर वे चाहते हैं कि कुछ व्यक्तियों के हाथ से निकल कर बैंक-व्यवस्था सरकार के हाथ में आ जाय क्योंकि यह चीज सामूहिक रूप से समाज की अर्थ-व्यवस्था पर बड़ा और वह भी बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है, इसलिए इसकी व्यवस्था सरकार को ही करनी चाहिए।

इन दोनो दलीलों में से कौन ठीक है और कौन नहीं इसपर हमें कोई निर्णय नहीं देना है। परन्तु यह कहना अनुचित नहीं है कि इस अध्याय के अगले भागों में वे बातें हैं जिनसे प्रथम दलील का कुछ जवाब निकल आता है। बैंक वाले बिना व्यय और प्रतिबन्ध के रुपया नहीं 'बना सकते'। जैसा कि बताया गया है उसका रोजगार, अपने ऋण का दूसरों के ऋण के साथ विनिमय मात्र है और अपने ऋण के लिए जो ब्याज वे देते हैं और दूसरे से जो लेते हैं उनका जो अन्तर होता है, वही उनका लाभ है। किसी व्यक्ति को रुपया देने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि कोई आदमी बैंक को रुपया दे, क्योंकि बैंक को दिया हुआ ऋण तो रुपया है, अन्यों को दिया हुआ नहीं। यह एक स्वाभाविक उपपत्ति है कि जब ऋण-

दाता को, बैंक को रुपया देने में, इतनी अधिक सुविधाएं हैं, तब उसे व्यक्ति विशेष से मिलनेवाले ब्याज की अपेक्षा कम ब्याज मिलना ही चाहिए। पर इस कथन से कि बैंकवाले को कुछ कम ब्याज देकर कुछ लाभ कर लेने का अधिकार है यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उसे मनमाना लाभ लेने का अधिकार है। बैंकों को जनोपयोगी माना गया है और राज्य को यह देखते रहने का अधिकार है कि जो लाभ वे करते हैं वह अधिक न हो।

बैंकों को राष्ट्रीय तत्वावधान में ले लेने की जो दलील दी जाती है उसे बहुत-कुछ उसी प्रकाश में देखना चाहिए जो हम पृष्ठ ८३ में केन्द्रीय बैंक की सरकारी देखरेख रखने के सम्बन्ध में दे आये हैं। जो उद्योग जनता से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है और जनहित पर जिसका इतना प्रभाव पड़ता है उसपर राज्य का कुछ न कुछ निरीक्षण और नियन्त्रण रहना आवश्यक है, यह तर्क-सङ्गत है। पर यह सरकारी नियन्त्रण कितना रहना चाहिए यह प्रश्न और यह प्रश्न कि यह निरीक्षण और नियन्त्रण का अधिकार बढ़कर पूर्ण सरकारी स्वामीत्व में परिणत होना चाहिए—सिद्धान्त का नहीं अपितु रुचि की बात है। निश्चय ही ऐसा कोई दैवी विधान नहीं है कि बैंकों को सदा के लिए व्यक्तिगत प्रबन्ध और राजकीय स्वामीत्व में छोड़ दिया जाय और उनका राष्ट्रीयकरण यदि एक सुनिश्चित योजना और मध्य व्यवस्था पर हो तो उससे बहुत कम हानि हो सकती है। पर राष्ट्रीयकरण हो जाने पर यदि बैंक-कारबार अधिक सुरक्षित और सस्ता नहीं हुआ तो इससे कोई लाभ नहीं और ये दोनो बातें आपसे आप राष्ट्रीयकरण के साथ ही साथ नहीं हो जायेंगी। यह प्रश्न ऐसा नहीं है कि इसमें किसी अर्थशास्त्री को, अथवा उस आदमी को जो मुद्रा-विषयक सिद्धान्त समझने की चेष्टा कर रहा हो, कोई दिलचस्पी हो। इस विषय को राजनीतिक सैद्धान्तिकों के ऊपर छोड़ देना चाहिए।

तीसरा अध्याय

मुद्रा का मूल्य

THE VALUE OF MONEY

to make love

मूल्य-स्तर

THE PRICE LEVEL

मुद्रा का मुख्य लक्षण जो इसे अन्य पदार्थों से पृथक करता है यह है कि मुद्रा मुद्रा के लिए काम्य नहीं है। पूर्ण अर्थ में यह एक विनिमय-साधन, विनिमय-माध्यम या युक्ति है। सिवा कंजूस के संग्रह के लिए कोई रुपया संजोना नहीं चाहेगा। सभी इसे इसलिए संग्रह करना चाहते हैं कि इसे जब जरूरत पड़े मजदूरी या किसी आवश्यक पदार्थ के बदले दे सकें। रुपया अपने आपमें निर्मूल्य पदार्थ है। एक फट जाने वाले बेकार कागज के टुकड़े के सिवा पांच पौंड का नोट क्या है? इसका मूल्य तो लोगों के इसे स्वीकार कर लेने में है।

मुद्रा का यह प्रमुख सिद्धान्त, जिसपर मंत्र की तरह जोर दिया गया है, एक साथ ही माननीय तथा महत्वपूर्ण उपपत्ति वाला है। किसी वस्तु का मूल्य वह अनुपात है जिसपर यह रुपये के द्वारा विनिमय-प्राप्त होता है। अगर एक टन कोयले का दाम ६० शिलिंग हो तो विनिमय का अनुपात हुआ ६० शि०=१ टन या ३ शि०= १ क्वार्टर। परन्तु रुपया तो केवल विनिमय का मध्यस्थ यन्त्र है, असली मौलिक चीज तो वह है जिसपर कोयला अन्य सभी वस्तुओं के अनुपात में बिकेगा या उसके बदले जो सेवा प्राप्त होगी। जिस आदमी के पास १ टन कोयला बिक्री के लिए हो उसके लिए यह ज्ञान कि उसके कोयले का मूल्य ६० शिलिंग है, सिर्फ इस अभिप्राय से मतलब का है कि वह जानता है कि ६० शिलिंग से क्या-क्या चीजें खरीदी जा सकती हैं। अगर वह यह बात न जानता तो केवल मूल्य धर देने से अपने कोयले

के टन के सम्बन्ध में उसके मन में कोई धारणा नहीं उठती। संक्षेप में यह कि दाम वही चीज नहीं है जो मूल्य है।

हमारे अभिप्राय को एक उदाहरण से आसानी से समझा जा सकता है। मान लीजिए कि किसी एक निश्चित दिन पर सभी चीजों अर्थात कोयला, रोटी, पोस्टेज स्टाम्प, एक दिन की मजदूरी, घर का किराया और अन्य सभी चीजों की क़ीमत दूनी हो जाय। अब इससे दाम तो निश्चित रूप से परिवर्तित हो गये पर मूल्य नहीं बदला। क्योंकि हर आदमी की आय यद्यपि संख्या में दूनी होगी पर इससे उतनी ही चीजें प्राप्त होंगी जितनी पहले होती थीं। एक टन कोयला से ठीक उतनी ही रोटियां पायी जायेंगी जितनी पहले पायी जाती थीं। इस अवस्था में यदि मूल्य किसी का परिवर्तित हुआ तो केवल मुद्रा का हुआ क्योंकि एक पौण्ड का एक नोट तो वही है पर इससे जितनी चीजें हम पा सकते अब उससे हमें आधी ही मिलेंगी; इसलिए नोट का मूल्य परिवर्तित हुआ। एक पौण्ड के नोट का मोल वही है कि इससे कितनी आवश्यक चीजें खरादी जा सकती हैं और वह मोल आधा हो गया है।

मुद्रा के मूल्य-सम्बन्धी यह धारणा मुद्रा-सम्बन्धी अर्थ-नीति के विचार में बहुत महत्वपूर्ण है, और यह भ्रामक भी है। इससे अच्छा यह कथन है कि मुद्रा का मूल्य वह पदार्थ है जो उससे खरीदा जा सके। इसके बाद एक थोड़ी ही अतिरिक्त युक्ति से यह समझ में आने लगता है कि चीजों का दाम जितना ऊंचा होगा मुद्रा का मूल्य उतना ही कम होगा।* पर यहीं आकर इस विषय की सरलता ठहर जाती है, कारण कि दूसरा सवाल यह उठता है कि 'कौन-सा मोल ?' कहने को मन होता है कि 'सभी मूल्य'। पर जब साधारण नागरिक मुद्रा के मूल्य के विषय में सोचता है, क्या उसे यह समझाने की चेष्टा करने में कुछ सार है कि एक पौण्ड में जितनी हरताल तूतिया मिलती है उसी के परिमाण पर रुपये का मोल टिका हुआ है? वह तो उन चीजों में दिलचस्पी ले सकता है जिन्हें इस्तेमाल करता है या जिन्हें उसे खरीदना पड़ सकता है। पर यदि इस जांच को ऐसी ही चीजों तक सीमित

रखा जाय तो भी इस सम्बन्ध में न्यूनाधिक्य की बहुत गुंजाइश है। साधारण कोटि का जर्मन नागरिक ज्वार की रोटी से दिलचस्पी रखता है, पर साधारण अंगरेज को इसमें कोई रुचि नहीं है। श्रीमती स्मिथ को मार्गेराइन (एक प्रकार का वनस्पति-प्रस्तुत मक्खन) के दाम से मतलब है; पर पड़ोस की श्रीमती जोन्स मार्गेराइन का प्रयोग नहीं करतीं इसलिए उससे उन्हें कोई मतलब नहीं। संक्षेप में, किन्हीं दो आदमियों के लिए खर्च के समय रुपये का मोल समान नहीं रहता। इसके अतिरिक्त रुपये के सम्बन्ध में विचार करते हुए हम अपना ध्यान केवल साधारण कोटि के व्यक्तियों के आय-व्यय पर ही नहीं रख सकते। हर आदमी इसमें भी औत्सुक्य रखता है कि वह क्या बेचता-खरीदता है—बहुत-से आदमी रुपये का मोल मजदूरी से भी करते हैं। मुद्रा की गठन-सामग्रियों में मजदूरी का भी एक तत्व है। व्यापारी यह जानना चाहता है कि उसका रुपया कितनी रूई, अन्न या लोहा ला सकता है।

इसलिए 'मुद्रा का मूल्य' वाक्यांश बिना किसी तजवीज़ के एकदम अर्थहीन है। रुपया का व्यवहार जिन मदों में होता है उनके हिसाब से, इसके पचासों तरह के मूल्य हैं। इस कठनाई से पार पाने के लिए एक ही रास्ता है। वह यह है कि मनमाने ढंग से रुपये का कोई मोल निश्चित करके उसे मान लिया जाय। साधारणतः इसके तीन मानदण्ड हैं। पहला मानदण्ड वह है जिसमें वे चीजें खरीदी जाती हैं जिनका मूल्य बाज़ारों में धरा जाता है अथवा कागज़-पत्रों में लिखा हुआ है। पर इन वस्तुओं में कोई मुख्य गुण नहीं है। इन्हे केवल इसलिए चुन लिया जाता है कि उनका मूल्य आसानी से मिल जाता है। यह मूल्य ठीक तौर पर भी मिलता है क्योंकि वह कागज़-पत्रों में दर्ज होता है और रुपये का यही मोल है जिसकी चर्चा बराबर की जाती है। और जब 'मुद्रा के मूल्य' का नाम बिना किसी खास अभिप्राय के लिया जाता है, तो उससे इसीकी ओर मतलब होता है। इस तरह से जिन वस्तुओं का नाम लिया जाता है वे सबका सब कच्ची ही हैं, तैयार वस्तु उपभोक्ता के काम में सीधे आ सकने योग्य नहीं (उदाहरणार्थ गेहूं ऐसी चीज है, रोटी नहीं)।

ऐसा भी होता है कि जिन चीजों का हिसाब होता है वे भारी परिमाण में होती हैं। इसलिये रुपये के इस मोल को थोक का भाव कह सकते हैं।

रुपये का दूसरे प्रकार का मोल, जो सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है, वह मोल है जो उन वस्तुओं या सेवाओं के क्रय में लगता है जो साधारण परिवारवालों के काम-काज में आता है। इसमें दो प्रकार की कठिनाइयां हैं। पहली कठिनाई यह है कि वस्तुत: साधारण गृहस्थ अपनी आय से किन-किन पदार्थों को खरीदता है। इस ढूंढ़-खोज में विस्तृत जांच करने की आवश्यकता पड़ सकती है। और वस्तुओं की जब एक साधारण सूची बना ली गयी हो, तब दूसरी कठिनाई यह पता लगाने की आती है कि उन वस्तुओं का मूल्य क्या है? गेहूं का दाम जैसा एक प्रकार से निश्चित-सा है रोटी का दाम वैसे ही निश्चित नहीं है। रोटी का दाम नगर-नगर में और कहीं-कहीं तो दूकान-दूकान में विभिन्न होता है। मांस में और भी प्रकार हैं। अब मकान के भाड़े में भी जो बहुत-से परिवारों के व्यय का प्रमुख विषय है, यह कहा जा सकता है कि, एकरूपता नहीं है। (क) इसलिए हर एक वस्तु के भाव का औसत निकालने के लिए बहुत दर और दाम इकट्ठा करने की आवश्यकता होती है। यह दूसरी चीज मुद्रा का खुदरा भाव समझा जाय अथवा जीवन-निर्वाह-व्यय समझा जाय।

तीसरा मुख्य प्रकार रुपये के मूल्य का वह है जो मजदूरी के काम में आता है। इस मजदूरी को दैनिक काम के हिसाब से भी निश्चित करते हैं। पर यहां पर भी प्रकटत: परिभाषा-गठन में कठिनाई है और श्रम के भी हजारों प्रकार हैं। इसको मुद्रा का श्रम-मूल्य कह सकते हैं। यहां पर रुपये के जिन तीन प्रकार के मूल्यों की चर्चा की गयी है वे बराबर हमलोगों के सामने आते रहते हैं। पर रुपये के मूल्य के अन्य किस्मों की भी आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण के लिए संसार के प्राय:

(क) साधारण समयों की अपेक्षा कठोरतम मूल्य-नियन्त्रण-काल में यह कथन सदोष या अर्धसत्य हो सकता है। पर तब भी आशा तो की ही जाती है कि साधारण दिन लौटेंगे। इसलिए इस कथन को ऐसे ही रहने दिया जा रहा है।

हर देश में कभी-कभी किसानों को कुछ विशेप प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे किसानों के लिए रुपये का मोल उन वस्तुओं के सम्बन्ध से विभिन्न प्रकार का होता है।

इसलिए मुद्रा के मूल्य की यदि ठीक परिभाषा करने जायें तो बड़े झंझट का काम होगा। रुपये का थोक मूल्य, उस आदमी का मोल है, जो केवल ऐसे पदार्थों से सम्पर्क रखता है जिनका थोक व्यापार बाजार में होता है। इसका खुदरा मोल उस परिवार के लिए है जो ठीक-ठीक वही चीजें खरीदता है जो व्यवहारतः साधारण औसत परिवार की जरूरत की समझी गयी है। अब रुपये का श्रम-मूल्य उस आदमी या फर्म के लिए है जो हर तरह के श्रम क्रय करता है। यह तो बहुत मनमानी परिभाषा हुई, पर जहां इतने प्रकार की विभिन्नता हो वहां कुछ न कुछ मनमानापन रखना ही पड़ता है।

इन्हीं स्वेच्छा-मान्यताओं पर हमलोग मुद्रा की परिभाषा कर सकते हैं या और ठीक कहा जाय तो मुद्रा के तीन विभिन्न मूल्यों की परिभाषा कर सकते हैं। परन्तु कठिनाई फिर भी समाप्त नहीं होती। मुद्रा के थोक मूल्य की परिभाषा लिखकर अब हमलोगों को उसकी माप लेनी पड़ेगी। १ पौंड का थोक मोल क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इतना लम्बा और बेसम्हाल होगा कि उसमें गेहूं का बुशल, रुई की गांठ, लोहे का टन, तेल का गैलन, सीमेन्ट का बोरा और इसी तरह की सैकडों-हजारों चीजों की सूची तैयार होगी। यह व्यवहारतः व्यर्थ होगा। कहने का अभिप्राय यह कि मुद्रा के विभिन्न मूल्यों में से किसी एक के भी सभी किस्मों का वर्णन करना सरल काम नहीं और किये जाने पर भी उससे कुछ समझा न जा सकेगा।

इसलिए यह मानना होगा कि मुद्रा के मूल्य की नाप-जोख नहीं की जा सकती। सौभाग्यवश हमलोगों को ऐसा नहीं करना पड़ता, सौभाग्य से हमलोगों को नाप-जोख नहीं करनी पड़ती। हम जो जानना चाहते हैं वह मुद्रा का अकेला मोल नहीं पर अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध से इसका क्या मोल है यह जानने

का अभिप्राय होता है। हम जानना चाहते हैं कि १ पौंड का क्या वही मोल आज भी है जो गत महीने, गत वर्ष या दस वर्ष पीछे था, अथवा यह न्यूनाधिक हुआ है? इसलिए जो जानना होता है वह मुद्रा का मोल नहीं है पर उसका मूल्य-परिवर्तन है।

यह काम हिसाब-किताब के उस उपाय से किया जाता है जिसे सूचक अंक (index number) कहते हैं। यह सूचक अङ्क निकालना और उसका नियोजन एंव प्रकटीकरण स्वयं एक उलझन पूर्ण विज्ञान है। पर सौभाग्य से हमलोगों को इसकी स्थूल रूप-रेखा से ही मतलब रहता है। मान लें कि तत्काल हमलोग मुद्रा के थोक मोल से दिलचस्पी रखते हैं। यह तो परिभाषा के घेरे में आये हुए थोक पदार्थों के मूल्य से निश्चित होता है। ये मूल्य जितने ही ऊंचे होंगे, मुद्रा का थोक दाम भी उतना ही नीचा होता है। और फिर इसके विरुद्ध जब पदार्थों का मोल नीचे रहता है मुद्रा का मोल ऊंचा होता है। इसलिए हमलोगों को थोक दामों का एक सूचक अंक निश्चित करने की आवश्यकता होती है। इस युक्ति में पहला कदम यह है कि भूतकाल में कोई ऐसा एक समय चुन लिया जाय जिसको आधार माना जाय। समय तो कोई भी मान लिया जा सकता है पर कोई ऐसा आधार रखना आवश्यक है जिससे पीछे के मूल्यों की तुलना की जा सके जैसे कि हर एक मानचित्र बनाने वाला एक मान्य रेखा मान लेता है जिससे वह ऊंचाइयों की तुलना कर के मानचित्र तैयार कर सके। ऊंचाई को "समुद्र के धरातल से इतना ऊंचा" इस तरह हम प्रकट करते हैं। इसमें समुद्र को हमलोग प्रकट मान्य रेखा मान लेते हैं यद्यपि उसका तल किसी भी दशा में सम नहीं है। पर ऊंचाई को इस प्रकार से कहना भी उसी प्रकार ठीक है जैसे कि हम कहें कि 'ईफेलटावर' की चोटी से इतना ऊंचा या नीचा। मूल्यों के लिए समुद्र-रेखा की तरह कोई मान्य रेखा नहीं है इसलिए हर एक मूल्य प्रणयन-कर्ता अपना-अपना अलग सूचक अंक (index number) रखता है। एक परम्परा है कि उन्हें कोई विशेष वर्ष प्रिय होता है। इस तरह ब्रिटेन में १९३५ साल को

आधार-वर्ष मानते हैं क्योंकि अन्य किसी साल की अपेक्षा इस साल के विभिन्न प्रकार के आंकड़े अधिक उपलब्ध हैं। सन् १९२९ को भी इसी तरह पकड़ लिया जाता है कि उसे आधार-वर्ष की तरह प्रयुक्त किया जाय क्योंकि यह साल भारी मंदी के शुरू में आया था। १९१३ या १९३८ को इसलिए लिया जाता है कि ये दोनों साल दोनो महायुद्धों के पहले पड़े थे।

आधार-वर्ष को चुन लेने के बाद, दूसरा काम यह रह जाता है कि अपेक्षित वस्तुओं के उस साल के मूल्यों की तालिका कर ली जाय। मान लें कि हमलोगों ने १९१३ को आधार-वर्ष मान लिया है और इस वर्ष के चालू मूल्यों की सूची बना ली है। अब १९३७ का सूचक अंक तैयार करना चाहते हैं। हमलोग अब उन्हीं सब वस्तुओं के मूल्य की तालिका उस साल की तैयार करते हैं। इन सबको एक ही तरह से व्यक्त करने के लिए हम १९३७ के मूल्यों को १९१३ के मूल्यों के अनुपात में बताते हैं। इस तरह से यदि कोयले का दाम १९१३ में १५ शिलिंग प्रति टन था और १९३७ में वह ३० शिलिंग हुआ तो हमलोग १९१३ के मूल्य को १०० और १९३७ के मूल्य को २०० रख लेंगे। अब किसी दूसरे पदार्थ का दाम १९१३ में १०० और १९३७ में ६० भी हो सकता है। अब अन्तिम चरण यह है कि १९३७ के सभी प्रकार के मूल्यों का औसत (क) लिया जाय और यही १९३७ का सूचक अंक हुआ। अगर हम कहें कि १९३७ में थोक मूल्यों का सूचक अंक १०७ था (१९१३=१००) तो इसका मानी यह हुआ कि औसत मूल्य-स्तर १९३७ में

(क) औसत निकालने के एक से अधिक ढङ्ग हैं। सरल और अंकगणितीय तरीका यह है कि सारे मदों को जोड़ कर मदों की गिनती से उसमें भाग दे दीजिये। तीन अंकों की संख्या का ज्यामितीय औसत ऐसे निकलता है कि तीनो का गुणनफल लेकर फिर उसका मूल गुणक खण्ड निकालते हैं। चार अंकों का भी ऐसा ही करते हैं और इसी तरह ऐसा ही अन्य ंकों के सम्बन्ध में। इस तरह ऊपर के वर्णन में जो अंकगणितीय औसत दिया गया है वह इस तरह निकलता है $\frac{१}{२}\times(२००+६०)=१३०$; इसका ज्यामितीय औसत लगभग $\sqrt{२००\times६०}=१०९\frac{१}{२}$। दोनो तरीकों के बीच का चुनाव एक उलझा हुआ पारिभाषिक विषय है और उसे यहां पर छोड़ भी दें तो हर्ज नहीं।

१९१३ की अपेक्षा ७ प्रतिशत अधिक था। अलग-अलग पदार्थों का मूल्य इससे कहीं कम या अधिक हो, यह हो सकता है।

सूचक अङ्क तैयार करने का यही स्थूल ढंग है। इस सम्बन्ध के सभी कायदे-कानूनों और गुत्थियों में से एक-एक की चर्चा यहां करनी चाहिये। ऊपर जो ढंग लिखा गया है वह इस मान्यता पर निर्भर करता है कि सूची में समाविष्ट सभी वस्तुओं की महत्वपूर्णता समान है। पर ऐसा नहीं है। आलपीन के दाम में दूनी भी बढ़ती हो जाये तो इससे क्या पर रोटी के दाम में थोड़ी भी वृद्धि भारी लगने लगती है। इस कठिनाई को उस युक्ति से काट सकते हैं जिसे तौलना कहते हैं। तोल का सबसे सरल ढंग यह है कि अंक-सूची में तीन या चार प्रकार के सबसे आवश्यक पदार्थों को रखा जाय। इस प्रकार थोक मूल्य के सूचक अंक में कनाडा, अस्ट्रेलिया, अर्जेन्टिना और अंग्रेजी गेंहुओं का दाम भी सम्मिलित हो सकता है। चूंकि चारो देशों के गेहुंओं का मूल्य एक साथ ही परिवर्तनशील रहता है, इसका परिणाम यह होगा कि गेहूं के दाम में जो परिवर्तन होगा वह चार गुना उतना ही वजन सूचक अंक में रखेगा जितना किसी कम महत्वपूर्ण पदार्थ के मूल्य-परिवर्तन के कारण होगा। यही परिणाम एक ही प्रकार के गेहूं को लेकर भी निकाला जा सकता है अगर उसके ही मूल्य को सूचक अङ्क में चार बार दर्ज करें। यही सरल तरीका प्रायः इस सम्बन्ध में किया भी जाता है। कुछ तरह के सूचक अंक की तैयारी में तोल-जोख आवश्यक हो जाता है। पर यह बिलकुल मनमाना ढंग है जो हिसाब निकालनेवाले की इच्छा पर आधारित होता है। इसके अतिरिक्त जो तोल आज सही है कल वही गलत भी ठहर सकता है। इस प्रकार रुई का उद्योग-धंधा जब इंग्लैण्ड का सबसे बड़ा काम था उन दिनों की अपेक्षा आज इंग्लैड में मुद्रा के थोक मूल्य में यदि रुई का दाम न भी लिया जाय तो कोई भारी बात नहीं है क्योंकि आज-कल यह कम महत्त्वपूर्ण रह गया है। और उन दिनों की थोक मूल्य की तालिका को आज इस कारण अस्वीकार करते हैं कि उनमें रुई को अत्यधिक प्रमुखता दी गयी है।

मूल्य में घट-बढ़

PRICE FLUCTUATIONS

सूचक अंक की कृत्रिम युक्ति को इस्तेमाल करके मुद्रा के मूल्य में जो परिवर्तन होते रहते हैं, हमलोग उसे समझ सकते हैं। या यह कहें कि मुद्रा के मूल्य के विभिन्न पक्षों में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें आंक सकते हैं—प्रत्येक विशेष पक्ष एक विशेष उदेश्य सिद्ध करता है। पर आंकड़ों सम्बन्धी कार्य-प्रणाली का वर्णन करना वही चीज नहीं है जैसा कि यह सिद्ध करना कि मुद्रा के मूल्य के भीतर जो भाव छिपा है उसमें कुछ वास्तविकता भी है। आखिर ठीक इसी कार्य-प्रणाली को प्रयुक्त कर के सूइयों पर से हर एक चीज के मूल्य को स्थिर कर सकते हैं, परन्तु यद्यपि आप "सूइयों का थोक भाव निकालने के लिए, खुदरा भाव निकालने को और इसी का श्रम-मूल्य निकालने को सूचक अंक तैयार कर सकते हैं पर इससे आप यह नहीं निकाल सकते हैं कि इस प्रचेष्टा में कोई उपयोगिता है।"

इसी तरह यदि मूल्य इसी तरह बेतरतीब ढंग से परिवर्तनशाल रहे जिनमें से कुछ ऊंचे उठे और कुछ नीचे जाय और इस घट-बढ़ के भीतर किसी समन्वित रुख का पता न लगे तो कोई भी सूचक अंक जो तैयार किया जायगा केवल अंक-गणित के शून्य के समान होगा अथवा संयोग से पाया गया हिसाब होगा। केवल जब पदार्थों का मूल्य (सभी पदार्थों का न सही पर अधिकतर पदार्थों का तो अवश्य) एक साथ परिवर्तित हो—यानी एक ही दिशा में जा रहा हो—तभी कह सकते हैं कि किसी वास्तविक अर्थ में मुद्रा का मूल्य कुछ है।

वास्तविक क्षेत्र में मूल्य-स्तर के घटने-बढ़ने का क्या ढंग होता है इस बात की थोड़ी-सी जानकारी रखने से ही यह बात समझ में आ सकती है कि आश्चर्यजनक सीमा तक सभी मूल्य साथ-साथ घटते-बढ़ते हैं। प्रत्येक मूल्य अपने ही प्रभाव से संचालित होता है। उदाहरण के लिए, जौ का मूल्य उस साल की फसल से प्रभावित होता है पर और कोई मूल्य इसी प्रभाव से प्रभावित नहीं होता। यह

हो सकता है कि किसी विशेष पदार्थ का निजी कारण ही इतना प्रबल होता है कि साधारणतः सभी मूल्य जिस प्रभाव के कारण परिवर्तित होते हैं उसको वह काट देता है। इस प्रकार जिस समय अन्य बहुत-से पदार्थों का मूल्य ऊंचा चढ़ता है किसी-किसी पदार्थ का मूल्य नीचे जाता हुआ मिलता है या इससे विपरीत होता है। पर यह भी अपवाद है। असल में बहुसंख्यक मूल्य एक साथ एक ही दिशा में इतना मिलाकर बढ़ते-घटते हैं कि भाषा की किसी अशुद्धि के भय के बिना किसी जमाने को वृद्धि और किसी को ह्रास का युग कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त मूल्य की यह प्रबल प्रवृत्ति होती है कि कभी कोई एक बार झुंड से यदि छिटक पड़ा तो दूसरी बार वह भी झुंड में सम्मिलित हो जाय। तब ऐसा नहीं हो सकता जब किसी खोज या आविष्कार ने उस पदार्थ को सस्ता कर दिया हो अथवा किसी वस्तु की पूर्ति का मूल स्रोत समाप्त हो जाने के कारण वह स्थायी रूप से मंहगी हो गयी हो। किन्तु ये भी अपवाद ही हैं और बहुत-से आदमियों ने यही बात ध्यान में रख कर कि कौन पदार्थ झुंड से अलग होकर छिटका हुआ है और इसी चीज का सट्टा करके, इस आशा पर कि वे पुनः अपने वर्ग के रवैये में सम्मिलित हो ही जायेंगे, बहुत-सा रुपया कमाया है। पदार्थों के मूल्य के इस ढंग की केवल इसी अनुमान पर व्याख्या की जा सकती है कि ऐसी कोई शक्ति है जो सभी पदार्थों पर दबाव डालती है और इस शक्ति को विशेष पदार्थों के कुछ असाधारण ढंग ही रोक सकते हैं। यही वह शक्ति है जो औसत मूल्य-स्तर बनाती है। यही वह शक्ति है जो मुद्रा के मूल्य को संगठित और संचालित करती है। प्रत्येक दाम, एक ओर किसी खास पदार्थ या सेवा और दूसरी ओर मुद्रा के बीच के अनुपात को बताने वाला है। इसलिए यदि सभी मूल्यों के भीतर कोई प्रभाव समभाव से व्याप्त है जिसके कारण वे एक साथ ऊपर चढ़ते या नीचे आते हैं और अगर हमलोग उसका पता लगाना चाहते हैं तो, यह प्रकट है कि इस तत्त्व को पाने के लिए हमको उस वस्तु के ऊपर विचार करना होगा जो प्रत्येक मूल्यों में व्याप्त है। वह वस्तु स्वयं मुद्रा है।

यह मुद्रा के स्वभाव पर एक नया रंग देता है। जैसा कि हमलोगों ने देखा है मुद्रा का उद्देश्य केवल एक मध्यस्थ के समान काम करना है और यह लिखने का, कि एक हंड्रेडवेट वजन का कोयला ३ शिलिंग मूल्य का हुआ, वास्तविक उद्देश्य यह है कि कोयले के मूल्य का सम्बन्ध रिबन या रोटी या ऐसी ही हजारों अन्य चीजों से मुद्रा के माध्यम से स्थापित किया जाय। मगर यहां पर हमलोगों ने मुद्रा को मध्यस्थ बनाया है जो अपना स्वयं भी कुछ काम रखती है। केवल हिस्सा बिलगाने के साधन होने के अतिरिक्त यह सभी मुल्यों पर अपना प्रभाव भी डालती है। यह ऐसे ही हुआ जैसे गज् लम्बाई के साथ करता है। मुद्रा की, केवल इसी निष्पक्ष रहने की विफलता के कारण अपना विशेष कार्य करने में इसके आग्रह के कारण सारी आर्थिक समस्याएँ और गुत्थियां हैं। संक्षेप में यह कि मुद्रा का मूल्य एक हिसाबी संयोग नहीं, कोई न कोई वास्तविक उपादान है और इसी कारण वे सब आर्थिक समस्याएँ और पेचीदगियां हैं जिनका वर्णन इस पुस्तक का विषय है।

मुल्यों में से बहुसंख्यक एक ही समय एक ही दिशा में बढ़ने की प्रवृत्ति यद्यपि रखते हैं, तथापि यह भी सोच लेना चाहिए कि वे बढ़ते भी एक सीमा तक ही हैं। इसके विपरीत विभिन्न मूल्यों की परिवर्तनीयता में बहुत भेद भी है। हम लोग इस परिवर्तन की प्रकृति दिखाने वाला मानचित्र तैयार कर सकते हैं। जो मूल्य बड़ी तेजी से घटते-बढ़ते हैं वे कच्चे माल के उन सौदों से सम्बन्ध रखते हैं जिनका सट्टा होता है। १९३९-४५ के युद्धकाल से पहले तक जब रबर पर सरकारी नियन्त्रण नहीं था यह ऐसा ही एक पदार्थ था। रबर की पूर्ति को परिवर्तित करना बहुत मुश्किल है। कम से कम अल्प काल में हम इसे बढ़ा तो नहीं सकते, क्योंकि रबर का पेड़ रोपे जाने के ५ साल बाद रबर देने योग्य होता है। दूसरी ओर रबर की मांग बहुत तेजी से घटती-बढ़ती रहती है। नतीजा यह होता है कि रबर का मूल्य तेजी से घटता-बढ़ता रहता है। कोई साल ऐसा नहीं जाता जिसमें एक बार रबर का मूल्य कुछ ही दिनों बाद पहले का दूना या आधा न हो जाय। रबर तो परिवर्तनीय पदार्थों का राजा है पर रबर के अतिरिक्त

और भी वस्तुएँ हैं जिनके मूल्यों में इसी प्रकार भीषण घट-बढ़ की प्रकृति है। युद्धकाल में नियन्त्रण-योजना कुछ विशेष वस्तुओं, जैसे रबर, टिन, चाय, चीनी आदि की पूर्ति के लिए बनाई गई थी; उस योजना से भी मूल्यों के परिवर्तन को रोकने में थोड़ी और यत्रतत्र ही सफलता मिली। और खनिज पदार्थ तथा कृषिजन्य पदार्थों का मूल्य—उन कच्ची चीजों का मूल्य जिनका उपयोग उद्योग तथा खाद्य में होता है—आज भी बड़े चढ़ाव-उतार पर रहता है।

कच्चे मालों की अपेक्षा तैयार मालों की कीमत कम घटती-बढ़ती है। इसका कारण कुछ तो यह है कि बहुत-सी उत्पादित वस्तुओं का मूल्य व्यक्तियों अथवा व्यापारिक संस्थाओं द्वारा नियन्त्रित होता रहता है। पर नियन्त्रण न होने पर भी बहुत-से पदार्थ जो कारखानों में बनकर निकलते हैं, उनका मूल्य भी प्रायः निश्चित-सा हो जाता है। कारण, यदि उत्पादक कच्चे माल की मंदी के समय उसी हिसाब से अपने तैयार माल की कीमत बहुत घटा दें तो वे बराबर घाटे में पड़ते रहेंगे। इससे वे यह अच्छा समझेंगे कि कुछ दिन के लिए माल बेचना बन्द कर दिया जाय या यदि वे मूल्यों पर नियन्त्रण रख सके तो यह करेंगे कि चीजों का दाम ऐसा घटायेंगे जिसमें उन्हें नुकसान न हो यद्यपि इससे उनकी बिक्री बिगड़ सकती है। किसान तो ऐसा नहीं कर सकता। बहुत कुछ इसी कारण पदार्थों की खुदरा बिक्री का भाव इतना तेज नहीं चलता जितना थोक भाव चलता है।

मजदूरी में तो और भी धीरे परिवर्तन होता है—कम से कम ब्रिटेन जैसे देशों में तो यह बात अवश्य है जहां ट्रेडयूनियन आन्दोलन बहुत प्रबल है। मजदूरी घटाना बहुत अप्रिय और कठिन काम है। इसी कारण मुनीम लोग जब दाम ऊपर चढ़ाते रहते हैं तो भी मजदूरी नहीं बढ़ाते। पर इन सब बाधाओं के होते हुए भी जब कभी मूल्यों के ह्रास का कोई दीर्घकाल आता है तो मजदूरी घटने के लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं और अन्य मूल्यों की चढ़ती के समय चढ़ने की ओर दृढ़तर प्रवृत्ति दिखाते हैं। पर उनमें गति कुछ विलम्ब से आती है और वह भी अन्य मूल्य-स्फीतियों के मुकाबिले कम ही अंश में। मजदूरी की अपेक्षा वेतन में तो और

भी धीमी गति होती है और बहुत-सी पेशेदारी फीस, जैसे कि वकील का ६८ पेंस और डाक्टर की १ गिनी तो तभी बदलती है जब कि मुद्रा के मूल्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता है।

इस परिवर्तनशीलता के घेरे के दूसरे द्वार पर ऐसे मूल्य या अर्थ-प्रदान हैं जो ठेके पर निश्चित होते हैं। उदाहरण के लिए मकान का भाड़ा कुछ वर्षों तक के लिए निश्चित हो जाता है और यद्यपि नये मकान बनाने में इमारती सामानों की मंहगाई एवं राजमिस्त्री की ऊंची मजदूरी के कारण खर्च बढ़ भी जाय और तब कुछ साल बीत जाने पर पुराने मकानों का भाड़ा भी कुछ बढ़े पर यह काम बेहुत सुस्ती से होता है और इसमें बखेड़ा भी होता है। भाड़े के करार से भी अधिक अवधि तक चलने वाले अन्य प्रकार के करार होते हैं। जीवन-बीमा की पालिसी करार होने की तिथि से ४०-५० वर्षों बाद तक चलती रह सकती है। ऋण-पट्टे तो और भी अधिक काल तक चलते हैं। उदाहरणार्थ तमस्सुक आदि तो सौ-सौ सालों की मियादवाले होते हैं। सरकारा ऋण का एक बड़ा भाग स्थायी होता है।

परिवर्तनशीलता के इस विभिन्न प्रकार के स्वरूपों से यह समझा जा सकता है कि मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों से विभिन्न वर्ग के लोग अलग-अलग तरह से प्रभावित होते होंगे। उदाहरणार्थ किसान, जहां तक उसकी आय का सम्बन्ध है इस परिवर्तन से पूर्णतया और बहुत शीघ्र प्रभावित होता है। खेती की सहायता करने की सरकारी नीति के अतिरिक्त भी, किसान जो वस्तु बेचता है, वृद्धि के समय ऊपर को और घटती के समय नीचे को बहुत शीघ्र उनका रुख हो जाता है। औसत से अधिक प्रभाव इसमें किसानों पर पड़ता है। पर किसान जिन वस्तुओं पर अपनी आय को व्यय करता है, उनमें से बहुत-से, तैयार माल होने के सबब बहुत कम परिवर्तित होते हैं। उधर उनका लगान बहुत कम परिवर्तित होता है और बन्धकी आदि पर वह जो ब्याज देता है उसमें तो कोई परिवर्तन कभी होता ही नहीं। इसलिए मूल्य-ह्रास के काल में सबसे कठिन प्रहार और मूल्य-स्फीति के काल में सबसे अधिक लाभ भी किसान को मिलता है।

शहरी मजदूरों की स्थिति विपरीत होती है। जो चीजें वे खरीदते हैं उनके मूल्यों की अपेक्षा उनकी आमदनी कम बदलती है। इस प्रकार मूल्य-ह्रास के जमाने में मजदूरी १० प्रतिशत गिरती है जब कि जीवन-निर्वाह-व्यय २५ प्रतिशत गिर जा सकता है। इस हिसाब से यद्यपि एक मजदूर केवल ९० पौण्ड पाता है जहां वह १०० पौण्ड पाता था, उसी ९० पौंड से वह इतना खरीद सकता है जितने के लिए १२० पौण्ड ($\frac{१००}{७५}$×९०) उसे खर्च करना पड़ता। एक मजूर जो अपने काम को नहीं छोड़ता है (और यह एक प्रधान बात है) इस प्रकार से मूल्यों के ह्रास से फायदे और मूल्यों के चढ़ाव से घाटे में रह सकता है।

जिस आदमी की आमदनी बंधी हुई है वह भी इसी तरह प्रभावित होता है पर और भी अधिक ऐसे ही आदमियों में वे लोग भी आते हैं जो ब्याज की आमदनी या पेंशन या वार्षिक भत्ता पर जीवन-निर्वाह करते हैं। अगर जीवन-व्यय रुपये में चार आना कम हो जाये तो ये लोग अपनी अपरिवर्तित नगद आय के मारफत पहले से तिहाई अधिक क्रय-शक्ति पा जाते हैं यानी दूसरे शब्दों में वे ३३$\frac{१}{३}$ प्रतिशत पहले से अच्छे हो जाते हैं। दूसरी तरफ़ जब मूल्य बढ़ते हैं तो निश्चित आयवालों को घाटा उठाना पड़ता है। यह बात स्थिर आय वालों के लिए तो है ही, पर साधारणत: समाज के लिए भी इसमें यही बात है। पावने का एक बड़ा भाग तो कभी भी बाकी ही पड़ा रहता है। इसमें से कुछ तो कारखाने, मकान, जहाज, रेलवे और हजारों अन्य विषयों जैसे उत्पादक कामों को अर्थ सहायता करने में 'आयकरी पूँजी' (remunerative capital) बनाते हैं। बचे हुए ऋण के शेष भाग व्यक्तियों अथवा सरकारों की अमितव्ययिता के प्रतीक हैं। दोनो तरह के न्यस्त ऋणों के बीच एक विभाजक रेखा भी खींची जा सकती है। "जीवित ऋण" (living debt) या पूँजी (capital) तो उस आयकर सम्पत्ति (remunerative assets) पर जाते हैं जिसको इन्होंने अपने सहारे खड़ा किया है। 'मृतभार ऋण' (dead weight debt) तो, जैसाकि इसका नाम ही बताता है, एक अपूरणीय भार के मानिन्द है। अब, हरबार, जब कि मूल्यों का औसत धरातल नीचे

जाता है, १०० पौंड से जो-जो सेवाएं या वस्तु हम खरीद सकते थे उनकी संख्या में वृद्धि हो जाती है। पूंजी लगाकर जो कारखाने बनाये गये वे वस्तु का कम उत्पादन नहीं करते, पर वे चीजें ही, मूल्य-ह्रास के कारण कम दामों में मिलने लगती हैं। इस प्रकार वर्ग की पूंजी पावना ऋण का एक छोटा भाग ही नौकरी पेशा लोगों के लिए एकत्र करती है और मृतभार ऋण का वास्तविक भार बढ़ जाता है। स्थिर आमदनी वाले आदमी का फायदा उसके ऋणदाताओं का नुकसान है। बहुत तीव्र गति से जो मुल्य-ह्रास होता है अथवा जो मूल्य-ह्रास बहुत विस्तृत क्षेत्र में होता है वह 'मृत भार ऋण' का भार बहुत बढ़ाता है और कुछ तो विस्तृत पैमाने पर दिवाला पास लाता है अथवा सामाजिक अशांति पैदा करता है। अन्य किसी तत्व की अपेक्षा यह तत्व ही इस चीज की शायद सब से अच्छी कैफियत है कि क्यों सम्पूर्ण इतिहास में प्रारम्भ से अबतक मूल्यों की गति ऊपर की ओर ही रही है। विलियम-द-कांकरर के समय ब्रिटेन में एक बुशल गेहूं का दाम छ पेंस था और वही १९३९ में द्वितीय महायुद्ध-प्रारम्भ के पूर्व ३ शि० ६ पेंस हो गया था। मूल्य-वृद्धि की यह हालत क्रम-क्रम से युग-युग के आधार पर हुई है और तभी समाज रक्त-शोषक महाजनों के चंगुल से बचा हुआ है। यह बात उस समय स्मरण रखनी चाहिए जिस समय 'ह्रासवान मूल्यों का ऋण दाताओं पर प्रभाव' विषय पर हम विचार करेंगे।

व्यापारी तो मूल्य-वृद्धि चाहता ही है। उत्पादन के प्रायः सभी प्रकारों में यह होता है कि कच्चा माल लेकर उसे तैयार माल बना कर निकाला जाता है। जब दाम गिरते रहते हैं तब उत्पादकों को कच्चा माल सस्ता मिलता है। पर उसका यह लाभ कुछ अधिक मात्रा में इस विचार से गायब हो जाता है कि असली 'बोझ' (उन वस्तुओं और नौकरियों के अर्थ में जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं) मजदूरी का, ब्याज का, टैक्सों का एवं अन्य स्थिर एवं अर्द्ध स्थिर करों का, बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त वस्तु-निर्माण में समय लगता है, और जब दाम गिरते रहते हैं तब उत्पादक यह सोचता है कि जिस समय तक उसका माल बनकर

निकलेगा उस समय तक उसके उस हिसाब की अपेक्षा उसके पदार्थों का दाम बहुत कम लगेगा जो उसने कच्चा सामान खरीदते समय जोड़ा था। भूमि, श्रम, पूँजी और सामान आदि अन्य विषयों सम्बन्धी देना दे देने के बाद जो कुछ बचे उसे लाभ कहते हैं। जब दाम बढ़ते हैं तो व्यवसायी को आपसे आप लाभ उन मदों से मिलता है, जिनकी कीमत औसत चाल से नहीं बढ़ती, पीछे रह जाती है। दाम जब गिर रहे हों तो वह व्यवसायी जो इस मूल्य-ह्रास के प्रभाव का आरोप अपनी सभी चीजों पर नहीं कर पाता, घाटे में पड़ता है।

मूल्य-ह्रास इसी कारण मजदूरी पर काम करने वाले तथा वेतन पर काम करने वाले दोनो के लिए अच्छा है जब तक वे अपने काम में लगे रहें। यह ह्रास ऋण देने वालों के लिए तथा उन सभी के लिए अच्छा है जिनकी आमदनी रुपये के हिसाब से स्थिर है। उधर दूसरी तरफ मूल्य-वृद्धि सभी कारबारियों के लिए और ऋण लेने वालों के लिये अच्छी है—खासतौर से यह उनके लिए जो प्राथमिक सामान का उत्पादन करते हैं। अगर हम मूल्य-ह्रास और वृद्धि के विषय में केवल इस दृष्टिकोण से विचार करें कि इन दो प्रकार के वर्गों में किसकी योग्यता अधिक प्राप्ति की है तो हम इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि मूल्य-वृद्धि से मूल्य-ह्रास ही अच्छा है। यह बात मुख्यतः उस विकास-क्रमापन्न समाज के लिए अधिक लागू है जिसके लिए मूल्य-ह्रास ही एक ऐसी युक्ति रह जाती है जिससे बंधी हुई आमदनी वालों को समाज की बढ़ती हुई समृद्धि में कुछ भाग प्राप्त हो।

किन्तु दुर्भाग्यवश सामाजिक न्याय ही ऐसा विषय नहीं हैं जिससे आर्थिक समस्याओं पर विचार होना चाहिए। मजदूर को मूल्य-ह्रास-युग में तभी लाभ हो सकता है जब कि उसका काम लगा रहे और आर्थिक इतिहास की यह एक प्रमुख शिक्षा हैं कि जब मूल्य-ह्रास का जमाना होता है तब भारी बेकारी भी फैलने लगती है और मूल्य-वृद्धि का युग भारी काम-काज से पूर्ण होता है फलतः उन दिनों बेकारी बहुत कम हो जाती है। वास्तव में मूल्य-ह्रास के साथ निठल्लापन और मूल्य-वृद्धि के साथ काम-काज की भीड़ का साथ लगा हुआ है।

मूल्य और कर्म-संकुलता के बीच का सम्बन्ध बहुत गहरा और निश्चित है—यह ऐसा है कि आर्थिक विषयों के सम्पूर्ण विस्तार में किसी दो अन्य विषयों के बीच इतना गहरा सम्पर्क और नहीं है। इससे यही कहने को जी चाहता है कि मूल्य की च ाऊपरी ही वह तत्त्व है जो कर्म-संकुलता के सम्बन्ध में ह्रास-वृद्धि लाती है। सचमुच, हम यह आसानी से देख सकते हैं कि कुछ ऐसे तरीके हैं जिनमें मूल्य की चल शक्ति से उत्पादन में भी चलता आ जाती है। व्यापारी एवं उत्पादक गिरते हुए दामों के समय क्रय कम कर देते हैं। इस समय की बिक्री के लिए वे अपने पुराने स्टाक को चलाते हैं और तब तक वे और स्टाक नहीं करते जब तक कि मूल्य-ह्रास का क्रम अपने तल तक नहीं आ जाता। इस तरह मूल्य-ह्रास के दिनों में उत्पादकों को बहुत कम आर्डर मिलते हैं। पर दाम नीचा से नीचा स्तर छू कर फिर जैसे ही ऊपर की ओर रुख करता है हर व्यापारी अपना स्टाक पूरा कर लेने की चेष्टा में लग जाता है और इसके पहले कि दाम बहुत ऊंची चाटी पर लगे, वह स्टाक कर लेता है। बहुत अर्से तक मंदी के बाद जैसे ही तेजी के प्रथम लक्षण आते हैं, उत्पादन में इसी कारण सहसा और अत्यधिक परिमाण में वृद्धि आ जाती है। यह एक ढंग हुआ जिसके द्वारा मूल्यों की चलायमानता उत्पादन और कार्य-संलग्नता के प्रवाह पर सामयिक प्रभाव डालती है। दूसरा ढंग नफा होने पर मूल्य में परिवर्तन होना है। यह बताया गया है कि साधारणतः मुनाफा मूल्य की वृद्धि में बढ़ जाता है और इसके ह्रास में कम हो जाता है। जब मुनाफा बहुत होता है तो उत्पादक न केवल अपने उत्पादन को इसके अंतिम छोर तक बढ़ाना चाहते हैं, प्रत्युत वे नयी-नयी फैक्टरियां खोलकर भी उत्पादन विस्तार के लिए तत्पर हो जाते हैं और इन कारखानों के बनाने और चलाने के लिए और आदमियों की आवश्यकता पड़ती है। इस तरह कार्य-संलग्नता बढ़ जाती है। परन्तु जब नफा घटने लग जाता है उस समय नये कारखाने खोलने या नये माल का आर्डर नहीं मिलता और वे उद्योग-धंधे जो इन कारखानों को साज-सामान देते हैं ह्रास-ग्रस्त होने लगते हैं।

इस प्रकार कई युक्तियां हैं जिन्हें पदार्थों की मूल्य-वृद्धि को कार्य-संलग्नता की ह्रास-वृद्धि के साथ जोड़ा जा सकता है। पर इसकी उलटी बात भी ऐसी ही सच है। मूल्य घटने का एक प्रचलित कारण कारबार की कमी है और मांग बढ़ जाने पर दाम बढ़ जाते हैं। मंदी किस तरह विभिन्न उद्योग-धंधों पर प्रभाव डालती है, उन तरीकों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है। जब समाज की साधारण समृद्धि कम हो जाती है (क्यों ऐसा होता है यह चीज इस पुस्तक में आगे चलकर बतायी गयी है) और पदार्थों का मूल्य घट जाता है उस समय उद्योग-धन्धे वाले अपने सामानों का मूल्य कुछ कम कर के भी अपना माल नहीं खपा पाते। उद्योग-धन्धों में मंदी निम्नस्तर-मूल्य की अपेक्षा बेकारी के रूप में अधिक आती है। पर किसानों में बेकारी का सवाल ही नहीं उठता। एक बार जब जमीन में बीज डाल दिये गये, तो उत्पादन को सीमित करना शायद शक्य नहीं है। जो कुछ उपज गया उसे खपाना ही पड़ेगा। इस प्रकार किसान के लिए उस समय भी उतना ही काम रहता है जितना पहले था। पर किसान को अल्प मूल्यता के द्वारा मंदी सताती है। अब किसान के घटे दाम उद्योग-धन्धों की बेकारी को घनीभूत करते हैं क्योंकि किसान अब उतना क्रय नहीं कर सकता। और उधर उद्योग-धन्धों की बेकारी खाद्यान्न की मांग को कम कर देती है और फिर पलट कर किसान को अपनी वस्तुओं का मूल्य घटाने को लाचार करती है। इस तरह कम दाम और बेकारी दोनो एक दूसरे के कारण और कार्य हैं। पर मूलतः तो दोनो ही उस स्थिति के प्रभाव हैं जिसके कारण मंदी प्रारम्भ होती है।

पिछले युग या उसके आस-पास तक अर्थशास्त्री अपना ध्यान बहुत अधिक मूल्यों पर लगाते थे और उन्हें वे ऐसा प्रेरणात्मक महत्त्व प्रदान करते थे जैसा उनमें है नहीं। पर अब शायद हमलोग इसी ढंग से इसकी उलटी बात सोचकर वैसी ही गलती कर रहे हैं। अब हमलोग कार्य-संलग्नता की ह्रास-वृद्धि पर बहुत अधिक बल देते हैं। पर मौलिक अर्थों में मूल्य और कार्य-संलग्नता ये दोनो कारण नहीं हैं, लक्षण हैं। हमलोग यहां इस पुस्तक के प्रथम भाग में जिस

मुख्य तत्त्व की चर्चा कर आये हैं उसी पर पहुँच गये हैं। पर अभी हमलोगों को केवल इतना समझ लेने की आवश्यकता है कि मूल्य और कार्य-संलग्नता दोनो साथ-साथ उठते-गिरते हैं। वे और भी भीतरी शक्तियों के ज्वार और भाटा (ebb and flow) के बाहरी लक्षण मात्र हैं।

व्यवसाय-चक्र

THE TRADE CYCLE

मूल्य और कार्य-संलग्नता के चलाचलत्व (movement of price and employment) का वर्णन करते हुए उन्हें 'ज्वार' और 'भाटा' (ebb and flow) कहना ठीक ही है। वे अस्तव्यस्त अथवा इतस्ततः दशा में नहीं, वरन् बिलकुल यथेष्ट नियम के साथ चक्राकार घूमते हैं। मूल्यों और कार्य-संलग्नता का बहुवर्ष-व्यापी अवरोहण जब समाप्त हो जाता है, तो उनका आरोहन प्रारम्भ होता है। इस तरह जब-जब दिशाएं बदलती हैं, तब वर्षों तक एक दिशा चलती रहती है। इसके अतिरिक्त एक चोटी से दूसरी चोटी तक, सम्पूर्ण चक्र की लम्बाई आश्चर्यजनक रीति से समान होती है। यह पांच साल से कम तो होती नहीं, या—जब तक कोई महायुद्ध बीच में न पड़ जाय—दस साल से अधिक भी नहीं होती। प्रायः ७-८ वर्ष इसकी अवधि होती है। किन्तु इससे भी अधिक काल तक इस चक्र की अवस्थिति की प्रवृत्ति होती है। व्यवसाय-चक्र की चूड़ा, कभी-कभी अपने पीछे आनेवाली चूड़ा से भी मूल्य-स्तर को ऊंचे पर चढ़ाती है। अन्य समयों में हर चूड़ा, पहले की चूड़ा से नीची होती है। यदि सम्पूर्ण चक्र का औसत निकाल कर मूल्यों का औसत निकाला जाय, तो पहले प्रकार की अवधि को मूल्य-वृद्धि का काल कह सकते हैं (यद्यपि इसके भीतर कुछ ऐसे भी समय होते हैं, जिनमें दाम गिरते हैं) और दूसरे प्रकार की अवधि को गिरते हुए मूल्यों का काल कहते हैं (यद्यपि इसमें भी कुछ समय में दाम चढ़ते ही हैं)। ऐसा जमाना युगों तक चलता है। उदाहरणार्थ उन्नीसवीं

शताब्दी में, १८२० से १८४९ तक का काल ऐसा था, जिसे इस हिसाब से मूल्य-ह्रास का काल कहेंगे। उसके बाद २५ वर्षों तक मूल्यों की वृद्धि का काल कहा जा सकता है, जो १८४९ से १८७४ तक चला। इसके बाद १८७४ से १८९६ तक का २२ वर्षों का समय, फिर मूल्य-ह्रास का समय रहा और अन्त में पुनः १८९६ से १९१४ तक अर्थात् प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ तक मूल्य-वृद्धि का युग आया। मूल्यों के इस चलाचलत्व को सामने के पृष्ठ पर बने रेखाचित्र में देखा जा सकता है। इसमें विभिन्न दीर्घावधि के औसत मूल्य-चलाचलत्व (price movement) को सीधी रेखा जोड़ कर अलग साफ-साफ दिखाया गया है। व्यवसाय-चक्र (trade cycle) का अल्पावधि ह्रास-वृद्धि चालू हो रहती है, चाहे दीर्घावधि चलाचल (long-term movement) का रुख ऊपर को हो या नीचे को, इसमें यह तत्त्व भी आसानी से देखा जा सकता है।

कार्य-संलग्नता और उत्पादन का चलाचलत्व ठाक उसी ढंग का नहीं है, जैसा कि मूल्यों का है। जहां तक व्यवसाय-चक्र के सम्बन्ध में कहा जाय, ये दोनो मोटे तौर पर चलाचलत्व करते हैं। ऐसे समय जब मूल्य गिरते हैं, तब कार्य-संलग्नता भी गिरती है और बेकारी फैलती है और जब मूल्य बढ़ते हैं, तो यह भी बढ़ती है। मगर २० साल से अधिक काल तक यह प्रक्रिया कभी नहीं हुई, जिस अवधि में दाम गिरते ही गये हों। इसके विपरीत उत्पादन की प्रवृत्ति तो क्रमिक ढंग से ऊंचे ही जाने की रहती है। अब जो होता है वह यह है कि मूल्यों के ऊपर की ओर जाने की दीर्घावधि-प्रवृत्ति (long-term tendency) के काल की अपेक्षा जब मूल्यों की दीर्घावधि प्रवृति नीचे जाने की रहती है, तब मन्दी और बेकारी के वर्ष अधिक और समृद्धि एवं कार्य-संलग्नता की प्रवृति कम रहती हैं। दोनो प्रकार की लम्बी अवधि में कुछ न कुछ तरक्की होती है, पर मूल्य जब बढ़ते हैं, तब इसकी गति अधिक तीव्र होती है।

इस तरह दीर्घावधि तथा अल्पावधि काल के मूल्य-परिवर्तनों के बीच एक तीव्र प्रभेद हो जाता है। हम लोग तो एक तीसरे प्रकार के मूल्य-परिवर्तन की बात भी
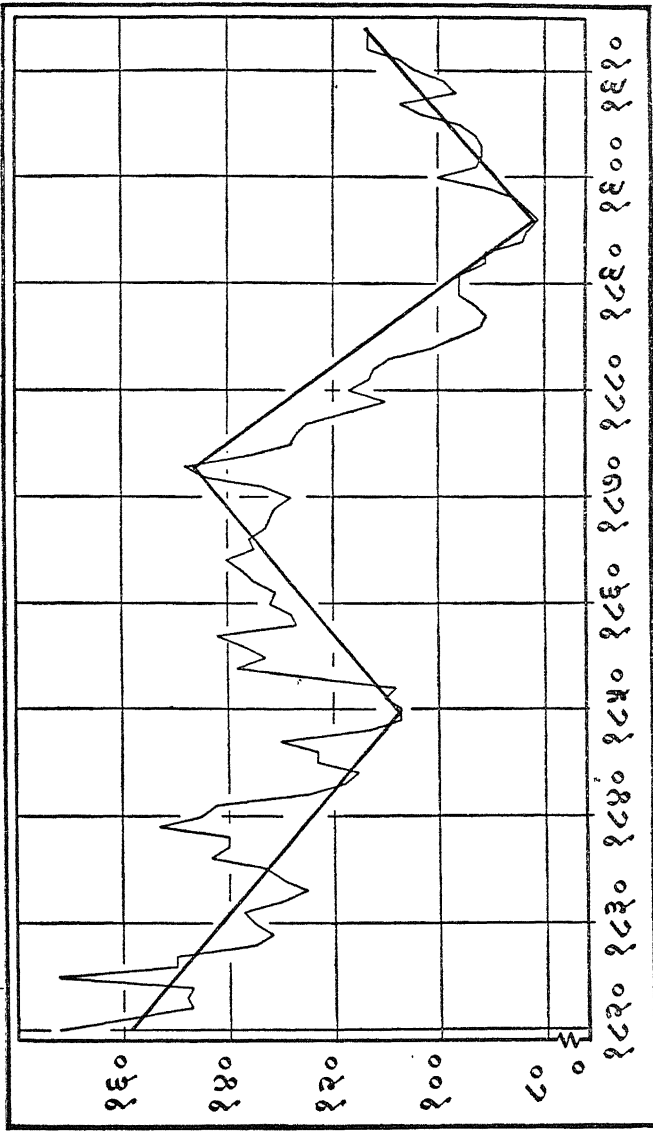
उन्नीसवीं शताब्दी में मूल्य-स्तर की घट-बढ़

[१०० = सन् १९००]

कह सकते हैं, जो और भी लम्बी अवधि का होता है—क्योंकि कभी-कभी ता शताब्दियों तक मूल्य-वृद्धि की परम्परा हा चला जाती हुई देखी गई है, जिसका कुछ दृष्टान्त पृष्ठ १२१ पर दिया गया है। मूल्यों का औसत प्राय: प्रत्येक शताब्दी में, जो एक के बाद दूसरी आती गई, ऊपर की ओर ही चढ़ता है। इस साधारण सिद्धान्त का एक भारी अपवाद सम्भवत: उन्नासवीं शताब्दी रहा है और (जैसा कि हमने पहले बताया है) यदि मुद्रा के मूल्य में धीरे-धीरे और अप्रत्यक्ष रूप से पतन, संसार को अपने ही बुने हुए आर्थिक शोषण के जाल से निकालने के लिए होना आवश्यक है तो हम यह भी कह सकते हैं, कि उन्नीसवीं शताब्दी में इस प्रकार का साम्प्रदायिक दोष इस कारण बच गया, कि इस काल में जन-संख्या एवं धन की वृद्धि का असाधारण अभूतपूर्व योग था। पूर्व-कृत ऋण-ग्रस्तता का भार यदि उन्नीसवीं सदी पर आकर नहीं पड़ता, तो इस भार को उठाने की वास्तविक योग्यता इस सदी में बढ़ गई थी।

इसलिए मुद्रा के मूल्य पर (मूल्य-स्तर पर) वास्तव में किसी भी काल में तीन तरह के शक्ति-समूहों का दबाव पड़ता है। पहला तो वह परम्परागत प्रवृत्ति है, कि मुद्रा का मूल्य गिरे। इसके ऊपर जमे हुए ऐसे युग हैं (पिछली शताब्दी में यह पता लगा है कि इनकी अवधि २० साल की होती है) जिन्हें हमलोग दार्घकालीन ह्रास-वृद्धि कहते हैं। इस तरह एक सम्पूर्ण दीर्घकालिक चक्र [(long-term cycle) जिसमें एक बार निम्न प्रगति होती है और एक बार उच्च] इस हिसाब से प्राय: आधी शताब्दी तक चलता है। तीसरा व्यवसय-चक्र प्राय: ७-८ साल का होता है। (कुछ ऐसा समय भी होता है जिसमें बेतरतीबी की नित्यप्रति प्रगति होती है, पर हमलोग इसका जिक्र छोड़ सकते हैं)। इन तीनो मूल्य-चलाचलत्वों में हर एक, किसी न किसी विशेष उद्देश्य के लिए प्रयोजनीय है। उदाहरण के लिए जब हमलोग आर्थिक नीति के अन्यतम उद्देश्य के विषय में बातचीत कर रहे हैं, तो हमलोगों को यह याद रखना चाहिए, कि संसार ने पूर्व में सदा यह आवश्यक समझा है, कि मुद्रा के मूल्य में समय-समय पर ह्रास होता रहे।

जब हमलोग ऋणी और महाजन के, मजदूर और लाभ-भोगी वर्ग के बीच की बात सोचते हैं, उस समय यही २५ वर्षीय प्रवृत्ति है, जिसको महत्त्व देना चाहिए। क्योंकि मूल्यों का अल्पकालिक चलाचलत्व बहुत शीघ्र परिवर्तित हो जाता है और मूल्यों की जो जावनव्यापी प्रवृत्ति (age-long tendency) है, वह मनुष्य के जीवनकाल में दृष्टिपथ में नहीं आ पाती।

पर व्यावहारिक नीति के उद्देश्य से व्यवसाय-चक्र की जो ह्रास-वृद्धि है, वही सब से अधिक महत्वपूर्ण है। इसके दो कारण हैं। प्रथम कारण यह है, कि बेकारी के लिए यही व्यवसाय-चक्र जिम्मेदार है और यही उन सारी सम्पत्ति और शक्ति-प्रदायिनी उत्पत्ति की बरबादी के लिए भी जिम्मेदार है, जिसका यह प्रतिनिधित्व करता है एवं अपने कारण जो सामाजिक उपद्रव यह पैदा कर देता है, उसके लिए भी इसे छोड़ कर अन्य किसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। और दूसरा यह कि अधिक दिनों का मूल्य-चलाचलत्व भी इसी व्यवसाय-चक्र पर ही आधार रखता है। जिस समय २५ वर्ष व्यापी मूल्य-वृद्धि का युग आता है, उस समय होता यह है कि व्यवसाय-चक्र की उन्नति कुछ अधिक दिन ठहरती है और कुछ तेजी से घूमती है। और जब मूल्य-ह्रास का कोई दीर्घकालीन युग आता है तो उद्धार की जो प्रक्रिया है उसमें मंदी के दिनों में मनुष्य जो कुछ गंवाता है वह फिर नहीं पाता। अगर हमलोग व्यवसाय-चक्र की प्रकृति और उसकी कार्य-रीति को समझ पाते तो हमलोग मूल्य-चलाचलत्व की दीर्घकालीन गति का कारण भी समझ जाते। आगे के कुछ अध्यायों में यद्यपि हम दीर्घकालीन गति को विस्मृत नहीं करेंगे परन्तु हमारा मुख्य ध्यान व्यवसाय-चक्र की अल्पकालीन गति पर ही केन्द्रित रहेगा।

निठल्लापन या मंदी और कार्याधिक्य अथवा तेजी का ज्वार-भाटा लगातार आता जाता रहता है सलिए हमलोग नहीं कह सकते कि अमुक स्थान से व्यवसाय-चक्र का प्रारम्भ है। परन्तु किसी विशेष प्रकार की तेजी के वर्णन में, इस सिलसिले को तोड़ कर किसी विशेष स्थान से प्रारम्भ करने की आवश्यकता

हो, तो वह स्थान शायद मंदी का सब से अन्तिम धरातल होगा, जिस समय मूल्य-स्तर ह्रास की सब से निचली सतह पर पहुँचा रहता है और बेकारी अधिक से अधिक रहती है। अगोचर रूप से इसी में प्रवृत्ति-परिवर्तन सहसा आरम्भ हो जाता है, मूल्यों का ह्रास रुक जाता है और वे उठने की ओर रुख करते हैं। उधर बेकारी या कर्महीनता भी समाप्त हो जाती है। यह परिवर्तन सहसा क्यों होता है इसपर हम आगे के अध्यायों में विस्तृत रूप से विचार करेंगे। अभी हमको यही जान कर रह जाना है कि ऐसा परिवर्तन होता है। एक बार जब यह प्रकृति आ जाती है, तो कई अन्य शक्तियां आकर उनमें योग देतीं हैं। मूल्य बढ़ रहे हैं, केवल इसी बात से यह समझ में आ जाता है कि मूल्य सबसे निचले तह तक पहुंच कर उस स्थिति को पार कर चुका है। अब जितने आदमियों ने बाजार से मुंह मोड़ा था और अपने स्टाक की पूर्ति के काम को स्थगित किया था, बाजार में पहुंचते हैं। उनकी मांग के कारण अब उत्पादन को प्रेरणा मिलती है और सहसा बढ़ी हुई मांग की पूर्ति के लिए अब बेकार आदमियों को भी काम पर लगाया जाने लगता है। मूल्य-ह्रास का अर्थ है लाभ का ह्रास, और इस ह्रास के अन्त से व्यापारियों को साहस होता है कि वे अपनी संचित सुरक्षित पूंजी से, या ऋण लेकर भी अपनी पुरानी योजनाओं और स्थगित आकांक्षाओं को काम में लाकर और भी निर्माण करें और कल-कारखाने अथवा नये-नये यन्त्रादि में अपना रुपया लगावें। इससे मकान बनाने के काम करने वालों तथा यन्त्र तैयार करने का काम करने वालों को काम मिलने लगता है और बेकारी घटती है। अब जिन आदमियों को पुनः काम मिलता है, उन्हें भी कुछ खर्च करना आवश्यक ही है, और उनकी इस आमदनी से उधर वस्त्र, भोजन एवं साज-सामान की मांग बढ़ जाती है। हजारों आदमी जो काम में तो लगे होते हैं, पर सम्पूर्ण मन्दी के दिनों में बहुत कम खर्च कर के रुपया बचाते हैं कि कहीं काम छूट गया तो क्या खायेंगे, अब मुक्ति की सांस लेकर खर्च करने लगते हैं। वे सोचने लगते हैं कि उनके मन में जिस प्रकार की बड़ी और सुन्दर कोठी उठाने के अरमान थे, उन्हें पूरा कर लेने में, अब कोई खतरा

नहीं है। इन सभी ढंगों से मांग बढ़ जाती है। मूल्य चढ़ने लगते हैं और बेकारी घटने लगती है। शीघ्र ही व्यवसायी यह देखने लगते हैं कि अब अपने कारखाने को न केवल ठीक से चलाने वरन् उसे बढ़ाने की भी आवश्यकता है, जिससे बढ़ी हुई मांग का सामना किया जा सके। इस प्रकार निर्माण का व्यवसाय करने वालों का काम और बढ़ता है, और इन व्यवसायों में जो अधिक आदमी लगते हैं वे और भी खर्च करने लगते हैं। हर नयी परिस्थिति बाढ़ की साधारण प्रवृत्ति में ही योग देती है। इस तरह व्यावसायिक पुनरुद्धार सामूहिक रूप से अग्रसर होता है। ये ही कारण हैं जिनसे एक बार प्रारम्भ किया हुआ पुनरुद्धार का कार्य वर्षों तक चलता चला जाता है।

फिर एक समय ऐसा आ जाता है जब कि यह पुनरुद्धार बन्द होता है, मूल्य-वृद्धि रुक जाती है और बेकारी का मिटना भी ठहर जाता है। अब ऐसा क्यों होता है, यह एक ऐसा सवाल है जिसका उत्तर हमें इस समय स्थगित करना है। पर जहां यह प्रक्रिया आ गयी कि जितनी शक्तियां इस क्षेत्र में काम कर रही थीं सब का रुख मुड़कर प्रतिकूल दिशा की ओर हो जाता है। अब जब मूल्य पुनः गिरते जाते हैं, व्यवसायी फिर क्रय रोक देते हैं और अपने स्टाक के लिए इस आसरे ठहरे रहते हैं कि भाव थोड़ा और गिर ले। इसके कारण आदमी पुनः कार्य-रिक्त होने लगते हैं और उसका आमदनी घटने लगती है तो उससे मांग का और ह्रास होता है। मूल्य-ह्रास-जन्य लाभ की न्यूनता के कारण व्यवसायी डर जाते हैं, बेकारी के कारण साधारण आदमी फिर घबड़ाहट में पड़ता है। दोनो ही अपने खर्चे झटपट कम कर देते हैं और ऐसी चीजों पर व्यय नहीं करते जिनकी अत्यन्त आवश्यकता न हो। यह प्रवृत्ति मुख्यतः भवन-निर्माण व्यवसाय पर चोट करती है—इसपर खास कर बुरी तरह से चोट पड़ती है—और उनकी बेकारी मूल्य-ह्रास की साधारण प्रकृति को और भी आगे बढ़ाती है। इस तरह पुनः एक बार हर चीजें उलटी दिशा में सहारा देने लगती हैं और मूल्य-ह्रास सामूहिक हो जाता है। पुनरुद्धार के समान व्यवसाय-ह्रास भी ऐसा वेग पकड़ लेता है कि बिना

बाबा के वर्षों चलता जाता है। विचित्र व्यवसाय-चक्र के वर्णन में यह संक्षिप्त और अपूर्ण चर्चा की गयी है। किन्तु हमलोगों का असली विषय व्यवसाय-चक्र की जगह यह है कि इसके भीतर मुद्रा की क्या भूमिका होती है। और इसी उद्देश्य से हमें व्यवसाय-चक्र के दो-एक और विशिष्ट ढंगों की चर्चा कर देनी आवश्यक है, न कि विस्तृत वर्णन करना।

ध्यान देने योग्य पहली बात यह है, और जैसा कि पीछे पता चलेगा, यह कुछ महत्त्वपूर्ण बात भी है कि यद्यपि व्यवसाय-चक्र हमारी आर्थिक रीति के अन्तर्भुक्त बड़ी प्रबल शक्तियों के द्वारा संचालित होता है, वह समय-समय पर मानव-कृत कर्मों से व्यतिव्यस्त भी हो सकता है। जैसे कि १९१४ के महायुद्ध ने पूर्ण वेग से चलते हुए व्यवसाय-चक्र को बाधा दी। मूल्यों का दीर्घकालिक रुख ऊपर की ओर था और १९१३ में थोक मूल्यों का सूचक अंक १८९६ के सूचक अंक के औसत से ४० प्रतिशत अधिक था—इस तरह प्रति वर्ष २ प्रतिशत से अधिक दीर्घकालीन वृद्धि का औसत था। युद्ध के तुरत पहले तक व्यवसाय-चक्र ऊपर का ओर ही जा रहा था। १९०८ और १९०९ में बेकारी बहुत थी पर इसके बाद के तीन वर्षों में इस दिशा में सुधार हो गया था और १९१३ का वर्ष कार्यकारिता के विचार से कागज-पत्रों के अनुसार सर्वोत्तम साल था। अपनी स्वाभाविक चाल से यह रुख १९१४ या १९१५ में पलटना चाहिए था पर युद्ध ने घटनाओं के स्वाभाविक क्रम को एकदम तोड़ दिया। बेकारी समाप्त हो गई और मूल्य इतनी तेजी से बढ़े कि १९२० की बसन्त ऋतु में १९१३ की अपेक्षा ये तीन गुने ऊंचे थे (उस समय के सूचक अंक के अनुसार)। यहां पहुंच कर वे नीचे खिसकने लगे और १९२२ में युद्धकाल के स्तर से प्रायः ड्योढ़े पर आकर ठहर गये। इस तरह १९१४ से लेकर १९२२ तक का काल जिसमें प्रचुरता और ह्रास दोनो का बारी-बारी से राज होना चाहिए था, अपना स्वाभाविक चाल से छिन गये। युद्ध-कालीन प्रचुरता और युद्धोत्तर ह्रास था तो सही पर दोनो में से कोई भी स्वाभाविक ढंग का नहीं था। सरकारी काम इस जमाने में

जिस विशाल पैमाने पर हुआ उसी ने व्यवसाय-चक्र की चाल को स्पष्ट रूप से परिवर्तित किया।

१९३९-४५ के युद्ध का भी ऐसा ही बाधक परिणाम रहा। १९३७ की गर्मियों में व्यवसाय-चक्र अपनी स्वाभाविक गति के सब से ऊंचे वेग में पहुंच गया था और इसके बाद एक मन्द ह्रास का रुख उसमें आ चुका था। पर यह ह्रास-क्रम साल भर का भी नहीं हुआ था कि इसमें शस्त्रीकरण कार्यक्रम के कारण बाधा आ पड़ी जो उस जमाने में युद्धकालीन स्तर पर चलाया जा रहा था और जिसमें युद्ध-कालीन व्यय की तरह से पानी की तरह रुपया बहाया जा रहा था। १९३८ के शरतकाल के अन्त में मूल्यों और कार्यसंलग्नता का वृत्त फिर ऊंचा चढ़ने लगा जब वह पूर्णतः युद्ध के आन्दोलन में पड़ गया। केवल जन-तन्त्रीय देशों में ही युद्ध के चलते एवं और भी अन्य शक्तिशाली प्रभावों द्वारा व्यवसाय-चक्र परिवर्तित हुआ हो, ऐसा नहीं है। राजा एवं अधिनायक-तन्त्र वाले देशों में भी, जहां सरकारी नियन्त्रण आर्थिक रीति के कार्य पर हावी होता है और आर्थिक विषयों में व्यक्ति की कार्य-स्वाधीनता लुप्त हो जाती है, व्यवसाय-चक्र का स्वाभाविक प्रवाह इसी तरह रुकता-सा शांति-काल में भा ज्ञात होता है। इन बातों से जो निष्कर्ष निकाला जा सकता है, वह यह कि यद्यपि व्यवसाय-चक्र का वेग बहुत शक्तिशाली होता है, तो भी यह सरकारी कार्यों से रुक सकता है अगर वे कार्य जरा विशाल पैमाने पर चलाये जायें।

दूसरा विषय जो ध्यान देने का है वह यह है कि व्यवसाय-चक्र की जो उर्ध्वगामी एवं अधोगामी गतियां हैं वे सभी विचार से एक रूप नहीं हैं—दूसरे शब्दों में वे बिलकुल ही समान नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, अधोगामी रुख या ह्रासगति सदा उर्ध्वगति या उद्धार के काल से कम अवधि की और छोटी होती आयी है। अधोगामी रुख मुश्किल से दो या कभी-कभी तीन साल से अधिक टिकता है जब कि उर्ध्वगति पांच-पांच साल तक चल सकती है। जैसा कि ब्रिटेन में व्यवसाय-चक्र का अन्तिम पूर्ण चक्र अधोगामी यात्रा में १९२९ के अन्तिम

तिमाही में चला और १९३१ के अन्तिम तिमाही तक यह प्रायः समाप्त हो गया, यद्यपि अन्तिम तल तक यह १९३२ के ग्रीष्म काल तक पहुंचा। पर उर्ध्वगति यद्यपि इसके बाद थोड़े विलम्ब से शुरू हुई बिना किसी रोक-छेंक के १९३७ के अधिकांश भाग तक चली गई (इस साल मार्च महीने में मूल्यों की अन्तिम चूड़ा पहुंची और सितम्बर तक उत्पादन की उच्चतम प्रगति)। इसके अतिरिक्त दोनो व्यवसाय-चक्रों की मोड़ में एक और भेद है। उर्ध्वगति या उद्धार का प्रायः किसी न किसी आर्थिक संकट के आगमन के साथ अन्त होता है और लगभग सर्वदा यह रुख-परिवर्तन तीक्ष्ण, स्पष्ट और अचानक होता है। पर दूसरी ओर जहां से उल्टी धारा बह पड़ती है वह स्थल उस समय दिखाई भी नहीं देता। ह्रास-क्रम धीरे-धीरे कम होता है और छितरा जाता है और तब बहुत धीरे-धीरे मूल्य और उत्पादन ऊपर की ओर चलने लगते हैं। व्यवसाय-चक्र की विचित्र शक्ल कुछ इस तरह की होती है—
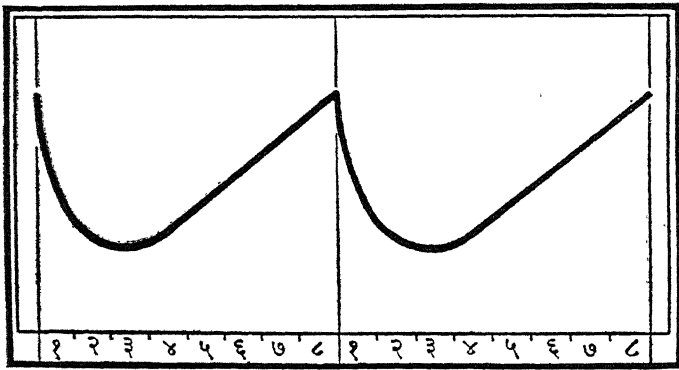
इन दो प्रकार के युगों में एक और भेद है और वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। उद्धार या उठान से ह्रास या पतन की अवस्था, न केवल समय में बल्कि ढंग में भी अधिक घनीभूत होती है। मूल्य और काम-काज दोनो एक साथ उतरते हैं और जल्दी उतरते हैं। पर उठान के काल में साधारणतः उठान-समय को हम दो

उपभागों में बांट सकते हैं। उठान प्रारम्भ होने के पहले या दूसरे वर्ष में मूल्य तेजी से नहीं प्रत्युत धीरे-धीरे ही ऊपर उठते हैं और उठान का प्रभाव अधिकतर उद्योग-धन्धों के विस्तार, प्रसार तथा उत्पादन-वृद्धि के रूप में दिखाई पड़ता है। परन्तु उठान-काल के अन्त के दिनों में जब कि उत्पादन को और बढ़ाना कठिन पड़ने लगता है क्योंकि फैलने की अन्तिम सीमा-रेखा तक किसी-किसी क्षेत्र में यह फैल चुका होता है, मूल्यों में बहुत तेजी से ऊंचे चढ़ने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। और तभी कभी-कभी उनपर से सट्टा या फाटका के भंवर में लोग पड़ जाते हैं जो उनलोगों को, जिनपर सट्टे या फाटके के जुए का नशा हो जाता है, हास्य-जनक ऊंचाई पर ले जाकर वहां से पटक देता है।

व्यवसाय-चक्र के सम्बन्ध में एक तीसरा विषय ध्यान देने योग्य है। पिछले पृष्ठों में हम कह आये हैं कि "मूल्य ऐसा करता है वा कार्य संलग्नता वैसा करती है"। पर इस अध्याय के प्रारम्भ में ही हम जो कुछ कह आये हैं उससे स्पष्ट है कि सभी मूल्य एक साथ नहीं बढ़ते। थोक मूल्य अधिक घटता-बढ़ता है, खुदरा कम, मजदूरी (श्रम का मूल्य) और भी कम घटती-बढ़ती है और इकरार या ठेके से निश्चित मूल्य एकदम चल-विचल नहीं करता। मूल्य के ढांचे की यह विकृति उन प्रभावों से उत्पन्न होती है जिनका वर्णन हो चुका है। और अब व्यवसाय-चक्र में एक परिवर्तन होता है जो सम्पूर्ण प्रक्रिया को उलट देता है एवं उलटे प्रकार की विकृतियां पैदा कर देता है। कुछ ऐसा ही विभिन्न उद्योगों द्वारा दिये गये काम-काज के क्षेत्र में होता है। इनमें से कुछ में जोरदार परिवर्तन होते हैं और किसी में कुछ सामान्य-सा होकर रह जाता है। ऐसा क्यों होता है, यह समझना आसान है। यह समझना कठिन नहीं कि खाद्योत्पादन के उद्योग-धन्धों में, अधिक नहीं, केवल १० प्रतिशत की कमी हो जाय तो भी यह समाज के लिए बहुत चिन्तनीय बात है। इसका अभिप्राय है कि उस समाज में जीवन की प्राथमिक आवश्यक सामग्रियों का अभाव गठित हो गया है। पर गृह-निर्माण सम्बन्धी उद्योग-धन्धों की पूर्ण बन्दी यद्यपि उस धन्धे में लगे हुए लोगों के

लिए कष्टप्रद है पर इससे समाज को हानि नहीं है। समाज एक-दो साल तक अपने वर्तमान मकानों में ही गुजर कर सकता है। युद्ध की अर्थनीति इस विषय पर अच्छी तरह प्रकाश डालती है। १९३९-४५ के युद्ध-काल में ब्रिटेन में खाद्य की खपत का परिमाण, राशन की सारी व्यवस्था रहते हुए भी, १० प्रतिशत से अधिक कम नहीं किया जा सका, पर मकान निर्माण का काम पूरे ५ साल तक बिलकुल बंद रहा और इस अनिर्माण और हवाई हमलों द्वारा हुए भीषण तोड़-फोड़ के परिणाम से भारी असुविधा उठ खड़ी हुई थी पर इससे वह विनाश नहीं उपस्थित हो सकता था जो खाद्य-पूर्ति में भारी कमी होने से हो जाता। इसलिए वे उद्योग-धंधे जिनके उत्पादन के विना भी आदमी का दो-एक साल चल सकता है, व्यावसायिक मन्दी के काल में अधिक हानि उठाते हैं। एकमात्र इसी कारण कि उनका क्रय साल-दो-साल के लिए स्थगित किया जा सकता है। परन्तु चूंकि सभी स्थगित क्रय पीछे चल कर एक बार पूरा करने की आवश्यकता होती है, इसलिए जब व्यावसायिक चलती का समय आता है, तो उन सबको मनुष्य एकबारगी पूर्ण करने की कोशिश करने लगता है। इसलिए इन उद्योग-धन्धों में सहसा तेजी के समय में ये उद्योग-धन्धे बहुत कमाते हैं। ये उद्योग-धन्धे अधिकांश में वे ही हैं जो टिकाऊ सामान बनाते हैं, (वे सामान जो साधारणतः दो-तीन साल तक चल जाते हैं) और आगे चल कर हमारे सामने यह बात आयेगी, कि व्यवसाय-चक्र की प्रवृत्ति को समझने के लिए एक कीमती कुंजी यह है कि वह टिकाऊ सामान बनानेवाला उद्योग-धंधा ही है, जो बहुत अधिक ह्रास-वृद्धि का शिकार होता है।

व्यवसाय-चक्र के वर्णन में जो कुछ कहा गया है, उसके बाद अब यह लिखने की आवश्यकता नहीं रह जाती, कि यह आर्थिक व्यवस्था को कितना बिगाड़ता है। मन्दी के कारण जो हानियां होती हैं, वे प्रकट हैं। एक ओर तो लज्जाजनक बेकारी और उसके साथ लगी हुई विपत्तियां हैं—व्यक्तिगत गरीबी और सामाजिक अशान्ति इसी के कारण होती है। दूसरी ओर व्यर्थ लगा हुआ एवं नष्ट

होने वाला धन और श्रम है, जिसके कारण धन की हानि होती है। उधर तेजी के कारण जो हानियां होती हैं, वे उतनी प्रकट नहीं हैं। पर सच्चे अर्थ में तो तेजी के ही कारण मन्दी पैदा होती है। इस सचाई का एक दृष्टान्त इस बात से लिया जा सकता है (जिसकी चर्चा अभी का गयी है) कि भीषण ह्रास-वृद्धि के कारण उन उद्योग-धन्धों को बड़ा नुकसान होता है, जो टिकाऊ माल बनाते हैं। मानलें कि कई वर्षों तक समाज को २ लाख मकानों की वार्षिक आवश्यकता है और एक घर बनाने में एक आदमी को साल भर लगता है। इस तरह इस उद्योग-धंधे में २ लाख आदमियों की स्थायी आवश्यकता है। पर व्यवसाय-चक्र के परिवर्तन के कारण, समाज से २ लाख मकानों के लिए स्थिर वार्षिक आर्डर नहीं मिलते। मान लें, कि तीन साल तक केवल १ लाख मकानों की ही मांग प्रतिवर्ष होती है, इसके बाद तीन साल तक २ लाख मकानों की, और ८ साल के व्यवसाय-चक्र के भीतर ६ साल निकल जाने पर अन्तिम २ साल तक मानो ३½ लाख मकानों का आर्डर प्रतिवर्ष मिलता है। मांग की इस स्फीति की पूर्ति के लिए इस धंधे में अन्तिम दो साल तक ३½ लाख आदमियों को लगना पड़ेगा। पर इस ३½ लाख की संख्या में से १½ लाख तो ६ साल तक बेकार हो रहे और १ लाख तीन साल तक। ऐसा हर एक अष्टवर्षीय चक्र में होता है। इस तरह इन आठ वर्षों में औसत बेकारी इस कारबार में ४३ प्रतिशत होगी। व्यावसायिक उफान के वर्षों में जितने कम आदमी इस धंधे में लगेंगे, मन्दी के दिनों में उतने ही कम आदमी बेकार होंगे। इसी तरह अन्य भागों से भी तेजी के समय की अधिकता मन्दी के समय अपना कसर निलाकती है।

यह बात बहुत सत्य है कि मानव के सम्मुख तीन विशाल प्रश्न हैं और उनमें से एक का भी समाधान यदि ठीक से हो जाय, तो उससे मनुष्य जाति का सुख बहुत बढ़ जाय और अगर किसी का भी बिलकुल समाधान ही न हो, तो मनुष्य जाति विनष्ट हो जाय। ये तीन विषय ये हैं—(१) राज्य अथवा राज्यों के बीच की सशस्त्र लड़ाई, (२) इस बात की निश्चितता कि संसार में मानव-

प्रजनन इतना बना रहे कि यह जाति जीवित रह सके, और (३) व्यवसाय-चक्र रोका जा सके। इसमें अन्तिम जो समस्या है, वह मामूली नहीं है।

स्फीति और विस्फीति

INFLATION AND DEFLATION

यह अध्याय मुख्यतः वर्णनात्मक बनाया गया है। हमलोग, इसके पहले कि विश्लेषण में लगें, दो अत्यन्त दुर्व्यवहारित एवं अत्यन्त प्रचलित शब्द हैं, जिनकी व्याख्या हो जानी चाहिए। ये दोनो शब्द 'स्फीति' और 'विस्फीति' हैं। प्रायः हर लेखक इन शब्दों की अपना ही परिभाषा रखता, है जिसका नतीजा यह होता है कि भारी गोलमाल पैदा हो गया है। इसी कारण कोई भी परिभाषा ऐसी नहीं है, जिसके विषय में यह दावा किया जा सके कि वह आधिकारिक परिभाषा है। परन्तु सबसे सरल और सबसे उपयोगी परिभाषा यह लगती है, कि 'स्फीति' वह स्थिति है जिसमें रुपये का मूल्य गिरता रहता है अर्थात् पदार्थों के मूल्य बढ़ते रहते हैं। 'विस्फीति' तब उस अवस्था को कहेंगे जिसमें रुपये का मूल्य बढ़ती पर रहता है अर्थात् चीजें सस्ती होती हैं। ध्यान देना चाहिए कि दोनो शब्द मूल्य की गति से सम्बन्ध रखते हैं—अर्थात् वे मुद्रा सम्बन्धी शब्द हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया, 'स्फीति' में कार्यकारिता तथा कार्य-संलग्नता की वृद्धि होती है और 'विस्फीति' में इसका उलटा होता है। किन्तु यह विवरण पूर्ण नहीं है। यहां संभव है कि कार्यकारिता की वृद्धि और कार्य-संलग्नता की भीड़ [जिसको हमलोग 'उद्धार' (recovery) नाम दे सकते हैं] स्फीति के बिना भी हो, और वह स्फीति पुनरुद्धार रहित हो। उसी तरह यह संभव है कि 'विस्फीति' के बिना भी मंदी आ जाती है और मंदी के बिना भी कभी-कभी विस्फीति होती है। परन्तु इन दोनो तत्त्वों का पृथक्करण बहुत विरल होता है।

युद्ध-काल के दिनों में 'स्फीति' को बड़ा कुयश मिला। यह मुख्यतः इस कारण हुआ कि किसी-किसी देश, उदाहरणार्थ जर्मनी, में मूल्य-वृद्धि बिलकुल अधि-

कार के बाहर चली गयी। मूल्य मानो दौड़ कर बढ़ने लगे, यहां तक कि एकाध समय युद्धकाल के स्तर से वे दस-दस लाख गुने होकर रहे। इसी दशा को "उद्धार विगत स्फीति" (inflation without recovery) कहते हैं, जिसके भीतर बदला छिपा हुआ है और जैसा यूरोप के लोगों ने अत्यन्त दुख के साथ यह देखा कि इस स्थिति ने समाज की सुविधा पूर्ण स्थिति ही विनष्ट कर दी। किसी भी प्रकार की सम्पत्ति या आय जिसका मूल्य स्थिर हो या मुद्रा सम्बन्धा अनुपात जिसका स्थिर हो—बन्ध, बीमा की पालिसियां, तमस्सुक, पेन्शन, बचत, वेतन आदि सभा इस स्फाति-काल में एक ही रात में अपना निश्चित मूल्य गंवा देते हैं। इस स्फीति के कारण जर्मनी में हजारों-लाखों घर उजड़ गये। नाजी क्रान्ति जो जर्मनी में सफल हो गई, उसमें यह कारण था कि उस देश के मध्यमवर्ग का इस संसार में पड़कर एक प्रकार से उच्छेद ही हो गया। इस प्रकार की 'स्फीति' ने इतना आतङ्क फैलाया कि समस्त यूरोप में उसे एक आर्थिक प्रलय (economic bogy) माना जाने लगा, जो ऐसी आर्थिक दुरवस्था का नाम है, जिससे किसी भा तरीके से बच जाने का उपाय होना चाहिए। इसलिए ऐसी अप्रिय स्मृति को बचाने के अभिप्राय से, यह रीति बन गई है, कि साधारण व्यवसाय-चक्र के ऊपर की ओर चढ़ाव के समय जो आर्थिक स्थिति पैदा होती है उसको अंगरेजी में स्फीति (inflation) न कह कर संस्फीति (reflation) कहते हैं। इस समय हम मूल्य-वृद्धि को यही समझते हैं कि वह उस स्थिति का नाम है, जिसमें मूल्य बढ़ कर वहां पर आ जाते हैं, जहां से वे विस्फीति प्रारम्भ होने पर नीचे उतरे थे अर्थात् जिसे पूर्वस्थान-प्राप्ति कहेंगे। इसके बाद जो मूल्य बढ़े तो उसको स्फीति नाम देंगे। अध्याय ५ में हम इस विषय पर और भी स्पष्ट विभेद बतायेंगे। १९४७ साल के दौरान में करीब-कराब ठाक उलटी स्थिति उत्पन्न हो गई और यह आवश्यक हो गया कि कोई ऐसा शब्द ढूंढ़ निकाला जाय, जिससे स्फीति के पश्चात् चलने की अवस्था को नामांकित किया जा सके—उस अवस्था को जो पूरा-पूरा विस्फीति की सीमा तक नहीं पहुंची हो। इस काम के लिए 'अस्फीति' (disinflation) शब्द का प्रयोग किया गया।

चौथा अध्याय

मुद्रा का परिमाण

THE QUANTITY OF MONEY

आनुपातिक विनिमय

THE EQUATION OF EXCHANGE

पिछले अध्याय में मुद्रा के मूल्य की परिभाषा की गई है। यह भी वर्णित हुआ है, कि इसके मूल्य में समय-समय पर ह्रास-वृद्धि होती रहती है और यह भी बताया गया है, कि इन परिवर्तनों से क्या-क्या परिणाम निकलते हैं। अब मुद्रा की मूल्य-वृद्धि के कारणों का विश्लेषण करना चाहिए।

किन्तु पदार्थ का मूल्य उस पदार्थ की मांग (demand) और उसकी पूर्ति (supply)के बीच जो सम्बन्ध रहता है, उसपर निर्भर करता है। मुद्रा इस विषय में अपवाद है। मुद्रा अपवाद केवल इसी बात में है, कि इसके मूल्य की ह्रास-वृद्धि किसी एक ही प्रकार की वस्तु के मूल्य-परिवर्तन से नहीं ज्ञात होती, परन्तु सभी वस्तुओं के सामूहिक मूल्य-परिवर्तन से इस स्थिति का पता चलता है। मुद्रा की मांग अगर बढ़ जाये और उसीके अनुसार यदि उसकी पूर्ति न हो तो इससे इसका मूल्य बढ़ जायगा अर्थात् साधारण मूल्य-स्तर गिरेगा। उसी तरह मुद्रा की पूर्ति का विस्तार हो जाय और इसकी मांग न हो तो उसका मोल घट जायगा अर्थात् पदार्थों के साधारण मूल्य-स्तर में वृद्धि होगी।

बात तो यहां तक स्पष्ट है। पर मुद्रा की मांग क्या है और इसकी पूर्ति क्या है ? यह प्रश्न रह गये। पूर्ति क्या है, यह समझना सरल है। पर किसी विशेष समय में मुद्रा की पूर्ति का मतलब उन रुपयों की पूरी संख्या से है, जो उस समय चालू रहते हैं। स्मरण होगा कि प्रथम अध्याय में यह बताया गया

है कि मुद्रा केवल सिक्के एवं नोट ही का नहीं कहते, वरन् उन सब पदार्थों को कहेंगे, जो आर्थिक देन-लेन के भुगतान में स्वीकार किये जायँ। मुख्यतः इस अंतिम श्रेणी में बैंक की डिपाजिट को रखा जाता है। सभी कार्यों के लिए मुद्रा का मतलब इसलिए यह हुआ कि "सिक्के+बैंक-नोट+बैंक-डिपाजिट (बैंक-डिपाजिट में इस मतलब से केवल 'चालू खाता' की गिनती होती है, जिसपर चेक काटे ज़ाते हैं)। इसलिए मुद्रा की पूर्ति का अर्थ इन तीना प्रकार की मुद्राओं का संयोग है। दिसम्बर १९४६ में ब्रिटेन की जनता के पास तीनो प्रकार की मुद्राओं का (बैंक की अपनी रकम छोड़ कर) १३५०० लाख पौंड के नोट और ३७५०० लाख पौंड के सिक्के चालू खाते में थे। इस तरह कुल मुद्रा की जोड़ का परिमाण ५१००० लाख पौंड था।

सभी समय के लिए मुद्रा का परिमाण यह हुआ। पर यदि हम जानना चाहें कि विशेष समय में मुद्रा की पूर्ति क्या है—मान लें कि एक साल के अंदर—तो एक दूसरा ही तत्त्व इसके बीच आयेगा। मुद्रा की प्रत्येक संख्या बार-बार व्यवहृत होती है। सिक्के तो बड़ी तेजी से घूमते-फिरते हैं, औसत से यह एक आदमी की पाकेट में दो-चार दिनों से अधिक नहीं रहते। बैंक-नोट इससे कम तेज घूमते हैं, पर वे भी साल के अन्दर कितने ही हाथों की फेरी लगाते हैं। इसी तरह हम बैंक-डिपाजिट को भी घूमने वाला कह सकते हैं, यद्यपि इस भाव में कुछ अधिक कल्पना की आवश्यकता होती है। पर सन् १९३० में (हम यों ही एक साल लिये ले रहे हैं) बैंक के हिसाबों में से सम्पूर्ण अदायगी का योग—उन बैंकों के संबंध में जो लंदन के निपटारा-घर केस दस्य थे—६४,७४०,९६७,०००पौंड हुआ था। और चूंकि उस साल सारे चालू खातों का औसत योग ९२०,८००,००० पौंड ही था, इसलिए यह स्पष्ट है कि डिपाजिट खाते का एक-एक पौंड साल भर में औसत से प्रायः सत्तर हाथों में घूमा-फिरा। यदि हम यह जानना चाहें कि सालभर की अदायगियों में कितने रुपय का व्यवहार हुआ है, तो इसका जवाब चालू मुद्रा का सम्पूर्ण योग, गुणा उतनी बार, जितनी बार इसने सालभर के भीतर

हाथ बदले। इस पेचीदे उत्तर को संक्षिप्त रूप में यों कह सकते हैं। वर्तमान रुपये के सम्पूर्ण योग को हम लोग सरल तौर पर 'मुद्रा का परिमाण' कह सकते हैं और इससे भी अधिक संक्षेप करने के लिए हमलोग इसके लिए **मु** का संकेत दे सकते हैं। एक साल के अन्दर औसत से जितनी बार हर प्रकार की मुद्रा की एक-एक संख्या हाथ बदलती है, उसको हमलोग 'भ्रमण-प्रवाह' (velocity of circulation) कह सकते हैं, या और अधिक संक्षेप करें तो उसे **भ्र** (क) का संकेत दे दें। इन संकेताक्षरों के बाद अब कहा जा सकता है, कि किसी समय मुद्रा की पूर्ति है **मु** और सालभर में यही पूर्ति **मुभ्र** है।

अब हमलोगों को मुद्रा की मांग पर ध्यान देना चाहिए। मुद्रा की मांग खास मुद्रा के लिए नहीं होती; बस उसे लोग इसलिए चाहते हैं कि उससे अन्य काम लिया जाये, विशेषत: उससे विनिमय-माध्यम का काम लिया जाता है। मतलब यह है कि इसे दूसरे के हाथों दे देने के लिए ही सहेजा जाता है। इसलिए समाज एक वर्ष की अवधि के भीतर रुपये से जितना काम करना चाहता है, वह उसके व्यवहार की संख्या है। इस भाव में रुपये की मांग कोयले की टोकरी

(क) हर प्रकार की मुद्रा का अपना अलग भ्रमण-प्रवाह होता है। उदाहरणार्थ ऊपर बताया गया है कि १९३० में बैंकों के चालू खाते की रकमों ने औसत से ७० बार साल भर में हाथ बदले। सिक्के की भ्रमणशीलता इससे अधिक होती है। कोई कारण नहीं कि सिक्के की भ्रमणशीलता का हिसाब देते हुए हम यह क्यों न निकाल सकें कि प्रतिमास कितनी बार और प्रति दिवस कितनी बार, पर यह जोड़ने के लिए सबसे सुविधापूर्ण अवधि वर्ष ही है ठीक उसी तरह जैसे गति की माप बताने में प्रति सेकेंड इतनी फीट कहने की अपेक्षा प्रति घंटा इतना मील रिवाज है। इसी तरह मुद्रा की भ्रमणशीलता बताने के लिए भी अनेक प्रकार हैं। और इनमें से बहुत-से विशिष्ट अभिप्रायों से उपयोगी हैं। पर 'भ्रमण-प्रवाह' शब्द का जिसको किसी विशेष उद्देश्य से न प्रयुक्त किया जाय तो उसका तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार की मुद्राएं सालभर में कितने प्रकार से हाथ बदलती हैं।

है, काम के घंटे हैं, रोटी की संख्या है एवं ऐसे ही हजारों प्रयोजनीय पदार्थ हैं, साल के अन्दर जिनकी कीमत रुपये द्वारा चुकाई जाती है।

मांग और पूर्ति के हिसाब को एक सहज सरल समानुपात के रूप में रखा जा सकता है। जब कोई चीज बिकती है, तो वह कुछ रुपयों से बदली जाती है। हम कह सकते हैं कि इसका मूल्य उस रुपये के बराबर है। अब अगर हम सालभर के अन्दर बिकनेवाली सभी चीजों की एक सूची बनालें, तो भी यह कहना सच ही होगा कि जितनी चीजें बिकी हैं, उनकी कीमत उन रुपयों के योग के बराबर है, जो बदले में दिये गये हैं।

दिये गये रुपयों की जोड़=बिकी हुई चीजों की कीमत की जोड़।

हमलोग मान आये हैं कि रुपयों की जोड़ **मुभ्र है**। इसी तरह बिकी हुई चीजों के दाम की कुल रकम को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक टुकड़े में कुछ पदार्थों और कुल श्रमों के परिमाण को रखा जाता है (जिनकी गणना टनों, गैलनों, समय के घंटों, गजों और उच्चारित शब्दों आदि में की जाती है) और दूसरे टुकड़े में मूल्य के परिमाण को रखते हैं, जिसमें इन सभी चीजों की कीमत लगती है। इस तरह, बिकनेवाली वस्तु यदि कोयला ही होता तो इस समानुपात के दाहिने हाथ पर हम कोयले के टनों को रखते और उसको प्रति-टन मूल्य से गुणित करते। वास्तविकता के क्षेत्र में इसमें व्यवसाय की आकारिक परिभाषा को (एक भाव जिसे सोचना आसान है, पर जिसको व्यवहार में लाना कठिन है) लिया जाता है और साधारण मूल्य-स्तर को। अब इस पिछली चीज को अपने द्वारा दिये गये सांकेतिक अक्षरों में हम **प** रख लें और पहले को **ट** कहें। तब हमारा सामानुपातिक हिसाब यह आया—

मुभ्र=पट

विनिमय का यह सामानुपातिक सिद्धान्त मुद्रा सम्बन्धी सर्वमान्य हिसाब है।

यह ध्यान देने का विषय है कि इसमें क्या है और क्या नहीं है। "किसी चीज के (और इसी कारण सभी चीजों के) बदले दिये गये रुपये उस वस्तु का

मूल्य है" कहने का यह एक दूसरा ढंग है। यह समानुपात हिसाब हमलोगों का रुपये अथवा मूल्य के सम्बन्ध में कोई नयी बात नहीं बताता। यह केवल स्पष्ट और संक्षिप्त रूप में वह बात सामने रखता है जो सच्ची है। विशेषतः यह हिसाब कारण और उसका परिणाम नहीं बताता। यह, क्या हुआ है केवल यही बताता है। फिर भी इससे कुछ बातें बाहर की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए मान लो किसी साल अपने पिछले साल की अपेक्षा मूल्य दूने हैं। अब सामानुपातिक हिसाब हमें यह बताता है कि तीन में से एक बात (या तीनो संयुक्त) इसमें अवश्य हुई होगी; या तो (१) रुपये का परिमाण दूना हो गया होगा या (२) भ्रमण-प्रवाह दूना हो गया होगा अथवा (३) कारबार का परिणाम आधा हो गया होगा। अब मूल्य की वृद्धि व्यवसाय-चक्र के पुनरुद्धार प्रकरण में ही होती है जब कि प्रकटतः काम-काज का परिमाण कम नहीं होता। इसलिए व्यवसाय-चक्र द्वारा कृत मूल्य-वृद्धि निश्चय ही या तो मुद्रा के परिमाण की वृद्धि अथवा भ्रमण-प्रवाह की वृद्धि अथवा दोनो को साथ-साथ लिये आती है। यह समानुपात सिद्धान्त हमें यह नहीं बताता कि किस कारण क्या होता है। इसी प्रकार जब मूल्य गिरते हैं तो प्रायः यह व्यवसाय के आकार की अभिवृद्धि के कारण नहीं होता। इसके बदले मूल्य-ह्रास की बहुतेरी अवधियों में व्यवसाय की तेजी का युग भी रहता है। इसलिए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ह्रास-मान मूल्य या तो रुपये के परिमाण के ह्रास से सम्बन्धित होता है अथवा भ्रमण-प्रवाह के साथ संलग्न होता है या दोनो के साथ। यानी इस समानुपात सिद्धान्त के रुपये की ओर वाले अंकों में कुछ हेरफेर के कारण ऐसा होता है।

मूल्यों की दीर्घावधि ह्रास-वृद्धि की दशा में जो २० साल या उससे अधिक काल तक रहती है हमलोग कारण और कार्य के विश्लेषण में और भी अग्रसर हो सकते हैं। व्यवसाय-चक्र के मध्य यद्यपि व्यवसाय के परिमाण की बहुत अधिक घट-बढ़ होती है। युगों का औसत निकालने से इसमें यथेष्ट सुनिश्चित उन्नति देखने में आती है। इसी तरह मुद्रा-चलनशीलता की गति, जो जनता के व्यय के

अभ्यास पर निर्भर करती है, एक व्यवसाय-चक्र से दूसरे के बीच बहुत धीरे-धीरे परिवर्तित होती है, यद्यपि एक ही चक्र के भीतर इसमें बहुत अधिक परिवर्तन होता है। यद्यपि **भ्र** और **ट** दीर्घाविधि में औसत से अधिक परिवर्तित नहीं होते, तो भी औसत मूल्य एक समय का दूसरे समय से बहुत अधिक ऊंचा या नीचा रहे तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि **प** की गतिशीलता को **मु** की वैसी ही गतिशीलता से अवश्य ही साथ रहा होगा। दूसरे शब्दों में, दीर्घावधि के औसत हिसाब में **मु** और **प** में सामानुपातिक हिसाब के स्पष्ट तत्त्व रहते हैं।

इसके अतिरिक्त हमलोग इसका अनुमान कर सकते हैं कि किस कारण क्या होता है। सन १८२० और १९१४ के ९६ वर्षों के बीच मूल्य-स्तर में ६ बार स्पष्ट परिवर्तन हुए। इसका हिसाब पृष्ठ१२७ पर देखा जा सकता है। इस सम्पूर्ण अवधि में मुद्रा का सम्बन्ध सोने से घनिष्ठ था। आज के १० शिलिंग और १ पौंड के नोट के स्थान पर पहले सोने के सिक्के ही थे। इस कारण मुद्रा के क्षेत्रों में बैंक-नोट का जितना प्रमुख स्थान आज है उन दिनों उतना न था। और जो बैंक-नोट प्रचलित भी हुए थे वे बैंक ऑफ इंगलैंड के सुवर्ण-कोष के परिमाण के अनुसार थे। बैंक के डिपाजिट भी अध्याय दो में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार होने के कारण सुवर्ण-संचय से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे। इस तरह देश में जितना रुपया था वह उस देश में संचित सुवर्ण का ही आश्रित होता था और उसी पर उसके आकार की निश्चितता होती थी।

ऊपर कहे गये मूल्य-चलायमानत्व के चार पर्वों में यह बात स्पष्टतः देखी जा सकती है कि उनका कारण उस युग में प्राप्तव्य सुवर्ण-राशि से प्रभावित है। उनमें जैसे परिवर्तन हुए वैसे ही परिवर्तन मुद्रा-राशि में भी हुए। प्रथम पर्व में जो १८२० से आरम्भ होकर १८४९ तक जाता है, ग्रेट ब्रिटेन में व्यवसाय का आकार तो तेजी से बढ़ रहा था पर सुवर्ण-प्राप्ति का कोई नया सूत्र उसके हाथ नहीं लगा था। देश के भीतर की सुवर्ण-राशि जो मुद्रा के परिमाण को नियंत्रित करती थी, कारबार के विस्तार के मुकाबले में कम बढ़ रही थी। उस समय का मूल्य-ह्रास

सुवर्ण का अभाव नहीं करता था, वरन निश्चित रूप से, सोने की कमी मूल्य-ह्रास का कारण बनी थी।

यह निदान इस बात से सिद्ध हुआ लगता है कि १८४९ साल में मूल्यों की एक नयी मोड़ का पता लगता है और संयोग ऐसा है कि इसी साल कैलिफोर्निया और अस्ट्रेलिया में नयी-नयी सोने की खानें निकली थीं। इसके बाद के २५ साल तक कारबार का जो विस्तार हो रहा था, उसके मुकाबिले सुवर्ण-कोष अधिक तेजी से बढ़ रहा था। परिणामतः मूल्य-स्तर ऊंचा उठ गया। किन्तु फिर सन् १८७३ के बाद सोने का वार्षिक संचय कम होने लगा। इसके अतिरिक्त इन्हीं दिनों कुछ देश, जिनमें जर्मनी और अमेरिका मुख्य हैं, अपनी मुद्रा को सुवर्ण के आधार पर स्थापित करने की चेष्टा करने और इसी उद्देश्य से सुवर्ण संचय करने लगे। (क) सुवर्ण-बाजार में प्रतिद्वन्दिता आ गई थी। उधर सोने की वार्षिक उपज कम होने लगी। इसका फल यह हुआ कि इंग्लैण्ड में जितना सोना संचित था उसकी राशि उतनी ही तेजी से बढ़ने में पिछड़ गई जितनी तेजी से उसके कारबार और वाणिज्य-व्यवसाय बढ़े थे। (ख) नतीजा यह हुआ कि मूल्य-स्तर गिर गया। सन् १८९६ में इस प्रक्रिया और प्रवृत्ति में एक बार पुनः परिवर्तन घटित हुआ। और यह परिवर्तन पुनः इस बात से मेल खा गया कि सोना निकालने की रीति में नये सुधार और दक्षिण अफ्रिकी रैंड (South African Rand) में सोने की नई-नई खानों के आविष्कार के कारण सोने के उत्पादन में बहुत वृद्धि हुई। सन १८९६ से लेकर १९१४ तक के १८ साल के युग में जितना सोना निकाला गया वह सन् १८०० से लेकर १८५० तक के ५० साल के उत्पादन से ४ गुना अधिक था। और संसार के विभिन्न देशों

(क) सुवर्ण-मान क्या है इसका वर्णन अध्याय ९ में किया गया है।

(ख) सोना प्रायः ऐसी धातु है जो बरबाद नहीं होती। इसलिए किसी साल सोने का उत्पादन कितना है इसपर उसकी प्राप्ति स्वल्पतम परिमाण में ही निर्भर करती है पर सोने की राशि की वृद्धि तो सम्पूर्ण रूप से उसकी उस साल की उत्पत्ति पर ही आधारित है।

से सोने की अधिकाधिक मांग के बावजूद इंग्लैण्ड में सोना बहुत अधिक आया फलतः मूल्य-स्तर तेजी से बढ़ा।

सोने की खानों के आविष्कार तथा सोने को मिश्रित खाद से अलग करने की रीति में सुधार की प्रक्रिया और पदार्थों के मूल्य-स्तर में परिवर्तन—ये दोनो चीजें एक दूसरे से इस तरह घनिष्ठता से सम्बन्धित हैं कि उन्हें संयोग का परिणाम नहीं माना जा सकता। हमलोग निर्भरता-पूर्वक सोच सकते हैं कि उन दिनों वर्तमान मुद्रा के परिमाण के परिवर्तन (और अधिक ठीक-ठीक कहें तो कह सकते हैं कि व्यवसाय का वृद्धि के हिसाब से मुद्रा के परिमाण का वृद्धि) से मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन हुए; केवल यही नहीं कि इसके कारण भूत तत्व का पता लगाना संभव हो, हम लोग तो इससे यह भी निकाल सकते हैं कि सारी बातें कैसे हुईं। 'मूल्य-स्तरों की दीर्घावधि चलनशीलता कितनी ही अल्पावधि गतियों पर अवलम्वित रहती है। जिस समय मूल्यों का रुख ऊपर की ओर रहता है उस समय होता यह है कि व्यवसाय-चक्र का पुनरुद्धार-पर्व भी लम्बा होता है और बहुत आगे जाता है जिसमें मूल्योत्थान की हर एक चोटी एक दूसरे से ऊंची होती जाती है। मूल्य की वृद्धि खास कर जब उसके साथ भारी व्यवसाय-वृद्धि का भी संयोग होता है, स्पष्टतः बड़े परिमाण में मुद्रा की आवश्यकता पैदा करती है। (क) व्यवसाय-चक्र के उत्थान-पर्व में बैंकों से मजदूरी और वेतन चुकाने के लिए लोग बढ़े हुए परिमाण में रुपया निकालते हैं। इस समय ऋण की मांग भी बैंकों के पास अधिक आने लगती है। इससे दो बातें होती हैं। उधर तो बैंक का नया डिपाजिट बढ़ता है और इधर वृद्धि-प्राप्त व्यवसाय को अर्थ-साहाय्य प्राप्त होता है। यदि किसी कारण से और मानलें सोने की अनमनशील पूर्ति (inelastic supply) के कारण से, मुद्रा का परिमाण किसी खास सीमा से आगे नहीं बढ़ाया जा सके तो वह सीमा-विंदु तो व्यवसायोद्धार-परिचक्र के किंचिन्मात्र आगे बढ़ने पर ही पहुंचा जा सकता है। तब इसके बाद क्या होगा ? इसके बाद केन्द्रीय बैंक अपनी युक्ति प्रयुक्त करता है। वे दो युक्तियां 'बैंक-दर' और

(क) उसी हद तक कि यह भ्रमण-प्रवाह की वृद्धि को बचाती है।

'खुले बाजार का काम' (Open Market Operation) नामक हैं। इन दोनो से वह मुद्रा के परिमाण-विस्तार को रोक देता है। ऋण-प्राप्ति को मंहगा और कठिन बना कर इस तरह उसपर नियंत्रण रखने से हमेशा ऐसा ही होता है कि पदार्थों की मूल्य-वृद्धि की धारा बदल जाती है और मुद्रा का प्रसार रुक जाता है। इस तरह मुद्रा का अनमनशील (inelastic) पूर्ति व्यवसाय-चक्र की उर्ध्वगति को काट कर अपना उद्देश्य पूरा करती है। यही कारण है कि मूल्यों की गिरावट के दिनों में व्यवसाय-चक्र की जो उर्ध्वगति होती है वह अधोगति के युग की अपेक्षा लघु आर कम व्यापक होती है। इसी कारण दीर्घावधि में वर्तमान मुद्रा का परिमाण, ज्ञात होता है कि, मूल्यों के नीचा होने के उतना कारण नहीं है जितना उनकी सीमा-बंदी का कारण है। यह मूल्यों को यथा-स्थिति रखता है और ऊपर जाने से रोकता है। हम इसकी तुलना ग्रामोफोन के 'गवर्नर' से कर सकते हैं। अगर 'गवर्नर' को ७८ प्रति मिनट के संकेत वाले स्थान पर रख दें तो ग्रामोफोन का प्लेट इससे अधिक नहीं घूमने लगेगा ; पर प्लेट को घुमाने वाला 'गवर्नर' नहीं है, बाजे का स्प्रिंग है। अगर स्प्रिंग को लपेटा न जाय यानी बाजे में चाभी न दी जाय तो 'गवर्नर' को चाहे ८० पर भी रखें पर प्लेट नहीं घूमेगा।

यही बात है जो व्यवसाय-चक्र को समझने में विनिमय के अनुपात के हिसाब की कोई सहायता नहीं पहुंचती, यद्यपि किसी भी हिसाब से दीर्घावधि मूल्य-वृद्धि की व्याख्या यह कर देती है। निस्सन्देह रूप से यह सत्य है कि मुद्रा के ह्रास के कारण व्यापार में जो तेजी (boom) व्याप्त रहती है वह समाप्त हो जाती है और व्यवसाय-चक्र में मूल्यों की दिशा शीघ्रता से पलट जाती है। पर कभी-कभी मुद्रा की पूर्ति पर नियन्त्रण न लगाये जाने पर भी यह तेजी दूर हो जाती है। और मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त से यह समझाना कुछ और भी मुश्किल है (इस सिद्धान्त से कि मूल्यों की ह्रास-वृद्धि का गुण रुपये के परिमाण में है) कि ह्रास के अन्तिम छोर पर पहुंच कर मूल्यों की दिशा में क्यों और कैसे

परिवर्तन हो जाता है। क्योंकि रुपये की तादाद में कमी के कारण यदि मूल्यों का रुख नीचे की ओर होता हो तो रुपये की तादाद में वृद्धि होने पर इसका रुख ऊपर की ओर जाना चाहिए। किन्तु संसार के आर्थिक इतिहास में पिछले दिनों ऐसे अनेक उदाहरण पाये गये हैं जिनमें मूल्य-स्तर के निम्न से निम्न स्तर पर रहने पर भी रुपये का परिमाण बढ़ाया गया है पर उसका कोई प्रकट प्रभाव मूल्य-स्तर पर अथवा उत्पादन पर नहीं पड़ा।

कुछ अल्पकालिक ह्रास-वृद्धि-क्रम ऐसा अवश्य है जिसका उचित समाधान। मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त देता प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, दोनो महायुद्ध-कालों में सरकार ने बहुत ऋण उठाया था और साधारण मूल्य-स्तर भी बहुत जल्दी खूब ऊंचा उठ गया था। युद्धकालीन व्यवस्था की पूरी-पूरी चर्चा के लिए हमने अध्याय छ रख छोड़ा है, पर अभी कम से कम हमलोग यह मान सकते हैं कि ऊपर जो कुछ लिखा गया है वह वास्तविकता का निकटतम वर्णन है। सरकार ने जो लड़ाई ठानी है उसके बढ़े हुए खर्च के लिए सरकार कर-भार बढ़ा कर और जन-साधारण से ऋण प्राप्त करके जो कुछ वह पा सकती है उसके ऊपर बहुत अधिक मुद्रा-सृजन करके और करते रह कर वह बटोर लेती है, और इस नव सृष्ट रुपये के खर्च होने पर रुपये का प्रवाह बढ़ जाता है और वह पदार्थां के विक्रय-प्रवाह में न्यस्त होकर मूल्यों का स्तर बढ़ा देता है।

पर कुछ अन्य अल्पावधि काल ऐसे भी हैं जिनमें यह सिद्धान्त लागू होता-सा नहीं मालूम होता। जैसा कि १९३० के आसपास के भारी मन्दी के समय अमेरिकी सरकार ऐसे घाटे में पड़ रही थी जिसे उस जमाने में 'भयंकर' कहा जाता था। उस समय अमेरिकी सरकार ने अमेरिकी बैंकों की नगदी के आधार को बहुत अधिक बढ़ा दिया था। पर उससे पदार्थों के मूल्य-स्तर पर कोई उतना भी प्रभाव नहीं हुआ। १९३६ में अमेरिकी सरकार न केवल ८००० लाख पौंड के घाटे में ही चल रही थी, वरन सदस्य बैंकों की सुरक्षित नगद पूंजी भी १९२९ के

मुकाबिले दूनी बढ़ा दी गई थी। पर जनता ने इस परिवर्धित मुद्रा का इस्तेमाल करने से इनकार कर दिया। फल यह हुआ कि मूल्य-स्तर और कार्य-व्यस्तता दोनो १९२९ के अनुपात में नीचे ही रह गये। उस समय ऐसा हुआ कि अमेरिकी सरकार ने मुद्रा का परिमाण जितना बढ़ाया, भ्रमण-प्रवाह उतना ही कम होता गया। वे मु को बढ़ा सकते थे पर मुभ्र को बढ़ाना उनके वश की बात न थी। सरकार द्वारा केवल मुद्रा-सृजन से, जब जनता में यह इच्छा न हो कि वृद्धि प्राप्त मुद्रा को खर्च करें, बढ़ा हुआ रुपया यों ही बेकार पड़ा रह जा सकता है।

इसलिए परिमाण-सिद्धान्त व्यवसाय-चक्र के कारण का एक मात्र परिपूर्ण सिद्धान्त नहीं है। मुद्रा की कमी के कारण पुनरुद्धार की स्थिति ह्रास की स्थिति में भी बदल जा सकती है। पर यही सम्पूर्ण कारण नहीं है। और ह्रास उस समय भी आ जा सकता है जिस समय रुपये का कोई अभाव न हो। हो सकता है कि इसमें मुद्रा का अधिक परिमाण में सृजन कुछ करामात करता हो। इस बात की, कि मुद्रा का सृजन युद्धकाल में क्यों मूल्य-स्फीति करता है और मंदी में क्यों नहीं करता, यही कैफियत हो सकती है। पर इस बात की वास्तविक कैफियत यह है कि युद्धकाल में जनता वर्द्धित रुपये को खर्च करने को तैयार रहती है, मंदी के समय नहीं। और किसी भी काल में, मामूली और अल्प मात्रा में मुद्रा-सृजन बिलकुल ही प्रभाव-शून्य तत्व होता है।

इसलिए मुद्रा-परिमाण के सिद्धान्त के सम्बन्ध में अधिक से अधिक जो कुछ कहा जा सकता है वह यह है कि दीर्घावधि औसत मूल्य-स्तर पर प्रमुख प्रभाव वर्तमान मुद्रा के परिमाण का होता है। परन्तु व्यवसाय-चक्र की अल्पावधि प्रगति के औसत में यही तत्त्व, मूल्य-गति पर प्रभाव डाले या न डाले यह दोनो बातें हो सकती हैं। और यह चीज होती है कि नहीं होती, यह इस बात पर निर्भर करता है कि मुद्रा के परिमाण का परिवर्तन इसके भ्रमण-प्रवाह के परिवर्तन का परिणाम है या नहीं।

भ्रमण-प्रवाह की प्रगति

THE VELOCITY OF CIRCULATION

एक दूसरे प्रकार से हमलोग देखें तो मुद्रा के भ्रमण-प्रवाह पर कुछ और अधिक प्रकाश पड़ सकता है। वह दूसरा प्रकार यह है कि मुद्रा की मांग की प्रकृति की हमलोग और गौर से पड़ताल करें। **मुभ्र=पट** वाले हिसाब में हमलोगों ने वास्तव में एक मानी में मुद्रा की पूर्ति का और एक मानी में उसकी मांग का सम्बन्ध स्थापित किया है। पर इसके पहले किसी पूर्व पृष्ठ पर हमने मुद्रा की दो विशेषताओं का वर्णन किया है। ये उसकी गोलाई और चिपटाई हैं और ये दोनो रुपये के प्राथमिक दो कर्तव्यों—मूल्य का संचय और विनिमय की माध्यमता—को सूचित करते हैं। एक में तो रुपया इकट्ठा होता है और दूसरे में यह चक्कर काट कर इधर से उधर दौड़ता-फिरता है। अब विनिमय-अनुपात (equation of exchange) के विश्लेषण का जो नतीजा है वह साफ-साफ केवल रुपये की गोलाई से सम्बन्ध रखता है अर्थात् यह रुपये के परिभ्रमण और उसके द्वारा जुटाये गये देन-लेन के सम्बन्ध में बताता है, जो सालभर के भीतर होता है।

पर चिपटे रुपये के विषय में क्या है—उस रुपये के विषय में जो लोग संचित कर रखते हैं? वह बहुमूल्यता कहां से पा जाता है और हमलोग उसकी मांग के अंदाज की माप कैसे कर सकते हैं?

इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमको उस बात का स्मरण करना चाहिए जिसे इन्हीं पृष्ठों पर हम पहले कई बार बता चुके हैं। वह यह कि रुपया तो स्वतः निरर्थक वस्तु है और इसकी चाह लोग इसी कारण रखते हैं कि इससे किसी भी वस्तु की खरीद की जा सकती है। इससे यह बात निकलती है, और जो प्रथम दृष्टि में देखने पर विपरीतार्थक-सी लगती है, कि रुपया अपने रखने वाले से एक बलिदान चाहता है। जिसके भी पास १०० पौंड मुद्रा है, वह एक ऐसी

चीज है कि अपने में निष्प्रयोजन और कूड़ा-सी है—१०० पौंड रखने के बजाय वह आदमी इतने ही मूल्य की उपयोगी या सुदृश्य चीजें रख सकता था। मुद्रा की सर्व प्रथम निधि जिसने जमा की होगी उसने तो निश्चय ही एक वलिदान किया होगा क्योंकि आदमी अपनी आमदनी से कम खर्च करे तभी तो कुछ बचाया जा सकता है। रुपया बचा-बचा कर जमा करने में यह त्याग है कि मनुष्य उन चीजों को खरीदने से अपने को रोकता रहता है जो रुपये द्वारा खरीदी जा सकती हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि हर आदमी अपने मन में यह सोच ले कि इस तरह के आत्मदमन उसे कितना करना है जिससे कि उसके पास संचय में भी खामी न हो और उसे बहुत अधिक अपने मन को मोड़ना भी न पड़े। आदमी के पास द्रव्याभाव हो तो उसके सुख और सुरक्षा में भी कमी आ सकती है और अगर उसके पास बहुत अधिक द्रव्य हो तो यह भी अच्छा नहीं क्योंकि इसमें उसे अपने को बहुत अधिक दबाना पड़ता है। इन दोनो छोरों के बीच में हर आदमी, हर परिवार और हर समाज अपनी संचय-सीमा निश्चित करता है। यह उचित है कि मनुष्य, समाज या देश अपनी आय का एक अंश संचित करने के लिए निश्चित करले। ५ पौंड प्रति सप्ताह की आय रखनेवाला व्यक्ति साल में २६० पौंड आमदनी करता है। यह हो सकता है कि यह आदमी एक बार वेतन-प्राप्ति के दिन से लेकर दूसरी बार की प्राप्ति तक के बीच उसको पाई-पाई खर्च कर दे। इस हालत में इस व्यक्ति की अधिक से अधिक बचत सालाना २॥ पौंड या इसकी आमदनी का १०४वां भाग ही हो सकती है। पर बहुत-से परिवारों की कुछ बचत बैंक में जमा रहती है या स्टाक में लगी रहती है। हम मानलें कि ५ पौंड प्रति सप्ताह की आय वाले परिवार ने, यद्यपि अपनी साप्ताहिक आमदनी का पाई-पाई खर्च कर दिया, फिर भी इसने २० पौंड बचाकर सुरक्षित रखा। तब इसका वार्षिक मु ा-कोष २२½ पौंड अथवा कुल वार्षिक आय का २३ में से २ भाग हुआ। धनी आदमी इससे बड़ा अंश रख सकते हैं। इस तरह एक आदमी जिसकी सालाना आमदनी १००० पौंड है, बैंक में

२०० पौंड तक सुरक्षित रख सकता है। दूसरे शब्दों में वह अपनी आय का ५वां अंश रुपये के रूप में बैंक में रख देता है यद्यपि वह रुपया उसे कोई लाभ नहीं पहुंचाता। किन्तु अन्य धनी व्यक्ति, जिनके पास ऐसी दूसरे-दूसरे प्रकार की सम्पत्ति रहती है जिसको वे जब चाहें आसानी से मुद्रा में परिवर्तित कर सकते हैं जैसे कि चोखा ऋणपत्र, (gilt-edged securities) आदि, बहुत कम धन रुपये के रूप में रखना पसंद कर सकते हैं। एक करोड़पति बराबर यह बात कहा करता था कि उसे ऐसा एक भी मौका स्मरण नहीं है जब कि बैंकों से उसने अपने नाम पर शेष से अतिरिक्त (over draw) न लिया हो। परन्तु कोई व्यक्ति कोई भी अंश रखना निश्चित करे, यह तय है कि उसका निर्णय उसके बहुत-से ज्ञात-अज्ञात तर्कों का परिणाम होगा। किसी आदमी के पास संयोग से रुपया इकट्ठा नहीं हो सकता। असली अर्थों में यही है जिसे मुद्रा की मांग कहते हैं।

लाखों-करोड़ों व्यक्तिगत निश्चयों से सामाजिक निर्णय बनता है। किसी भी समय अपनी सम्पूर्ण आय का अंश ही कोई समाज रुपये के रूप में परिणत कर रखना चाहता है। एक आनुमानिक हिसाब इस विषय का बताया जा सकता है कि यह अंश क्या है। १९३८ में विश्वयुद्ध द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था (national economy) के टूटने-बिखरने के पहले, ग्रेट ब्रिटेन की कुल वार्षिक आमदनी ५२००० लाख पौंड था(बाजार दर में)। अगर हमलोग सिक्के, नोट और बैंक-अमानत (deposits) (क) को ही मोजरा दें और उन सभी प्रकार की मुद्राओं

(क) इस हिसाब में चालू खाते के हिसाब के साथ-साथ उन डिपाजिटों को भी जोड़ा जाय या नहीं जिसपर चेक नहीं काटे जा सकते, यह एक विवादग्रस्त विषय रहा है। चूंकि हम यहां धन को मूल्य-कोष के रूप में ले रहे हैं, यह उचित जंचता है कि सभी प्रकार के धन को जोड़ना चाहिए, पृष्ठ१४३-४४ में हमने इसे छोड़ दिया है जहां चालू मुद्रा की चर्चा कर रहे थे। अगर इस तरह के धन को छोड़ दिया जाय तो सम्पूर्ण मुद्रा-योग में से १ अरब पौंड कम होगा और तब अनुपात प्रायः आधे से एक तिहाई हो जायगा।

का कोई हिसाब न करें, जो दूसरे प्रकार की मुद्रा के लिए सुरक्षित कोष के समान रखी जाती हैं, [जैसे कि बैंक का घुरता-फिरता के लिए रखा हुआ रुपया (till-money)] तो उसी साल मुद्रा की जोड़ ३०,००० लाख पौंड से भी कम हुई। इसलिए अपनी राष्ट्रीय आय का जो अंश समाज रुपये के रूप में रखना चाहता था अगर ये आंकड़े सही हों तो वह कुल आमदनी का पांच में से कुछ कम तीन हिस्सा हुआ। (इसका मतलब यह नहीं है कि समाज हर साल अपनी आय का $\frac{3}{5}$ भाग खर्च न कर के मुद्रा के रूप में रख देता है, इसका अर्थ केवल यह है कि १९३८ तक जो रुपया जमा हुआ है, वह एक साल की राष्ट्रीय आय का $\frac{3}{5}$ है)।

अगर समाज ने यह निश्चय किया हो कि वह इतनी बड़ी मुद्रा-राशि रखेगा, जो उसकी राष्ट्रीय आय की आधी हो तो उस समय समाज में वर्तमान मुद्रा का मोल वही होगा और हर एक मुद्रा का मोल उसी के अंशानुसार होगा। यह, पहले जैसा उदाहरण दे आये हैं, अगर उसी सरल अनुपात को लें, तो यदि समाज की वार्षिक आमदनी १००० टन कोयला हो और यदि समाज यह तय करे कि अपनी वार्षिक आय के आधे मोल के बराबर मुद्रा-कोष रखे, तो मुद्रा के सम्पूर्ण परिमाण का मोल ५०० टन कोयले के मोल के बराबर ही होगा। अब इसके बाद अगर रुपये के परिमाण में एक हजार एक-एक रुपये के नोट हों, तब तो १ पौंड आधा टन कोयले के मोल के बराबर हुआ, फलतः कोयले की दर २ पौंड प्रति टन रही। उन लोगों के लिए जो बीजगणित से प्रेम करते हैं, मुद्रा के मोल सम्बन्धी इस व्याख्या को सामान्य अनुपात के हिसाब के रूप में यों रखा जा सकता है। समाज की वार्षिक आय के लिए हम **र** अक्षर मान लेते हैं; हम **र** इसलिए लिख रहे हैं, कि यही वास्तविक आय है, जो काम में आती है--यानी टन, गैलन, बुशल आदि में हम जिसे व्यक्त करते हैं, रुपये की संख्या में नहीं)। समाज अपनी आय का वह भाग जो रुपये में परिणत कर रखना चाहता है, उसे 'क' अक्षर कहिए। तब 'क'**र** सम्पूर्ण मुद्रा-परिमाण का मोल हुआ। **मु** अक्षर को पहले की तरह वर्तमान मुद्रा के प्रत्येक सिक्के की इकाई मानलें (पौंड की संख्या)।

तब $\frac{\text{'क'}\mathbf{र}}{\text{मु}}$ अंक १ पौंड का मोल है। मुद्रा की एक संख्या का मूल्य, याद रखना चाहिए कि, मूल्य-स्तर की विपरीत दिशा में चलता है—जब मूल्य-स्तर बढ़ता है, तब मुद्रा का मोल कम होता है और जब मूल्य-स्तर घटता है तब मुद्रा की कीमत बढ़ती है। इसलिए इस हिसाब में 'प' अर्थात् मूल्य-स्तर (क) को लाने के लिए हमको १ पौंड के मोल को उलट देना पड़ेगा। अब अंतिम अनुपात यों रह जाता है—'प' $= \frac{\text{मु}}{\text{'क'}\mathbf{र}}$। हमलोग इस हिसाब को और एक दूसरे प्रकार में बदलें और इसको पहले दिये गये विनिमय-अनुपात के बगल में लिखे। अब वह इस तरह होगा—

मुभ्र=पट $\qquad \frac{\text{मु}}{\text{'क'}} = \text{'प'}\mathbf{र}$

यह समानता कुछ प्रवंचक (deceptive) है। पिछली पाद-टिप्पणी मेंयह दिखाया गया है कि **प** से 'प' भिन्न है। और **र** स्पष्टतः वही चीज नहीं है जो **ट** है, परन्तु 'प' और **प** दोनो साथ ही साथ घटते-बढ़ते हैं (यद्यपि एक ही गति से नहीं)। ऐसा ही **र** और **ट** भी करते हैं। ऊपर के दोनो हिसाबों को अगल-बगल में रखने से यह निष्कर्ष निकलता है कि **भ्र** और 'क' एक दूसरे के प्रतिकूल पड़ते हैं। आदमी अपनी आय का जितना अधिक अंश मुद्रा के रूप में परिवर्तित कर रखना चाहते हैं, मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह भी उतना ही कम हो जाता है और जितना ही कम रखना चाहेंगे उतना ही तेज होगा। तब, अगर हम भ्रमण-प्रवाह में होने वाले विस्मयकारक

(क) हमने 'प' इसलिए दिया है कि यह मूल्य-स्तर पूर्व के मूल्य-स्तर से भिन्न है। उस समय हम उन सभी चीजों के मूल्य की चर्चा कर रहे थे, जिनका लेन-देन मुद्रा के सहारे होता है। यहां पर हमें उन्हीं चीजों के मूल्य से मतलब है, जो समाज की वास्तविक आय बनाते हैं अर्थात् वे चीजें, जो समाज के व्यक्ति व्यवहार में लाने को या रखने को खरीदते हैं—वे चीजें नहीं जिन्हें फिर बेच देने के लिए खरीदते हैं अथवा चीजों के उपयोग में जिनकी सहायता मिलती है।

और हानिकारक ह्रास-वृद्धि के कारणों को निकालना चाहें, तो हमलोगों को उन तत्त्वों पर ध्यान देना चाहिए, जो 'क' तत्त्व के परिवर्तनों का निश्चय करते हैं। कभी-कभी लोग और समयों की अपेक्षा अधिक मूल्य को मुद्रा में परिवर्तित कर के क्यों रखना चाहते हैं यह बात सोचनी होगी।

जब प्रश्न का रूप यह हो जाता है तो उसका उत्तर भी स्वयं स्पष्ट है। मन्दी का काल वह समय है जिसमें अन्य सभी मूल्य गिरते हैं। सट्टा बाजार में रोज-रोज ऋणपत्रों का भाव गिरता है, जमीन और मकान का मूल्य भी क्रेता के अभाव में गिरता है, यहां तक कि हीरे-जवाहरात और कला की अन्य वस्तुओं का मूल्य भी कम हो जाता है। इस समय केवल एक पदार्थ का मूल्य उठता रहता है—वह चीज है मुद्रा। ऐसे समय ऋण का बोझ बढ़ता है और महाजनी में बहुत लाभ होता है। इस तरह यही मुख्यत: वह समय है, जब कि आदमी अपना ऋण पटा देना और अपने पास कुछ नगद शेष रखना चाहता है। इसके अतिरिक्त चूंकि मन्दी का समय, सामाजिक अरक्षा का समय है, लोग अपनी आमदनी में से बचत करके न केवल सुरक्षित कोष ही बढ़ा लेना चाहते हैं, वरन यह भी चाहते हैं कि उनके पास स्थायी आमदनी के साधन-स्वरूप जो सम्पत्ति, मकान, जमीन और ऋणपत्र हैं, उसको भी बेच कर नगद रुपया खड़ा कर लें, क्योंकि मुद्रा में अधिक तरलता है अर्थात् जिस समय चाहें उसी समय इनका व्यवहार हो सकता है। रुपया रखने से न कोई ब्याज मिलता है न मुनाफा, पर फिर भी मन्दी के काल में नगद कोष रखना अधिकतर लाभदायक समझा जाता है।

पर तेजी के समय रुपया संग्रह करना कोई नहीं चाहता। धन के अन्य पदार्थों का दाम तो ऐसे समय में बढ़ता जाता है पर मुद्रा का दाम ही घटता है। अपने रुपये को ऋणपत्र या जमीन या किसी कारबार का हिस्सा खरीद लेने में लगा दिया जाय तो इससे न केवल उस रुपये का कोई प्रतिफल प्राप्त होता रहता है पर इस बात की भी अच्छी संभावना रहती है कि लगी हुई पूंजी भी तेजी के दिनों में बढ़कर सवाई-ड्योढ़ी हो जाय। ऋण पर काढ़े हुए रुपये को

भी इन दिनों इस ढंग से लगा दिया जा सकता है कि ऋण पर जो ब्याज लगता है उससे अधिक उससे आय हो। संक्षेप यह कि तेजी के दिनों में रुपया रोक कर रखने में बहुत कम आकर्षण है इसलिए उसे लोग रोकते नहीं हैं और आय का जो अनुपात समाज मुद्रा के रूप में परिवर्तित कर रखने का निश्चय कर चुका होता है, वह गिर जाता है। अगर स्फीति बहुत गहरी हुई तो 'क' की रकम बहुत छोटी हो जाती है। उदाहरणार्थ १९२३ में जब जर्मनी में भारी मुद्रा-स्फीति हुई थी जिस समय वस्तुओं का मूल्य एक-एक दिन सौ-सौ गुना तक चढ़ता था, जब कि रात ही भर के लिए रुपया रोक लीजिए तो दूसरे दिन उसकी कीमत बहुत घट जाती थी और संक्षेप में जिस समय रुपया भी, मालूम होता था कि एक कूड़ा ही है, जर्मनी में मुद्रा के पूर्ण स्टाक का वास्तविक मूल्य केवल साधारण मूल्य-स्तर का १/७ अंश ही होकर रहा था। इसका मूल्य और नहीं घटा। इससे पता लगता है कि अन्य-अन्य कामों के लिए भी मुद्रा की अनिवार्यता है। यह हिसाब-किताब की इकाई भी है और विनिमय का साधन भी; यद्यपि ऐसे समयों में, जिसका जिक्र किया गया है, रुपया रख कर धन बटोरने की चेष्टा वैसी ही व्यर्थ है जैसे चलनी में पानी बटोरने की चेष्टा करना।

विश्लेषण की यह वैकल्पिक विधि (alternative method) हमको दो-एक पग वास्तविकता के और निकट लाती है। यह इस बात की व्याख्या करती है कि मुद्रा की कीमत क्यों है और बताती है कि चूंकि इसको लोग कुछ उपयोगी पाते हैं, इसलिए इसके कारण कुछ त्याग करने को भी प्रस्तुत रहते हैं। और व्यवसाय-चक्र में वैसा क्यों होता है इस बात की अगर व्याख्या दी जाय तो, यह कहना अधिक माननीय है कि लोग मुद्रा को अन्यान्य बहुत-से कामों में व्यवहार करते हैं, इसी कारण ऐसा होता है। केवल भ्रमण-प्रवाह में परिवर्तन के कारण ही वैसा नहीं होता।

परन्तु व्यवसाय-चक्र के भीतर जो ह्रास-वृद्धि होता है उसके कारणों के सम्बन्ध में इतनी कैफियत ही पर्याप्त नहीं है। यह बताती है कि क्यों एक बार

तो मुद्रा का मूल्य बढ़ने लगता है। लोग अधिकाधिक रुपये ही चाहते हैं इस कारण उसका मूल्य ऊपर उठता रहता है। पर यह कैफियत यह पता नहीं देती कि रुपये का मोल ऊपर उठने कैसे लगता है। बहुधा विस्फीति-काल (depression) में देखा गया है कि यह मुद्रा-परिमाण के सहसा संकोच (sudden contraction in the volume of money) के कारण नहीं हुआ पर मुद्रा के भ्रमण-प्रवाह में अचानक अवरोध (sudden fall) होने के कारण ऐसा हुआ है अर्थात् जनता जब रुपया दबाने लगी है। ऐसा क्यों होने लगता है? हमने जो दो सामानुपातिक हिसाब (equations) ऊपर दिखाये हैं वे इस रोग की दवा बताते हैं क्योंकि यदि **भ्र** सहसा अवरुद्ध हो जाय तो उसकी क्षति-पूर्ति के लिए **मु** को बढ़ाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, अपनी सम्पूर्ण मुद्रा-निधि पर यदि जनता एकाएक बहुत अधिक मोह करने लगती है तो उसका स्टाक बढ़ जाता है जिसमें कि इसकी प्रत्येक इकाई का वही मोल होता है। पर इस ढंग पर जो व्यावसायिक अनुभव किये गये हैं वे बहुत अधिक सफल नहीं हुए। इसी वर्ष अमेरिका और फ्रान्स में ऐसे अवसर आये हैं कि जितनी ही अधिक मुद्रा का सृजन किया गया है, लगा है कि जनता में उतनी ही अधिक उसकी मांग है। और किसी भी तरह यह युक्ति तो बुद्धिमत्ता पूर्ण नहीं कही जायगी। किसी-किसी मनुष्य को सहसा अधिक बुखार हो जाय तो उसके शरीर पर बर्फ रख कर उसकी गर्मी को मिटाया जा सकता है। परन्तु इससे अच्छा यह है कि बुखार कैसे हो गया, इसका पता लगायें और उस कारण के उन्मूलन की युक्ति करें। इसी तरह से **मु** को संभाल कर हम **भ्र** की प्रगति और 'क' की विचलता का उपाय कर सकते हैं पर अंधे के समान ऐसा कर बैठना एक खतरनाक आर्थिक नामहकीमी होगी।

परिमाण-सिद्धान्त की सीमा

LIMITS OF THE QUANTITY THEORY

परिमाण-सिद्धान्त (जिसके द्वारा दोनो व्याख्याओं और दोनो दिये गये हिसाबों को समझा जा सकता है) इस प्रकार यह बात समझाता है कि मुद्रा के मूल्य की ह्रास-

वृद्धि (fluctuations) "किस प्रकार काम करती है" और उसका किस प्रकार का प्रभाव उद्योग-धन्धों पर पड़ता है। पर सिवाय दीर्घावधि परिचक्रों और खास कर उन अल्पावधि परिचक्रों की ह्रास-वृद्धि में, जो स्पष्टतः प्रभूत मुद्रा-विस्तार और उसके संकोचन के परिणाम-स्वरूप घटित होते हैं, यह सिद्धान्त यह नहीं बता सकता कि ऐसा क्यों होता है"। यह सिद्धान्त यह समझाने योग्य भी नहीं है कि क्यों मुद्रा-सृजन कभी-कभी मूल्य-वृद्धि को उत्साहित और प्रारम्भ करता है और कभी-कभी यही चीज कोई प्रभाव नहीं डाल पाती। इसके अतिरिक्त वह व्यावहारिक निष्कर्ष, जिस ओर यह विश्लेषण हमलोगों को ले चलता-सा लगता है—वह नुस्खा जो वर्तमान निदान से निकलता है—अनुभव द्वारा बहुत सीमित और विभिन्न प्रकार के प्रभाव वाला सिद्ध हो चुका है। इसलिए मुद्रा-परिमाण-सिद्धान्त का (quantity theory) प्रकट व्यावहारिक उपयोग यह है कि वर्तमान मुद्रा के परिमाण को संभालते हुए उसके मूल्य की स्थिरता की व्यवस्था होनी चाहिए। इतिहास में ऐसी घटनाएं हुई हैं कि मुद्रा के परिमाण पर नियन्त्रण रखने से या इसको विस्तृत न होने देने से भी कभी-कभी मूल्य में पतन हुआ है। दूसरी ओर ऐसा भी हुआ है कि मुद्रा-व्यवस्थापकों ने बहुत-सी मुद्रा का सृजन कर के जनता को दिया है जिससे मूल्य में अभिवृद्धि हो पर उसको लेने वाले ही नहीं मिले हैं। घोड़े को पानी पीने से आप रोक दें यह तो संभव है पर पानी उसके मुंह तक लाकर भी आप उसे नहीं पिला सकते अगर वह प्यासा नहीं है।

सच तो यह है कि आर्थिक गवेषणाओं की आधुनिक प्रवृत्ति यह रही है कि मुद्रा के परिमाण को, जो पहले व्यवसाय को प्रोत्साहित करने वाला और मुद्रा के मूल्य को निश्चित करने वाला माना जाता था, और यह माना जाता था कि यह उसका प्रतिफल है, अब नहीं माना जाता। कोई और बात है जो घटना-चक्र को प्रेरित करती है और मुद्रा का परिमाण तो अपने को उसी के अनुरूप बना लेता है। ग्रामोफोन मशीन के गवर्नर की जो उपमा दी गयी है वह बिलकुल ठीक है। मुद्रा का परिमाण मूल्यों के चढ़ाव को तो रोक दे सकता है और इस उपाय से

यह मुद्रा के दीर्घावधि मूल्य पर तो शासन कर सकता है पर व्यवसाय-चक्र के अल्पकालीन युग में तो वह चीज 'गवर्नर' नहीं पर 'मेनस्प्रिंग' है जो प्रभाव डालता है।

तो हमलोगों को चाहिए कि उस 'मेनस्प्रिंग' की खोज करें। अब इस खोज के लिए हमलोग एक रहस्य इस कथन में पा जायँगे कि मंदी के जमाने में जिस चीज का अभाव होता है वह मुद्रा उतनी नहीं जितनी आय है। यह सिद्ध करना आसान है कि मंदी के पेटे में भी कभी-कभी इतनी मुद्रा रहती है जितनी कि उसके पूर्ववर्ती स्फीति के दिनों में। और अगर बैंक डिपॉजिटों में कुछ ह्रास हुआ है तो उसका कारण यह नहीं है कि बैंकों ने मुद्रा-सृजन से इनकार किया था पर उसका कारण यह है कि जनता न बैंकों से ऋण की मांग कर के उन्हें मुद्रा-सृजन की प्रेरणा नहीं दी। तेजी की चोटी के मुकाबले मंदी की पेटी में जो चीज सब से नीची है वह मुद्रा का परिमाण नहीं है परन्तु व्यक्तिगत आय की जोड़ है। यदि लोगों के पास प्रभूत आय होती तो वे मुद्रा की पूर्ति को वास्तविक रूप में और अच्छी तरह खर्च करते। इससे भ्रमण-प्रवाह की गति बढ़ती और मूल्य-स्तर ऊपर उठ जाता। चूंकि मुद्रा का व्यय नहीं होता है, उसका आदान-प्रदान रुका हुआ है, इस कारण वह अवरुद्ध खड्ड में पड़ी मानों सड़ती रहती है।

असल में मुद्रा का मूल्य आयों की जोड़ का परिणाम है, मुद्रा का परिमाण नहीं। **यह चीज आय के योग की उस ह्रास-वृद्धि का कारण-स्वरूप हैं जिसकी खोज हम को करनी है।**

पांचवां अध्याय

बचत और पूंजी

SAVING AND CAPITAL

मुद्रा एवं आय

MONEY AND INCOME

मुद्रा-सम्बन्धी घटनाओं की व्याख्या में मुद्रा-परिमाण-सिद्धान्त—पिछले दो अध्यायों में जिन सुधरे हुए स्वरूपों की चर्चा की गयी है उनके बावजूद—दो हीनताओं से युक्त है। पहली हीनता यह है कि—जैसा हमलोग देख चुके हैं—यह मुद्रा के परिमाण पर बल देती है, मानो यही प्रधान और एक मात्र सूत्र अर्थ-सम्बन्धी परिवर्तनों का हो। वह बिलकुल ही भ्रामक हो सकता है। यह भ्रामक मुख्यत: उस विषय में है जिसमें उत्पादन और मूल्य-स्तर में अल्पावधि परिमाण की ह्रास-वृद्धि होती (short-run fluctuations of price and production) है और जो बहुत हानिकर है तथा अनेक प्रकार के विवादों का विषय है। पिछले अध्याय के अन्तिम भाग में सचमुच हमलोग इस तत्त्व पर पहुँच गये थे कि मुद्रा-परिमाण-सिद्धान्त को खींच कर उसके द्वारा औसत मूल्य-स्तर की क्षेत्रीय दीर्घ प्रगति की कैफियत दे सकें। आर उधर व्यवसाय-चक्र की अल्पता परन्तु प्रबल ह्रास-वृद्धियों के लिए कोई दूसरी कैफियत ढूंढ़ी जाय।

इस परिमाण-सिद्धान्त में दूसरा ऐब यह है कि यह अपना ध्यान बहुत अधिक मात्रा में मूल्य-स्तर पर लगाता है मानो अर्थ-व्यवस्था का सब से प्रमुख और संगीन तत्त्व (critical and important phenomenon) मूल्यों में परिवर्तन ही हो। जैसा पहले समझाया गया है, यह बिलकुल सच है कि मूल्य-स्तर-परिवर्तन के दूर-व्यापी और परेशान करने वाले परिणाम हो सकते

हैं। मुख्यतः ऐसे रास्ते हैं, जिनके द्वारा मूल्य-स्तर का परिवर्तन उत्पादन के परिमाण में परिवर्तन ला सकता है—अर्थात् धन की उत्पत्ति में बाधा डाल सकता है। बढ़ते हुए मूल्य ऐसे प्रभाव पैदा करते हैं जो काम-काज की वृद्धि कर देते हैं और गिरते हुए मूल्य काम-काज का ह्रास करते हैं। परिमाण-सिद्धान्त अथवा परिमाण-सिद्धांत के मुख्य आधार पर विचार करने वालों का मुख्य दोष यह है कि ये इन अस्वीकारणीय सिद्धान्तों को मानकर तर्क के आश्चर्य से इस मान्यता को पकड़ लेते हैं कि साधारण वाणिज्य-व्यवसाय में जो कुछ परिवर्तन होते हैं, वे मूल्य-स्तर-परिवर्तन के ही परिणाम हैं। संक्षेप में, मूल्यों का ह्रास-वृद्धि ही व्यवसाय-चक्र का कारण है।

पर यह बात साफ है कि यह विचार सही नहीं है। अगर दो में से एक को हम कारण और दूसरे को कार्य मानते हैं तो यह मानना होगा कि व्यवसाय-चक्र ही कारण है और मूल्य-स्तर ही उसका प्रतिफल। हर एक व्यवसायी जानता है कि वह रोजगार ही खराब है जिसमें मूल्य-स्तर नीचा रहता है। कुछ मूल्य-स्तर व्यवसाय की मन्दी नहीं लाता। परन्तु यह कथन सचाई के बहुत पास-पास है कि व्यवसाय की मन्दी और मूल्य-ह्रास दोनो ही किसी एक तीसरे संयुक्त कारण के प्रतिफल हैं। मिनट भर गौर करने से ही इस कथन की वास्तविकता झलक उठेगी। मूल्य अपनी ही इच्छा से चलविचल नहीं होते और वे अपने से गिरते भी नहीं है जब तक उन्हें कोई गिराता नहीं। और कीमत घटाने का कारण यही है कि उस खास वस्तु की मांग उसके उत्पादन से कम है। खुले बाजार में, जहां खरीदार और विक्रेता मूल्य के सम्बन्ध में मोल-तोल करने को स्वतन्त्र हैं, पदार्थों का मूल्य मांग और पूर्ति के सिद्धान्तों के अनुसार आपसे आप और बहुत जल्दी घट-बढ़ जाता है। दूसरे विषयों में, जहां उत्पादक या निर्माता अपनी वस्तु का मूल्य आप ही धरता है, मूल्य कम करने का कारण यह आशा होती है कि बिक्री बढ़े। दोनो ही हालतों में मूल्य-पतन का कारण पूर्व-निश्चित मूल्य पर मांग का ह्रास है। इसी कारण एक प्रकार का कुछ दूसरा परिणाम हो सकता है। १९३०

साल के आसपास की भारी मन्दी में, जैसा पहले बताया जा चुका है, मांग की कमी का कृषि पर यह प्रभाव हुआ कि कृषि-जन्य पदार्थों का मूल्य बहुत घट गया। तेजी की सब से ऊंची चोटी के दिन की अपेक्षा मन्दी के सब से नीचे के दिन में भी फसल की पैदावार और उसकी खपत कम नहीं थी, पर इस समय किसानों की आमदनी ही बहुत कम हो गई थी। उधर दूसरे-दूसरे धंधों में मांग की कमी हो जाने पर भी उत्पादन का मूल्य जान-बूझ कर यथास्थान रख लिया गया था। फल यह हुआ कि वस्तुओं का उत्पादन बहुत घट गया। इस तरह कारखाने का एक मजदूर, रख लीजिए सन् १९३२ में उतना ही रुपया और उससे कहीं अधिक वास्तविक मूल्य एक घंटे की मजदूरी के बदले कमा सकता था जितना वह १९२९ में कमाता था। पर प्रति घंटे आय बराबर होने पर भी काम के घंटे वह कम पाता था। इस प्रकार से, किसान और औद्योगिक दोनो को इसमें बराबर-बराबर कष्ट और हानि हुई। यद्यपि दोनो ने दो तरह से कष्ट पाये। फिर भी उन दोनो के कष्टों का कारण एक ही था—उनकी वस्तुओं की मांग का ह्रास। कृषि ने उत्पादन की घटी हुई मांग की कठिनाई में एक उपाय से अपने को संभाला अर्थात् मूल्य-ह्रास के द्वारा, इसने अपने को उस मन्दी में निबाहा। किन्तु मूल्य-ह्रास कभी भी मन्दी आने का कारण नहीं रहा।

मुद्रा-सम्बन्धी किसी भी विवेचना में, तब इस मौलिक बात को मान कर चलना पड़ेगा, कि कभी-कभी ऐसे समय भी निश्चित रूप से आ जाते हैं, जब सभी प्रकार के पदार्थों और सेवाओं के मूल्य उनकी पूर्ति की अपेक्षा बहुत कम हो जाते हैं। इस काल में ऐसा जान पड़ने लगता है कि जितनी चीजें उत्पादित की जाती हैं, संसार उतनी खरीद ही नहीं सकता। पुनः इसके उलटे ऐसे भी समय आते हैं जब कि पदार्थों की मांग उनकी पूर्ति से अधिक हो जाती है (यद्यपि ऐसा कम ही होता है) जब कि दुनिया में इतनी खरीदारी होने लगती है, जितना उत्पादन नहीं हो सकता और जब कि न्यूनाधिक सभी पदार्थों का और मुख्यतः मजदूरों का बहुत अभाव हो जाता है। युद्ध और उसका परिणाम इस दूसरे प्रकार की स्थिति पैदा करते हैं।

सम्भव है ऐसी स्थिति पैदा की जा सके जिसमें मुद्रा की पूर्ति को कम कर के मांग को कम किया जा सकता हो। जैसा कि दूसरे अध्याय में बताया गया है, मुद्रा का अधिकांश सृजन ऋण-प्रार्थियों को ऋण देने की प्रक्रिया में होता है। यदि यह सम्पूर्ण ऋण-जात मुद्रा बैंकों द्वारा खींच ली जाय तो अपना ऋण चुकाने के बाद जनता का हाथ इतना तंग हो जायगा कि कुछ खरीदने या नौकरी देने के लिए उसके पास रुपया ही शेष नहीं बचेगा। इस तरह मुद्रा के विनाश के कारण मांग में कमी हो सकती है और इसके विपरीत मुद्रा का सृजन मांग का भी आधिक्य पैदा कर सकता है। पर स्वाभाविकता यह है कि कार्य और कारण का तारतम्य शायद ही काम करता है। उदाहरण के लिए १९२९-३० ई० की भारी मन्दी का आगमन मुद्रा-संकोच की किसी युक्ति से संलग्न नहीं था और सच तो यह है कि कई देशों में १९२९ की अपेक्षा १९३२ में बाजार में अधिक रुपया चालू था। और फिर उसी तरह से व्यवसाय-चक्र के परिवर्तन के समय प्रथम पर्व में मुद्रा की पूर्ति बहुत अधिक नहीं हो गई थी, पर वर्तमान पूर्ति के अधिकाधिक उत्साह पूर्ण उपयोग (active utilization) के कारण व्यवसाय भी चमक उठा था।

इन प्रमाणों के आधार पर एकमात्र इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है, कि मांग का सहसा ह्रास जो मन्दी को बुलाता है, मुद्रा-ह्रास (lack of money) के नहीं, प्रत्युत आय-ह्रास (lack of income) के कारण है। इससे भी अधिक ठीक यह कहना होगा कि यह मुद्रा-व्यय में कमी (lack of spending) के कारण होता है। पर हम जानते हैं कि मंदी के दिनों में जो लोग बचा-बचा कर रुपया खर्च करते हैं, उसका कारण खर्च करने की अनिच्छा नहीं बल्कि ९९ प्रतिशत हालतों में आय का अभाव है।

अब मुद्रा और उत्पादन की एक दूसरे के ऊपर किस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, इस तरकीब को समझने के पहले हमलोगों को यह ढूंढ़ना है कि क्यों समाज की आय, समाज की धनोपार्जन की औद्योगिक योग्यता की अपेक्षा अधिक वेग से ऊपर-नीचे चढ़ती-उतरती है। इसी यह होता है कि कभी समाज की आय यथेष्ट से अधिक हो जाती है और कभी कम हो कर इतनी रह जाती है कि

वर्ग द्वारा उत्पादित पदार्थों और नियोजित सेवाओं तक का उपयोग करने में वह लाचार होता है। और अपनी इस खोज-ढूंढ़ में यद्यपि हमें यह ध्यान में रखना होगा कि मुद्रा के परिमाण में सहसा ह्रास या सहसा वृद्धि के कारण आय में ह्रास-वृद्धि हो जा सकती है, पर हमलोगों को यह मिलेगा कि मुद्रा-परिमाण का संकोचन या प्रसारण आय-स्तर (level of income) की ह्रास-वृद्धि का कारण न हो कर एक प्रतिफल है।

चालू पदार्थ और टिकाऊ पदार्थ

CURRENT GOODS AND DURABLE GOODS

एक विषय ऐसा भी है जिसमें परिमाण-सिद्धान्त के विभिन्न बीजगणितीय सामानुपातिक हिसाब बहुत ही उपयोगी हैं। वे इस बात पर जोर देते हैं कि सम्पूर्ण आर्थिक कार्यकारिता (economic activity) का मतलब मुद्रा से पदार्थों और सेवाओं का परिवर्तन ही है और यह कि इस हिसाब के दोनो पक्षों को सभी समय समान रहना चाहिए। मुद्रा सम्बन्धी आधुनिक सिद्धान्तों का रहस्य हमें ज्ञात हो जायगा यदि हम व्यय और मुद्रा की एक, थोड़ी दूसरे प्रकार की, समानता के सम्बन्ध में ध्यान दें—इसमें हम मुद्रा को इकाइयों की संख्या न मानें, पर आय के साधन होने के इसके मुख्य काम को मान्यता दें।

इस विचार से आय और व्यय के बीच एक आधारभूत समानता का तत्त्व होता है। हममें से हर आदमी की आमदनी एक या कई अन्य आदमियों के पास से आती है। उन आदमियों के लिए यही खर्च है। अर्थात् जो हमारी आमदनी है वही किसी का खर्च है। उदाहरणतः किसी सरकारी कर्मचारी को ४०० पौंड सालाना की आमदनी है, तो वह रकम उस कर्मचारी की आमदनी पर उस सरकारी विभाग का व्यय है जिसमें वह नौकर है। सरकार यही रकम टैक्स द्वारा राष्ट्रीय ऋण लेकर देती है और अब सरकार के पक्ष में वही आमदनी है तथा कर-दाता के पक्ष में इसे ही व्यय कहेंगे। इसी तरह सरकारी कर्मचारी को छोड़ कर जब हम दूसरी तरफ फिरते हैं तो देखते हैं कि लोग जो रुपया किराया, भोजन, कपड़ा या

फीस के रूप में खर्च करते हैं, वह उनके लिए तो खर्च है, पर वही उनके जमांदार, दूकानदार या डाक्टर-वकील की आमदनी है। किसी का खर्च ही किसी की आय है और हर एक खर्च किसी की आय उत्पन्न करता है (क)। इस चीज को एक सामानुपातिक हिसाव के रूप में भी लिखा जा सकता है—समाज भर का व्यय समाज भर की आय के बरावर है। पर इससे भी स्पष्ट यह होगा कि हम आयों और व्ययों को बड़ा परिचक्र-सा मानें जिसमें हर एक का व्यय कुछ की आय बनती है, फिर वह आय खर्च हो कर तीसरे की आमदनी बनती है और इसी तरह यह वृत्त घूमता है।

इसी स्थान पर हमें समाज द्वारा उत्पादित पदार्थों और सेवाओं के दो प्रकार के भेदों को समझ लेना चाहिए। हर साल समाज में कुछ पदार्थ बनते हैं और कुछ सेवाएं नियोजित होती हैं। इनमें से कुछ तो तुरत उपयोग में लाये जाने योग्य होते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जिनकी उपयोगिता वर्तमान का अतिक्रमण कर के आगे निकल जाती है। इन दोनो को हम चालू और टिकाऊ के नाम से पुकार सकते हैं। सभी प्रकार की सेवाएं स्वभावतः चालू पदार्थ हैं क्योंकि उनका उपयोग उसी समय हो जाता है। आप किसी दाई के काम को संचित करके रख सकते हैं क्या? पर पार्थिव पदार्थ दो तरह के हो सकते हैं। रोटी जो दूसरे ही दिन बासी हो जाती है, अखबार जो दूसरे ही दिन पुराना हो जाता है, एक कमीज जो कुछ दिनों बाद फट जातीं है—ये सभी चालू पदार्थ के उदाहरण हैं। मकान, जो उसमें रहने वालों को युगों तक पनाह देता है, जवाहरात जिनकी उपयोगिता आज जितनी है आगे भी उतनी ही रहेगी, करघा या लेथ (lathe) मशीन जो वर्षों तक अन्य किसी चीज के निर्माण में सहायता पहुँचाती रहेगी, वह कारखाना जिसमें लेथ चलतीं है, सड़कें और रेलपथ जिसपर यातायात होता है—ये सभी टिकाऊ पदार्थ हैं। इन दो प्रकार के पदार्थों के बीच का प्रभेद तो

(क) यहां पर यह कह देना उचित प्रतीत होता है कि "आय" शब्द को यहां हाथ में आने वाली मुद्रा के अर्थ में प्रयोग किया गया है। इससे वह अर्थ नहीं लेना होगा जिससे यह पूंजी से भिन्न पड़ती है।

बिलकुल साफ है पर दोनो वर्गों के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है। उदाहरण के लिए हम मोटर गाड़ी को कहां रखें जो आठ-दस साल तक चलती है, शरीर के कपड़ों को किधर जाने दें जो दो-एक वर्ष चल जाते हैं ? इन्हें क्या कहा जाय—चालू या टिकाऊ ? इसलिए मान लिया जाय कि सबसे अच्छी विभाजक रेखा एक साल की अवधि है। कोई पदार्थ जो प्रस्तुत होने के दिन से कम से कम साल भर के भीतर चुक नहीं जाता उसे टिकाऊ कहेंगे। बाकी सभी चालू हैं। (क) इसी बात को दूसरे इस ढंग से कहा जा सकता है कि टिकाऊ पदार्थों पर समाज जो व्यय करता है, वह समाज के कुल व्यय-परिमाण का वह अंश है जिसमें यह ताकत है कि वह समाज को एक साल के बाद धनी बनावे अर्थात् जो समाज का धन (assets) बढ़ावे। उधर चालू पदार्थों पर जो खर्च होता है वह समाज को चलाने में लगता है।

इस प्रकार साल भर में जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं या जो काम लगते हैं उन्हें दो भागों में विभक्त करते हैं—एक तो चालू पदार्थ और सेवा, दूसरे, टिकाऊ पदार्थ। अब इसी पर से यह कहा जायगा कि समाज की सम्पूर्ण आय के भी दो हिस्से हो सकते हैं—एक हिस्से में वह आय है जो चालू पदार्थ और सेवा से आती है और दूसरे में वह है जो टिकाऊ पदार्थों से पैदा होती है। और समाज के व्यय के हिसाब के दूसरे पक्ष में उसी तरह से व्यय और बचत के दो विभिन्न विभाग होते हैं। पर इस अध्याय का शेष सम्पूर्ण वक्तव्य इसी मार्मिक बात पर निर्भर करता है कि यद्यपि खर्च और बचत के बीच उसी तरह का भेद है जैसा

(क) आगे और एक कठिनाई ऐसी चीजों के सम्बन्ध में आती है जो साल भर के भीतर चुक तो जाती हैं पर यदि उन्हें संचित कर रखा जाय तो वे उसके बाद भी काम आ सकती हैं। उदाहरणार्थ कोयले को ले लें। हमलोग कोयले को चालू कहें या टिकाऊ। कोयले के सम्बन्ध में शायद सब से अच्छा वर्गीकरण यह होगा कि खर्च वाले कोयले को चालू वर्ग में रखें और जमा रखे जाने वाले कोयले को टिकाऊ कहें। चालू पदार्थों के स्टाक की घटती-बढ़ती असल में वह तरीका है जिसके द्वारा समाज के सम्पूर्ण टिकाऊ पदार्थों का परिमाण ऊपर नीचे चढ़ता-उतरता है।

भेद चालू पदार्थ तथा सेवा एवं टिकाऊ पदार्थों के उत्पादन में है, यह भेद एक ही तरह का नहीं है और एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण विषय पर यह भिन्न है। खर्च या खपत में कोई तकरार नहीं है—यह तो केवल चालू पदार्थ पर व्यय किया हुआ आय-भाग है। अलबत्ता इसमें केवल उन्हीं चालू पदार्थों का लेखा नहीं होता जो अलग-अलग एक-एक परिवार की खपत में आता है जैसे कि खाद्यान्न। वरन इसमें उन पदार्थों का भी लेखा-जोखा लिया जाता है जो उद्योग-धन्धों में लगते हैं, जैसे रूई, जूट आदि कच्चा माल।

एक व्यक्ति की बचत आय का वह भाग है जो खपत वाले पदार्थों पर व्यय नहीं होता। (क) इस परिभाषा में ध्यान देने का मुख्य तात्पर्य यह है कि बचत मनुष्य की आमदनी का वही भाग नहीं है जो मनुष्य टिकाऊ पदार्थों पर खर्च करता है। असल में हजारों ऐसे काम हैं जिन्हें मनुष्य अपनी बचत से करता है और टिकाऊ पदार्थों में रुपया लगा देना उनमें से एक है। किसी साल कोई आदमी अपनी वर्ष भर की कमाई में से यदि १००० पौण्ड बचा लेता है और उससे एक घर खरीद लेता है तो उसने दोनो काम किये हैं—बचत भी की है और फिर उस बचत को उसने टिकाऊ पदार्थ खरीदने में व्यय भी किया है। पर बचत को इस ढंग से खर्च करना नियम नहीं, एक अपवाद ही है। बचत को तो केवल नगदी के रूप में ही संचित करते हैं। या उससे किसी को ऋण दिया जा सकता है, उससे स्टाक या कम्पनी की भागीदारी का अंश (share) खरीदा जा सकता है या दूसरे व्यक्ति पर दूसरे तरह के दावे (claim) का क्रय हो सकता है। आज के समाज में नागरिक की सारी बचत टिकाऊ पदार्थों पर ही खर्च नहीं हो जाती।

(क) अथवा कर में भी व्यय नहीं होता। इस अवसर पर हम सरकार को व्यक्तिगत नागरिक का एजेन्ट मात्र मानलें और चालू पदार्थों और सरकारी नौकरों पर किये हुए खर्च को—उदाहरणार्थ सैनिकों को दिये गये वेतन और उनके खर्च को—करदाताओं का ही खपत वाला खर्च मानलें।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विभिन्न प्रकार के व्ययों में जितने सम्भव भेद हैं उन सब को छोड़ कर एक इसी को क्यों चुना गया है। कारण यह है कि यह व्यय सीधे मुद्रा पर प्रभाव डालता है। चालू पदार्थों में उत्पादक और उपभोक्ता के बीच जो सम्बन्ध है वह सीधा और निकट है। बहुत ही कम अपवाद इसमें है क्योंकि उपभोक्ता जिनकी मांग करते हैं, वे ही चालू पदार्थ तैयार किये जाते हैं और, उपभोक्ता जो मूल्य चुकाते हैं वह बीच के व्यक्तियों के पास से होता हुआ साधे उन सभी व्यक्तियों के पास जा पहुँचता है जिन्होंने उत्पादन में सहयोग दिया है। यहां पर मुद्रा केवल विनिमय-माध्यम का काम करती है। जब रोटी वाला अपने पैसों को मांस खरीदने में व्यय करता है तो मुद्रा मांस और रोटी के बीच केवल एक सुविधापूर्ण माध्यम का काम करती है।

पर बचत और स्थायी पदार्थों के मामले में मुद्रा केवल विनिमय-माध्यम नहीं है—वह मूल्य-कोष (store of value) भी है, यहां पर यह इसका एक अतिरिक्त काम है। जो लोग समाज में बचत करते हैं वे वहा नहीं हैं जो समाज में टिकाऊ पदार्थ खरीदते हैं और इन दोनो प्रकार के व्यक्तियों के बीच का सम्बन्ध बहुत टेढ़ा और दूरस्थ है। इस बात की गारन्टी नहीं है कि नागरिक जो द्रव्य बचाने की इच्छा करते हैं वह उन्हीं टिकाऊ पदार्थों का मोल है जिन्हें बिलकुल ही अन्य लोगों का एक दल खरीदना चाहता है। वास्तव में यह एक संयोग की ही बात होगी कि दोनो एक ही हो। जब कोई नानबाई रोटी बनाने का निश्चय करता है वह जान-बूझकर यह सोचता है कि उसके ग्राहकों को कितनी रोटी चाहिए और अगर वह अपनी दूकानदारी में पक्का है तो वह जो अन्दाज लगाता है वह प्राय: ठीक होता है। इस समय वह भविष्य-द्रष्टा बन जाता है और ग्राहकों की आवश्यकता के साथ अपनी आवश्यकता का सामंजस्य करता है। ऐसी बात बचत करने और टिकाऊ पदार्थों के उत्पादन में नहीं है। जो आदमी किराया लगाने के लिए मकान बनाता है वह अन्ततः इतना ही

सोचता है कि इस मकान का वाजिब किराया लोग देंगे या नहीं, (क) वह यह नहीं सोचता कि मकान बनाने के बीच में ही उसका दाम लोग उसे दे सकेंगे या नहीं। इसी तरह जो कारखाना खड़ा करता है वह भावी खरीदारों के विषय में ही सोचता है; वर्तमान में बचत करने वालों के विषय में नहीं सोचता। अब जो आदमी १०० पौण्ड बचा कर जमा करता है वह भी नहीं सोचने जाता कि कोई उसके लिए १०० पौण्ड कीमत का टिकाऊ पदार्थ उत्पादित कर रहा है या नहीं। वह यदि अपनी बचत को नगदी के रूप में रख लेता है तो भी उसके इस कार्य का उन व्यवसायियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जो टिकाऊ पदार्थ बनाते हैं। वह यदि अपने रुपये से स्टाक और शेयर भी खरीदता है तो जो ऋण-पत्र वह खरीदता है वह उन्हीं कम्पनियों की होती हैं जो वर्तमान हैं। केवल उसका रुपया जब किसी ऐसी कम्पनी के शेयर खरीदने में लगता है जो खड़ी होने जा रही है, और जो कारखाना चलाने के लिए पूंजी इकट्ठी कर रही हो और उससे कलकांटे और मकान बनाने के सामान खरीद रही हो, तभी कहा जा सकता है कि उसकी बचत टिकाऊ पदार्थ के क्रय में लग रही है। आजकल बचत का बहुत बड़ा अंश लिमिटेड कम्पनियों के हाथों ही होता है, जो अपनी आय का एक अच्छा भाग भागादारों को मुनाफा के बतौर न बांट कर सुरक्षित कोष में रख लेती हैं। फिर पूंजीमान (capital goods) कलकांटों की खरीद कर के उनका विस्तार वे इसी रुपये से करती हैं। पर इन अवस्थाओं में जो आदमी बचत करता है और जो आदमी टिकाऊ पदार्थ के लिए आर्डर देता है, दोनो एक ही हैं, पर दोनो कार्य दो समय में सम्पन्न होते हैं।

(क) किराया अलबत्ता एक चालू खर्च है। किराया की रकम मकान की कीमत में नहीं जाती। चाहे कितने ही दिन तक कोई किरायादार रहकर किराया देता रहे, वह मकान उसका नहीं होता। वह तो उस सुविधा का मूल्य किराया के रूप में देता है जो मकान मालिक उसके लिए मकान किराया देकर जुटाता है।

पूंजी और ऋण

CAPITAL AND DEBT

इस प्रकार मुद्रा, बचत और टिकाऊ पदार्थों एवं खपत और चालू पदार्थों के विचार से दो अगल-अलग स्पष्ट भूमिका अदा करती है। यह केवल विनिमय-माध्यम का ही काम नहीं करती, पर मूल्य-कोष (store of value) का भी काम करती है। जब कि १०० पौंड बचा कर रखने वाला आदमी अपनी बचत को मुद्रा-रूप में संचित रखता है या मुद्रा के बदले किसी मुद्रा-दावे (ऋण) के रूप में कर के उसे जोड़ता है, तब वह मुद्रा को केवल कोई टिकाऊ पदार्थ प्राप्त करने में विनिमय-कठिनाई पार करने के साधन भर, अर्थात् विनिमय-माध्यम भर, की तरह ही इस्तेमाल नहीं करता। वह मुद्रा के रूप में अपनी बचत को रखता है और उसमें उसकी यह इच्छा रहती है, कि उसे जमा कर वह उस समय तक रखे, जब तक कि मकान खरीदने योग्य वह राशि न हो जाय या वह मकान बनाने के उद्देश्य से ही उसे जोड़-जोड़ कर रखता है। अथवा कोई पक्का चीज लेने या बनाने की इच्छा उसे न हो और वह बुढ़ापे में रोटी-कपड़े के लिए उसे जोड़ कर रखता हो।

इन विभिन्न प्रकार की आर्थिक बचतों में जो ध्यान देने की बात है वह यह है, कि मुद्रा से ऐसा काम निकालने की चेष्टा की जाती है जो सचमुच सम्भव नहीं है। उस आदमी का उदाहरण लें, जो बुढ़ापे के लिए रुपया बचा-बचा कर रख रहा है। वह इस समय कोई चालू पदार्थ नहीं खरीद रहा है, जब कि वह स्वयं ऐसी चीजों के उत्पादन में समर्थ है, जो उसे चाहिए या जिनसे अदल-बदल कर वह अन्य इच्छित पदार्थ ले सकता है। वह रुपया जमा कर उस दिन के लिए रख रहा है, जब कि वह स्वयं कुछ भी उत्पादन नहीं कर रहा होगा। अगर संसार में मुद्रा का प्रचलन न होता तो उसका यह उद्देश्य कैसे पूरा होता? तब उसे यह करना होता कि चालू पदार्थों की राशि जमा कर के जब तक कि वह उन्हें स्वयं बनाने की क्षमता रखता है रखता जाय और बुढ़ापे में उसी राशि में से लेकर

खर्च करे—ठीक उसी तरह जिस तरह गिलहरियां जाड़े के लिए गर्मी में अन्न संग्रह कर रखती हैं। पर वह आदमी तो ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि अधिकांश चालू पदार्थ टिकाऊ नहीं हैं। यहीं पर मुद्रा से इस असम्भव काम को सम्पन्न कराया जा सकता है। हम ऐसे समाज की कल्पना करें जिसमें बचत की आदत नहीं हो या जो किसी प्रकार के टिकाऊ पदार्थ निर्मित न करता हो और उसका सम्पूर्ण आर्थिक क्रिया-कलाप चालू पदार्थों के उत्पादन में ही लगता हो। अब मान लें कि किसी साल अ एक सौ पौंड मूल्य बचा कर एक नयी रीति कायम करता है और उसका नोट लेकर रखता है। अब उसकी यह रकम उसे इस योग्य बनाती है कि वह अगले वर्ष १०० पौंड की अतिरिक्त चीज पाने का दावा करे—उससे अतिरिक्त जो वह स्वयं पैदा करता है। अब यदि समाज में और कोई बात न हो जाय तो दूसरे साल अ द्वारा उस संचित एक सौ पौंड के खर्च का मतलब समाज से उतने ही मूल्य के सामान की प्राप्ति का दावा है। पर समाज के अन्दर कोई अतिरिक्त सामान उत्पादन तो करता ही नहीं, इसलिए अ अगर अपनी इच्छा-पूर्ति करना ही चाहे, तो वह दूसरों को मजबूर करेगा कि वे अपनी सुख-सुविधा को उसके लिए कम करें।

यह काम प्रायः असम्भव है, पर यह असम्भव ऐसे सम्भव होता है कि समाज में लोग टिकाऊ पदार्थ भी बनाते हैं। टिकाऊ पदार्थ की परिभाषा यह बतायी गयी है कि उनका मूल्य सुरक्षित रहे। कल्पना करें कि जिस साल अ ने एक सौ पौंड बचाया, उसी साल ब ने एक सौ पौंड का टिकाऊ पदार्थ बनाया। ऐसी दशा में समाज एक सौ पौंड से अधिक समृद्ध हुआ और जब दूसरे साल अ ने अपना एक सौ पौंड खर्च करने के लिए निकाला, उस समय समाज के हाथ में साधारण वार्षिक उत्पादन के अतिरिक्त एक सौ पौंड का सामान और है। इसलिए उस साल का स्टाक हुआ वार्षिक उत्पादन, जोड़, एक सौ पौंड। ऐसी हालत में अ को उसका इच्छित सामान भी मिल जायेगा और किसी की सुख-सुविधा भी नहीं छिनेगी।

धन जब गाड़ कर रख दिया जाता है, तब लोग जो कुछ समझ कर ऐसा करते हैं और वास्तव में जो कुछ होता है, दोनो के बीच भारी वैपरीत्य होता है। व्यक्ति के लिए धन का कोष अथवा अन्य व्यक्तियों पर उसके ऋणों का समूह, उसका वास्तविक धन है, क्योंकि उस धन अथवा ऋण को वास्तविक वस्तु में वह बदल कर उनका उपभोग कर सकता है। उसके लिए यह बात सापेक्ष उपेक्षा (a matter of comparative indifference) की है कि उसका मूल्य-संचय मुद्रा के रूप में है, ऋण के रूप में है अथवा वास्तविक सम्पत्ति के रूप में है। केवल इतनी-सी बात है कि मुद्रा अथवा मुद्रा का दावा वास्तविक सम्पत्ति के ऊपर सुरक्षा, सुविधा और निर्वाह-योग्यता का गुण रखता है। किन्तु हमने बार-बार यह कहा है कि मुद्रा में कोई तात्त्विक मूल्य नहीं है। जिस समाज ने अपने परिश्रम का एक भाग अलग कर के टिकाऊ पदार्थों के निर्माण में लगा दिया है, वह निश्चय ही उस समाज से धनी है जिसके सदस्यों ने मुद्रा और नोटों का संग्रह कर के रखा है, यद्यपि इस समाज के लोगों ने अपने जीवन में पहले समाज के सदस्यों की अपेक्षा अधिक संयतता और मितव्ययिता बर्ती है। मुद्रा तो, अन्ततः समाज के ऊपर एक दावा है और कोई समाज दर्शनी 'डियों (IOUs) का ही संग्रह कर के धनी नहीं हो सकता।

व्यक्ति धन बचा सकता है, पर समाज नहीं। और चूंकि अंश सम्पूर्ण से महान नहीं हो सकता, इस कारण यह बात निकलती है कि मुद्रा का संचय (saving-in-money) जो सामाजिक वस्तु-संचय (saving-in-goods) से मिला कर नहीं किया जाता, व्यर्थ है—यह धन को पानी में फेंक देना ही है। ऐसा संचय न केवल व्यर्थ ही है, प्रत्युत यह भविष्य के लिए कष्टदायक भी सिद्ध होता है। क्योंकि जिन व्यक्तियों ने धन जमा किया है अथवा ऋण लगाया है, वे समाज से अपने धन के बदले वस्तु लेने की चेष्टा करेंगे ही। उधर समाज में वस्तु-वृद्धि हुई नहीं। फलतः उनकी चेष्टा से समाज प्रपीड़ित होगा। पूंजी और ऋण एवं ब्याज और गिहरकटी (usury)

में यही भेद है। इसलिए समाज यदि अपने को धनी बनाना चाहे और यदि वह अपने सदस्यों का जीवन-यापन-मान (standard of living) ऊंचा उठाने का अभिलाषी हो तो उसके लिए एक ही उपाय है और वह है वस्तु-संग्रह (accumulation of capital—that is, of useful durable goods) की वृद्धि करना। समाज ऐसे पदार्थों का उत्पादन बढ़ावे, जिनकी उसे आवश्यकता है, इसी से वह समृद्ध हो सकता है। और यही उपभोग्य पदार्थ बचत के द्वारा खरीदे जा सकते हैं। यह बात होने पर भी आश्चर्य का विषय यह है कि सम्पूर्ण आर्थिक इतिहास में बीसियों बार ऐसा युग आया है, जब कि व्यक्ति द्वारा संचित धन समाज द्वारा उत्पादित सम्पत्ति से ताल मिलाकर नहीं चला है और ऐसी अवस्था में उस मुद्रा-संचय ने समाज के ऊपर "गलत ऋण" का भार (legacy of dead weight debt) बढ़ाया है। ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाने पर मुद्रा की कीमत घटा कर फलतः ऋण-परिमाण को तोड़ कर समाज ने इस मुद्रा-भार से छुटकारा पाया है। इसी में इस बात की कैफियत छिपी हुई है, कि क्यों आरम्भ से लेकर अब तक मूल्यों के स्तर की वृद्धि ही होती चली आ रही है, और यह वृद्धि-क्रम उस समय से ही दृष्टिगत है, जब से हमारे पास लिखित इतिहास है। इसका दूसरा कारण यह भी मालूम पड़ता है कि धीरे-धीरे बहुमूल्य धातुओं की राशि बढ़ती गई है और इसे या तो मुद्रा में प्रयुक्त किया गया है अथवा यही मुद्रा-सृजन का आधार बना है। किन्तु मूल्य-वृद्धि का सामाजिक आवश्यकता वही ऋण-भार है, जो निरर्थक बने हुए मुद्रा-संचय के कारण उत्पन्न हुआ है और अगर सोने और चांदी ने समाज की यह सेवा न की होती तो समाज ने चांदी के स्थान पर कोई दूसरी मुद्रा-धातु ढूंढ़ी होती।

मुद्रा की मांग

MONETARY DEMAND

मुद्रा की बचत को साकार वस्तुओं के निर्माण में परिणत करने की विफलता के कारण जो दुरवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं उनमें सबसे प्रमुख ब्याज और गिरहकटी(usury) ही नहीं है। व्यवसाय-चक्र के भीतर कार्यहीनता आदि की जो अन्य स्थितियां आती हैं उनकी भी जड़ इसी के भीतर पाई जा सकती है। इस तत्त्व को दिखाने के लिए थोड़ा अधिक विस्तार से हमें यह समझाने की चेष्टा करनी है कि मुद्रा की बचत और सम्पत्ति की बचत (निर्माण)—इन दोनो विषयों के बीच क्या भेद है। इसलिए इसके आगे, विषय को अच्छी तरह समझने के लिए, हम मुद्रा की बचत और वस्तु की बचत के लिए दो व्यावसायिक शब्दों का प्रयोग करेंगे। पहिली को हम केवल बचत लिखेंगे और दूसरी को विनियोग (investment)। हम विनियोग को अब से इसके प्रचलित ऋण-प्रदान अथवा शेयर की खरीदारी आदि के अर्थ में व्यवहृत न कर के सम्पत्ति-संचय के अर्थ में प्रयुक्त करेंगे।

अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए हमलोग अब एक ऐसे समाज की कल्पना करें जिसकी कुल आय १ अरब पौंड सालाना की है। इस आय या कमाई में ९० करोड़ पौंड वार्षिक तो यह समाज चालू पदार्थों के ऊपर व्यय करता है और शेष १० करोड़ पौंड यह बचा लिया करता है। इस समाज में प्रतिवर्ष १० करोड़ पौंड का टिकाऊ पदार्थ, मानलें, बनता है। इस तरह बचत और विनियोग, दोनो इस समाज में दस-दस करोड़ पौंड सालाना हो जाता है।

अब कल्पना करें कि किसी कारण से यही समाज अचानक २० करोड़ पौंड वार्षिक बचत करना प्रारम्भ कर देता है। इस परिवर्तन का पहला परिणाम यह होगा कि चालू पदार्थ जो उसका ९० करोड़ पौंड का व्यय प्रतिवर्ष पहले था वह झटपट ८० करोड़ पौंड पर आ जायगा। इसका अर्थ यह हुआ कि चालू पदार्थ की मांग में ह्रास हो गया। पर उधर यह मानने का भी कोई कारण नहीं है कि चालू पदार्थ के ह्रास के साथ-साथ टिकाऊ पदार्थ के उत्पादन

में १० करोड़ की वृद्धि हो गई। यह सही है कि समाज अब १० करोड़ और बचा रहा है जिसको वह स्थायी अथवा टिकाऊ पदार्थ के क्रय में लगा सकता है। पर इस तरह से इस अतिरिक्त बचत का उपयोग होगा इसकी गारंटी क्या है ? इसके प्रतिकूल, जैसा कि पहले बताया गया है, संभावना यही रहती है कि जो लोग यह अतिरिक्त बचत करते हैं वे उस रकम से कम ही कोई टिकाऊ पदार्थ भी खरीदते हैं। व्यवसाय जो अधिकतर टिकाऊ पदार्थ खरीदते हैं—मकान बनाने वाले, कारखाने वाले—वे इस बात से उत्साहित नहीं होते कि जनता क्या बचत कर रही है। वे तो यह देखते हैं कि उनके सामान की खपत क्या हो सकती है और जब वे देखते हैं कि चालू पदार्थ की खपत ९० करोड़ से घटकर ८० करोड़, पौंड पर आ गई है और इसके फलस्वरूप ऐसे माल बनाने के धंधे में मंदी और उसमें लगे हुए काम-काजियों में बेकारी आ गई है, तब तो वे अपने धंधे में नये मकान या नया कारखाना खोलने में और निरुत्साह-से हो जाते हैं, परिणामतः यद्यपि बचत के परिमाण में वृद्धि होने से विनियोग या सम्पत्ति-अर्जन में भी वृद्धि होनी चाहिए पर इस बीच मुद्रा के कूद पड़ने के कारण ऐसा नहीं होता। इस तरह उस समय इस समाज में चालू पदार्थ की खपत और टिकाऊ पदार्थ का अर्जन, दोनो एक ही साथ कम हो जाते हैं। इस समय हर तरह के सामान की खपत कम हो जायगी और ऐसा लगने लगता है कि समाज, अपने उत्पादित माल को खुद ही उपभोग करने में असमर्थ या अनिच्छुक है। मांग के अभाव में मूल्य-स्तर गिरने लगेगा और बेकारी बढ़ेगी। संक्षेप में व्यवसाय-चक्र की अधोगति प्रारम्भ हो जायगी।

समाज में जब अचानक बचत करने की झक सवार हो जाय तो उसका यही परिणाम होता है कि बचत और विनियोग के बीच का संतुलन नष्ट हो जाता है। यही असंतुलन तब भी पैदा हो जायगा जब कि विनियोग में ह्रास हो जायगा अर्थात कारबारी लोग मकान और कारखानों में रुपया लगाना छोड़ देंगे। अब हमलोग पुनः उसी समाज की बात को लेकर देखें जिसकी वार्षिक आय १ अरब

पौंड है और जिसकी बचत और विनियोग १० करोड़ पौंड वार्षिक प्रत्येक मद में है। अब यह कल्पना करें कि इस समाज का टिकाऊ पदार्थ का उत्पादन सहसा शून्य हो जाता है। तब क्या होता है ?

तब इसकी पहली प्रतिक्रिया बेकारी के रूप में आती है। उन उद्योग-धंधों में, जो टिकाऊ पदार्थ बनाते हैं, भारी बेकारी फैल जाती है। ऐसे समय समाज की जनसंख्या के दसवें हिस्से के पास कोई आमदनी नहीं रह जाती। परिणाम यह होता है कि लोग चालू पदार्थ पर कम खर्च करते हैं। हालत यह है कि अगर सचमुच उनके पास बचत जमा न हो, अगर बेकारी का बीमा न रहे या कुछ लोग दान-पुण्य करने वाले न हों तो वे अपने खाने-पीने पर भी एक पैसा व्यय करने की स्थिति में न रहें। पर इस दशा से उधर चालू पदार्थ बनाने वालों की आमदनी में न्यूनता आ जायगी और वे भी अपना खर्च कम करना आरम्भ कर देंगे। जब समाज में टिकाऊ पदार्थों का उत्पादन सहसा बंद हो जाता है तो उसकी सही प्रतिक्रिया यह होनी चाहिए कि बचत की प्रगति रुक जाय और इस कारण लोग चालू पदार्थों पर अधिक व्यय करना प्रारम्भ कर दें। इससे चालू पदार्थ की मांग सहसा बढ़ जाती है और जितने श्रमिक टिकाऊ पदार्थ-उत्पादन के धंधे से छंटकर बेकार पड़े थे वे सब चालू पदार्थ बनाने के धंधे में लग जायें। पर अब मुद्रा के इस बीच में भी पड़ जाने से बचत को कम करने का केवल यह रास्ता रह जाता है कि साधारण व्यापार की मंदी को और घनीभूत कर दिया जाय जिससे आदमी इतना तंगदस्त हो जाय कि एक पैसा भी बचा न सके।

इस प्रकार विनियोग के ऊपर यदि बचत होने लगे, चाहे वह बचत को बढ़ा कर की जाय या विनियोग को कम कर के, वह मन्दी की वही प्रमुख अवस्था लाती है जिसमें सभी तरह के पदार्थों की मांग कम हो जाती है। अब हम इसी पदक के दूसरे पक्ष की देख भाल करें। बचत या विनियोग की जब अधिकता हो जाय तब क्या होगा ?

पहले हम लोग विनियोग की अधिकता के मामले को ले कर विचार करें। ऐसी अवस्था में व्यवसायीगण टिकाऊ पदार्थों के लिए अधिक आर्डर देना आरम्भ करते हैं। इसका मतलब यह है कि टिकाऊ पदार्थ बनानेवालों की आय बढ़ता है, जो चालू पदार्थ पर अधिकाधिक खर्च करते हैं। और चूंकि चालू पदार्थों पर अधिक रुपया खर्च होने लगता है, व्यवसायी टिकाऊ पदार्थ के लिए अधिकाधिक चाह करने लगते हैं। उपभोक्ता जब खपत के पदार्थों पर अधिकाधिक रुपया खर्च करने लगते हैं उसी समय मकानों के निर्माण में अधिक लाभ दीखता है—जिस समय वे अधिक बचत करते हैं उस समय नहीं। जिस समय रोटियों की बिक्री बहुत अधिक होगी उसी समय अधिक तन्दूर बनवाये जायँगे। इसलिए विनियोग में अधिकता होने से सीधे टिकाऊ पदार्थों की चाह बढ़ जाती है, इससे चालू पदार्थों की मांग का विस्तार होता है और वह फिर पलट कर टिकाऊ पदार्थों की मांग में वृद्धि करता है।

इस प्रकार पुनरुद्धार का युग प्रारम्भ होता है। परन्तु यहीं पर हमें दो विभिन्न प्रकार के उद्धारों का परिचय देना है। यदि व्यावसायिक पुनरुद्धार सचमुच आ गया हो अर्थात् यदि मन्दी विदा लेने लगी हो तब यह चीज देखने में आयेगी कि मन्दी के प्रारम्भ पर बेकारों की संख्या बहुत भारी होगी, कारखाने बन्द हो गये होंगे या उनमें आधा काम हो रहा होगा, आदि। अब यदि इस अवस्था में, जिस प्रकार की साधारण मांग-वृद्धि का जिक्र ऊपर किया गया है, यदि वैसा हुआ तो उसका पहला प्रभाव यह होगा कि बेकार पड़े हाथ और पूंजी दोनो को काम मिल जायगा। समाज में उत्पादन की मांग जिस हिसाब से बढ़ेगी उसी हिसाब से उसका उत्पादन और काम-धाम भी बढ़ेगा। इसलिए कोई कारण नहीं कि ऐसे समय साधारण मूल्य-स्तर में स्फीति आये। हो सकता है, मामूली-सी कुछ वृद्धि हो क्योंकि मांग बढ़ने के साथ ही साथ सभी चीजों का उत्पादन बढ़ने लगे ऐसा तो नहीं हो सकता। विशेषत: कृषि-जन्य उत्पादन में यह बात लागू है। इस तरह मांग-वृद्धि के भार से कामतें कुछ चढ़ जा सकती हैं।

किन्तु साधारणतः उद्योग-धन्धा-प्रधान देशों में, व्यावसायिक पुनरुद्धार के प्रथम पर्व में, पहले बेकारी का निराकरण ही होता है पीछे मूल्य-स्तर की वृद्धि ।

किन्तु धीरे-धीरे जैसे-जैसे व्यावसायिक मन्दी में सुधार आता और चीजों की मांग बढ़ती जाती है एक के बाद दूसरी चीजों की पूर्ति कम होती जाती है । तब समाज उस स्थिति में आ जाता है जिसको 'पूर्ण कार्य-व्यस्तता' (full employment) (क) कहते हैं । अगर मांग बढ़ती ही जाय तो सुस्थिर वस्तु-राशि और नौकरियों के लिए अधिक रुपया दिया जाने लगेगा । इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि मजदूरी-वृद्धि और मूल्य-वृद्धि की चतुर्मुखी प्रवृत्ति पैदा हो जायगी । इसकी एक प्रतिपत्ति (corollary) है जो मुद्रा-सिद्धान्त के लिए दिलचस्प है । जब तक मांग की बढ़ती के कारण खाली पड़े हुए हाथ और पूंजी काम में लगती रहेगी और मूल्य-वृद्धि की कोई विशिष्ट प्रवृत्ति नहीं रहेगी, तब तक बचत बढ़ेगी, क्योंकि जब आदमी की आमदनी बढ़ती है तब वे अधिकाधिक बचत भी करने लगते हैं । इस तरह व्यावसायिक उद्धार के प्रथम पर्व (earlier phase) में बचत और विनियोग दोनों एक दूसरे के आगे-पीछे वृद्धि की ओर बढ़ते रहेंगे और इसमें विनियोग ही निकल जायगा (ऐसा न होगा तो यह होड़ रुक जायगी) । पर जब देश में पूर्ण कार्य-व्यस्तता की स्थिति पहुँच जाने पर भी विनियोग बढ़ता ही रहता है, तब इस धारा में परिवर्तन होता है । उस समय मूल्य-वृद्धि के कारण लोगों को अपना खर्च कम करना पड़ता है, चूंकि उनकी आय से उन्हें अब कम ही चीजें मिलती हैं । इससे सम्भवतः लोग

(क) पूर्ण कार्य-व्यस्तता का अर्थ यह नहीं है कि समाज का कोई भी आदमी खाली नहीं, प्रत्येक को कोई काम है । इसका अर्थ यही है कि काम के योग्य आदमी और लगाये जाने योग्य पूंजी बेकार नहीं पड़ी है । इस तरह देश में १० लाख आदमी का नाम भी बेकारी के खाते में रहे तो भी कहा जा सकता है कि वहां पूर्ण कार्य-व्यस्तता है । इस अवस्था में हो सकता है कि देश में कोयले के खानवाले बेकार हों जब कि इंजीनियरों की जरूरत हो या कोई ऐसा कारखाना खाली न हो जिनमें उन्हें काम मिले ; जब मांग के बराबर उत्पादन न हो सके तो पूर्ण कार्य-व्यस्तता समझना चाहिये ।

अपनी बचत को भी कम करने को लाचार होंगे क्योंकि जब आदमी के सामने मूल्यों की वृद्धि की अवस्था आती है तो लोग अपना खर्च कम करने की अपेक्षा बचत को ही काटते हैं। पर मूल्य-वृद्धि यद्यपि इस तरह मुद्रा की बचत में ह्रास ले आती है, इसका वही प्रभाव होता है जो बचत का होता है क्योंकि यह मनुष्य का अपना खर्च कम करने का लाचार करता है और इस तरह समाज टिकाऊ पदार्थों के उत्पादन के लिए छूट-सी पा जाता है। इसको कभी-कभी "बाध्यता मूलक बचत" (forced saving) कहते हैं पर किसी तरह का भ्रम शब्द-प्रयोग में न हो जाय इसलिए हम इसे "बाध्यता मूलक विरति" (forced abstention) या 'बचत करने की मजबूरी' लिखेंगे।

इस तरह हमलोग पुनरुद्धार-क्रम के, पूर्ण कार्य-व्यस्तता के पूर्व के और उसके पश्चात के—इन दो स्वरूपों के भेद देख सकते हैं। पहले स्वरूप में टिकाऊ पदार्थों के उत्पादन में लगने वाले साधन बेकारी के जंगल (pool of unemployment) में से निकलते हैं। समज की पूर्ण मुद्रा की आय की वृद्धि अपने साथ उत्पादन और नौकरी का सामानुपातिक वृद्धि लिये आती है और मूल्य-स्तर में भी कोई बहुत वृद्धि नहीं होता। जब समाज में पूर्ण कार्य-व्यस्तता की अवस्था आ जाती हैं तब मूल्य बढ़ते हैं, उससे जनता पर 'बचत करने की मजबूरी' आती है, इससे पूंजी और श्र म दानो खाली छूट कर टिकाऊ पदार्थ की मांग की पूर्ति करने में लगते हैं। 'स्फीति' और संस्फीति से जिन विभिन्न अवस्थाओं की सूचना मिलती है, वे यही हैं।

बचत के ऊपर जो विनियोग की वृद्धि होती है उसका यही फल होता है। बचत का ह्रास हो, तो भी ऐसा ही फल निकलता है। बचत का ह्रास और तात्कालिक खर्चों में वृद्धि दोनो एक ही चीजें हैं। इस तरह चालू पदार्थों की मांग टिकाऊ पदार्थ की मांग में बिना ह्रास लाये हुए बढ़ती है। सचमुच चालू पदार्थ की चलती और मांग के फलस्वरूप उसका काम बढ़ने से टिकाऊ पदार्थों की मांग भी बढ़ जाती है। इस तरह पुनरुद्धार-प्रक्रिया (process of recovery) निकल पड़ती है और आगे बढ़ती है, जैसा कि हम पिछले उदाहरण में

दिखा चुके हैं। और जब यह प्रक्रिया आगे बढ़ कर पूर्ण कार्य-व्यस्तता की अवस्था को पहुंच जाती है, तब उसमें एक सुस्पष्ट परिवर्तन होता है।

बचत और विनियोग के प्रभावों को दृष्टिगत करने का संभवतः यही उपाय अच्छा है कि हम उस चित्र को देखें जो पहले खींचा गया है। इसमें दिखाया गया है कि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था (economic system) एक विशाल चक्राकार मुद्रा-धारा है जो एक व्यक्ति से दूसरे के पास तक जाती है, जिसमें एक आदमी का खर्च दूसरे की आय बन जाता है और आय का हर तत्त्व किसी के लिए खर्च का मद जुटाता है। जब बचत की जाती है तो समझना चाहिए कि इस मुद्रा-धारा में से उतना अंश निकाल लिया जाता है और जब विनियोग किया जाता है तो समझना चाहिए कि उस धारा में उतना द्रव्य मिलाया गया। इसलिए जब बचत की रकम विनियोग से बढ़ जाती है तब समझना चाहिए कि इस धारा में जितना अंश मिलाया जाता है उससे अधिक निकाला जा रहा है। इस तरह धारा दिन-दिन पतली होती जाती है और समाज का हर आदमी अनुभव करता है कि उसकी आमदनी पहले की अपेक्षा घट गई है। जब तक विनियोग से बचत बढ़ती जायगी लोगों की आय भी घटती रहेगी और बेकारी बढ़ेगी। पर यदि बचत की अपेक्षा विनियोग बढ़ने लगे तो आमदनी और खर्च दोनो बढ़ेंगे जब तक प्रायः हर चीज के लिए लागत से अधिक मूल्य मिलने लगेगा।

हमने कहा है कि बचत और विनियोग दोनो एक दूसरे के बराबर नहीं होते। पर अर्थ में दोनो बराबर भी हैं। क्योंकि समाज की आय वही है, जो उसका खर्च है और जब चालू पदार्थों की बिक्री से प्राप्त रकम को एक ओर से घटाते हैं एवं चालू पदार्थों की खरीदारी में लगे हुए रुपये को दूसरे ओर से घटाते हैं, तब दोनो ओर जो शेष बच जाता है वह समान होता है। आमदनी की ओर, जो रकम चालू पदार्थों के उत्पादन से न प्राप्त हुई हो वह टिकाऊ पदार्थों के उत्पादन से से प्राप्त होनी चाहिए अर्थात् वह विनियोग का रकम होगी। इसी तरह खर्च की

ओर सभी व्यय जो चालू पदार्थ पर न हुए हों, बचत के रूप में होने चाहिए। यह तत्त्व बहुत उलझन में डालने वाला और मूल सिद्धान्त की हत्या करने वाला दीख रहा होगा, पर ऐसा नहीं है। इसका सीधा अर्थ यही है कि जनता जो बचत करती है, उसका योग यदि विनियोग से अधिक हो, तब दोनो के बीच जो अन्तर है वह, वह हानि है जो व्यवसायी-समुदाय द्वारा उठाई गई है या वह रकम वह 'नकारात्मक बचत' (negative saving) है जो समाज पर मन्दी के कारण लद पड़ी है। और उसी तरह वह स्वेच्छया धनात्मक बचत (voluntary positive saving) जो जनता करती है, जब विनियोग के परिमाण से कम पड़ जाती है, तब व्यवसायी-समाज को जो अप्रत्याशित लाभ होता उससे कमी की पूर्ति हो जाता है। 'बचत' शब्द को यदि अच्छी तरह से परिभाषित करें, तो उसमें वे दोनो हानि और लाभ की रकमें आनी चाहिए जो अप्रत्याशित भाव से व्यवसायी-वर्ग पर आकर पड़ जाती हैं। यदि इस परिभाषा को मान लें, तब बचत हमेशा विनियोग के बराबर होती है। पर व्याख्या के विचार से यह कहना अधिक सुविधाजनक है कि 'बचत' से उस बचत का अभिप्राय है जो जनता उस समय करती है, जब कि व्यवसाय के अनचाहे ढंग से बहुत अच्छा और बहुत खराब हो जाने पर उसकी अभिलाषाएं उलट-पलट नहीं हो जातीं। इसलिए यदि हम 'बचत' की परिभाषा यह करें कि 'बचत आय का वह अंश है, जो खर्च से बच कर अपने आप उबर जाय' तो इस शब्द की ठीक-ठीक परिभाषा के निकट पहुंच सकते हैं। और इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि बचत विनियोग से बढ़ गई या घट गई।

हमारे कह देने की ही यह बात नहीं है, ऐसा मानना ही होगा, यदि हम व्यवसाय-चक्र की वास्तविकता को समझना चाहें। क्योंकि यद्यपि प्रशस्त अर्थ (wider sense) में बचत—अर्थात् बचत + लाभ–हानि—सदा विनियोग के मूल्य के बराबर होती है, फिर भी उस अर्थ में जिसमें हमलोगों ने बचत शब्द का व्यवहार किया है—अर्थात् स्वेच्छापूर्ण धनात्मक बचत—विनियोग के बराबर हो, तभी सम्पूर्ण आर्थिक

स्थिति सुस्थिर रह सकती है। यदि बचत विनियोग से अधिक हो, और दोनो के बीच जो अन्तर है वह हानि के कारण हो, तो साधारण मांग का स्तर और समाज का कारबार तेजी से घटती पर होगा और यह तब तक घटता ही जायगा, जब तक जनता की आमदनी इतनी न घट जाय कि जो स्वेच्छापूर्ण बचत वह करती है, वह टिकाऊ पदार्थ के उत्पादन से होनेवाली लब्धि (value) से भी अधिक न हो और यदि विनियोग से बचत कम हो तो साधारण मांग का स्तर और कारबार की स्थिति विस्तार पाती जायेगी, जब तक या तो लोग अपनी वृद्धि-प्राप्त आय में से बहुत बचाते रहें और उससे टिकाऊ पदार्थ के उत्पादन का सामना करते रहें, अथवा मजदूरों की कमी से विनियोग के परिमाण में कमी करने की लाचारी पड़ जाय।

इसलिए समझना चाहिए कि व्यवसाय-चक्र में राष्ट्रीय आय का बारी-बारी से प्रसार और संकोच होता है अर्थात समाज के सभी व्यक्तियों की सम्मिलित आय एक बार तो बढ़ जाती है फिर घटती है। ऐसा ही चलता है। तेजी के दिनों में कुछ ऐसी ही बात होती है कि विनियोग बचत से नीचे गिर जाती है। यह अंतर थोड़ा ही हो पर यह राष्ट्रीय आय के ह्रास का क्रम प्रारम्भ कर देता है। बचत तो अलबत्ता घट ही जाती है पर विनियोग भी इससे घट सकता है क्योंकि मंदी आ जाने से यह लाभ हीन एवं जोखिम का काम मालूम होने लगता है। इस तरह से बचत और विनियोग दोनो एक दूसरे को एक अनिष्टकर मार्ग में पीछा करते चलते हैं और जब तक दोनो का परिमाण समान हो तब तक राष्ट्रीय आय का भारी पतन हो चुका होता है। इसी तरह ऊपर की गति में, संतुलन बनाये रखने और गति की दिशा को पलट देने के लिए आवश्यक जो परिवर्तन राष्ट्रीय आय में होना चाहिए, वह उस छोटे-से अन्तर से कई गुणा अधिक बड़ा हो सकता है जो इस चक्र के चल पड़ने के समय मौजूद हुआ था। इस तरह से एक छोटा प्रारम्भिक परिवर्तन राष्ट्रीय आय के भारी परिवर्तन का कारण बन सकता है। इन दोनो के बीच जो अनुपात है उसका नाम 'गुणक' (multiplier) दिया गया है।

पर इससे पहले कि हम यह देखने चलें कि व्यवसाय-चक्र में बचत और विनियोग की क्या प्रकृति होती है, हमको कुछ रुकना चाहिए। हमें पहले तो यह देखने के लिए रुकना चाहिए कि किस प्रकार इस अत्यन्त विषम सिद्धान्त का मेल मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त से होता है। दूसरे हमको यह देख लेना चाहिए कि मुद्रा के सम्बन्ध में जो कई प्रकार के गलत सिद्धान्त मान्य हो रहे हैं, वे क्या हैं।

बचत और विनियोग का जो सिद्धान्त है वह कई ऐसे प्रश्नों का समाधान मुद्रा-व्यवहार के सम्बन्ध में देता है जो मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त नहीं दे सकता। उदाहरण के लिए यह समझा जा सकता है कि क्यों मुद्रा का अभाव, सदा ही या कुछ-कुछ हमेशा, तेजी को रोक दे सकता है पर रुपये का बाहुल्य व्यावसायिक परित्राण (recovery) का प्रारम्भ नहीं कर पाता। कभी किसी भी समय में जो विनियोग किया जाता है उसका कुल का कुल भाग या कम से कम अधिकांश भाग बैंकों से लिया हुआ रुपया होता है। अब यदि बैंक वाले नये ऋण देने से इनकार कर देते हैं अथवा यदि वे बहुत अधिक ब्याज लेते हैं तो इसके फल-स्वरूप विनियोग में बाधा होगी और वह बचत से पिछड़ जायगी। किन्तु दूसरी तरफ विनियोग किया जाता है लाभ की आशा में और अगर लाभ की कोई सूरत ही न हो तो, रुपया चाहे कम ब्याज पर और सरलता से भी मिले, तो भी व्यवसायी वर्ग नये विनियोग की ओर आकृष्ट नहीं हो सकता। हम पुनः मोटर के गवर्नर की उपमा यहां लाना चाहेंगे—यह गवर्नर मोटर को एक विशेष सीमा से आगे जाने से तो रोक सकता है पर यह मोटर को और तेजी से दौड़ा नहीं सकता या जब मोटर रुक जाये तो उसे स्टार्ट नहीं कर सकता। मंदी जब अपने सब से निचले स्तर पर पहुंच गयी हो उस समय बहुत बड़े परिमाण में मुद्रा का सृजन उसी समय कुछ लाभकारी प्रभाव पैदा कर सकता है यदि इसके चलते विनियोग में वृद्धि हो। क्योंकि यह भी संभव है कि मुद्रा के प्रभूत सृजन को देख कर लोग शंकित हो जायें और इस बात से डर कर कि सरकार की यह अन्धाधुंध नीति कहीं उसे दिवालिया न बना दे वे विनियोग बढ़ाने के स्थान पर उसे समेटने की चेष्टा करके एकदम उलटी बात न कर दें।

बचत और विनियोग का सिद्धान्त परिमाण-सिद्धान्त के उस तत्त्व पर भी प्रकाश डालता है जो गोपन रह जाता है अर्थात् भ्रमण-प्रवाह पर भी प्रकाश पड़ता है। पिछले अध्याय में हमलोग इस सुझाव से आगे नहीं बढ़ सके कि भ्रमण-प्रवाह धन के उस अंश पर निर्भर करता है जिसको लोग मुद्रा के रूप में ढाल कर रखना चाहते हों। हमलोग यह कारण भी निकाल सकते हैं कि क्यों जब यह अंश बढ़ने लगता है तो बढ़ता ही चला जाता है और जब गिरावट शुरू होती है तब क्यों यह गिरता ही चला जाता है। पर परिमाण-सिद्धान्त हमें यह नहीं बता सका है कि ये दोनो तरह की चीजें क्यों होती हैं। अव हमलोगों को इसके समझने का एक गुर (clue) मिल गया है। क्योंकि आदमी जब बचत करते हैं तो अपने धन का अधिकाधिक भाग मुद्रा में परिवर्तित करके रखते हैं और जब वे कोई विनियोग करते हैं तो वे अपने धन को मुद्रा में से खींच कर टिकाऊ पदार्थ में लगा देते हैं। फलतः जब बचत विनियोग से बढ़ जाती है तब समाज सामूहिक रूप से धन के उस भाग को जो वह मुद्रा अथवा मुद्रा के दावे के रूप में रखना चाहता है, बढ़ाता है। इसी कारण भ्रमण-प्रवाह की गति कम हो जाती है। जब बचत की अपेक्षा विनियोग बढ़ने को होता है तब उलटे तत्त्व काम करते हैं।

पर यह कहना कि रुपया जमा करने के प्रतिकूल क्रिया केवल यही है कि उसे चीजों की खरीद में फँसा दिया जाय, विषय को बहुत हलका करके कहना है। जनता के बहुसंख्यक भाग के लिए रुपये का उलटा वे सब चीजें हैं जो मुद्रा-तुल्य (near-money) कही जाती हैं और जिनका वर्णन अध्याय दो में हुआ है। अगर जनता के हाथ पर उसके खर्च के अन्दाज से अधिक रुपया हो तो वह ऋणपत्र खरीद लेती है—ऐसा जिसे वह मुद्रा-तुल्य ही समझती है। और जब वे रुपये का अभाव देखते हैं तो ऋणपत्रों का बेच डालते हैं। अब उसे यदि ऋणपत्र बेचने न होते, तो वह बैंक से कर्ज ले लेती है जो स्वयं भी ऋण बेच देते हैं जिससे कि उनके तलपट में ऋण विनियोग की और गुंजाइश हो सके।

वर्तमान मुद्रा के परिमाण और जनता जितना रुपया बचत करना चाहती है वह,

इन दोनो के बीच क्या सम्बन्ध है यह तब तक समझा नहीं जा सकता जब तक इन मुद्रा-तुल्यों के स्वरूप का हिसाब नहीं रख लेते। स्मरण होगा कि दूसरे अध्याय में इन मुद्रा-तुल्यों के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए हमने देखा है कि सभी जगह तरलता और आय के बीच झगड़ा रहता आया है। कोई मुद्रा-तुल्य या ऋणपत्र जितना ही तरलता के निकट रहेगा उतना ही कम ब्याज उसपर प्राप्त होगा। हम चाहें तो एक ऐसा वृत्त-चाप बना लें जिसमें ब्याज की दर को लम्ब-धुरी (vertical axis) पर चित्रित किया जा सकता है और ऋणपत्र में जो अवधि रहती है उसे क्षैतिज धुरी (horizontal axis) पर अंकित कर सकते हैं। यह चाप दाहिनी ओर तेजी से उठता होगा—बायीं ओर पेंदी में पड़े हुए उन रुपयों से जिनपर कुछ भी ब्याज नहीं मिलता उठ कर 'कन्सोलों' (consols) पर मिलने वाली ब्याज-दरों की ओर दाहिनी ओर को यह चाप उठेगा। यह चाप दाहिनी ओर तो उठेगा हमेशा पर इसकी ऊंचाई सदा बराबर होगी और इसका आकार भी नतोदर (concave) से बदल कर उन्नतोदर (convex) हो जायगा।

किसी विशेष समय जो धन जनता बचत करना चाहती है (जिसके परिणाम-स्वरूप उसे 'तरलता-प्रेम' कहेंगे) वह निरपेक्ष मुद्रा नहीं है—यह उस ब्याज-दर पर निर्भर करती है जो मुद्रा से मुद्रा-तुल्य में परिवर्तित होते हुए प्राप्त हो सकती है। अगर मुद्रा-तुल्यों पर प्राप्त होने वाली ब्याज-दर बहुत नीची हो तब तो जनता चाहेगी कि ऋणपत्रों के बदले वह नगद मुद्रा ही संग्रह करे। पर यदि ऋणपत्रों की ब्याज-दर ऊंची हुई तो जनता नगद रखने का हठ छोड़ देगी और ऋणपत्रों में रुपया फँसायेगी। इस प्रकार, जिसे मुद्रा की सामान्य मांग कहा जाता है, उसका परिचय हम केवल यही कह कर नहीं दे सकते कि "यह जनता के धन का वह भाग है जिसे वह तरल रूप में रखना चाहती है"। इसमें इतना और जोड़ना होगा कि "इसपर ब्याज की प्राप्ति की ओर भी दृष्टि रखकर विचार किया जाता है"।

यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण गुण है और इसको बाजार की गतिविधि समझ कर हम आसानी से देख सकते हैं। पहले हमलोग उस पेचीदी परिभाषा को बदल

दें--"जनता अपने सम्पूर्ण धन का जो भाग ब्याज की प्राप्ति की ओर भी दृष्टि रखते हुए, तरल रूप में रखना चाहती है, वही मुद्रा की सामान्य मांग है"। इस वाक्य को हम **वि** नाम दे दें। अब हमलोग कल्पना करें कि समाज में वर्तमान में जो मुद्रा-परिमाण है जिसको **मु** नाम दिया गया है, किसी कारणवश **वि** से घट जाता है, अर्थात जनता और अधिक रुपया रखना चाहती है। ऐसा दो में से एक कारण से हो सकता है। या तो यह इस कारण हो सकता है कि केन्द्रीय बैंक ने बैंक डिपॉजिट को कम करने का निश्चय किया हो और अपनी सम्पत्ति को बेचना शुरू कर दिया हो। इस तरह वह सदस्य-बैंकों के नगदी सुरक्षित कोष को भी कम कर रहा होगा और उन्हें भी लाचार होकर अपना कारबार समेटना पड़ेगा। अथवा यह इस कारण हो रहा हो कि जनता ने अपना "तारल्य प्रेम" (liquidity preference) किसी कारण छोड़ दिया हो और मुद्रा-परिमाण के सम्बन्ध में अपना विचार बदल दिया हो जो वह उस समय की चालू ब्याज-दर में जमा रखना चाहती होगी। कुछ भी हो, चाहे **मु** घट गयी हो अथवा **वि** बढ़ गया हो, रुपये का अभाव हो ही जाता है। इस समय हर आदमी की चेष्टा यही होती है कि मुद्रा के उस वृत्त के सिरे को घुमा कर हम मुद्रा की ओर ले जायँ। हर आदमी यह प्रयत्न करेगा कि ऋणपत्रों को बेच कर रुपया जमा कर लें। यदि रुपये का परिमाण स्थिर रहा तो उन्हें सफलता होने की नहीं। जितनी मुद्रा है उससे अधिक संचित करने को कहां से आ जायगी? मुद्रा-तुल्य को वास्तविक मुद्रा में परिवर्तित करने के प्रयत्न में हर आदमी अपने ऋणपत्र बेच रहा होगा। इस तरह उनका बाज़ार-मूल्य गिर गया होगा या यों कहें कि उनको हाथ में रखने से जो ब्याज मिलने वाला था उसकी दर ऊंची होगी।

यह प्रक्रिया जारी रहेगी (यह भी मानना चाहिए कि उधर मुद्रा का परिमाण स्थिर ही रहेगा) और एक दिन ऋणपत्रों की ब्याज-दर ऐसी प्रलोभनकारी हो जायगी कि हर आदमी अपने रुपये को ऋणपत्रों में परिवर्तित करने को लालायित हो उठेगा। इस समय तक **वि** गिर कर **मु** के बराबर हो जायगा। जनता

द्वारा रुपये की मांग और इसकी पूर्ति दोनो को पुनः संतुलन में लाना होगा, पर ऊंची व्याज-दर पर। यदि केन्द्रीय बैंक **मु** को बढ़ाकर **वि** की वृद्धि को संभाल लेने की प्रवृत्ति रखता तो यह सब बातें न होतीं। उस समय मुद्रा की बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए और मुद्रा निर्मित हो जाती और ऋणपत्रों को बेचने की आवश्यकता न होती। कहने का मतलब यह कि तब ऋण की लेवा-बेची न होती। जनता का वह भाग जो अधिक रुपया संचित कर रखना चाहता है उसे कहीं मुफ्त में तो रुपया मिल नहीं जाता। उसे रुपये के लिए अपने ऋणपत्रों को बेचना पड़ता है। पर केन्द्रीय बैंक द्वारा नये नगद सुरक्षित कोष की सृष्टि से सदस्य बैंकों को भी साथ ही साथ यह प्रेरणा मिलती है कि वे बाजार में जायँ और ऋणपत्र क्रय करें और यदि यह काम ठीक-ठीक हुआ तो उसमें खरीदारी में बिक्री समा जायगी। किसी भी तरह से, यह सिद्धान्त स्पष्ट है कि यदि **वि मु** से बढ़ जायगा तो या तो अतिरिक्त मुद्रा-निर्माण करना पड़ेगा नहीं तो ब्याज-दर चढ़ जायगी।

इससे उलटे मामले में, जहां **मु वि** से बढ़ जाती है, इससे उलटी दशा होती है। **मु** का आधिक्य दो कारणों से हो सकता है। (१) या तो जनता अपना मुद्रा सम्बन्धी आकर्षण कम कर दे और **वि** को कम हो जाने दे अथवा (२) जब कि केन्द्रीय बैंक बिना जनता द्वारा मांग उपस्थित हुए अधिक मुद्रा का सृजन कर दे। पिछले तरह की बात बहुत-से देशों में हुई है जब कि शासन ने अस्पष्ट परिमाण-सिद्धान्त की भूलभुलैया में पड़ कर मन्दी की अत्यन्त ह्रासावस्था में जनसाधारण में अतिरिक्त मुद्रा ठूंसकर मूल्यों की वृद्धि करने और व्यवसाय बढ़ाने की चेष्टा की। इस परिमाण-सिद्धान्त के समर्थक स्वयं ही नहीं समझ सकते कि अतिरिक्त मुद्रा-सृजन भी ऐसी अवस्था में मूल्यों में वृद्धि नहीं लाता। प्रकट कारण यही है कि अधिकारी इतनी अधिक मुद्रा बना लेते हैं जितनी आवश्यकता जनसाधारण को नहीं है। नतीजा यह होता है कि मुद्रा के क्षेत्र में तो गतिविधि नहीं होती, हां मुद्रा-तुल्य के बाजार में इससे गोलमाल हो जाता है। मुद्रा-तुल्य-रूप ऋणपत्रों

का मूल्य खट से ऊपर चढ़ जाता है और ब्याज की आय कम हो जाती है और समाज में बहुत-सी अतिरिक्त मुद्रा विनियोग की खोज में सिर मारती रह जाती है। इसलिए यदि **मु वि** से बढ़ जाय तो **मु** को ही कम करना चाहिए अन्यथा ब्याज की दर इतनी गिर जायगी कि रुपया लगाना ही निरर्थक हो जायगा। जब तक **मु** घट कर या **वि** बढ़ कर एक दूसरे के बराबर न हो जायं, ऐसा ही होगा।

इस प्रकार, वास्तविक रूप में वर्तमान मुद्रा के आयतन, इस मुद्रा में से जितना अंश लेकर जनता उसे तरलावस्था में रखना चाहती है वह, और मुद्रा-तुल्यों पर जो ब्याज-दर प्राप्त होती है वह—इन तीनो में एक त्रिकोणात्मक सम्बन्ध है। बीजगणित के रूप में इस सम्बन्ध को यों व्यक्त किया जा सकता है—

मु = वि द (**द** से मतलब ब्याज दर से है)

ध्यान में रखने का एक प्रमुख विषय यह है कि मुद्रा (**मु**) का स्तर बिलकुल केन्द्रीय बैंक द्वारा निश्चित होता है। जनता बैंक के इस निश्चय में कोई सहारा नहीं देती। पर **वि** (विनियोग) बिलकुल जनता के मन की चीज है और इसपर केन्द्रीय बैंक का कोई प्रभाव नहीं है। इन दोनो स्वतन्त्र विचार-तत्त्वों को एक दूसरे से मिलाने का काम **द** का है।

इससे यह बात निकलती है कि **मु** में कृत्रिम रूप से लाये हुए परिवर्तन का मूल्य-स्तर पर प्रभाव पड़ना कार्य-कारण के साधारण प्रक्रिया-स्वरूप नहीं होता, (जैसा कि परिमाण-सिद्धान्त के मानने वाले समझते हैं)। इसमें तो एक बहुत ही पेचीदी, एक दूसरे से सम्बन्धित प्रतिक्रिया निहित है। **मु** में परिवर्तन का प्रथम परिणाम, यह मानते हुए कि **वि** में इसी के साथ कोई परिवर्तन नहीं हुआ, ब्याज-दर पर परिलक्षित होता है। इससे बचत और विनियोग के बीच जो सम्बन्ध है, उसमें परिवर्तन होता है। यह कैसे होता है? यह अगले परिच्छेद में समझाया जायगा। इस परिवर्तन से कारबार के स्तर में परिवर्तन होता है और तब मूल्य-स्तर में परिवर्तन होता है। ये सब परिणाम **मु** को छुए बिना **वि** में परिवर्तन लाकर भी लाये जा सकते हैं। इसलिए परिमाण-सिद्धान्त बहुत हलका

है, यद्यपि यह नहीं कह सकते कि यह गलत है। अपने मौलिक अर्थ में तो यह भी दुरुस्त ही है। बचत और विनियोग के बीच का जो सम्बन्ध है वह कार्य-व्यस्तता और मूल्यों की अल्पकालीन ह्रास-वृद्धि का संचालन करता है। अगर बचत विनियोग से बहुत अधिक हो तो, मूल्य-स्तर अपने साधारण स्तर से नीचे चला जायगा और अगर वह विनियोग से कम हुआ तो मूल्य-स्तर अपने स्तर से ऊंचा उठ जायगा। परन्तु सभी चीजों का साधारण स्तर तो खुद ही मोटा-मोटी वर्तमान मुद्रा के परिमाण पर निर्भर करता है। यह बात कि १ टन कोयले का दाम ३ पौंड के ही आसपास घूमता-फिरता रहता है, ३ शिलिङ्ग या ३० पौंड के आसपास नहीं, वर्तमान पौंडों की प्रचुरता अथवा अभाव पर टिकी हुई है। और इन पौंडों का सम्बन्ध लगा हुआ है, उत्पादित तथा प्राप्त सामानों तथा नौकरियों के परिमाण से। मुद्रा की पूर्ति में बिना किसी खास वृद्धि के भी एकाएक मूल्यों में तेजी आ सकती है पर जब तक अतिरिक्त मुद्रा का सृजन नहीं होता और जब तक स्थायी रूप से काफी मुद्रा जनता के हाथ पर नहीं आती, तब तक मूल्य में स्थायी रूप से बहुत उच्च स्फीति नहीं हो सकती। इसको यों कहा जा सकता है कि मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त समुद्र के साधारण तल की कैफियत बताता है और बचत-विनियोग-सिद्धान्त इस बात की कैफियत देता है कि समुद्र में भीषण ज्वार क्यों आ गया ?

इस कारण इस परिच्छेद में जो सिद्धांत उपनीत (expounded) हुआ है वह परिमाण-सिद्धांत की अपेक्षा वास्तविकता के अधिक निकट है। यह उन मौलिक प्रवृत्तियों को प्रकट करता है, जिनका प्रकाश मुद्रा और मूल्य की प्रवृत्ति का केवल ऊपरी लक्षण है। और इससे यह बात प्रकट होती है कि मुद्रा से जब असंभव कुछ कराने की चेष्टा की जाती है, तभी गड़बड़ी होती है—अर्थात् जब समुदाय की ओर से धन जमा करने का सामूहिक प्रयत्न न हो रहा हो, तब यदि व्यक्ति धन जमा करने की चेष्टा करे तब गड़बड़ी होगी। यह विचार अर्थशास्त्रियों द्वारा हाल में स्वीकृत किया गया है। पर स्वतंत्र विचारकों ने—जिनमें बिलकुल अशिक्षित लोगों से

लेकर अर्थज्ञान रखने वाले शास्त्री तक हैं—इस बात को माना है कि प्रभूत व्यावसायिक आवर्त मन्दी (cyclical depression) आय की कमी के कारण आती है, मुद्राभाव के कारण नहीं। इसी तत्त्व को कट्टर अर्थशास्त्री वर्षों से मुद्रा-परिमाण पर आश्रित भ्रमजाल में घूमते आ रहे थे। जिन लोगों ने विषय के इस मार्मिक तत्त्व को समझ भी लिया, उनमें से भी सभी, इस तत्त्व का तर्क-संगत कारण देने में सफल नहीं हो सके। विशेषतः इस विषय में दो भारी गलतियां (fallacious reasoning) की जाती रही हैं। अपने मुख्य मार्ग से हट कर, इन दानो के ऊपर भी, इसी स्थल पर दृष्टि डाल लेनी उचित होगी।

दो भूलें

FALLACIES

इन भूलों में पहली भूल तो इस कारण होती है कि लोग यह तो देख लेते हैं कि आय और व्यय के चक्राकार प्रवाह में बचत एक खोखला स्थान पैदा करती है, पर वे ही यह नहीं देख पाते कि विनियोग इसी खोखले स्थान को भरता है। इसलिए सिद्धांतवादी प्रायः यह बहस करते हैं कि समाज की आर्थिक प्रगति में यह नैमित्तिक प्रवृत्ति होती है कि समाज का व्यय उन वस्तुओं के उत्पादन-व्यय से कम होता है, जो बाजार में बिकने के लिए रखी हुई हैं। १९३१ में जो संकटापन्न व्यापारिक स्थिति अमेरिका में उपस्थित हुई थी, उससे पहले इस सिद्धान्त के एक रूप को सर्वश्री केचिंग्स और फोस्टर बड़े जोर-शोर से प्रतिपादित करते थे। इस सिद्धान्त का सब से उग्र तत्त्व जिसे उस समय सबसे अधिक लोग मानने लगे थे, वह है जिसे मेजर सी० एच० डगलस और सोशल क्रेडिट मूवमेन्ट नामक संस्था प्रतिपादित करती थी। मेजर डगलस के मतानुसार जितना भी धन बचाया जाता है, वह जनता की क्रयशक्ति की उतनी ही हानि है। न केवल बचत किया गया धन, किन्तु वह सम्पूर्ण धन जो उत्पादन में लगता है और जो लौट कर उपभोक्ता के हाथ में नहीं जाता, उत्पादकों के पास रह जाता है, समज की क्रयशक्ति का

नाश है। उनका कहना है कि उदाहरणार्थ बैंक को दिया जाने वाला ब्याज, कल-कांटों की रगड़-घिस (depreciation) के बदले जो रुपया रख लिया जाता है वह, अन्य उत्पादकों को कल-कांटों के मूल्य के रूप में जो दिया है वह, और कच्चे माल की कीमत तक, बरबाद जाती है। उनका कहना यहां तक है कि आय और व्यय के चक्राकार प्रवाह में, इस तरह का बचत और मुद्रा-संकोचन के कारण लगता है (क) कि कभी-कभी तो ९० प्रतिशत तक मुद्रा की हानि हो जाती है और उस प्रवाह में इतनी चौड़ी दरार पड़ जाती है। इस हिसाब से केवल १० प्रतिशत लागत मुद्रा पुन: उपभोक्ताओं के पास पलट पाती है और उसी का प्रवाह चलता है। इस तरह का हिसाब करना तो साफ-साफ मूर्खता है और उसको दिखाना व्यर्थ है। पर इस सम्बन्ध में इतना कह देना अच्छा है कि उद्योग-धन्धों द्वारा जो कुछ मूल्य उत्पादन-व्यय के रूप में चुकाया जाता है, वह उपभोक्ता के निमित्त जाता है या किसी अन्य के, इससे क्या ? कौन उन रुपयों का प्रथम प्राप्तकर्त्ता है, इससे हमारे विचार में बाधा नहीं पड़ती। हमको यही देखना है कि रुपये अचल नहीं हो जाते, वे फिर पलटकर दूसरे के हाथ में आते हैं या नहीं और इस तरह वे उपभोक्ताओं को ही घूम-फिर कर मिल जाते हैं या नहीं ? जैसे एक नानबाई के उत्पादन-व्यय में वह मजदूरी भी शामिल है, जो वह अपने मजदूरों को देता है। ये मजदूर भी तो रोटी की खरीद करते हैं। इसी तरह आंटे के लिए दिया हुआ दाम, बिजली के लिए दिया गया खर्च, मजदूरी, ब्याज आदि सभी किसी न किसी के हाथ जाते हैं और वे पलट कर उसका व्यय करते हैं। अब यह बात इस आर्थिक प्रवाह चक्र के पूर्णतः चालू रहने के लिए आवश्यक है कि नानबाई का दिया हुआ कुल रुपया उपभोक्ताओं के हाथ में जाय और वे उससे रोटी खरीद कर खायें। इस परिचक्र में बाधा इसी से पड़ती है कि नानबाई के दिये हुए रुपये पाने वाले उन

(क) ऐसा लगता है—क्योंकि मेजर डलगस के सम्पूर्ण सिद्धान्त में ऐसे ही गोल-माल हिसाब किये गये हैं और उनकी सम्पूर्ण विचार-धारा ऐसी ही राजनीतिक, सामाजिक और साम्प्रदायिक मूर्खताओं से भरी हुई है।

रुपयों में से बचत कर के अपने पास रखने लगें और वह पलट कर इस परिचक्र में सम्मिलित न हो। अगर कोई आदमी रुपया बचा कर न रखे तो वह उसे खर्च करे, और वह खर्च करे तो यह खर्च और आमदनी का चक्र चलता रहे। यह हो सकता है कि नानबाई से रुपये पाने वाले सभी रुपये रोटी पर ही न खर्च कर के अन्य वस्तुओं पर भी खर्च करें, पर इससे क्या, वह चक्र तो फिर भी चलता रहेगा। हमलोगों ने बचत कह कर इस चक्र में से निकल जाने वाली सभी प्रकार की मुद्रा-हानि का एक प्रकार से नाम ले दिया। और अगर कुछ आदमी जितना बचाते हैं, दूसरे आदमी उतना ही विनियोग करते रहें, तो इस धारा में से जितना निकले उतना ही फिर रख दिया जाया करे।

तब, खपत-हीनता के सिद्धान्त वालों (under-consumptionist) के लिए जवाब यह है कि ऐसा कोई स्थायी, अचूक और सिलसिलेवार कारण उपस्थित नहीं जो उपभोक्ताओं की आय को इतना कम कर दे, कि वे उद्योग-धंधों और कृषि के सम्पूर्ण उत्पादन को अच्छा लाभ देकर खरीद सकने के योग्य न हों। उनकी आय कभी-कभी अयथेष्ट हो सकती है और कभी-कभी वही यथेष्ट से बहुत अधिक भी हो सकती है और इसकी व्याख्या खपत और विनियोग के सम्बन्ध से हा सकती है। खपतहीनता के सिद्धान्त वाले कभी ठीक कहते हैं और कभी गलत पर इसी से उनके कथन की अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।

यदि यह विश्वास आप करते हैं कि बचत के कारण मुद्रा-प्रवाह (money-system) में बड़ा-सा खोल पड़ जाता है, तो इसका स्पष्ट उपाय यही मालूम होगा कि अतिरिक्त मु ा-सृजन के द्वारा आप इस खोल को भर दीजिए। कुछ लोग चाहेंगे कि यह अतिरिक्त मुद्रा ऋण के रूप में उत्पादकों अर्थात् व्यवसायियों के हाथ पर रख दी जाय। अन्य लोग चाहेंगे, और इन्हीं में मेजर डलगस भी हैं, कि यह मुद्रा उपभोक्ता के हाथ में अर्थात् जन-साधारण के हाथ में दान-रूप में

जाय (क)। पर दोनो सिद्धान्तवादी दल इस बात पर सहमत हैं कि बचत के द्वारा जितनी मुद्रा इस अर्थिक प्रवाह में से निकल जाती है उतनी नई मुद्रा बना कर पुनः रख दी जाय। अब यदि यह मुद्रा-सृजन उस समय होता है, जिस समय बचत विनियोग से बढ़ कर होती है और यदि इससे विनियोग की प्रवृत्ति को नई तेजी प्राप्त होती है तो यह अच्छा ही है। पर ऐसा लगता है कि सन्तुलन के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह युक्ति करना बहुत बड़ा 'द्राविड़ी प्राणायाम' (round about method) है। अनुभव ने सिद्ध किया है कि व्यापारियों को सीधे आसानी से ऋण मिल जाने से कुछ भी नहीं होता। अब उपभोक्ताओं के हाथ में रुपया रख देने की युक्ति को अगर देखें, तो उसमें भी कुछ अनुभव है। १९३६ में अमेरिका में इसी ढंग पर एक विशाल प्रयोग "बड़े बूढ़ों को उपहार" (so-called veterans' bonus) वितरण के रूप में किया गया था। इसका नतीजा बहुत कुछ वही हुआ, जो सोचा गया था—अर्थात् चालू चीजों की खरीदारी तो इस उपाय से अस्थायी रूप से खूब बढ़ गयी, पर इससे विनियोग की वृद्धि बहुत कम हुई।

दूसरी दलील जो इस दलील से भिन्न और इससे कहीं अच्छी और कम त्रुटिपूर्ण है, वह स्वर्गीय श्री जे. ए. हॉब्सन द्वारा बहुत ही योग्यता से वर्षों तक दी जाती रही है। श्री हॉब्सन का कहना था कि धन के असमान वितरण से धनियों के हाथ में जो अतिरिक्त धन आ जाता है वह इतना अधिक हो जाता है कि वे सबका उपयोग कर नहीं सकते। परिणाम-स्वरूप बचत अधिक करने लगते हैं। लेकिन ऐसी बात कहने में शायद हॉब्सन का यह अभिप्राय नहीं था कि बचत विनियोग से बढ़ जाती है, क्योंकि उसने साफ-साफ यह देखा कि यह बचत गाड़ कर रखी नहीं जाती, लगा दी जाती है। उसका कहना था कि यह अतिरिक्त बचत

(क) उदाहरणार्थ मैकमिलन कमेटी के सामने अपनी गवाही देते हुए मेजर डलगस ने एक योजना रखी, कि किसी भी वस्तु के प्रत्येक खरीदार को उसके द्वारा चुकाये गये मूल्य का २५ प्रतिशत उसे नई मुद्रा के रूप में दिया जाय और वह बैंक में जमा कर दिया जाय।

लगा तो दी जाती है पर उद्योग-धंधों वाले सा बचत से और भी अच्छे यंत्रादि और उत्पादन का और भा वृद्धि-प्राप्त साधन इकट्ठा कर लेते हैं। इसका भी नतीजा वही होता है अर्थात् इस बढ़ी हुई उत्पादन-शक्ति से उत्पादन इतना बढ़ जाता है और बाजार में इतनी अधिक चीजें आ जाती हैं कि जनसाधारण उन्हें खरीद ही नहीं सकता। इससे उत्पादन की अतिशयता (over-production) पैदा हो जाती है और परिणाम मंदी होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि विनियोग इसी अंदाज से किया गया कि वह बचत से अधिक न हो, तो भी इस मंदी को उसी साल तक रोका जा सकता है—आगामी एक या दो वर्षों में पुन: इतना अधिक उत्पादन होने लगता है कि चीजों से बाजार पट जाता है और फिर वही मंदी आ जाती है। हॉब्सन का यह अभिप्राय नहीं था कि बचत होने से ही विनियोग बढ़ता है। किन्तु उसका कहना था कि वर्तमान समय में बचत और विनियोग दोनो बहुत अधिक बढ़े हुए हैं इसलिए व्यवसाय-चक्र और बेकारी दोनो, धनी और गरीब के बीच धन के असम वितरण के कारण पैदा होते हैं।

यह साफ है कि धन के वितरण का कुछ प्रभाव बचत के परिमाण पर अवश्य होता है और इस कारण बचत और विनियोग के बीच का सम्बन्ध भी इससे प्रभावित होता है। यदि समाज में आय की भारी असमानता हो और बहुत धनिक आदमी समाज में हों तो निश्चय ही उस समाज में उस समाज की अपेक्षा अधिक बचत की जायगी जिसमें सब की आय समान हो। १० हजार पौंड सालाना आय करने वाला एक ही आदमी, १ हजार सालाना आमदनी करने वाले लोगों से अधिक बचत कर सकता है। और इस तरह यदि बचत का परिमाण बहुत अधिक हो तो ऐसे विनियोग की लाभदायक योजनाओं का अभाव हो जायगा जिनमें बचत का सम्पूर्ण रुपया लगा दिया जा सके। (क) इस तरह, आय की असमानता

(क) यदि इसी बात को अधिक सतर्कता से कहें तो कहेंगे, कि विनियोगों के ऐसे मद मिलना भी कठिन होगा, जिनमें रुपया लगा देने से इतना भी लाभ होगा कि पूंजी की ब्याज तक ऊपर हो सके।

के कारण विनियोग से बढ़कर बचत की जा सकती है और इसका परिणाम स्फीति का आगमन हो सकता है। परन्तु हॉब्सन का सिद्धान्त यह नहीं था। उसका तो कहना था कि धनियों द्वारा संचित अत्यधिक बचत की रकम यदि लगा भी दी जाय—और सचमुच यह लगा ही दी जाती है—तो भी मंदी नहीं रुक सकती। अब हमें देखना है कि यह ठीक है या नहीं, इसपर विचार करते हुए यह ध्यान में रखना है कि अगर यह सिद्धान्त सही हो तो इससे इस परिच्छेद में वर्णित सिद्धान्त गलत ठहर जाता है जो यह है कि जब बचत और विनियोग बराबर हो जाते हैं तो संतुलन की अवस्था आ जाती है।

पर कई ऐसे कारण हैं जिनसे हॉब्सन का निदान गलत ठहरता है। पहला कारण यह है कि मंदी ठीक उसी ढंग से नहीं आती जिस ढंग से हॉब्सन के सिद्धान्त के सही होने पर उसे आना चाहिए। उस हालत में मंदी आने के पहले बाजार में उत्पादित वस्तुओं की बाढ़-सी आ जानी चाहिए, जो ख़रीदार के अभाव में जमा हो कर दामों का गिरा देती है। पर ऐसा नहीं है। साधारणतः मंदी के संकट के आरम्भ में उत्पादित वस्तुओं की बाजार में एक तरह से कमी ही रहती है। और उस समय पूर्ति का संकट नहीं रहता है पर मांग के ह्रास का संकट उपस्थित होकर चीजों का दाम गिरा देता है। इन घटना-क्रमों की कैफियत दे दी जा सकती है (यद्यपि यह विचित्र ही है कि घटनाएं एक छद्मवेश लेकर, अपने असली रंग में न आकर ठीक उसके उलटे रंग में आयें)। पर हॉब्सन की विचार-परिपाटी द्वारा इस बात की कैफियत देनी अत्यधिक कठिन है कि पिछले २५ वर्षों में जब कि धनिकों की बचत की रकम निःशंसय रूप से अत्यधिक घटी है, 'तब बेकारी की समस्या भी कठिन से कठिनतर होती गई है' सुधरी नहीं। इसके अतिरिक्त यदि मन्दी अत्यधिक बचत और विनियोग की प्रक्रिया के कारण होती हो, जो धन के असम वितरण का ही परिणाम है, तो हमलोग इस बात की क्या कैफियत दे सकते हैं कि जिन दिनों धनिकों का विनियोग और बचत दोनो की हीनतम अवस्था रही है उन्ही दिनों मंदी भी सबसे गहरी रही है और जिन दिनों

ये दोनो चीजें अपनी सबसे उन्नत अवस्था में रही हैं उन्हीं दिनों व्यवसाय की तेजी (boom) भी रही है।

तो सचाई यह ज्ञात होती है कि हॉब्सन ने बचत के विनियोग का जो परिणाम निकाला है वह गलत है। यह विलकुल संभव है कि कभी-कभी विनियोग करने वाले माल की भावी मांग के संबंध में गलत अनुमान बांध लेते हैं, फलतः उनको विनियोग मिलने में असफलता होती है। परंतु यह यदि बरावर का परिणाम होता तो यांत्रिक उन्नति में जो द्रव्य लगाये गये हैं उनका अधिकांश भाग खो गया होता। पर हम जानते हैं कि वास्तव में, विनियोग के अधिकांश धन का अच्छा लाभ प्राप्त होता है और ऐसा नहीं हो सकता यदि उस धन से जो अतिरिक्त उत्पादन-वृद्धि होती है उसकी मांग यथेष्ट न होती। इसके अतिरिक्त, यांत्रिक प्रक्रिया में अतिरिक्त पूंजी लगाने पर आपसे आप उत्पादन बढ़ जाय, ऐसा सदा नहीं होता। इसके विपरीत यह होता है कि और पूंजी लगाने पर उत्पादन और सस्ता होता है। इसलिए मांग के बढ़ जाने का कारण चीजों का सस्तापन है जो मांग को आकर्षित करता है और इस वजह से उत्पादन बढ़ता है।

किन्तु 'अत्यधिक उत्पादन' सिद्धान्त (over-production theory) के विरुद्ध इनमें से कोई भी बहुत निर्णयात्मक कारण नहीं ज्ञात होता जैसा इस सिद्धान्त का विश्वास है। हम मानलें कि विनियोग के प्रभाव से उत्पादन में भारी वृद्धि हो जाती है। इन पदार्थों को बनाने के लिए किसी को धन देना पड़ा होगा। उन चीजों के मूल्य का पाई-पाई उस धन का प्रतिनिधि है जो उसके उत्पादन के सिलसिले में किसी को दिया गया है—चाहे वह मजदूर हो, कच्चा माल देने वाला हो अथवा ऋण देने वाला हो। बिक्री के लिए किसी चीज के उत्पादन में खर्च कर के उधर बहुत-सी आमदनी भी कर दी गई होगी। इस तरह जो आमदनी लगा दी गयी उसका उपयोग चाहे उसी वस्तु के क्रय में न किया जाय उससे दूसरी चीजें खरीदी जाती हैं और इस

तरह मांग की कमी नहीं रहती। चीजों की मांग में ह्रास करने के लिए केवल एक ही वस्तु है, वह यह कि सम्पूर्ण आय में विनियोग के द्वारा जितना कुछ जोड़ा जाय उसमें से बचत के द्वारा उससे अधिक निकाल लिया जाय।

इसलिए "मांग से अधिक उत्पादन" का जो सिद्धान्त है वह, "खपत की न्यूनता" के सिद्धान्त (under-consumption theory) के समय एक अर्थ में कभी-कभी सही भी है। पर इसकी जो व्यवस्था दी जाती है वह पूर्णतः गलत है। आय के असमान वितरण के कारण बचत और विनियोग भले ही बराबर न हो सकें, पर यदि किसी तरह वह बराबरी पर आ जाय तो समाज में पूर्ण कार्य-व्यस्तता की स्थिति आ सकती है, चाहे आय की असमानता रह जाय। सचमुच किसी नये देश में जहां लाभकारी विनियोग करने के बहुत-से अवसर मिलते हैं, यदि आय की बहुत अधिक समानता हो, तो उससे बचत की रकम में बहुत कमी हो जाती है और इस कारण उस समाज की आर्थिक प्रगति या तो मन्द पड़ जाती है, अथवा वहां बराबर 'स्फीति' की स्थिति होने की सम्भावना रहता है। रूस में, जहां सोवियत क्रान्ति ने जनता की आय को बहुत कुछ समान कर दिया है (यद्यपि यह समानता उतनी पूर्ण नहीं है जितना समझा जाता है), सरकार के लिए यह संभव नहीं हुआ कि जनता के द्वारा स्वेच्छा से बचत की जाने की बात पर निर्भर रह सके। लोगों पर पंचवर्षीय योजना जैसा विशाल आर्थिक कार्यक्रम लाद कर, विनियोग की विराट योजना प्रस्तुत कर दी गयी है और इस उद्देश्य से उसने सोवियत आर्थिक व्यवस्था में बचत की एक ऊंचे स्तर की दर चला दी है (अर्थात् उत्पादन के मुकाबले खपत को कम कर के रखा है)। रूस में जो हो रहा है, वह रूसी जनता अपने मन से और बिना दबाव के कभी न कर सकती। पर अब इसी विचार-धारा के दूसरे पहलू पर अमेरिका में ऐसे अर्थशास्त्री भी हैं, जो यह कहते हैं कि यदि अमेरिकी जनता को अपने पर छोड़ दिया जाय तो अपने आप इतनी बचत करेंगे, जितनी कि अमेरिका की परिपक्व आर्थिक दशा (mature economy) भी पचा नहीं सकेगी। इसी

कारण वे बताते हैं कि यदि विस्फीति की दशा (cronic deflation) को कायम रखना न हो तो चाहिए कि या तो अमेरिकी सरकार अपने ही मन से भारी-भारी विनियोग के कार्यों को प्रारम्भ करे अथवा आय को गरीबों में बांट दे जो अधिक बचत नहीं करेंगे। इन सारी बातों का निष्कर्ष यह ज्ञात होता है कि किसी देश में धन का जो वास्तविक वितरण होता है, उससे बचत और विनियोग दोनो को बराबर करने में शायद कठिनाई अनुभव हो। पर सदा ऐसा नहीं होता और न असन्तुलन बराबर एक ही ओर होता है। एक ही देश में कभी-कभी यह बात एक ओर से दूसरी ओर पलटती भी रह सकती है। इस तरह १९वीं सदी में ब्रिटेन में जो आर्थिक अवस्था थी, उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि उस समय देश में बचत की अधिकता रही होगी और उसका इलाज यही था कि आय का नये ढंग से वितरण किया जाता। पर १९४० के बाद और फिर १९५० के बाद भी वही देश बचत के ह्रास से पीड़ित हो रहा है।

बचत, विनियोग और व्यवसाय-चक्र

SAVING, INVESTMENT AND THE TRADE CYCLE

इस अध्याय में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है उसके ठोस एवं विश्वसनीय सिद्ध होने के मौके दो-एक बार आ भी चुके हैं। इन मौकों पर वह खरा उतरा है। फिर भी यह देखना बाकी है कि व्यवसाय-चक्र के सिद्धान्त में इसको बिना जोर जबरदस्ती किये बैठाया जा सकता है या यहीं? क्या यह सिद्धान्त इस बात की कोई कैफियत दे सकता है, कि क्यों साधारण मांग, कारबार की भीड़ और मूल्य-स्तर, सब कुछ वर्षों तक एक ही साथ ऊपर चढ़ते हैं और फिर एक साथ नीचे गिरने लगते हैं? क्या यह स चीज को भी समझा सकता है कि क्यों 'स्फीति' में 'विस्फीति' का बीज छिपा रहता है और 'विस्फीति' 'स्फीति' की सम्भावना पैदा करती है?

इस तथ्य को समझने के लिए पहली आवश्यकता यह देखने की है, कि वे कौन-से प्रभाव हैं जो समय-समय पर बचत और विनियोग में, जो इस सिद्धान्त के आवश्यक तत्व हैं, परिवर्तन लाया करते हैं।

बचत का परिमाण अन्ततः और दूर चल निकलने के बाद जनता की मितव्ययिता पर निर्भर करता है। किसी समाज की १ अरब पौंड की वार्षिक आय में से कितना बचा लिया जायगा यह कई प्रकार के तत्त्वों पर आश्रित है। उदाहरणार्थ यह इस बात के अधीन है कि उस आमदनी में कितने जन भागीदार हैं। अगर यह एक अरब पौंड ही सम्पूर्ण ब्रिटेन की जनता का प्राप्य हो, तो आज के मूल्य-स्तर में हमलोगों की स्थिति भुखमरी के इतने आसपास होगी कि उसमें से बचत कर सकना ही असम्भव होगा। फिर बचत का परिमाण इस बात से भी प्रभावित होता है कि परिवार में बच्चे कितने हैं अथवा आय के वितरण में कितनी सापेक्ष (comparative) समानता तथा असमानता है।

इस बात पर खपत के खर्चीले साधनों का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ आज मोटर या विमान-यातायात में बहुत अधिक पैसा निकल जाता है। हमलोगों की बचत अच्छी हो सकती थी यदि मोटर न होती। दूसरी ओर बचत करने के जो आसान तरीके हैं वे सम्पूर्ण बचत के कुल योग में वृद्धि करते हैं। (क) जीवन-बीमा अथवा कई तरह की पेंशनों की योजना ऐसे ही तरीके हैं। बचत पर जो ब्याज-मिले उसपर भी बचत का परिमाण निर्भर करता है यद्यपि यह पूर्व की अपेक्षा दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा है। ऐसे भी तराके हैं जिनमें ऊंची ब्याज-दर पर भी बचत की अधिक प्रेरणा नहीं हो सकती, उदाहरणार्थ ब्याज की दर स्थायी रूप से ऊँची हो जाय तो जीवन-बीमाओं पर जो प्रीमियम लगता है उसकी दर भी कम हो जाती है। इससे काम-काज से विरत आदमी के लिए भी यह सम्भव होता है कि वह अपनी छोटी-सी एकत्र पूँजी के सहारे रह सके। और

(क) जब तक इन फण्डों में से जितना निकाला जाता है उससे अधिक उसमें डाल दिया जाता है।

दोनो हिसाबों में उन लोगों के द्वारा कम बचत की जा सकती है जिनकी बचत इतनी ही है कि वे केवल जीवन-बीमा के द्वारा अपने बुढ़ापे की व्यवस्था करें। परन्तु साधारणतः यह आशा की जाती है कि बचत के ऊपर प्राप्त होनेवाली ऊंची दर का ब्याज समान अवस्था में नीची दर के ब्याज की अपेक्षा लोगों को अधिक बचत करने की प्रेरणा दे।

फिर भी एक साल से दूसरे साल की बचत के परिमाण में जो न्यूनाधिकता होती है, उसके लिए इनमें से कोई भी कारण सर्व प्रधान नहीं माना जा सकता। न साधारण मितव्ययिता, न जनता की संख्या, न पारिवारिक सदस्यों की संख्या, न मोटरों की आवश्यकता हर साल बदलती रहती है। किसी साल जनता कितनी बचत करेगी, इस विषय का सर्व प्रधान निर्णय यह है कि उसकी आय कितनी कम या अधिक है। जितनी अधिक आय होगी, उतनी ही अधिक बचत जनता करेगी। जब आय का परिमाण घट जाता है, तब बचत का परिमाण भी घट जाता है। परन्तु समाज की आय के आकार में, जैसा कि इसी अध्याय के प्रारम्भिक अनुच्छेदों में बताया जा चुका है, बचत और विनियोग के बीच स्थित सम्बन्धों का परिणाम है। इसके कहने का अर्थ यह है कि बचत का परिमाण व्यवसाय-चक्र का परिणाम है, कारण नहीं।

फिर भी हमें बचत को सामयिक कारण से खारिज नहीं कर देनी चाहिए। किसी भी समय बचत का जो वास्तविक परिमाण उठाया जाता है वह दो तत्त्वों पर निर्भर करता है—एक तो वह है जिसे हम जनता का झुकाव (propensity) कहते हैं और दूसरा उसकी आमदनी का आकार। यह जनता का झुकाव ही है, जो यह निश्चय करता है कि चलो १ अरब पौंड की आय में से १० करोड़ पौंड बचाया जायगा या २ अरब पौंड में से २२½ करोड़ बचा लेंगे या ४ अरब पौंड में से ५० करोड़ बचा डालेंगे, और इसी तरह आय बढ़ने पर बचत की दर भी बढ़ती जायगी। और यह परिणाम जनता की एक विशाल संख्या के व्यक्तिगत निर्णय पर टिका रहता है। जनता की आमदनी का आकार व्यापार की दशा पर निर्भर है और

इस दृष्टि से भी बचत का परिमाण भी उपस्थित स्थिति का परिणाम ही है उसका उत्पादक तत्त्व नहीं।

अब हम विनियोग की ओर देखें और यह पता लगावें कि इसके आकार के निर्णायिक कारण क्या हैं। कोई विनियोग करने का विचार जब किसी व्यापारी के मन में आता है तब वह किन-किन विषयों पर विचार करता है? उसके मन में सब से पहले यह प्रश्न उठता है कि वह जो विनियोग करना चाहता है उससे उसे लाभ होगा या नहीं—वह इस विनियोग से फायदे में रहेगा या घाटे में। किसी विनियोग में लगे हुए रुपये से जो आमदनी होती है उसके बीच लाभ का ही सम्बन्ध है। अब विनियोग की सब से मुख्य प्रवृत्ति यह है कि उससे जो कुछ मिल सकता है वह भविष्य की वस्तु है। यह इस बात से भी निकलता है कि परिभाषा के अनुसार विनियोग वह है जो स्थायी पदार्थों में लगाया जाय। मनुष्य जब कोई मकान बनाना चाहता है तो वह बार-बार यह अनुमान लगाता है कि कितने वर्षों तक उससे कितनी आमदनी होगी और शायद जितनी लम्बी अवधि तक आमदनी आती रहने का उसका अनुमान होता है उतना ही अधिक अनुमान के गलत ठहर जाने की संभावना भी रहती है। इसके अतिरिक्त उस विनियोग से मिलने वाला लाभ, (मान लीजिये कि २० साल में) हमलोगों के जानते बिलकुल निश्चित और स्पष्ट हो, फिर भी व्यापारी के विचार इसके विषय में विभिन्न होंगे। जैसे, यदि इस समय मंदी है तो अभी मकानों की मांग कम होगी और मकानों के रोजगार करने वाले इस बात से भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे यद्यपि आज की स्थिति आगामी २० साल तक या उससे भी अधिक साल तक नहीं रहेगी और भावी स्थितियों का कोई भी अवधारण वर्तमान स्थिति से नहीं हो सकता—इससे उनको कोई सरोकार ही नहीं है। इस तरह यद्यपि विनियोग का सम्बन्ध केवल भविष्य से होता है, उसपर वर्तमान स्थिति का बराबर प्रभाव पड़ा करता है। इसके अतिरिक्त ऐसे बहुतेरे बाहरी कारण भी होते हैं जो विनियोग के परिमाण पर काल्पनिक या

वास्तविक प्रभाव डालते हैं। कोई नया आविष्कार—रेलवे जिसका ज्वलन्त उदाहरण है—सहसा अप्रत्याशित और नवीन लाभदायक विनियोग-क्षेत्र उपस्थित कर दे सकता है। तो भी साधारणतः हम कह सकते हैं कि प्रधान प्रभाव जो विनियोग की वास्तविक लाभकारिता पर नहीं प्रत्युत व्यापारियों द्वारा लगाये गये लाभदायकता के अनुमान पर डालता है, वह वर्तमान काल में उपस्थित मांग है। इसी कारण जब कभी मंदी आती है, चाहे वह जिस किसी कारण से भी आई हो, यह विनियोग के आयतन को कम करती आती है।

विनियोग पर अपेक्षित आय के विषय में इतना हुआ। किसी विनियोग की लाभदायकता के विषय में विचार करते हुए, इसकी आनुमानिक आय के साथ एक और तत्व सम्मिलित हो जाता है। वह तत्व इसका व्यय है। खर्च से मतलब किसी टिकाऊ पदार्थ के बनाने में मजदूरी और सामान पर जो व्यय होता है वह है। उदाहरणार्थ यदि मकान निर्माण की मज़दूरी बहुत चढ़ गई हो और यदि ईंट, सीमेन्ट, लोहा, लकड़ी, शीशा आदि सभी चीजें बहुत व्यय-साध्य हो गई हों तो आज के बने हुए मकान पर भविष्य में कुछ लाभ निकलने की संभावना बहुत कम होगी। पर किसी ऐसे पदार्थ के निर्माण-व्यय में, जिसमें भविष्य में लाभ की आशा में अभी ही पूंजी लगानी पड़ती है, सब से प्रधान तत्व संभवतः वह ब्याज है जो काढ़ी हुई (borrowed) पूंजी पर देना पड़ता है। (क) जब कोई व्यवसायी

(क) विनियोग या सम्पत्ति-अर्जन अधिकतर काढ़े हुए धन से ही किया जाता है। यदि यह जमा रुपये के द्वारा भी किया गया हो या चालू खाते से रुपया निकाल कर विनियोग करने का विचार हो तो इसके द्वारा सम्भव आमदनी की इसपर लगनेवाले ब्याज के साथ वजन कर के देखा जाता है कि कौन अधिक न्यून होता है। आदमी यह सोचते हैं कि किसी विनियोग में रुपया फंसाने से उस आय से अधिक आय होगी या नहीं जो उसी रुपये को बैंक में रख कर ब्याज उगाहने से हो सकती है। इस तरह, दोनो विषय एकदम एक ही तरह के हैं। ऋण काढ़ने में ब्याज देना पड़ता है, पर अपने कोष का रुपया लगाने में, जो ब्याज उस रुपये पर आता या आ रहा था, उन दोनो चीजों को भुला देना पड़ेगा। जो कुछ भी हो इस सम्बन्ध के हिसाब में ब्याज-दर ही निर्णायक तत्व होता है।

यह विचार करने बैठता है कि अमुक काम में रुपया लगाना लाभदायक होगा या नहीं, तो वह यह जोड़ता है कि उस काम में लगी हुई पूंजी पर जो ब्याज बैठता है उससे वह आमदनी कम होगी या अधिक जो उस काम से भविष्य में होने वाली है। और स्पष्ट है कि ब्याज की रकम कम कर दी जाय तो उस काम में रुपये लगाने की उपादेयता बढ़ जायगी। यह बहुत, वास्तव में अनिवार्य रूप से, महत्वपूर्ण तत्व है। किसी व्यावसायिक चेष्टा के लिए ली गयी पूंजी के ऋण पर इस देश में शायद ही कहीं ३ प्रतिशत से कम और ७ प्रतिशत से अधिक ब्याज की दर लम्बी अवधि के लिए हो। अब ३ और ७ प्रतिशत में बड़ा फर्क पड़ जाता है। उदाहरण के लिए यदि कोई मकान बनने में १३०० पौंड लगता है, तो इसका साप्ताहिक किराया ३५ शि० से कम न हागा यदि मकान-मालिक ने ७ प्रति सैकड़े ब्याज पर रुपया काढ़कर वह मकान बनवाया हा। (क) यही भाड़ा १५ शि० होगा यदि रुपया ३ प्रति सैकड़े ब्याज पर आया होगा। और जब सरकार या कोई स्थानीय शासन-संस्था मकान बनाने के लिए २½ प्रति सैकड़े ब्याज-दर पर पूंजी देने की बात कहती है (ऐसा सार्वजनिक संस्था ही दे सकती हैं क्योंकि कम दर ब्याज पर रुपया किसी और का नहीं मिल सकता) तो १३०० पौंड वाले घर का साप्ताहिक भाड़ा १२ शिलिंग होगा। यह साफ-साफ देखा जाता है कि मकान-ऋण पर जो ब्याज कसा जाता है उससे मकान की मांग भी बहुत अधिक प्रभावित होती है। दूसरे-दूसरे प्रकार के विनियोगों में भी यही बात है। उदाहरणार्थ देश के सम्पूर्ण रेलपथों को विद्युत-चालित बना देने की योजना काम में लाई जानी चाहिए या नहीं यह इस बात पर निर्भर करता है कि इस काम के लिए जा पूंजी ऋण लेकर खड़ी की जायगी उसपर कितना ब्याज लगेगा। एक नया कारखाना खड़ा करने की उपादेयता (desirability) इस तखमीने (estimate) पर है

(क) इस प्रसंग में जो आंकड़े दिये जा रहे हैं वे निखालिस भाड़ा के हैं। मकान मरम्मत तथा अन्य खर्चों को रखकर जो भाड़ा लिया जाता है वह वास्तव में इससे अधिक होगा।

कि कारखाने में चीजों का उत्पादन कर के उनपर जो लाभ प्राप्त हो सकेगा वह उस ब्याज से कम होगा या अधिक जो उसमें लगी हुई पूंजी पर बैठेगा।

इस तरह देखा गया कि विनियोग के परिमाण को निश्चित करने में ब्याज-दर मार्मिक तत्व है। किसी भी स्थिति में ब्याज-दर में ह्रास होने से विनियोग का परिमाण बढ़ जायगा और चढ़ने से घट जायगा बदकिस्मती से इसमें एक और बात है। हम इसपर सोच सकते हैं कि ब्याज-दर के घटने-बढ़ने से जब विनियोग पर प्रभाव पड़ता है तो ब्याज की दर को यदि सुनिश्चित कर दिया जाय तो विनियोग का परिमाण भी निश्चित हो सकता है। पर ऐसा नहीं है। इस विषय पर अन्य बातों का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ व्यापारी जिस आमदनी की ब्याज-दर से तुलना करता है, वह उस विनियोग की वास्तविक आमदनी तो है नहीं जो भविष्य में मिलने वाली है—असल में वह तो व्यवसायी की मानी हुई आमदनी है। कभी-कभी ऐसा भी समय आ जाता है जिस समय मंदी इतनी गहरी होती है कि प्रायः हर काम में घाटा ही घाटा आने लगता है और लोगों की सामान्यतया धारणा हो जाती है कि किसी भी काम में फायदा ही नहीं हो सकता। ऐसी दशा में रुपया का ब्याज कौन देगा? उलटे रुपया का विनियोग करने पर छूट देनी होगी। फिर, विनियोग पर संभावित आय उतनी कम न भी हो तो भी वह अनिश्चित हो सकती है। इस तरह कोई विनियोग शांति-काल में तो ८ प्रतिशत लाभ दे सकता है पर युद्ध-काल में उसी से कुछ भी नहीं मिल सकता। अगर युद्ध की थोड़ी भी आशंका हो तो व्यवसायियों को ४ प्रतिशत से भी कम ब्याज-दर पर रुपया मिल जाता है। अन्य समयों पर ठीक इससे उलटी बात होती है। कभी-कभी समाज इतना समृद्ध और काम-काज इतने विकासोन्मुख होते हैं कि हर काम में लाभ अच्छा ही होता है और विनियोग में उस समय भविष्य के लिए भी निश्चिन्तता प्रतीत होती है। ऐसे समय कोई पूंजी दे तो व्यवसायी उसे प्राप्त करने के लिए चाहे कोई भी ब्याज-दर स्वीकृत कर सकते हैं। इस तरह सैद्धान्तिक रूप से यह कहना सही होगा कि यदि

पूंजी पर लगने वाले ब्याज की दर को हाथ में रखना संभव होता तो यह भी संभव था कि विनियोग के परिमाण पर काबू रखा जा सकता। पर व्यवहार में ब्याज-दर को हथियाने की इतना सम्पूर्ण योग्यता ही अपेक्षित नहीं है; इस पूर्ण योग्यता के विषय पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे पर इसमें इतना काबू भी होना चाहिए कि २० प्रतिशत नीचे ऊपर तक भी हम ब्याज दर को ला और ले जा सकें।

हम लोग तब इस विषय पर आकर टिके हैं—बचत का परिमाण कुछ तो जनता की झोंक (propensity) पर निर्भर करता है और कुछ निर्भर करता है राष्ट्रीय आय के आकार यानी व्यापार की अवस्था पर। और उधर विनियोग का परिमाण निर्भर करता है कुछ व्यावसायिक दशा पर और कुछ अन्य कारणों पर, जिनमें लगे हुए रुपयों पर लगने वाली ब्याज-दर सब से प्रबल तत्व है। और व्यापार की दशा निर्भर है बचत और विनियोग के बीच ठहरे हुए सम्बन्ध पर। प्रथम दृष्टि में ऐसा लगेगा कि इन बातों को मानकर हम एक भूल-भुलैया (impasse) में फंस रहे हैं क्योंकि व्यापार की दशा तो कार्य और कारण दोनो ही मालूम होती है। पर वस्तुतः यही उलझनमय सम्बन्ध है जिससे हम इस सिद्धान्त के द्वारा व्यवसाय-चक्र को समझने में सफल हो सकते हैं। व्यवसाय-चक्र की व्याख्या करने में तीन तत्वों की व्याख्या देने की आवश्यकता होती है—पहले यह समझना चाहिए कि स्फीति और विस्फीति यद्यपि दोनो समूहात्मक हैं, फिर भी एक दूसरे से अदल-बदल होता रहता है, कहने का तात्पर्य यह है कि पहले वे अपने ही सहारे से बढ़ती हैं फिर एक दूसरे को जन्म देती हैं। दूसरी बात यह समझना चाहिए कि यह अदल-बदल पर्याप्त रूपेण सुनिश्चित विराम के पश्चात् होता है। और दूसरी चीज इस सम्बन्ध में यह समझनी चाहिए कि तेजी से मंदी में जो परिवर्तन होता है वह अचानक और भीषण होता है जब कि मंदी की पेंदी में पहुंच कर पुनः जो उठान होता है वह बहुत धीमा और क्रमापन्न (gradual) होता है।

हम उस स्थिति से विचार शुरू करें, जब कि पुनरुद्धार काल के बाद पुनः ह्रास आ रहा हो। हमलोग अभी इसी बात पर ध्यान रखें कि बचत विनियोग से बढ़ गई है।

पुनरुद्धार के बाद एक बार फिर ह्रास की दशा क्यों आ जाया करती है, इसपर पीछे विचार करेंगे। इस स्थिति के परिणाम-स्वरूप मुद्रा की चक्राकार गति (circular flow) में एक खोल (gap) पड़ गई है—चीजों की मांग इतनी कम हो गई है, कि उत्पादित वस्तुओं और काम का उपभोग नहीं हो पाता और इसलिए काम-काज का स्तर गिरने लगा है। हमको अब देखना है कि यह स्थिति क्यों कुछ समय तक इसी प्रकार जमती चली जाती है और तब इसके बाद पलटती है? यह समझना आसान है कि मन्दी किस प्रकार अपने आप पर पलटती है। समाज की आय का परिमाण कम होने से बचत का आकार भी कम ही होगा, पर यह ह्रास विनियोग के आकार को भी कम करेगा। क्योंकि काम-काज के ह्रास होने के कारण विनियोग में फायदा भी कम ही दिखेगा। इस तरह कुछ समय तक विनियोग और बचत दोनो के आकार एक साथ ही कम होंगे और इन दोनो के बीच जो असमानता होगी, उसके दूर होने के लक्षण कुछ दिनों तक दिखाई भी नहीं देंगे। काम-काज घटता जायगा और यह अनुमान भी नहीं होगा कि यह घट कर कहां जा पहुंचेगा। पर आय-ह्रास जितना ही आगे बढ़ता जायगा, उससे भी अधिक तेजी से बचत के परिमाण में ह्रास होने लगेगा। यह चीज इस बात से निकलती है कि जब कोई व्यक्ति या समाज समृद्ध रहता है, तो न केवल वह अधिक रकम बचाया करता है, पर अपनी आय के अधिकाधिक भाग की बचत करने लगता है। यदि ५ अरब पौंड की आय में समाज की बचत ५० करोड़ पौंड हो, तो जब आय घट कर ४ अरब पौंड हो जाती है, तो उसकी बचत भी ४० करोड़ पौंड नहीं बल्कि उससे भी कम हो जाती है। तात्पर्य यह है कि आमदनी में जितना भारी ह्रास होगा, बचत की दर भी उतनी ही कम होती जायगी—परिमाण ही कम नहीं होगा, उसकी दर भी कम होती जायगी। 'आवश्यक' बचत (necessary saving) का एक ऐसा स्तर भी है, जिसे लोग कई प्रकार के त्याग कर के भी बनाये रखना चाहेंगे, परन्तु इसका परिमाण भी कमी की पूर्ति न कर सकेगा। क्योंकि मन्दी जब बढ़ती चली जायगी तो पिछले दिनों की बचत का धन भी

खर्च कर के उस 'आवश्यक' बचत को ढक देंगे। दूसरी ओर विनियोग का प्रवाह मन्दी के अग्रसर होते जाने पर धीरे-धीरे कम से कम होता जाता है। यह प्रवाह चलता ही जाता है, यदि कोई असाधारण बात, जैसे किसी बैंक के फेल होने की अफवाह अथवा चालू मुद्रा में कोई संकट न उपस्थित हो, जिससे व्यवसायियों के बीच डर पैदा हो जाय। अच्छे दिनों में व्यापारी लोग कच्चे माल का भारी स्टाक जमा कर रखते हैं और मन्दी की प्रारम्भिक अवस्था में इस स्टाक का धीरे-धीरे समाप्त होना, विनियोग न होने (dis-investment) का एक प्रधान कारण है। जब यह प्रक्रिया समाप्त हो जाती है, क्योंकि कच्चे माल का स्टाक समाप्त हो कर इतना ही माल बच जाता है जितना व्यापार चलाने के लिए कम से कम आवश्यक है, तब विनियोग-ह्रास का एक कारण दूर हो जाता है। इसके अतिरिक्त किसी भी समय विनियोग के लिए कुछ ऐसे मद—खास कर कारखाने का विस्तार—होते ही हैं, जिसके लिए फण्ड इकट्ठा कर के रखा जाता है और किसी भी दशा में हाथ लगाया ही जाता है। अथवा अधिक मन्दी के कारण सरकार की ही ओर से किसी जन-कार्य में हाथ लगाया ही जाता है। इस तरह जब सामुदायिक आय (communal income) गिरती चली जाती है, तो गिरते-गिरते एक ऐसा स्थान अवश्य आ जाता है, जहां पहुंच कर बचत विनियोग को पकड़ लेती है, क्योंकि टिकाऊ पदार्थ का उत्पादन शायद ही किसी समय एकदम से बन्द हा जाता हो, यद्यपि समुदाय की शेष बचत, हो सकता है कि, किसी समय एकदम से आखों से ओझल हो जाय। इस तरह दोनो ओर के पलड़े को बराबर रखने के लिए वह हद जिस तक समुदाय की आय को घटना पड़ता है (उस हद तक जहां के बाद बेकारी बढ़ने लगती है) इस बात पर निर्भर करता है कि जन-कार्य के कार्यक्रम से या ब्याज की दर घटा कर अथवा उन कार्यों को, जिनसे व्यवसायियों में एक जिच पैदा हो जाय, बढ़ा कर, चाहे अन्य किसी उपाय द्वारा, विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिए कहां तक चेष्टा की जाती है।

इन प्रयत्नों द्वारा ह्रास की प्रवृत्ति को जहां पलट दिया गया, बचत और

विनियोग ऊपर की ओर दौड़ में एक दूसरे का पीछा करने लगते हैं। विनियोग का हर एक काम राष्ट्रीय आय बढ़ाता और बेकारी को घटाता है। इस तहर से जो आमदनी की सूरत पैदा की जाती है उसमें का कुछ अंश अवश्यमेव बचत होता है। कुछ अंश इस आय में से खर्च होता है और इस अतिरिक्त खपत के कारण नया विनियोग और भी लाभप्रद दिखता है। समाज इस आनन्दमय दशा में आ जाता है कि अधिक बचत भी करे और अधिक खर्च भी करे। विनियोग का बढ़ता हुआ आकार बढ़ते हुए धन-भंडार की आवश्यकता पैदा करता है जिससे बैंक वाले नया अतिरिक्त मुद्रा-सृजन करते हैं और यदि मुद्रा के सृजन पर किसी संख्या की पाबन्दी लगी होती है, तो यह सारा व्यापार रुक जाता है जब कि बैंक वाले हद पर पहुंच जाते हैं। इसके बाद नये ऋण अस्वीकार कर दिये जाते हैं; ब्याज की दर ऊंचे चढ़ जाती है और विनियोग का आयतन अधिक फैल कर रुक जाता है।

परन्तु मुद्रा की दृढ़तम (inelastic) पूर्ति ही अकेली वह चीज नहीं है जो व्यवसाय-चक्र की उर्ध्वगति को रोक दे। यदि व्यवसाय-चक्र की गति सीमा से बाहर ऊपर की ओर बढ़ता गई, तो अपने ही भार से इसका गिर पड़ना निश्चित हो जाता है। समाज वहीं तक बहुत खर्च और बहुत खपत कर सकता है, जहां तक यह पूंजी और श्रम के कार्य-विरत अंश (unemployed resources) पर आधारित होता है। इन दोनो तत्त्वों के पुनः काम में लग जाने (re-employment) पर राष्ट्रीय आय, मुद्रा के हिसाब से भी और वास्तविकता में भी, बढ़ जाती है। पर जैसे ही पूर्ण कार्य-व्यस्तता (क) की अवस्था समाज में आ जाती है, ऐसा होना सम्भव नहीं रहता। यदि यहां तक आकर भी विनियोग का काम बढ़ ही रहा हो और फिर भी वह बचत से अधिक हो, याने यदि मुद्रा-चक्र (circular flow) में, इसमें से जितना निकाला जाता है उससे अधिक ही डाल दिया जा रहा हो तो चीजों की उसी निश्चित संख्या के लिए अधिक धन दिये जाने

(क) पृष्ठ १७९ की पाद-टिप्पणी देखें।

लगते हैं और चीजों की संख्या ज्यों की त्यों रहती है। मूल्य-स्तर चढ़ने लगता है और आगे उसी दशा में बढ़ना संभव होता है, जब जनता चीजों की बढ़ी हुई कीमत के कारण अपनी खपत पर रोक लगाती है। इसका परिणाम पहले तो तेजी को और भी घना करना हो सकता है। पहले तो, जनता, जो वस्तुओं की ऊंची कीमत के कारण अपना खर्च घटाती है, अपनी बचत घटाने की भी चेष्टा कर सकती है और इस तरह बचत और विनियोग के बीच की खाई (gap) और चौड़ी बनती जाती है। दूसरे, उठते हुए दामों के कारण हर प्रकार की चीजें बेचने वाले व्यवसायियों को आपसे आप अधिकाधिक लाभ होने लगता है और उनकी सम्पन्नावस्था की वृद्धि से वह वातावरण पैदा होता है, जिसमें विनियोग करने की संभावना बढ़ती है। और तीसरे, यद्यपि चालू पदार्थों की बिक्री कम हो जाती है, वे बिकती हैं ऊंचे दामों पर। नतीजा यह होता है कि बिकी हुई चीजों की संख्या कम होने पर उनकी बिक्री से पहले जितना ही धन आता है और इसलिए ऐसी चीजों के उत्पादन का कारबार बहुत लाभदायक समझ पड़ने लगता है। ऐसा ही दशा मशीन बनाने वाले उद्योग-धन्धों की एवं उन सामानों के बनाने वाले धंधों का होती है, जिनका उपयोग चालू पदार्थ बनाने के धंधे में होता है। किंतु यह काल्पनिक स्वर्ग (false paradise) है। मूल्यों की बढ़ती के कारण चालू एवं टिकाऊ पदार्थों का उत्पादन-व्यय बढ़ जाता है। यह स्पष्ट परिलक्षित होने लगता है कि यदि चालू पदार्थों की बिक्री का परिमाण घटता ही गया, तो कल-कांटों एवं उनके उत्पादन में सहायक अन्य टिकाऊ पदार्थों की मांग भी घट जायगी। वास्तव में विनियोग के ज्वार ने जनता को कम खपत करने को लाचार किया है और इस तरह विनियोग ने अपने ही पैरों के नीचे की मिट्टी काटी है।

यों ही स्फीति भी विस्फीति की ही तरह कुछ दिनों तक अपने आप ही घनीभूत होती है। पर ऐसे तत्त्व हैं जो आगे चल कर इस बीच में आ पड़ते और इनकी धाराओं को अनिवार्य रूप से पलट देते हैं। इसके अलावा, चूंकि यह

प्रत्यावर्तन (reversal) क्रमवद्ध विकास का ही परिणाम है और संयोग से नहीं हो गया है, यह स्वाभाविक है कि इसमें अनुमानतः हर अवसर पर एक-सा ही समय लगता है। इस तरह व्यवसाय-चक्र की दो प्रवृत्तियों की व्याख्या तो हमने कर दी। तीसरे की, अर्थात् इस प्रवृत्ति की, कि चोटी पर तो यह प्रत्यावर्तन बहुत तीव्र हो और पेंदी में बहुत धीरे-धीरे हो, व्याख्या भी समझ में आ जाती है, जब दिमाग में यह रोप लिया जाय कि व्यवसाय-चक्र की गति का प्रधान भाग विनियोग के आकार से परिचालित होता है और विनियोग बढ़ने या घटने की बात व्यवसायियों की मानसिक दशा का परिणाम है। जनता को जल्दी और आसाना से व्यग्र किया जा सकता है, पर उसमें विश्वास भरता है देर से, धीरे-धीरे और बड़ी मुश्किल से। इसके अलावा पास में माल आर सामानों का जो स्टाक इकट्ठा हो, उसका भी प्रभूत प्रभाव पड़ता है। तेजी की सब से ऊंची चोटी पर व्यापारियों के पास बड़ा स्टाक बच जाता है, जिसे वे ऊंचे दामों पर खरीद चुके होते हैं। अगर किसी कारण से वे घबड़ा जायँ और भड़क जायँ तो वे माल बेच डालने में जल्दी-जल्दी और बहुत पूर्णता से कार्य करने लगेंगे, क्योंकि ऐसा न करें तो उन्हें भारी नुकसान का सामना करना पड़े। पर इसके उलटे प्रवाह में, अर्थात् मन्दी के दिनों में, मन्दी के अन्तिम छोर पर आ कर, जब लोगों को यह विश्वास होने लगता है कि अब और नीचे दाम न गिरेंगे और इसके बाद अब उनके ऊपर ही उठने की बारी है, व्यवसायियों की यह प्रवृत्ति हाने लगती है कि दाम बढ़ने लगे, इसके पहले ही माल का स्टाक कर लिया जाय। ऐसे मौके पर बड़े से बड़ा विश्वासी व्यापारी (confident trader) भी बहुत सावधानी से कार्य करेगा। इसी कारण हो सकता है कि कच्चे माल का बाजार रातो रात बदल कर 'विक्रय' के बाजार से 'क्रय' के बाजार में परिणत हो जाय। परन्तु इसकी उलटी दशा की गति बहुत मन्द होती है। परन्तु इन वाजारों का रुख उस आशा या निराशा का वातावरण बनाने में, जिसका व्यापारियों को बहुत ध्यान रहता है, यथेष्ट भौतिक और मानसिक प्रभाव डालता रहता है। अन्त में जब धन के अभाव के कारण यह प्रगति रुक जाती है, तब हमलोगों का अनु-

भव बताता है कि यह प्रवृत्ति भी सहसा रुकने पर आ जाती है। जब व्यवसाय-चक्र के दूसरे सिरे पर, यदि मुद्रा की संख्या का कोई भी प्रभाव हो, तो वह तभी हो सकता है जब कि वह कम ब्याज-दर में प्राप्त हो और उन व्यवसायियों को मिले जिनका चित्त ह्रास-वृद्धि की चिन्ता से कुछ स्थिर हुआ हो। घोड़े को पानी पीते हुए रोक देना झटपट और आसाना से हो सकता है, पर उसे पानी के किनारे लाकर भी पानी पीने को राजी करना बहुत धीरता और कोशिश की अपेक्षा रखता है।

इस अध्याय में जो सिद्धान्त प्रतिपादित (expounded) हुए हैं, उन्हे, व्यवसाय-चक्र के बर्ताव को देखकर, कहा जा सकता है कि सही हैं। इससे जो व्यावहारिक निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि साधारण मांग के आकार की ह्रास-वृद्धि और उसके फल-स्वरूप जो बेकारी होती है वह, दोनो दो अंतिम तत्वों के घात-प्रतिघात (interactions) के परिणाम हैं। वे दोनो तत्व ये हैं—बचत करने की ओर झुकाव (propensity) और विनियोग का आकार। बचत करने का झुकाव (क) पुश्त दर पुश्त बदलता रहता है और यह सार्वजनिक नीति के द्वारा परिवर्तनीय होता है (उदाहरणार्थ आय-वितरण-प्रणाली के परिवर्तन)। परन्तु जहां तक एक चक्र का सवाल है उसमें यह प्रायः स्थिर ही रहता है। इससे यह बात निकलती है कि किसी खास व्यवसाय-चक्र में जो असली तत्व होता है वह, और यदि व्यवसाय-चक्र पर नियंत्रण रखना हो तो जिस चीज पर नियंत्रण होना चाहिए वह विनियोग का परिमाण है। विनियोग के आकार पर स्वयं व्यापारिक दशा को छोड़कर, अन्य सभी प्रभावों के अन्दर विनियोग के आकार पर प्रभाव रखने वाले तत्वों में से चार सबसे अधिक प्रधानता रखते हैं। पहला, वैज्ञानिक आविष्कारों की पूर्ति [इससे विनियोग से कितना लाभ हमें प्राप्त होता है इसका पूरा-पूरा सही तखमीना (estimate) निकलता है];

(क) बचत करने का झुकाव वही चीज नहीं है, जो कि वास्तविक बचत है। देखो पृष्ठ २००-१।

दूसरा, व्यावसायिक साख की दशा [इससे यह निश्चय किया जाता है कि वास्तविक लाभाशा (prospective) को बढ़ा कर जोड़ा गया है या कम कर के]; तीसरा, ब्याज-दर (जिससे यह निर्णय किया जाता है कि काम-काज करने के लिए विनियोग में कम से कम इतना फायदा जरूर हो कि जिसके लिए कारबार किया जा सके) और चौथा, स्वयं राज्य की ओर से लगाये गये विनियोग का परिमाण (क्योंकि राज्य उन्हीं विचारों से विनियोग करे जिनसे कोई साधारण जन करता है यह जरूरी नहीं है) । इन चारो तत्वों में केवल ब्याज की दर ही आर्थिक तत्व है जिसपर आर्थिक साधनों से ही प्रभाव ला सकते हैं ।

जिस उद्देश्य से नियंत्रण लगाया जाय उसके सम्बन्ध में एकाध बात और बातानी चाहिए । इस अध्याय में बचत और विनियोग के मध्य संतुलन रखने के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है । संतुलन की स्थिति ही शायद सब से पक्की संभव स्थिति है क्योंकि तभी राष्ट्रीय आय पर विस्फीति अथवा स्फीति की छाया पड़ने की संभावना नहीं हो सकती । पर इससे यह परिणाम नहीं निकाल लेना चाहिए कि संतुलन की केवल एक ही ऐसी स्थिति संभव हो सकती है अथवा यह कि हर संतुलित अवस्था सन्तोषजनक होती है । यह पूर्ण संभव है कि राष्ट्र की बचत और विनियोग के बीच पूर्ण संतुलन रहे फिर भी देश में भारी बेकारी फैल रही हो, जिससे मंदी की स्थिरता सूचित होती है । कई देशा में दोनो महा-युद्धों के मध्यवर्ती युग में एक निश्चित सीमा से आर आगे बेकारी मिटाने में बड़ी कठिनाई हो रही थी मानों एक निश्चित स्तर से ऊपर विनियोग जा नहीं सकता । इसलिए एक ही प्रकार का संतुलन पूर्ण संतोषजनक कहा जा सकता है और वह है पूर्ण कार्य-व्यस्तता के समय का संतुलन । आर्थिक नीति का लक्ष्य इसे ही प्राप्त करना होना चाहिए ।

युद्धकाल में मुद्रा

MONEY IN WAR TIME

युद्ध की अर्थनीति (economics of war) एक विशाल विषय है। यहां पर हमें उन सब से मतलब नहीं—हमें तो इसके एक ही कोण से मतलब है, अर्थात् मुद्रा की युद्धकाल में क्या भूमिका होती है ? पर स्पष्टतः यह एक छोटी-सी परिधि है, क्योंकि मुद्रा के जो सार तत्त्व दाम और मूल्य हैं, उनका युद्धकाल में द्वितीय स्थान हो जाता है। जब कोई राष्ट्र मरने-जीने की लड़ाई में लगा हो तो वह दामों के सम्बन्ध में चिन्ता नहीं कर सकता। "क्या यह चीज इतनी कीमत के योग्य है ?" अथवा यह कि "क्या हममें इस चीज की प्राप्ति की क्षमता है ?" ऐसे सवाल उस समय नहीं उठा करते। उस समय केवल यह विचार उठता है कि "यह होने वाला है या नहीं"। उसमें रुपये-पैसे का विचार आड़े नहीं आ सकता। युद्ध-काल में रुपया तो फौज के पन्थानुयायी (camp follower) की तरह है। आदमी और युद्ध-सामग्री का निश्चय हो जाने पर यह मानों पैसे का हिसाब रखने वाला हो। यह कहा गया है कि युद्ध-काल में यह अर्थ-नीति होनी चाहिए कि कोई निश्चय रुपये-पैसे का मुंह देख कर न किया जाय। युद्धकाल में रुपया चाहिए, चाहे जहां से आवे। और वह निरन्तर आते रहना चाहिए।

युद्धकाल की आर्थिक समस्या यही है कि युद्ध-रत सरकार के हाथ में समाज का अधिक से अधिक साधन आ जाय। मर्द और औरतें, मकान और यन्त्र, सब को उनके शांति-कालीन स्थान से हटा लिया जाता है और उन्हें युद्ध के कार-बार में लगा दिया जाता है। और युद्ध की बुभुक्षा की सीमा नहीं है। नीचे दी गई तालिका से यह पता लगेगा कि १९३८ में जो युद्ध-पूर्व का सब से शान्त वर्ष बीता है, उस समय और १९४३ में जिस समय युद्ध की तैयारी पूरे उच्चस्तर पर हो रही थी, ग्रेट ब्रिटेन का सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन क्या था और इसमें यह भी दिखाया जायगा कि इस राष्ट्रीय उत्पादन का उपयोग किस रूप में हुआ।

१९३८ और १९४३ में ब्रिटेन का सम्पूर्ण उत्पादन

(National Output of U. K. in 1938 and 1943)

(लाख पौंड में)

	१९३८ में	१९४३ में	फर्क रहा
देश में उत्पादन हुआ	५५६६०	७१८१०	+ १६१५०
बाहर से ब्याज और कम्पनी-लाभ का हिस्सा आया	१७५०	८८०	— ८७०
कुल राष्ट्रीय उत्पादन	५७४१०	७२६९०	+ १५२८०
बाहर से ऋण पर मंगाया गया	७००	४९६०	+ ४२६०
कुल जमा प्राप्त साधन	५८११०	७७६५०	+ १९५४०
खपत में लग गया	४२५२०	३६४१०	— ६११०
सरकारी खर्च—युद्ध में	३३६०	३५५२०	+ ३२१६०
,, ,, दूसरे मद में	४५३०	४१३०	— ४००
पूंजी-वृद्धि और पोषण की व्यवस्था में	७७००	१५९०	— ६११०
कुल व्यय	५८११०	७७६५०	+ १९५४०

ये आंकड़े पौंडों में हैं और इनकी क्रय-शक्ति वही रखी गई है जो १९३८ में पौंडों की थी। १९४३ में पौंडों की जो कीमत थी उसका फ़र्क उसमें से इसलिए निकाल लिया गया है कि दोनो साल के आंकड़ों का ठीक-ठीक मुकाबला किया जा सके। इन आंकड़ों से पता लगता है कि युद्ध-काल में शान्ति-काल से अधिक साधन जुटा लिये जाते हैं। १९३८ में कुल राष्ट्रीय व्यय का ७३ प्रतिशत जनता के उपभोग्य पदार्थों का खर्च था और ६ प्रतिशत से कम सुरक्षा-साधनों पर व्यय होता था। पर १९४३ में जनता का खर्च ७३ से घट कर ४७ प्रतिशत रह गया और युद्ध-व्यय में भारी वृद्धि हुई। यह ६ प्रतिशत से बढ़ कर ४६ प्रति-

शत पर पहुंच गई। दोनो वर्षों के बीच युद्ध-व्यय का विस्तार—अर्थात् रुपये और सामानों का मूल्य, जो साधारण व्यय से निकल कर युद्ध-व्यय के मद में गया ३२१६० लाख पौंड था। यह धन अथवा जिन सामानों और सेवाओं का यह प्रतिनिधित्व करता है, वह धन १९४३ में वास्तविक 'युद्ध-व्यय' था। यह शान्ति-कालीन कुल व्यय का ५५ प्रतिशत हुआ, अर्थात् राष्ट्र ने युद्ध के मद में, इसके पास जितने आदमी और सामान थे उनके आधे से अधिक को लगा दिया। यह साधन कहां से आया यह नीचे की तालिका से स्पष्ट होगा—

१९३९-४५ में युद्ध-व्यय

(Cost of war 1939-45)

	लाख पौंड में	प्रतिशत
युद्ध-व्यय	३२१६०	१००
कहां से आया—		
घर में अधिक उत्पादन हुआ	१६१५०	५०
बाहर से ऋण पर लाया गया	४२६०	१३$\frac{1}{4}$
घर पर खपत कम की गई	६११०	१९
युद्ध-मद को छोड़ कर अन्य मदों पर सरकारी खर्च कम किया गया	४००	१$\frac{1}{4}$
पूंजी बनाये रखने की व्यवस्था में कमी की गई	६११०	१९
	३३०३०	१०२$\frac{1}{2}$
बाद बाहरी ब्याज की आय और लाभ में कमी	८७०	२$\frac{1}{2}$
	३२१६०	१००

युद्ध-काल की अर्थ-नीति में यह बात आती है कि राष्ट्र के वास्तविक साधनों में से जितना अधिक हो सके और जितना शीघ्र हो सके स्थानान्तरित करके युद्ध-उद्योग में झोंक दें। यह उस स्थिति का केवल बढ़ा कर दिखाया गया उदाहरण

है जो हर शांति-कालीन वर्ष में होता है जब कि सरकार को मानवीय शक्ति और सामानों का यथेष्ट परिमाण अपने अधिकार में लेकर उन्हें अपने काम चलाने—समाज सेवा, न्याय-वितरण, शिक्षा-विस्तार, पुलिस एंव अन्य सरकारी महकमों में काम करने को लगाना पड़ता है। १९३८ में समाज के कुल व्यय का १३½ प्रतिशत सरकारी हाथ से होता था। इसे कम से कम किया जाय तो भी इस १३½ प्रतिशत सरकारी व्यय को युद्धकाल में ५१ प्रतिशत (सामरिक तथा असामरिक दोनो प्रकार के सरकारी खर्च) कर लेने की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु व्यय के आकार का अन्तर केवल आकार का अन्तर नहीं है। वस्तुतः इसमें प्रकार का अन्तर भी है। जब तक सरकार का खर्च शांति-कालीन आधार पर है तब तक सरकार जो भी साधन लेना चाहे उसका स्थानान्तरण मुद्रा की मध्यस्थता द्वारा साधित होता है। सरकार जनता पर कर लगाकर रुपया एकत्र कर लेती है और इस धन से वह आवश्यक सेवाएं प्राप्त करती और सामान एकत्र कर लेती है। शांति-काल में किसी भी आदमी को बलात् डाकपियन अथवा सामाजिक सेवाधिकारी बनाने की आवश्यकता नहीं होती। १९३९ के पहले शांति के समय किसी पर सिपाही बनने की मजबूरी नहीं थी। इन समयों में लोग सैनिक नौकरियां इस कारण करते थे कि उन्हें उसमें काफी धन मिलता था। उसी तरह जब सरकार को सड़क बनाने के लिए कंकड़ की आवश्यकता पड़ती थी तो वह खुले बाजार से, बाजार-दर में इस चीज को खरीद लेती थी। यह सम्पूर्ण व्यापार ऐसा था जिसमें मुद्रा विनिमय की माध्यमता का अपना साधारण कर्तव्य करती थी।

पर युद्ध-काल में यही साधारण व्यवस्था चल नहीं सकती। अपने साधारण स्थान से हटा कर सामानों अथवा आदमियों को युद्ध-कालीन आवश्यकता के स्थल पर केवल धन की लालच से ले जाने को हम विचार करें। लड़ाई पर जाने वाले कितने सैनिकों को सरकार केवल ऊंचे वेतन देकर पा सकती है? शायद इस ढंग से भी कुछ आदमी मिल जायेंगे। परन्तु पिछले अनुभव बताते हैं कि धन

की लालच के साथ-साथ देशभक्ति की अपील करने पर एवं आकर्षण की अन्य युक्तियों का प्रयोग करने पर भा स्वेच्छा से आवश्यक संख्या में सैनिक प्राप्त नहीं होते हैं। सामानों के साथ भी यही बात है। क्या सचमुच यह आशा की जा सकती है कि सरकार को जितने सामानों की आवश्यकता है—उदाहरणार्थ खाने-पीने का सामान, केवल बाजार से खरीद कर पाया जा सकता है? इससे पहले कि मांग की वृद्धि से चीजों की कीमत इतनी बढ़ जाय कि मांग का दम ही घुटने लगे, इस प्रक्रिया के कारण देश भर में दंगे शुरू हो जायेंगे क्यों कि यह ठीक नहीं। जब सरकार को राष्ट्र के सम्पूर्ण उत्पादन के छठे भाग पर ही नहीं, आधे से अधिक पर अधिकार करने की आवश्यकता हो उठती है तो सभी आर्थिक ढंग (monetary procedures) टूट-फूट जाते हैं। तब सरकार को अनिवार्यता (compulsion), बलात् भर्ती (conscription), बलात् श्रम-संचय, राशन-प्रथा तथा रोक-थाम और सीमा-निर्द्धारण, कोटा-निर्द्धारण आदि (allocation schemes) के अनेक प्रकार के उपायों का अवलम्बन करना पड़ता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि इसमें रुपये की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। सभी चीजें बलात् और अनिवार्यता पूर्वक नहीं पाई जा सकतीं और बहुत-सी ऐसी चीजें रह जाती हैं जिन्हें पाने के लिए सरकार को भी खुले बाजार में आकर प्रांत-द्वन्दिता करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त जब पुरुषों की अनिवार्य भर्ती कर के फौज में लेते हैं एवं पुरुषों और स्त्रियों को युद्ध-सामग्री उत्पादन के लिए बलात् आवश्यक उद्योग-धंधों में लगाते हैं, तब उन्हें भी गुजारा तो देना ही पड़ता है। और सभी तरह के कामों के लिए जब आदमियों की मांग बहुत बढ़ जाती है तो साधारण मजदूरी और वेतन भी बढ़ा कर ही देना पड़ता है। इसमें आश्चर्य की बात कुछ नहीं है। चाहे जो हो, कई कारणों से इन सबका परिणाम यही हाता है कि सरकार का खर्च युद्ध-काल में बहुत बढ़ जाता है। १९३८ में ब्रिटेन की सरकार १९० लाख पौंड प्रति सप्ताह खर्च करती

थी। किन्तु १९४४ में यही खर्च बढ़कर प्रति सप्ताह ११५० लाख पौंड हो गया था।

अब इतना रुपया तो कहीं से आना ही चाहिए। पहला सूत्र धन-प्राप्ति का यह है कि कर बढ़ा दिया जाय। सिद्धान्त में यह मान सकते हैं कि युद्ध का सम्पूर्ण व्यय सरकार कर से एकत्र कर सकती है। पर व्यवहार में यह सिद्धान्त पूरा-पूरा अमल में नहीं आने का। कर द्वारा सारा धन एकत्र करने का अर्थ यह होगा कि हर एक व्यक्ति की आय का आधे से अधिक भाग सरकार ले ले पर कोई भी कर-व्यवस्था ऐसी नहीं है जिसमें यह चीज बिना किसी के साथ अन्याय या पक्षपात किये हो सके क्योंकि कर-नीति बहुत नाजुक चीज है और इसे बहुत संभाल कर उपयोग में लाना होता है। युद्ध-काल में एक समझदार सरकार भी जन-कर को भी इतना अधिक बढ़ा देती है जितना वह कर सकती है, (ब्रिटेन में १९३९-४५ के युद्धकाल में यह कर सकने की सीमा बहुत दूर तक बढ़ गई थी) पर इसे वह उतना नहीं बढ़ा सकती है जितने से उसका सम्पूर्ण व्यय चल जा सके। कुछ अन्य ऐसे छोटे-मोटे आय-सूत्र भी हैं जिन्हें सरकार धन-प्राप्ति के लिए काम में ला सकती है। कुछ सरकारी सम्पत्ति भी होती है और उससे भी सरकार को आय हो सकती है। कई तरह के सामाजिक बीमा के काम हैं जिनके फंड में भी युद्ध-काल में प्रभूत धन एकत्र हो जाता है। उदाहरण के लिए 'बेकारी-बीमा' को ले लें। शांति-काल में बेकारी-बीमा एवं ऐसे ही बीमाओं का लेना-देना बराबर रह सकता है पर युद्ध-काल में इन्हीं बीमाओं का विशाल धन एकत्र हो जाता है। क्योंकि युद्ध के कारण काम-काज में वृद्धि हो जाने से बेकारी नहीं रह जाती है। इस फण्ड से भी सरकारी खजाना बहुत-सा धन निकाल ले सकता है। सरकार बाहर से भी ऋण ले सकती है। ब्रिटेन की सरकार ने युद्ध-काल में कनाडा और अमेरिका से बहुत-सा ऋण लिया पर इन सभी आमदनियों को जोड़ लें तो भी युद्ध-काल में सरकार का खर्च इन्हीं रुपयों से पूरा नहीं होता।

तब दूसरा उपाय यह है कि जनता का बचत का धन उससे ऋण में लिया जाय। इस उद्देश्य से सभी प्रकार की अपीलों और विज्ञापनों के द्वारा जनता को यथेष्ट पैसा बचाने के लिए परामर्श दिया जाता है। चूंकि वस्तुओं की पूर्ति भी युद्ध-काल में, शांति-काल की अपेक्षा गिर जाती है क्योंकि कल-कारखाने युद्ध-सामग्री बनाने में लग जाते हैं और जनोपयोगी चीजों का उत्पादन कम हो जाता है, और चूंकि जनता इन चीजों पर अब पैसा खर्च नहीं कर पाती, उसके पास शांति-काल की अपेक्षा अधिक बचत हो सकती है। यह जोड़कर देखा गया है कि १९३८ में ब्रिटेन का हर आदमी अपनी आय का ७६ प्रतिशत अपने पर खर्च करता था, २१ प्रतिशत कर में देता था और केवल ३ प्रतिशत बचा पाता था। पर १९४४ में यही खर्च ५४ प्रतिसत हो गया, कर-भार बढ़ कर २७ प्रतिशत हुआ और १९ प्रतिशत बचत होने लगी। जिस समय बचत की जाती है, इसका आर्थिक प्रभाव भी वही होता है जो कर का होता है। अन्तर यही है कि एक वाध्यता-मूलक है और दूसरा स्वेच्छापूर्वक। पर दोनो का अभिप्राय यही होता है कि जनता के पास धन के रूप में जो क्रय-शक्ति आती है, उसमें से सबका उपयोग नहीं होता और इस तरह जो धन बच जाता है सरकार उसे प्राप्त कर उससे अपना काम चलाती है। ऋण में और कर में जो अन्तर है वह पीछे आता है जब कि ऋण का ब्याज तो प्रति वर्ष भरना पड़ता है और असल रकम तब देनी पड़ती है, जब उसकी अवधि पूरी हो जाय।

युद्ध-काल में जनता की बचत के रुपयों में से भी सरकार ने भारी धन-राशि प्राप्त की, फिर भी उसका खर्च पूरा नहीं पड़ा। अब अंतिम उपाय बैंकों की शरण जाना रह गया। यदि कर, ऋण आदि लेकर सरकार जितना रुपया इकट्ठा कर सकती थी उसको इकट्ठा कर लेने के बाद भी आय और व्यय की खाई पट नहीं सकी तो अब एक यही उपाय रह गया कि बैंक वाले नई मुद्रा का सृजन करें और उसे सरकार को उधार दें। कुछ दिनों तक तो बैंक आफ इंगलैण्ड पर नई मुद्रा बनाने का भार था। बैंक आफ इंग्लैण्ड अपना यह भार नयी नोट छाप

कर पूरा करता था। बैंक के निर्गम (issue) विभाग में जितने मूल्य का सरकारी ऋणपत्र था उनको आधार बनाकर यह उनसे कहीं अधिक रकम की नोट छापता था। यह अपने बैंक, यानी महाजनी विभाग, में ऋणपत्र भी खरीदता था जिससे कि सदस्य बैंकों का नगद सुरक्षित कोष बढ़ जाय और जिससे कि वे नयी सरकारी ऋणपत्र खरीदें जिन्हें सरकार बराबर जारी करती जा रही थी।

दुर्भाग्य से ऐसे आंकड़े प्राप्त नहीं हैं जिनसे साफ-साफ यह पता लगे कि जो धन इस तरह प्राप्त हुआ उसमें कितना वह धन था जो जनता की बचत का था और किस अंश तक वह धन था जो नई मुद्रा के सृजन से आया था। १ हजार पौंड का २½ प्रतिशत युद्ध-बन्ध (£1,000 2½% war bond) को हम दोनो प्रकार के अर्जनों में गिन सकते हैं। न हमलोग निश्चिन्तता पूर्वक यह कह सकते हैं कि राष्ट्रीय ऋण (floating debt) की बाढ़—(Treasury Bills, Ways and Means Advances, Treasury Deposit Receipts)—सर्जित मुद्रा का प्रतिनिधित्व करती है। एक बात है, ट्रेजरा बिल सदस्य बैकों और कमीशन एजेन्सियों के अलावा, जिन्हें वे अर्थ-सहाय्य करते हैं, अन्य संस्थाओं द्वारा रखे जाते हैं। उदाहरणार्थ वे अन्य देशों के केन्द्रीय बैंकों द्वारा लिये जाते हैं और ये कागज युद्ध-काल में बहुत अधिक बढ़ जाते हैं। समुद्र-पार के देश, युद्ध-काल में ब्रिटेन से अधिक माल खरीदने की अपेक्षा ब्रिटेन को अधिक निर्यात करने अर्थात उसके हाथ अधिक माल बेचने को राजी थे और वे तैयार थे कि उस माल की कीमत का बैंक डिपाजिट वे लंदन में रखें। उन्होंने ट्रेजरी बिल अपने सामान की कीमतों में खरीद किये। यही है जिसे पौंड-पावना (sterling balances) कहा गया और भारतीय नेशनल बैंक (The National Bank of India) के द्वारा १० लाख पौंड का ट्रेजरी बिल खरीदा जाना ब्रिटिश खजाने के लिए उसी तरह ऋण लेना हुआ जिस तरह कि ब्रिटिश जनता १० लाख पौंड की बचत-सर्टिफिकेट (saving certificate) खरीद लेती। अब दूसरी बात यह है कि साधारण

जनता ने जब रुपया बचाया तो अपनी सम्पूर्ण आय को सामानों पर न व्यय कर उसने तो राष्ट्र की एक सेवा, खपत कम कर के, कर ही दी और यह एक साधारण वात रह गयी कि उसने उस बचत के धन से सरकारी सिक्यूरिटी का कागज खरीद लिया। वह इसे अपने बैंक में भी छोड़ देती तो भी कुछ हर्ज न था। यदि जनता ने १०० पौंड का वार-बौंड खरीदा, तो उसको बैंक आफ इंग्लैण्ड में सरकारी हिसाब में जमा कराना पड़ेगा जब कि उसके दिये चेक का भुगतान साफ होगा। दूसरी तरफ यदि उसने अपना १०० पौंड बैंक में ही छोड़ दिया तो उसका बैंक ट्रेजरी डिपाजिट रसीद लेकर १०० पौंड सरकारी खजाने को दे ही देगा। दोनो चीजें तत्वत: तो एक ही हुईं और यह कहना गलत-बयानी हो जायगा कि ट्रेजरी डिपाजिट रसीदों पर लिया हुआ रुपया जनता की असली बचत का धन नहीं है।

जो कुछ भी हो, युद्ध-कार्य के लिए किस प्रक्रिया से धन जमा किया जाता है इसपर कुछ प्रकाश तो दिया ही जा सकता है। १ जनवरी १९३९ से लेकर ३१ दिसम्बर १९४५ के सात वर्षों के भीतर ब्रिटिश सरकार ने ३३४६८० लाख पौंड लड़ाई पर खर्च किया। इसी अवधि में इसने १५७६२० लाख पौंड अर्थात ४७ प्रतिशत कर से प्राप्त किया और २४६८० लाख पौंड अर्थात ७ प्रतिशत इसने उन खुदरा तरीकों से जमा किया जिनका हवाला ऊपर दिया जा चुका है। (सरकारी सम्पत्ति की आय से, सामाजिक बीमा फंड के फाजिल कोष से, विदेशी सरकारों से लिये हुए ऋण के द्वारा, आदि)। शेष १५२३८० लाख पौंड अर्थात ४६ प्रतिशत उसने जनता से ऋण लेकर खर्च किया। सवाल यह है कि इतने धन में से कितना जनता की वास्तविक बचत का रुपया था और कितना सर्जित रुपया था? सम्पूर्ण धन-राशि में से ४८३१० लाख पौंड राष्ट्रीय-ऋण का रुपया था पर हमने दिखाया है कि इससे कोई तत्व स्पष्ट नहीं होता। इस सवाल का थोड़ा-थोड़ा सही उत्तर बैंकों के आंकड़े देखने से मिल सकता है। १९३८ साल में औसतन लंदन के क्लीयरिंग बैंकों के पास (जो देश के सारे बैंक नहीं हैं)

२८०० लाख के डिसकाउन्टेड बिल (bills discounted) थे जो प्रायः सबके सब ट्रेजरी बिल थे, ६३७० लाख पौंड के विनियोग के कागज थे, जो सब के सब सरकारी सिक्यूरिटा के कागज थे और १५१० लाख के अल्पावधि ऋण के कागज (money at call and short notice) थे जिनका अधिक भाग ब्रिटेन की सरकार को ऋण में दिया गया था। स्वयं बैंक आफ इंग्लैण्ड के पास ३१५० लाख पौंड की सरकारी सिक्यूरिटियां थीं। युद्ध-पूर्व के उस वर्ष में बैंक-कारबार के जरिये कम से कम सरकार को १५७५० लाख पौंड कर्ज मिले (इसमें उन बैंकों का हिसाब नहीं लिया गया है जो लंदन क्लीयरिंग हाउस के सदस्य नहीं हैं)। सन १९४५ साल का ऐसा ही हिसाब प्रायः ५५००० लाख पौंड का योग बताता है। पर १९३८ के अंकों के ऊपर जो ३९२५० लाख पौंड की बढ़ोत्तरी (increase) १९४५ में हुई, वह बैंकों की सम्पत्ति (assets) की निखालिस बढ़ती नहीं है। इन सात वर्षों में बैंक आफ इंग्लैण्ड ने ३२६० लाख पौंड का सोना गंवाया और क्लीयरिंग बैंकों के एडवान्स भी प्रायः २००० लाख पौंड से ऊपर गिर गये। पर ३२००० लाख पौंड का बैंकों का सरकार को दिया हुआ ऋण तो निश्चय ही उनके तलपट के जमा की ओर का था—अर्थात इन बैंकों ने मुद्रा सर्जित कर सरकार को दिया था। अब इस निष्कर्ष को जिरह पर चढ़ाकर (cross-checked) यह पूछा जा सकता है कि इन वर्षों में मुद्रा-पूर्ति की वास्तविक दशा क्या रही? १९३८ में ४४६० लाख पौंड के नोट बाजार में चालू थे (यानी वे बैंकों के खजाने के बाहर थे)। बैंक-डिपाजिटों का कुल योग २२७७० लाख पौंड था—कुल मुद्रा-पूर्ति का योग २७२३० लाख पौंड था। १९४५ में यही संख्या क्रमशः १२६३० लाख पौंड, ४६९२० लाख पौंड और कुल योग ५९५५० लाख पौंड थी। यह ३२३२० लाख पौंड की वृद्धि ऊपर बताये गये दूसरे तरीके के हिसाब में भी करीब बराबर आयी है।

इसलिए हम कह सकते हैं कि युद्ध-काल में ब्रिटिश सरकार ने अपने व्यय का ४७ प्रतिशत कर के द्वारा वसूला, ७ प्रतिशत अन्य प्रकार के राजस्वों (revenue)

द्वारा पाया, प्रायः ३६ प्रतिशत ब्रिटिश जनता की वास्तविक बचत का रुपया लिया और करीब १० प्रतिशत प्राप्त किया बैंकों द्वारा बनाये गये नये धन से। युद्ध-काल की अच्छी अर्थ-व्यवस्था की कसौटी यह है कि ज्यादे से ज्यादा रुपया कर के द्वारा वसूल किया जाय और मुद्रा-सृजन कर के कम और दोनो हिसाबों से ब्रिटेन की सरकारी १९३९-४५ के युद्ध-काल की अर्थ-व्यवस्था सर्वोत्तम नहीं तो संसार के सभी देशों की उत्तम अर्थ-व्यवस्था में से एक अवश्य कही जायगी।

यद्यपि ३२००० लाख पौंड धन जो युद्ध-व्यय को पूरा करने के लिए सर्जित किया गया, युद्ध के कुल व्यय का एक बहुत छोटा-सा भाग था, फिर भी युद्ध-पूर्व की मुद्रा-पूर्ति के मुकाबले यह अवश्य ही बड़ा था। यह सच है कि युद्ध-समाप्ति के बाद भी १९४७ तक यह विधि चली ही जाती रही है और १९४७ के अन्त तक मुद्रा की पूर्ति (नोट और डिपाजिट दोनो को मिला कर) प्रायः ७०५०० लाख पौंड पर पहुंच गयी थी। यहा १९३८ में २७००० लाख पौंड के करीब थी। इस तरह प्रायः १६० प्रतिशत की वृद्धि इसमें हुई और यह कहना परिमाण-सिद्धान्त की आंख मूंद कर गुलामी करना नहीं समझा जायगा कि इस मुद्रा-सृजन का परिणाम निश्चित रूप से स्फीतिकारक हुआ। असल में युद्ध के समय स्फीति होती है—जितनी बड़ी लड़ाई उतनी अधिक स्फीति। और यह बात ब्रिटिश सरकार के अर्थ-विभाग (finance) के लिए शाबशी की है कि इतने बड़े महायुद्ध ने उतनी अधिक स्फीति नहीं पैदा की।

किन्तु मुद्रा-पूर्ति के विस्तार के सम्बन्ध में एक दिलचस्प विषय है, जिसको ध्यान में रखना चाहिये। १९३८ से १९४७ तक के ९ वर्षों में मुद्रा की पूर्ति १०० : २६० के अनुपात में बढ़ी। परन्तु राष्ट्रीय आय (जो देश के संपूर्ण उत्पादन, गुणा मूल्य-स्तर होती है—अर्थात् यह **पट** या 'प'**र** के समान परिमाण-सिद्धान्त के अनुपात के हिसाब में अध्याय ४ में दिखाया गया है) उसी अनुपात में नहीं बढ़ी। सरकारी अनुमान के मुताबिक यह मोटा-मोटा तौर पर ५७७७० लाख पौंड १९३८ में थी और १०९३४० लाख पौंड

१९४७ में अर्थात् इसमें १०० : १८९ की वृद्धि हुई। अगर दोनो साल के आंकड़ों की परिमाण-सिद्धान्त के आधार पर तुलना की जाय, तो यह कहना पड़ेगा कि या तो मुद्रा का भ्र अर्थात् भ्रमण-प्रवाह युद्धकाल में घट गया अथवा विकल्प से 'क', इसके सम्पूर्ण साधन का अनुपात, जिसे जनता नगदी के रूप में रखना चाहती है, बढ़ गया था। मुद्रा के आकार (volume of money), जनता द्वारा नगदी मुद्रा की ओर अधिक झुकाव और ब्याज-दर का जो त्रिकोणात्मक सम्बन्ध-क्षेत्र (triangular relationship) इस अध्याय में प्रारम्भ ही में दिखाया गया है, हमें इस योग्य बनाता है कि इस कहानी को और अगे बढ़ाया जाय। प्रथम जर्मन-युद्ध के समय ब्याज-दर बहुत ऊंची चढ़ गयी। नतीजा यह हुआ कि खर्च चलाने के लिए सरकार जो ऋण लेने गयी, उसपर उसे बहुत व्यय करना पड़ गया। जब १९३९ में पुन: युद्ध छिड़ा, तो सरकार ने इस बार यह निश्चित कर लिया था कि यह लड़ाई ३ प्रतिशत से अधिक ब्याज की नहीं होगी (इस लड़ाई में ३ प्रतिशत से अधिक ब्याज पर रुपया कर्ज नहीं लिया जायगा), और वास्तव में सरकार ने जो ऋण लिया, उसपर उसने इससे अधिक ब्याज नहीं दिया (क) और सम्पूर्ण ऋण का परता तो उससे भी कम रहा। पर ब्याज की नीची दर का अर्थ यह है कि जनता में अधिक नगदी जमा की मांग रही। थोड़े में, ३ प्रतिशत और उससे भी कम ब्याज-दर पर रुपया लेकर खर्च करने में साधारण हिसाब से कहीं बढ़-चढ़कर मुद्रा-सृजन की आवश्यकता हुई। इसका अर्थ यह हुआ कि देश ने अपने सम्पूर्ण साधन का एक बड़ा भाग मुद्रा के रूप में रख कर लड़ाई समाप्त की।

इस मुद्दे पर हमलोग थोड़ी देर बाद ही आ रहे हैं। परन्तु पहले हमें युद्ध-कालीन स्फीति को थोड़ा और विश्लेषण देना चाहिये। इससे पहले इस तत्व को परिमाण-सिद्धान्त के रूप में समझाया गया है। अब इसे बचत और विनियोग की

(क) उस दर को छोड़ कर जो वास्तव में मुद्दत पूरे होने तक रखे जाने वाले नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट पर दी गयी थी।

परिभाषा के अनुसार कैसे फिट किया जाय ? यह भी बताया गया है कि युद्ध-काल में बचत बहुत ज्यादा हुई थी। क्या ऐसा भी कह सकते हैं कि विनियोग भी उसी हिसाब से बहुत हुई थी ? (क) ठीक उसी अर्थ में जिसमें हमने इस अध्याय के प्रारम्भ में विनियोग की परिभाषा दी है, विनियोग बहुत बढ़ी नहीं थी। वास्तव में पृष्ठ २१५ पर दिया गया हिसाब यह बताता है कि जनता द्वारा पूंजी पर उन दिनों बहुत कम खर्च किया गया था (कुछ खर्च पूंजी पर सरकारी खर्च में भी आ गया था)। पर इस अध्याय के प्रारम्भ में जब हम बचत-विनियोग के सिद्धांत को समझा रहे थे, तो हमने यह मान लिया था कि उन दिनों जितना खर्च होता था वह या तो खपत वाले चालू पदार्थों के उत्पादन पर होता था अथवा टिकाऊ पदार्थ के उत्पादन पर। उस समय हमने किसी तीसरे प्रकार के पदार्थ की चर्चा भी न की—ऐसे पदार्थ की जो न तो चालू पदार्थों की श्रेणी में आता है और न टिकाऊ पदार्थों की श्रेणी में आता है। ऐसे पदार्थ वे हैं जो दुश्मन पर बरसाये जाते हैं। यद्यपि युद्ध पर जो खर्च किया जाता है उसे विनियोग नहीं कह सकते, पर विषय समझने के लिए हम उसे इसी श्रेणी में रख लें तो हर्ज नहीं। चालू खपत योग्य पदार्थ और विनियोग के बीच जो प्रत्यक्ष स्पष्ट विभेद है, वह यह है कि जो आदमी चालू पदार्थों पर रुपया खर्च करते हैं वे वही आदमी हैं जो अपनी ही आमदनी से उन चीजों की खरीदगी के लिए रुपया जुटाते हैं। उधर विनियोग के मामले में जो आदमी अपनी आमदनी में से रुपया निकालते हैं और वे आदमी जो टिकाऊ पदार्थ की मांग पैदा करते हैं, एक ही व्यक्ति नहीं हैं। यही वह मार्मिक विभेद है, जिसपर बचत और विनियोग का सिद्धान्त ठहरा हुआ है। और इस विभेद को दृष्टिगत रख कर विचार करने पर युद्ध पर रुपया खर्च करना विनियोग के बहुत कुछ करीब है, बनिस्बत चालू पदार्थों पर रुपया खर्चने के। फौज की भर्ती

(क) अथवा अधिक ठीक-ठीक तरह से क्या यह कहा जा सकता है कि विनियोग बचत से अधिक हो गया ? यह बात पृष्ठ १८१-८२ पर बतायी गयी है कि अन्त में बचत और विनियोग दोनों, बराबर एक दूसरे के समान ही आ जाते हैं।

होती है, गोलाबारूद बनायी जाती है, तोपें दगती हैं—इन सबमें इस बात का बिलकुल ही ख्याल नहीं किया जाता है, कि इन सबमें जो धन खर्च हो रहा है वह बचत में की धन-राशि है जिसे कर द्वारा इकट्ठा किया गया है या बचत द्वारा। इसलिए इस भेद के दोनो बाजू, इस अध्याय में जिन सबका जिक्र हुआ है, उन सारे आर्थिक परिणामों को साथ लिये हुए, दूसरे से आगे-पीछे निकल जा सकते हैं। इसलिए हमलोगों ने इसका जो नाम रखा है उसके अनुसार, युद्धकाल में जो आर्थिक परिवर्तन होते हैं, विनियोग की बढ़ोत्तरी मानना चाहिये—इतनी बढ़ी हुई कि इतनी ही विशाल बचत से भी यह कभी-कभी आगे निकल जाती है। हमलोग चाहे जिस मार्ग से भी इस निष्कर्ष पर आवें, वह एक ही होता है कि युद्ध स्फीति की दशा को पैदा करता है। युद्ध के अन्तिम दो वर्षों में जो दशा थी और इसके अन्त होने के बाद दो वर्षों तक जो आर्थिक दशा रही वह उसी प्रकार की थी जैसी प्राथमिक विश्लेषण पर उस स्थिति से निकलती है, जब व्यवसाय-चक्र की उर्ध्व गति, कार्य-व्यस्तता की सीमा तक पहुंच जाने पर भी जारी रहती है।

युद्धोत्तर-काल के सम्बन्ध में कुछ भविष्य कथन करने से हमें परहेज करना चाहिये। पर एक निष्कर्ष, किसी तरह निकाला जा सकता है। १९१४-१८ की लड़ाई के बाद, प्रायः दो साल की देरी के उपरान्त, व्यावसायिक कार्यों में संकोचन और मूल्य में कुछ पतन हुआ। यद्यपि यह गिर कर युद्ध-पूर्व की स्थिति तक तो नहीं आया। परन्तु युद्ध-काल में जो अतिरिक्त रुपयों का सृजन हुआ था, उनमें से एक छदाम भी पीछे वापस नहीं लिया गया। यदि १९३९-४५ के युद्ध के बाद भी घटनाओं का वही क्रम चलता, तो उसका परिणाम यह होता कि सर्जित मुद्रा की १९१४-१८ काल से भी अधिक विशाल राशि रह जाती—यह राशि राष्ट्रीय आय की तुलना में बहुत बड़ी होती। पर १९४७ साल के अन्त में, आज जब कि ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं, वे बहुत कम हैं। इस बात से दो परिणामों की आशा की जा सकती है। प्रथम यह है कि ब्याज की

नीची दर के लिए यह एक जबर्दस्त प्रेरणा होगी। दूसरा यह होगा कि चूंकि जनता के पास उसकी क्रय-शक्ति का एक विशाल अंश तरल मुद्रा के रूप में होगा, देश के कल-कारखाने और व्यवसायों को बैंकों से ऋण लेने की कम जरूरत पड़ेगी। वहुत ऊंची डिगरी का तरलता (a high degree of liquidity) का अर्थ यह है कि उद्योग-धंधों के पास अपना बहुत-सा नगद धन इकट्ठा हो जाता है जिसमें से वे अपने पर ही निर्भर करने योग्य पूंजी निकाल लेते हैं। एक ही पीढ़ी के भीतर मुद्रा की प्रभूत राशियों के दो-दो बार महासृजन (massive creation) के कारण बैंकों का काम भी अब बदल रहा है। अब वे केवल वह संस्थायें ही नहीं रहीं, जो लोगों की बचत का रुपया समेट कर रखती और उसे उद्योग-धंधों को ऋण देने में व्यय करती हैं। अब तो वे समाज के धन का तरल रूप सब समेट कर रखती हैं और उसे सरकार को कर्ज देती हैं। इस परिवर्तन का नतीजा अगले दो-चार युगों के भीतर प्रकट होगा।

छठा अध्याय

मुद्रा-नीति

MONETARY POLICY

मुद्रा-नीति के उद्देश्य

THE OBJECTS OF MONETARY POLICY

पिछले तीन अध्याय इस विषय के वर्णन में लगाये गये हैं कि आधुनिक समाज की मुद्रा-नीति किस मार्ग से काम करती है। यह भी दिखाया गया है कि किस प्रकार यह व्यावसायिक ह्रास-वृद्धि पर प्रभाव डालती है और किस प्रकार उत्पादन पर। इस पुस्तक का दूसरा अंश इस विषय से सम्बन्धित रहेगा कि मुद्रा का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप क्या है? पर इसके पहले कि यह मुद्रा सम्बन्धा विशाल विचार-विमर्श के इस दूसरे अंश पर पहुचें, यह उपस्थित अध्याय भी समाप्त हो जाना चाहिये जो नीति के सम्वन्ध में है। यह एक ऐसे विषय का विचार करता है जो मोटा-मोटी तौर पर देखने से, इस पुस्तक के बाहर का विषय ज्ञात होगा। क्योंकि इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य तो मुद्रा सम्बन्धी तत्वों की छानवीन और उसके वर्णन से है—इसका उद्देश्य यह नहीं है कि मुद्रा-नीति सम्बन्धी कुछ सुभाव उपस्थित किया जाय। परन्तु यह विषय जहां पर आ कर पहुंच गया है वहीं पर विना कोई निष्कर्ष निकाले और विश्लेषण के फलस्वरूप जो तत्व प्राप्त हुए हैं उनकी चर्चा बिना किये, यदि हम इस विषय को छोड़ देते हैं तो यह मूर्खता होगी। परन्तु जिसे सम्पूर्ण मुद्रा-नीति कहेंगे उसका सांगोपांग वर्णन करने की चेष्टा नहीं की जायगी। यह चीज तो और एक अलग पुस्तक का विषय है।

एक निश्चित मुद्रायिक व्यवस्था रखने के आर्थिक लाभ इतने अधिक हैं कि बिना ऐसी कुछ व्यवस्था किये आज कोई समाज रह नहीं सकता है। परन्तु पिछले अध्यायों में जो कुछ लिखा गया है उससे प्रगट होगा कि मुद्रा के साथ यदि बहुत-सी सुविधायें

हैं तो बहुत-सी असुविधायें भी हैं। मूल्य की ह्रास-वृद्धि और व्यवसाय-चक्र का ज्वार-भाटा जो दोनो ही कम से कम आंशिक रूप से मुद्रा की विद्यमानता के ही परिणाम हैं, इन असुविधाओं में से एक हैं। मुद्रा-नीति की उत्तमता इसी में है कि इन असुविधाओं को कम से कम किया जाय।

जैसा कि हमने पहले बताया है, हमें मुद्रा के दीर्घावधि व्यवहार और अल्पावधि व्यवहार के बीच के विभेद को समझ लेना चाहिये। दीर्घावधि में, जिसका काल एक-दो पीढ़ी या उससे अधिक भी होता है, स्पष्ट मुद्रायिक स्वभाव यह है कि एक काल में तो मूल्यों की वृद्धि की प्रवृत्ति रहती है और दूसरे में उसके ह्रास की। यह उर्ध्व तथा अधोगति (जैसा प्रवाह हो) अच्छे और बुरे व्यवसाय के समयों पर छायी रहती है और यह कहना कठिन है कि मानवीय भौतिक उन्नति एक में अधिक होती है और दूसरे में कम। इस बात के प्रमाण हैं कि मूल्य-ह्रास के दीर्घ काल में वास्तविक मजदूरी, मूल्य-वृद्धि-काल की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ती है। पर इस काल में बेकारी अधिक होती है। दोनो में कौन-सा समय अच्छा है, इसपर कुछ निर्णय देने के लिए यह सोच लेना होगा कि ऊंची मजदूरी और लगातार कार्य-व्यस्तता, दोनो में से कौन-सी अच्छी है। अल्पावधि समय के लिए तो इसका निर्णय कर लेना आसान है। तेजी और मन्दी दोनो के बीच जो विकल्पता रहती है, वह आती ही है, चाहे मूल्यों की दीर्घावधि प्रकृति ऊंची हो या नीची हो। और इसका प्रभाव अत्यन्त हानिकर होता है।

मन में यह लालच आ सकती है कि यहां पर उन सुथरे विचारों को धारण किया जाय जो मुद्रा-नीति के दीर्घावधि एवं अल्पावधि काल के लिए दिये जाते हैं। किन्तु इन विचारों पर जैसे गंभीर चिंतन करते हैं, दीर्घावधि नीति के उद्देश्य और उसे प्राप्त करने के साधन, दोनो ही अवास्तविक लगते हैं। उदाहरणार्थ सवाल यह है कि मूल्य-स्तर का आदर्श, दीर्घावधि रुख, क्या होना उचित है ?—यह ऊपर की ओर हो, नीचे की ओर हो अथवा स्थिर हो ? दोनो के लिए दलीलें दी जा सकती हैं। इस तरह की दलील बराबर दी जाती है कि

सम्पूर्ण आर्थिक ढांचे की उत्पादन-क्षमता बढ़ती ही जा रही है और यह वृद्धि-प्रवाह प्रतिवर्ष १ से १$\frac{३}{२}$ प्रतिशत का है। मूल्य-स्तर इसी हिसाब से नीचे गिरना चाहिये। इस ढंग से तो मजदूरी करने वालों को आपसे आप, समय-समय पर मजदूरी-वृद्धि की मांग किये बिना समाज की उत्पादन-क्षमता की वृद्धि का लाभ मिल जाना चाहिये। मूल्य-ह्रास ही वह तरीका है जिसके द्वारा वे लोग समाज की वर्तमान आर्थिक दशा का कुछ लाभ प्राप्त कर सकते हैं जिनकी आय रुपयों में बंधी हुई निश्चित है। यह भी कहा जा सकता है कि स्थिर मूल्यों में मुद्रा-स्फीति की भयावह स्थिति को भी बचाया जा सकता है। दलील यह है कि बढ़े हुए उत्पादन पर भी यदि मूल्य नहीं गिरे तो लाभ के परिमाण में वृद्धि होने की संभावना हो जाती है (क्योंकि मजदूरी की बाढ़ उसी के बराबर कभी नहीं होती) चूंकि इस तरह का बढ़ा हुआ मुनाफा वायु-पात (windfalls) की स्थिति के समान होगा जो प्रायः हर एक उद्योग-धंधे में आता है, चाहे उसके उत्पादन की मांग बढ़ी हुई भी हो या न हो। इससे वृद्धि प्राप्त विनियोग की सम्भावना उद्योग-धंधों की पूंजी में हो जायगी। थोड़े में मूल्य स्थिर भी रहे तो भी स्फीति की अवस्था आ सकती है। इस प्रकार की दलील के समर्थन में मुख्य उदाहरण वह स्थिति है जो अमेरिका में १९२२ और २९ के बीच आयी थी। उस समय कीमतें औसतन बहुत ही स्थिर थीं (यदि सट्टा बाज़ार की कीमतों को इस विचार से बाहर रखा जाय), पर इसके बाद ऐसी घटनायें वहां हुई जिनसे यह बिलकुल स्पष्ट हो गया कि उन दिनों इतना बड़ा विनियोग हुआ था कि जिसको संभाला नहीं जा सकता था और फलस्वरूप १९२९ में जो विभ्राट (crash) हुआ, वह आर्थिक इतिहास में ज्ञात किसी भी घटना से अधिक तीव्र था।

यह दलील गिरती हुई कीमतों के लिए है। पर बहुत धीरे-धीरे उठती हुई कीमतों के लिए भी ऐसी ही अच्छी दलील दी जा सकती है। यह कहा जायगा कि स्फीति के मुकाबले में विस्फीति वास्तविक में एक भारी संकट है। क्योंकि स्फीति के एक साल के लिए, जब कि परिस्थिति कुछ ऐसी बन जाती है कि स्फीति हो, कम से कम तीन

ऐसे वर्ष होते हैं जिनमें स्थिति कम या अधिक मान (degree) में विस्फीति के अनुकूल होती है। अपनी साधारण दशा में अर्थिक ढांचे को धीरे-धीरे मूल्य-वृद्धि के एक हलके-से टानिक की आवश्यकता रहती है जो उसको चलाता रहे। और यदि स्थिर आय वालों के लिए बढ़ती हुई कीमतें परेशानी लाने वाली हुई तो बहुत कम व्यक्ति ऐसे बचते हैं जो बहुत धीमी वृद्धि के प्रभाव को देखने के लिए बहुत दिनों तक बचे रह सकें। गिरती हुई कीमतों के बढ़ने के पक्ष की दलील १९२० में अमेरिका की स्थिति का उदाहरण दे सकती है, पर कीमतों के बढ़ने के पक्ष की दलाल के समर्थन में तो सम्पूर्ण मुद्रा-इतिहास ही उपस्थित किया जा सकता है। संसार ने पाया है कि थोड़ा-थोड़ा बढ़ते जाने वाला मूल्य-स्तर, मुद्रा-ऋण के बढ़ते हुए भार को एक व्यर्थ बोझ बन जाने से रोकने के लिए, रखना आवश्यक है। मनुष्यता का संगठन इस समय ऐसा हो गया है कि ऋण लिये बिना उसका काम नहीं चल सकता ; हर एक मंदी की देन ही ऋण है और यह अच्छा है कि इस सामाजिक उलझन को सुलझाने का उद्देश्य रख कर, धीरे-धारे, आंशिक और अप्रत्यक्ष मूल्य-वृद्धि अपना दौर कायम रखे बनिस्बत इसके कि महाजन-खद्दुक में भीषण संघर्ष हुआ करे। केवल एक ही शताब्दी ऐसी हुई है जो उन्नतिशील भी है और समाधान पूर्ण भी और जिसमें कीमतें बढ़ी नहीं हैं। वह १९वीं शताब्दी है जिसमें औद्योगिक क्रान्ति के साथ जन-संख्या में भारी विस्तार का असाधारण लाभ समाज को मिला था। इससे आधक स्थिर दशा वाला समाज, जिस तरह कि हम लागों का समाज है , ब्याज को छुरी से हलाल ही हो जाय यदि उसके भीतर मूल्य-वृद्धि का तत्व न हो।

अब ऐसे लोग हो सकते हैं जिनका मन समझौते में ज्यादा खुश रहता है। इन लोगों के लिए समझौते का मार्ग स्थिर कीमतों का है। संभवतः विशुद्ध सैद्धान्तिक उद्देश्य से यह मार्ग सब से अच्छा होगा क्योंकि यदि मुद्रा का मूल्य बहुत स्पष्टता पूर्वक घट-बढ़ न करे तो मुद्रा अधिक से अधिक निरपेक्ष चीज हो जायेगी और मुद्रा के लिए इस तरह की स्थिति

ठीक भी है जिसका निर्माण मध्यस्थता का कार्य सम्पादित करने के लिए ही हुआ था।

दीर्घावधि मुद्रा-नीति के उद्देश्य को समझना कठिन है—यह और भी कठिन है कि इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए युक्तियों की व्यवस्था दी जाय। क्योंकि मूल्यों की दीर्घावधि गति छोटी-छोटी हलचलों का ही परिणाम है। मुद्रा की दीर्घावधि गति तभी पैदा होती है जब कि व्यवसाय-चक्र की उर्ध्वगति अधोगति की लम्बाई से बढ़ जाती है। इसकी उलटी दशा तब होती है जब उलटी बात होती है। इससे यही नतीजा निकलता है कि दीर्घकालीन प्रकृति को केवल अल्पकालीन ह्रास-वृद्धि की प्रक्रिया ही प्रभावित कर सकती है, अन्य नहीं। स्पष्ट रूप से इस बात की आवश्यकता है कि व्यवसाय-चक्र पर अमल करने में बहुत अधिक लचीलापन के साथ व्यवहार किया जाय—इसपर समझ-बूझ कर नियंत्रण रखने की आवश्यकता है। कभी इस नियंत्रण का रुख जान-बूझकर बढ़ती की ओर होने देना चाहिये और कभी घटती की ओर। परिणामतः ऐसे अवसर आ सकते हैं जब कि कोई दीर्घावधि नीति उलटी दिशा में खींच रही हो जिसका परिणाम दुर्भाग्य पूर्ण होता है।

दीर्घावधि मूल्य-स्तर-प्रकृति पर नियंत्रण रखने के लिए जो, जाने या अनजाने प्रयत्न हुए हैं उनमें यही ऐब था। इनमें से कई चेष्टाओं में तो यही हुआ है कि तरह-तरह के उपायों द्वारा वर्तमान चालू मुद्रा को नियंत्रित किया जाय। तर्क के विचार से यह युक्ति गलत नहीं है। पिछले अनुच्छेद में हमने यह दिखाया है कि मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त द्वारा मोटा-मोटी रूप से यह समझाया जा सकता है कि कीमतों की दीर्घकालीन गति कैसे आ जाती है, और यद्यपि मुद्रा की संख्या और चालू मुद्रा की संख्या दोनो एक ही चीजें नहीं हैं तो भी दोनो के बीच बहुत निकट का तथा बहुत घना सम्बन्ध है। मुद्रा-इतिहास के सम्पूर्ण प्रसार में हम यह पाते हैं कि राज्य के पास धातु की सीमावद्धता के कारण मुद्रा की संख्या आपसे आप नियन्त्रित रहा है और जब देश की मुद्रा में कागजी मुद्रा का प्राधान्य हो गया, तब इसकी

संख्या को भी सुरक्षित स्वर्ण-कोष से जोड़ कर मुद्रा की संख्या पर रोक-छेंक डाले रखी गयी थी। इंग्लैण्ड में एक निश्चित पक्की (fiduciary) संख्या के ऊपर जो नोट चालू किये जाते हैं, उनके लिए पूरा-पूरा सोना बैंक आफ इंग्लैण्ड में सुरक्षित रखा जाता है। अरिमेका का तरीका यह है कि जितने का नोट जारी किया गया हो, उसका कम से कम ४० प्रतिशत मूल्य का सोना सुरक्षित रखना चाहिये। फ्रांस में १९१४ से पूर्व नोटों की संख्या निश्चित कर दी गया थी। परन्तु इस तरह से निश्चित संख्या, एक काल में तो यथेष्ट हो सकती है, दूसरे में वही अपर्याप्त ठहर जाती है और नोटों का पल्ला सुवर्ण के साथ बांध देने से उसकी संख्या की ह्रास-वृद्धि सुवर्ण-उत्पादन-विद्या (mining science) की ताबेदार हो जाती है। इसलिए इन दोनो में से एक भी कीमतों की दीर्घकालीन प्रवृत्ति को निश्चित करने की दिशा में वैज्ञानिक युक्ति नहीं हो सकती। ये केवल भोंड़े उपाय हैं जिनसे मात्र इतना विश्वास हो जाता है कि और चाहे जो कुछ हो, बहुत तेजी से और बहुत दिनों तक जारी रहने वाली स्फीति की अवस्था नहीं रहने पायेगी। पर मुद्रा के विस्तार पर कोई सीमा रखने में कठिनाई यही है कि वह किसा गलत क्षण में आ कर न पड़ जाय। व्यवसाय-चक्र की उर्ध्वगति में हमेशा बहुत अधिक बढ़ी हुई मुद्रा-संख्या की आवश्यकता होती है और यद्यपि एक निश्चित सीमा पर पहुंच कर इसकी वृद्धि को रोक देना अच्छा है, तो भी ऐसा बिलकुल ही संयोग से हो सकता है कि रोक का सही स्थल वही हो जो कई साल पहले ही निश्चित कर दिया गया हो, अथवा संयोग से सोने का जितना बड़ा कोष किसी राष्ट्र के पास एकत्रित हो गया हो। कभी-कभी मंदी के दिनों में भी चालू मुद्रा की संख्या बढ़ी हुई होती है (यद्यपि सिक्के की संख्या बढ़ी हुई नहीं होती) उदाहरणार्थ यदि बैंक-प्रथा पर विश्वास नहीं किया जाय और जनता अपने जमा रुपयों को बैंक से नगद निकाल ले। ऐसी अवस्था में मुद्रा की वृद्धि से इनकार करना निरर्थक और मूर्खतापूर्ण कार्य ठहर सकता है।

हाल के वर्षों में मुद्रा के आकार पर नियंत्रण रखने के बहुत-से सूक्ष्म और नवीन उपाय बताये गये हैं जिनमें यह उद्देश्य रखा गया है कि दीर्घावधि मूल्य-प्रवृत्ति पर शासन रखा जा सके। उदाहरणार्थ, यह सुझाव दिया गया है कि अधिकतम चालू मुद्रा का परिणाम जनसंख्या के हिसाब से घटता-बढ़ता रहे अथवा उत्पादन के आकार के अनुसार परिवर्तित हुआ करे। पर ये सभी सुझाव इस आपत्ति के योग्य हैं कि यदि उन्हें अल्पावधि नीति में बाधा पहुंचानी न हो (जो दीर्घावधि नीति से अधिक महत्वशाली है) तो वे केवल औसतन कुछ वर्षों के लिए ही लागू किये जा सकते हैं, किसी खास समय के लिए नहीं। और इस तरह का कोई संशोधन उन सुझावों को कार्य में लाये जाने के विचार से असंभव बन जाता है।

इसलिए हम लोग इस निष्कर्ष पर आने के लिए लाचार हो जाते हैं कि दीर्घावधि नीति को यों छोड़ देना चाहिये कि वह अल्पकालीन नीति से अपने आप निकले। क्योंकि जो कुछ भी हो, अल्पकाल की अवधि में जो युक्ति स्थिरता लाती है वह दीर्घ कालीन अवधि के लिए क्यों आपत्तिजनक होगी ? इसी से हम यह प्रतिपत्ति (rider) भी जोड़ सकते हैं कि चूंकि परिमाण-सिद्धान्त दीर्घावधि के लिए ठोस साबित हो चुका है इसलिए कोई भी अल्पायु नीति जिसमें मुद्रा का विशाल परिमाण में सृजन अथवा उसके विघटन की बात हो, परित्याग करनी चाहिये। पर इस कथन को भी इस तरह संशोधित करना चाहिये कि इसका अर्थ "शेष बच जाने के बाद मुद्रा का विशाल परिमाण में सृजन अथवा विघटन निकले।" समय-समय पर मुद्रा-सृजन की आवश्यकता भी पड़ जा सकती है। साधारण जन के लिए मुद्रा सम्पत्ति का सब से अधिकतम तरल रूप है। कभी-कभी वह यह भी इच्छा कर सकता है—जैसे कि भारी मंदी के समय—कि वह अपनी सम्पत्ति का सबसे बड़ा भाग तरलाकार (liquid form) बना कर रखे, और हमलोग अध्याय ४ में यह बात पढ़ चुके हैं कि यदि उस समय उसे संचित कर रखने योग्य यथेष्ट मुद्रा प्राप्त नहीं हो तो उसका प्रभाव यह होगा कि ब्याज-दर में वृद्धि हो

जायगी, जिसके कारण मंदी से छुटकारा पाने की प्रक्रिया में बाधा भी पड़ सकती है। इस तरह इस नतीजे पर पहुंचने से बचा नहीं जा सकता कि दीर्घायु (long term) नीति को अल्पायु (short term) नीति से निकलने के लिए ही छोड़ देना चाहिये।

इससे सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अल्पावधि नीति पर आकर पड़ जाता है। इसका उद्देश्य क्या होना चाहिये ? इससे पूर्व के अध्याय में जो विश्लेषण किया गया, उससे यह परिणाम निकालना तर्कयुक्त होगा कि इस नीति का प्रकट उद्देश्य यही होना चाहिये कि बचत और विनियोग के बीच पूर्ण कार्य-संलग्नता के स्थल पर पहुंच कर संतुलन स्थापित हो जाय। हम इस बात को सचमुच परिभाषा के रूप में मान सकते हैं पर इसमें कुछ भाष्यीकरण (inter-pretation) की भी आवश्यकता है। मंदी और तेजी के पुराने विकल्प का एक परिणाम यह है कि समाज के विनियोग का अधिक भाग ८ साल में से दूसरे-तीसरे साल तक ही भर जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि निर्माण का उद्योग-धंधा करने वालों को, अपने ऊपर पड़ी हुई मांग के भार को संभालने के लिए, यथेष्ट संख्या में आदमी और पूंजी लगाने की आवश्यकता पड़ जाती है। यदि 'पूर्ण कार्य-संलग्नतावस्था' को ऐसी परिभाषा दें कि "इसे तब तक पूर्ण नहीं कह सकते, जब तक कि यह सारा श्रम और सारी पूंजी काम में नहीं लग जाती" और इस पूर्णसंलग्नता को स्थिर करने की चेष्टा की जाय, तो इसका परिणाम यह होगा कि वह समुदाय समूचे व्यवसाय-चक्र में अधिक से अधिक विनियोग करता रहेगा। और यह चीज निश्चय ही उस काम्य स्थिति से कहीं अधिक है जो साल-ब-साल समुदाय करना चाहता है। थोड़े में, इस प्रकार की पूर्ण कार्यलग्नावस्था लाने की चेष्टा में इस बात की आवश्यकता पड़ेगी कि जनता से बलात बचत करायी जाय और इस तरह की स्थिति, जैसा कि पृष्ठ २१० पर समझाया गया है, निश्चय पूर्वक अस्थिर और स्फीति की भूमिका होती है। किसी ऐसे समाज में जिसमें सदस्यों को यह सुविधा रहती है कि वे अपने से अपनी

आय के उपयोग के विषय में निर्णय करें, राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का—यानी पूंजी वाले सामान (capital goods) बनाने वाले, उपभोग्य माल (consumers' goods) तैयार करने वाले और दोनो के बीच का सामान उत्पादन करने वाले उद्योग-धंधों के बीच धन का वितरण किस प्रकार हो, इस योजना का—साधाण 'स्वरूप' यह है कि इन बातों को जनता ही तय करती है। अथवा और सख्ती से इस बात को लें तो यह इस तत्व से निर्णीत होता है कि जब हर आदमी काम में लगा हुआ है तो उसका वितरण किस ढंग से होता है। (क) यदि समाज में आर्थिक व्यवस्था का यही स ाधारग स्वरूप प्रचलित हो तो निर्माणक उद्योग-धंधों (construction industries) में उस समाज का निश्चय ही बहुत अधिक आदमी लगा हुआ मिलेगा। इसलिए यह कोशिश करना कि हर आदमी काम में लगा रहे एक अस्वाभाविकता को बनाये रखने की चेष्टा करना है और इसे बनाये तभी रख सकते हैं जबकि ऐसा कोई उपाय हो जिसके द्वारा लोग। से उनकी आमदनी के एक छोटे-से भाग को ही खर्च करवाया जा सके और यह भाग उस भाग से छोटा हो जा लोग अपने मन से खर्च कर देंगे। दूसरे शब्दों में एकदम निर्वन्ध आर्थिक व्यवस्था वाले समाज में पूर्ण संतुलन के साथ निर्माण के काम-धंधों में पूर्ण कार्य-संलग्नता आ जाय यह अनहोनी बात है। यदि हम अपना प्राथमिक उद्देश्य यह लें कि तेजी और मंदी के सर्वनाशी प्रभाव से बचा जाय तो हमें "पूर्ण कार्य-

---

(क) यह सही है कि राज्य कर वसूलने और खर्चने के अपने अधिकार के कारण बहुत प्रभाव डाल सकते हैं। यदि कर में उस धन से कम धन इकट्ठा किया जाता है जो समाज चालू चीजों पर व्यय करता है, तो यह वास्तव में लोगों की बचत को कम कर रहा है। और यदि बहुत बड़ा कोष इकट्ठा किया जाता है तो बचत बढ़ा रहा है। परन्तु एक जनतान्त्रिक देश में ये कार्य केवल इस बात का आभास देते हैं कि निर्वाचक क्या करना चाहते हैं। और इसलिए यह कथन गलत नहीं ठहरता कि आर्थिक व्यवस्था का स्वरूप जनता ही निश्चित करती है।

लग्नता" की व्याख्या "सब आदमियों के निर्माण के उद्योग-धंधों में लगे रहने" से कुछ घट कर करनी चाहिये। इससे यह संभव होता है कि नीति का लक्ष्य हम "पूर्ण कार्य-संलग्नता के साथ-साथ बचत और विनियोग का संतुलन" यह रखें पर इससे यह कहना और भी मुश्किल हो जाता है कि "पूर्ण-कार्यलग्नता", है क्या चीज। शायद सब से अच्छी सही परिभाषा यह हो कि "पूर्ण-कार्यलग्नता उस स्थिति पर पहुंच जाने को कहेंगे जब कि साधारणत: पदार्थों और नौकरियों की मांग (किसी खास पदार्थ या नौकरी की मांग नहीं) साधारणत: पदार्थों और नौकरियों की पूर्ति के बराबर हो जाती है।" अगर इस अर्थ में कभी पूर्ण कार्यलग्नता पर पहुंच जाया जाय और अगर इस स्थिति को कुछ वर्षों तक कायम रखा जाय, तो निर्माण-धंधे में से फाजिल श्रम और पूंजी निकल कर कहीं और अपना ठिकाना कर लेती हैं। जब ऐसा हो जाय तभी हम कह सकते हैं कि "पूर्ण कार्यलग्नता" का अर्थ वही है जो इन शब्दों से झलकता है और तभी हम कह सकते हैं कि "पूर्ण कार्यलग्नता के साथ-साथ बचत और विनियोग का संतुलन" मुद्रा-नीति का लक्ष्य था।

इस नीति के लक्ष्य का वर्णन कर के अब यह बताना है कि वहां तक पहुंचा कैसे जाय ? 'पूर्ण-कार्यलग्नता' की नीति अर्थशास्त्र का एक विषय है और हाल साल में इसकी तेजी से वृद्धि हो रही है। इसकी अच्छी तरह विस्तार से व्याख्या देने की चेष्टा करने से वह पुस्तक के बाहर का विषय हो जायगा। इस स्थिति के भीतर जो आधारभूत तत्व हैं वे दो हैं; और जैसा कि हमने पिछले अध्याय में दिखाया है वे दो तत्त्व जनता के बीच वर्तमान बचत की इच्छा या मितव्ययिता और पूंजी का सृजन या किये गये विनियोग, ये दो हैं। जो सरकार व्यवसाय-चक्र पर शासन चाहती हो उसे इन दोनो तत्वों पर भी नियंत्रण रखना चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार कई युक्तियां कर सकती है पर उन सबको आर्थिक नहीं कहा जा सकता। अब इस तरह से राष्ट्रीय नीति धारण करके तो बचत की धारा को कम कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, धन के

पुर्नवितरण से हम यह काम पूरा कर सकते हैं। वह ऐसे कि मानलें कि धनियों पर बड़े भारी-भारी कर बांध दें और इस संचय से जो धन आवे उसे गांवों में बांट दें। तो इसका परिणाम निश्चित रूप से यही होगा कि मितव्ययिता का ह्रास हो जायगा। अथवा जनता पर ही खूब कर लगाया जाय और उससे जो धन आवे उसे लेकर सरकार स्वयं विनियोग कर दे। (इसी नीति को १९३९ के महायुद्ध के पहले तक नाजियों ने जर्मनी में एवं सोवियत ने रूस में डिक्टेटरी के द्वारा किया था और यही नीति युद्ध-काल में सभी सरकारों द्वारा वरती जाती है) इसका परिणाम यह होगा कि मितव्ययिता बढ़ जायगी। पहन्तु युद्ध की आतुर आवश्यकता के अतिरिक्त, जिस समय जनता वह काम करने को भी राजी हो जाती है जिसका वह विरोध करती है, अन्य साधारण समयों में स्वाधीन देशों में ऐसे उपाय नहीं हो सकते। इससे भी कम वहां ऐसे काम हो सकते हैं, जिन्हें बदलता हुआ समय यदि प्रतिकूल नीति की मांग करे तो, आसानी से झटपट परिवर्तित किया जा सके। जहां तक एक ही व्यवसाय-चक्र का सम्बन्ध है उसमें मितव्ययिता को परिस्थिति-प्रदत्त चीज समझना चाहिये, जन-नीति के हाथ का काम यह नहीं है।

इसका अर्थ यह है कि मुख्य जरिया, जिस होकर पूर्ण कार्यसंलग्नता की नीति काम करती है, विनियोग का आकार है। बहुत-से ऐसे तरीके हैं जिनके द्वारा राज्य, उस विनियोग पर प्रभाव डाल सकता है, जो आर्थिक ढंग की नहीं होती। जिस समय जनता की मांग धीमी पड़ जाती है उस समय राज्य इस चीज में सीधे हस्तक्षेप कर सकता है और अपने आप विनियोग कर सकता है यद्यपि इस तरह के काम को आवश्यक तत्परता और अपेक्षित विस्तार के साथ कर सकने के मार्ग में कई व्यावहारिक कठिनाइयां हैं। यह निर्माण के कामों के लिए लाइसेंस की योजना चला सकता है, यह कर का हथियार प्रयुक्त कर सकता है। पर इस किताब में हमें पूर्ण कार्यसंलग्नता की नीति के विस्तृत विषय पर निगाह डालने की आवश्यकता नहीं है। हमलोगों को इस नीति के केवल उन शाखाओं पर विचार करना है जो बिलकुल आर्थिक ढ़ंग के हैं।

यह एक भारी अटक है। क्योंकि व्यवसाय-चक्र ही कोई अमिश्र मुद्रायिक अवस्थिति नहीं है। यह अशांति के कारण भी हो सकती है, केवल मुद्रा सम्बन्धी गड़बड़ी के कारण ही नहीं। उदाहरणार्थ, राज्य द्वारा बहुत अधिक कड़े नियंत्रण की गलत नीति के कारण यदि उद्योग-धंधों के पूर्ण काम-काज मे बाधा पड़ रही हो तो यह आकांक्षा पूरी नहीं होगी कि केन्द्रीय बैंक मुद्रायिक युक्तियों (monetary action) द्वारा एक संतुलित पूर्ण कार्य-संलग्नता की स्थिति ले आये। यह सत्य है कि मुद्रायिक युक्तियां ऐसी शक्तिशाली हो सकती हैं कि इन अमुद्रायिक कठिनाइयों के उपद्रव को दबादें। मुद्रा-नीति यद्यपि शक्तिशाली होती है, पर उसका प्रभाव प्रायः प्रमाणहीन होता है। इसका प्रभाव सम्पूर्ण राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर पड़ता है। पर किसी खास उदाहरण में, सम्पूर्ण रूप से आर्थिक व्यवस्था के व्यतिव्यस्त होने का कठिनाई जितनी नहीं हो सकती है उससे अधिक परेशानी इस बात से हो सकती है कि इसके निर्माणक अंशों (component parts) का पारस्परिक संतुलन नष्ट हो जाय। बैंक की नीति (नीचे लिखी हुई शर्तों के साथ) विनियोग की युक्ति को गति दे सकती है पर यह शायद ही निश्चित कर सकती है कि इस विनियोग का स्वरूप क्या हो। कीमतों की गिरावट कभी उस असंतुलन के कारण भी हो सकती है जो कुछ उद्योग-धंधों के अतिशय शीघ्रता से विकसित होने और कुछ के बहुत धीरे-धीरे बढ़ने के कारण पैदा होती है। यदि इस दशा में केन्द्रीय बैंक ने विनियोग में वृद्धि कर दी तो इससे हो सकता है कि तेजी से बढ़ चलने वाले उद्योग-धंधों की गति में ही और तेजी आये। इसलिए हमलोगों को यह न समझ लेना चाहिये कि मुद्रायिक युक्ति अमुद्रायिक समस्याओं का भी समाधान दे सकती है। इस सम्पूर्ण विषय पर मैकमिलन कमेटी ने १९३१ में विचार किया था। कमेटी ने लिखा था, "हमलोगों को यह साफ समझ में आ रहा है कि युद्धोत्तर-काल की मुद्रा-सम्बन्धी कठिनाइयां मुद्रा-तत्वों के किसी दुर्व्यवहार के कारण नहीं, पर साधारणतः बड़े और वेगवाले उन तत्वों के व्यवहार के कारण,

आई थी जिन्हें मुद्रा-तत्व नहीं माना जाता। इन अमुद्रायिक तत्वों ने ही मुद्रा-विषयक दुष्परिणाम उत्पन्न किये"। इसलिए हम लोगों का मत यह है कि मूल्य-स्तर मुद्रायिक एवं अमुद्रायिक तत्वों के घात-प्रतिघात का परिणाम है और हाल के विश्व-व्यापी मूल्य-स्तर के पतन को हम अधिक से अधिक वह मुद्रा-व्यापार कह सकते हैं जो कई भारी अपरिवर्तनीय अमुद्रायिक तत्वों के सम्पर्क से पैदा हुई गड़बड़ी को सफलता पूर्वक न मिटाये जाने के कारण हुआ था। कोई अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-व्यवस्था इस गड़बड़ी को मिटा सकती या नहीं, इस सम्बन्ध में कोई प्रचलित राय पेश करने से हमलोगों को विरत रहना चाहिये (क)।

इसके ऊपर मैकमिलन कमेटी ने जिस समय रिपोर्ट दी उसके बाद से आज तक राज्यों में यह प्रवृत्ति बढ़ती रही है कि अमुद्रायिक गोल-माल को वैसी ही अमुद्रायिक युक्तियों द्वारा दूर किया जाय। इतना हा नहीं यह भी सोचा गया है कि केन्द्रीय बैंक को जहां तक कर सकने की अनुमति है उसकी भी एक सीमा बांध दी जाय। उदाहरण के लिए कह सकते हैं कि ब्याज-दर सम्बन्धी नाति पर केन्द्रीय बैंक का अधिकार रहा करता था। बैंक आफ इंग्लैंड के ध्यान में हमेशा यह बात रहती थी कि इसका सब से बड़ा ग्राहक, सरकारी खजाना, हमेशा इस ताक में रहता है कि ब्याज की दर नीची से नीची रहे ताकि राष्ट्रीय ऋण का भार कुछ हलका रहे। पर इस न्यस्त-स्वार्थ संस्था को भी यह सुविधा नहीं दी गयी थी कि ब्याज-नीति निश्चित करने के मार्ग में वह बाधक बन सके। जिस नीति को कारबार के स्थायित्व के लिए बैंक अच्छा समझता है, उसे ही धारण करनें में वह स्वाधीन था। जो कुछ हो लेकिन अब इधर आकर राजनीतिज्ञों को सस्ती मुद्रा के प्रति एक विशेष मोह हो गया है। यह मोह कुछ तो इस कारण है कि राष्ट्रीय ऋण का बोझ हलका रहे और कुछ इस कारण कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में

(क) फाइनेंस ऐंड इंडस्ट्री कमेटी की रिपोर्ट, Cmd. 3897 (1931), पृष्ठ ९२।

इससे स्थायी लाभ होगा, ऐसा ख्याल किया जाता है। इसलिए बैंक आफ इंगलैण्ड के हाथ से उसका प्रधान नियंत्रण-अस्त्र ले लिया गया है। हम अब इसकी चर्चा करेंगे।

निःशंसय रूप से इधर यह प्रवृत्ति पैदा हो गयी है कि नियन्त्रण की मुद्राथिक युक्तियों को पृष्ठ-भूमि में फेंक दिया जाय। पहले मुद्रायिक युक्तियों की जो बहुलता थी और उसके सम्बन्ध में यह जो प्रचलित विश्वास था कि यह सभी रोगों की दवा है, उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया यही है कि अब उसे पृष्ठ-भूमि में जाना पड़ा। किन्तु यदि सचमुच बात सही हो तो, यह प्रतिक्रिया बहुत अग्रसर हो गयी है और जब कि ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं इसके लक्षण प्रकट हुए हैं कि प्रवाह पुनः पलट रहा है और मुद्रायिक व्यवस्थाओं पर पुनः लोगों का ध्यान जाने लगा है। यह सही है कि मुद्रायिक व्यवस्थाएं ही जादू नहीं कर सकतीं, परन्तु नियन्त्रण की जो वैकल्पिक रीति थी उसका परिणाम भी, अर्थात सीधा राशन-व्यवस्था जिसमें लाइसेंस और भाग-दान की रीतियां आती हैं, कुछ अधिक सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुआ है वरन कुछ निराशाजनक ही है। यह सच है कि मुद्रा-विषयक युक्तियां कभी-कभी बहुत कड़ी, अन्यायानुकूल और अप्रीतिकर होती हैं पर ऐसी ही तो तथा-कथित कायिक नियन्त्रण (physical control) की युक्ति भी है। इसलिए यह हो सकता है कि आगे चल कर फिर मुद्रायिक शासन को ही समाज में आर्थिक अस्थायित्व हटाने के काम में युद्ध के दिनों तथा उसके तुरत बाद की स्थिति में जितना अधिक लाया जाने लगा था, उससे और अधिकतर लाया जाने लगे। पर यह संभावना नहीं है कि यह परिवर्तन इतना अग्रसर होगा कि लोग यह भूल जाने लगेंगे कि मुद्रायिक नियन्त्रण और शासन साधारण आर्थिक नीति का केवल एक अंग है—बहुत-से लोग जो 'धनातुर' (money cranks) नहीं हैं पिछले दिनों ऐसी ही भूल करते रहे हैं।

केन्द्रीय बैंक के अस्त्र

THE WEAPONS OF THE CENTRAL BANK

केन्द्रीय बैंक की प्रधान क्षमता यह है कि वह बैंक-डिपाजिट के वर्तमान आकार को घटा-बढ़ा सकता है। और चूंकि अब धन की सम्पूर्ण पूर्ति का एक बड़ा भाग बैंक-डिपाजिटों के रूप में ही रहता है, बैंक की इस शक्ति का अर्थ यह है कि वह धन की पूर्ति को भी घटा-बढ़ा सकता है। दूसरे अध्याय का एक भाग यह समझाने में लगाया गया है कि किन साधनों द्वारा बैंक अपनी इस शक्ति का प्रयोग करता है। यदि केन्द्रीय बैंक मुद्रा-पूर्ति को बढ़ाना चाहता है तो बाज़ार में जाकर, सिक्यूरिटियां खरीद कर अपनी सम्पत्ति बढ़ा लेता है। इन सिक्यूरिटियों के लिए जो भुगतान दी जाती है उससे बैंक आफ इंगलैंड में जमा, सदस्य बैंकों का डिपाजिट बढ़ जाता है और ये उनके नगद सुरक्षित धन हैं। इस कारण वे इस काबिल हो जाते हैं कि अब अपनी सम्पत्ति भी बढ़ायें और इस तरह उनके नगद सुरक्षित धन में जितनी वृद्धि हुई है उसका बारह गुना के करीब वे डिपाजिट बढ़ा ले सकते हैं। बैंक आफ इंगलैंड यदि अपनी सम्पत्ति का कोई भाग बेच दे तो इसका उलटा परिणाम होता है।

बैंक आफ इंगलैंड के हाथ में यह एक महत्वपूर्ण वास्तविक ताकत है और बैंक की जो माहवारी रिपोर्ट निकलती है उससे हम देख सकते हैं कि इसका कितना प्रयोग होता है। फिर भी बैंक आफ इंगलैंड की कार्य-स्वाधीनता पर कुछ बंधन है जिसे भूल जाना नहीं चाहिए। प्रथम बंधन यह है कि बैंक अपने मन से अपनी सम्पत्ति को बढ़ाने या घटाने के लिए सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। यह सिक्यूरिटियां खरीद सकता है, पर हर एक १०० पौंड की सिक्यूरिटी के लिए, जो यह खरीद करता है, उधर इसका कोई खद्दुक यदि १०० पौंड का ऋण भरपाई कर देता है तो इसकी सम्पत्ति के योग पर कोई प्रभाव नहीं होता—वह ज्यों का त्यों रह जाता है। यह भी लेकिन एक कठिनाई है जो होते-होते ही दूर होगी। सम्पत्ति घटाने

के विषय में भी प्राय: ऐसी ही कठिनाई है। सिक्यूरिटी की बिक्री से मुद्रा-बाजार में रुपया का रुख सख्त हो जायगा और बहुत-से 'डिसकाउंट घरों' को बक दौड़ना पड़ जायगा—उसी तरह से जिसका वर्णन अध्याय दो में किया जा चुका है। बहुत दिनों से चले आते हुए एवं आवश्यक रिवाज के अनुसार कोई भी बैंक वाला किसी भी 'डिसकाउंट घर' को कर्ज देने से इंकार नहीं करता। इसलिए सिक्यूरिटी की बिक्री से बैंक की सम्पूर्ण सम्पत्ति में उतना ह्रास नहीं होता जितना सोचा जाता है। पर यदि बाजार को बैंकों तक दौड़ने को लाचार होना पड़े तो इसे, लिये हुए ऋण के लिए, बैंक-दर ब्याज देने को वाध्य होना पड़ेगा। इस काम से यह होगा कि चालू ब्याज-दर बढ़ जायगी और यही वह उद्देश्य है जिसको प्राप्त करने के लिए ऋण पर रोक रखी जाती है। इसके अतिरिक्त चूंकि 'डिसकाउंट घरों' को अधिक ब्याज-दर भरने को मजबूर होना होगा, वे इस फिक्र में रहेंगे कि जितना शीघ्र हो सके अपना ऋण उतार दें। अपनी सम्पत्ति के कुछ अंश को बेच कर के केन्द्रीय बैंक जो ऋण पर प्रतिबन्ध लगाता है उसके सम्बन्ध में एक और कठिनाई हो सकती है—इसके पास बेचने की बहुत अधिक सम्पत्ति नहीं हो सकती है। इंगलैण्ड में यह कठिनाई विशुद्ध सैद्धान्तिक है। पर ऐसे भी समय आये हैं जब कि अमेरिका में यह कठिनाई वास्तविक रही है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक जब अपनी बहुत-सी सम्पत्ति बेच देता है तो इसके पास आय का और साधन क्या बचता है? इन सभी सीमाओं को विस्मृत नहीं करना चाहिये, पर ये सब प्रतिबन्ध केन्द्रीय बैंक की उस विशाल शक्ति के लिए मामूली बंधन हैं क्योंकि उसके पास अपनी सम्पत्ति के आकार को निश्चित करने का अधिकार है और इसलिए उसे सदस्य बैंकों के नगद सुरक्षित धन को निश्चित करने की ताकत भी मिल जाती है।

परन्तु जब उनका सुरक्षित कोष कम या बेसी होता है तो क्या सदस्य बैंकों पर इस बात का भरोसा किया जा सकता है कि वे अपने सम्पूर्ण धन में और अपने देना-पावना में भी, जो जनसाधारण की धन-पूर्ति है, कमी-बेसी कर लेंगे? इस बात का उत्तर इस चीज पर निर्भर करता है कि बैंको के लिए जो डिपाजिट के

अनुपात से नगद कोष रखने का नियम बना हुआ है उसका वे कितनी कड़ाई और तत्परता से पालन करते हैं। ग्रेट ब्रिटेन में यद्यपि इस विषय पर कोई कानून नहीं है, फिर भी इस नियम का पालन कड़ाई से होता है। यहां नगद और डिपाजिट का जो अनुपात है वह शायद ही कभी बहुत अधिक परिवर्तित होता है—न यह नीचे जाता है और न ऊपर जाता है। हाल-हाल तक यह अनुपात प्रायः १० प्रतिशत था पर १९४७ में बैंक आफ इंगलैंड के साथ सभी बैंकों का समझौता होकर यह अनुपात ८ प्रतिशत ठहरा दिया गया है। इससे यह बात निकलती है कि बैंक आफ इंगलैंड की सम्पत्ति में जिस हिसाब से ह्रास-वृद्धि होगी उसी हिसाब से जनता की मुद्रा-पूर्ति की दशा भी बैंकों में घटती-बढ़ती रहेगी। अमेरिका में यह रिवाज ऐसा स्वतः चालित नहीं है। यह सच है कि अमेरिका में भी सदस्य बैंकों का नगद सुरक्षित कोष कानून द्वारा निर्धारित एक हद से नीचे नहीं गिरने दिया जाता, पर यह संख्या भी समय-समय पर परिवर्तित होती रहती है। पर कभी-कभी यह निश्चित संख्या से बढ़ भी जाती है और तब उसे "अतिरिक्त सुरक्षित धन" (Excess Reserves) कहते हैं जिसका जिक्र अध्याय २ में किया गया है। इसलिए फेडरल रिजर्व बैंक की, बैंकों के धन को बढ़ाने की, जो शक्ति है, वह अमेरिका में सामित है।

जो कुछ भी हो किन्तु सिद्धान्त जो स्थिर किया गया है वह खड़ा रहता है अर्थात केन्द्रीय बैंक को यह ताकत है कि धन-पूर्ति को जैसा चाहे वैसा कर सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि यह विनियोग के आकार पर सीधा प्रभाव डाल सकता है। विनियोग के एक भारी हिस्से की धन-पूर्ति बैंकों से कर्ज लेकर की जाती है। खास कर कच्चे माल के स्टाक में और दूसरे प्रकार की कार्यकरी पूंजी (working capital) में बैंक का ही धन लगा रहता है। यदि बैंक, ऊपर से केन्द्रीय बैंक का दबाव पाकर, अपने कारबार को कम करने लगे तो ऋण चाहने वालों के कहने से वे अपना काम बढ़ाने नहीं जायेंगे। इसके विपरीत जब कि वे अपने अतिरिक्त धन को लगाने की फिक्र कर रहे हों, उन्हें खद्दुक खोजने जाना पड़ेगा। परन्तु इन सीधे प्रभावों

को अधिक महत्व नहीं देना चाहिये। एक बात यह है, प्रायः सभी बैंक वाले कहने के लिए इस तथ्य को स्वीकार नहीं करेंगे कि उनके पास ऋण के लिए जो आवेदन-पत्र आते हैं, विभिन्न समयों में उनका विभिन्न प्रकार से स्वागत किया जाता है। निश्चित रूप से ग्रेट ब्रिटेन में पिछले २० वर्षों से बैंकों द्वारा दिया गया ऋण उस सीमा से बहुत न्यून ही रहा है जिसे बैंक वाले अपने डिपाजिट का वाजिब अनुपात समझते हैं और यह भी बिलकुल अनहोनी घटना होगी कि कोई भी अच्छा ऋण-प्रस्ताव ठुकरा दिया गया है। और फिर एक चीज और है। बैंक वाले जान-बूझ कर या अनजाने चाहे अपनी मानसिक स्थिति जितनी भी परिवर्तित कर लें, इस बात के बहुत-से सबूत कागज-पत्रों में हैं कि अनेकों अवसर ऐसे आये हैं जिनमें यह देखा गया है कि जब-जब बैंकों के नगद सुरक्षित कोष में विस्तार हुआ है तब-तब उनके ऋण-दान में कमी हो गयी है। कारण क्या है? कारण यही है कि ऋण लेने वाला ही कोई नहीं था। इस तरह जून १९३२ से जून १९३३ के बीच लंदन के क्लीयरिंग बैंकों की सम्पूर्ण जमा रकम २१४० लाख पौंड से बढ़ गयी जब कि ऋण और नगद विनियोग उनका ७७० लाख पौंड से कम हो गया।

बात यह है कि धन की पूर्ति का विस्तार विनियोग के आकार पर इन सीधे रास्तों द्वारा बहुत कम असर डाल सकता है। इसपर अधिक प्रभाव ब्याज-दर की वृद्धि के घुमावदार रास्ते से ही होता है। अध्याय ५ में यह समझाया गया था कि धन-पूर्त्ति (**मु**) में इतनी कटौती कर देने से जिससे कि वह उस अन्दाज से कम हो जाय जो जनता अपने पास नगद के रूप में रखना चाहती है (**वि**), यह परिणाम निकलेगा कि ब्याज की दर अनेक तरह की मुद्रा एवं मुद्रा-तुल्यों पर बढ़ जायेगी। हाथ में नगद रुपये का स्टाक रखने के लिए जनता सिक्यूरिटियां बेचेगी या बेचना चाहेगी और यह प्रवृत्ति तब तक कायम रहेगी जब तक ब्याज की दर इतनी आकर्षक रहेगी कि **वि** को अपेक्षित स्तर तक खींच कर न ले आये। उसी तरह **मु** में वृद्धि होने से ब्याज की दर गिरेगी। पृष्ठ १८९-९० पर कहा गया है कि "**मु** का परिमाण बिलकुल ही केन्द्रीय बैंक द्वारा

निश्चित होता है और इस बात में जनता का बहुत कम हाथ रहता है। परन्तु वि तो एकदम ही जनता के मन की चीज है जिसपर केन्द्रीय बैंक का बहुत कम या कुछ भी प्रभाव नहीं होता। इन दोनो दो स्वतंन्त्र निश्चयों को समन्वित करने वाला एजेन्ट ब्याज-दर ही है"। किन्तु केन्द्रीय बैंक ब्याज-दर की पतनात्मक प्रवृत्ति को अपने यहां की ब्याज-दर को कम कर या बढ़ाकर सहारा दे सकता है। इस उपाय का सीधा प्रभाव तो नहीं होता परन्तु बैंक-दर का लाक्षणिक महत्व (symbolic importance) बहुत है और अन्य किसी भी प्रमाण से जनता को यह अधिक स्पष्टता से बताता है कि बैंक की चालू नीति क्या है।

पिछले अध्याय में भी कुछ बातें इस सम्बन्ध में कही गयी हैं कि विनियोग के आकार पर ब्याज-दर के परिवर्तन का परिणाम क्या होता है। यह प्रभाव जल्दी ही नहीं होता और इसके विषय में कुछ पूर्व-अनुमान भी लगाना कठिन है। पर किसी-किसी परिस्थिति में वह बहुत शक्तिशाली भी हो सकता है। साधारणत: ब्याज-दर की बढ़ती से विनियोग को जितना कम कर सकने का अनुमान होता है, ब्याज-दर की घटती से उतना उसके बढ़ने की आशा नहीं की जा सकती। यह बात पहले उस समय सही नहीं उतर सकती जब कि ब्याज-दर की ब ती व्यवसाय-चक्र की उर्ध्वगति के वेग से चल पड़ने के समय उपस्थित हुई हो। मूल्य तो उस समय बढ़ते रहेंगे। इस तरह औद्योगिक सिक्यूरिटियों की कीमतें भी चढ़ती होंगी और संभवत: खूब तेजी से चढ़ती होंगी। अगर औसत औद्योगिक शेयर इतना लाभांश (dividend) दे रहा हो जिससे साल में ६ प्रतिशत की आय हो और हर महीने ५ प्रतिशत के हिसाब से उसका मूल्य भी बढ़ रहा हो तो एक सटोरिया (speculator) सिक्यूरिटियों में रुपया लगाने को कर्ज ले सकता है और ६६ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से उसका ब्याज चुकाने पर भी उसे कोई घाटा न होगा। यह सच है कि इस अर्थ में विनियोग की खरीदगी वही चीज नहीं है जैसा कि वह विनियोग जिसको एक विशेष अर्थ में पृष्ठ १७४ पर दिखाया गया है। परन्तु ऊपर स्टाक-बाजार के सटोरिये का जो मुनाफा दिखाया गया है वह उस अतीव लाभ का एक आपवादिक

उदाहरण है जो ऐसे समय में उन आदमियों द्वारा कर लिया जाता है जो बढ़ते हुए मूल्य की सुविधा ले लेते हैं। असली विनियोग पर जो ब्याज-दर पाई जा सकता है (वह खास अर्थ में) यद्यपि ६६ प्रतिशत से ऊंची नहीं होती फिर भी वह बैंकों द्वारा लिये गये चार्ज से कहीं अधिक तो होती हैं। दूसरा कारण यह है कि स्फीति का काल प्रभूत आशावादिता का काल होता है। यह हो सकता है कि यदि ब्याज की दर बढ़ाकर, मान लें ८ प्रतिशत, कर दी जाय, तो होशियार आदमी जो भविष्य के बाजार का अन्दाज लगा सकता है झटपट विनियोग बंद कर दे। परन्तु असल बात यह है कि ऐसे समय में बहुत कम आदमियों की होशियारी कायम रह जाती है और प्रायः सबके सब भविष्य को गुलाबी चश्मे से ही देखने लग जाते हैं। इसलिए ब्याज की दर को बहुत ऊंचा उठाने की आवश्यकता पड़ेगी क्योंकि मूल्यों की वृद्धि विनियोग के लाभ को मोटा बनाती है और वही विनियाग वालों के मन में बहुत मोटे रूप की झलक देने लगती है।

परन्तु ब्याज-दर का वृद्धि का एक समष्टिकारी प्रभाव फिर भी होता है। यह पहले-पहल तो मुद्रा-तुल्य के स्टाक में अनुभव होता है। परन्तु स्टाक एक्सचेंज बाजार का कोई भी अंश एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकता। जैसे ही मुद्रा-तुल्य का बजार गिरता है वे दीर्घावधि सरकारी सिक्यूरिटियों की अपेक्षा, अपेक्षाकृत अधिक आकर्षणीय हो जाती हैं और चौकस खरीदार इसको बेचने और उसको खरीदने लग जाते हैं। इसके बाद लम्बी मियाद वाली सरकारी सिक्यूरिटियां ऊंचे से ऊंचे दर्जे के औद्योगिक सरखत (debenture) से अधिक आकर्षक बन जाती हैं, जिनके साथ उनकी होड़ रहती है। इस तरह सिक्यूरिटियों के गिरते हुए दाम का असर धीरे-धीरे सम्पूर्ण बाजार पर फैल जाता है और आखिर में वह औद्योगिक कम्पनियों के साधारण शेयरों पर भी असर डालता है। इसके दो प्रभाव होते हैं। प्रथम, इसके कारण विनियोग के उद्देश्य से पूंजी प्राप्त करने का काम अधिक खर्चीला हो जाता है। बैंक से ऋण लेना तो प्रारम्भिक अवस्था में और भी व्ययसाध्य हुआ ही रहता है, यदि वह अधिक कठिन न भी हो। दो

वैकल्पिक मार्ग जिनके द्वारा औद्योगिक कारबारी अपने विनियोग के लिए अर्थ-प्राप्ति करते हैं, ये हैं। एक तो वे अपने पास की सिक्यूरिटियों को बेच देते हैं पर यदि इनकी कीमत गिर गयी हो तो इनके बेचने में उतना आकर्षण नहीं रहता। या दूसरा उपाय जो वे करते हैं वह यह है कि वे अपने शेयरों को बाजार में भेजते हैं और चूंकि जिस मूल्य पर ये शेयर जारी किये जाते हैं उसे बाज़ार के चालू शेयर-भाव की पंक्ति में आना पड़ता है, बाजार की गिरावट के कारण यह तरीका और भी अधिक व्यय-साध्य हो जाता है। इन रास्तों से विनियोग का आकर्षण घटा दिया जाता है। पर सिक्यूरिटी के गिरते हुए दामों का दूसरा प्रभाव कभी-कभी बहुत गंभीर भी हो सकता है। स्टाक एक्सचेंज कारबार को, इधर व्यापार के वायु-दिग्दर्शक यंत्र की तरह बड़ा नाम मिला है और व्यापारियों के आशावाद के कुहरे को फाड़ने के लिए और कोई भी हवा इतनी समर्थ नहीं है जितना कि यह देखना कि शेयर—उसकी अपनी कम्पनी का शेयर या अन्य कम्पनियों का शेयर, जो उसने खरीद कर रखे हैं —मूल्य-ह्रास को प्राप्त हो रहे हैं।

ये सब शक्तिशाली प्रभाव हैं। और अपने ऋण पर रोक लगा कर केन्द्रीय बैंक द्वारा बनायी गयी ब्याज-दर के चढ़ाव पर प्रायः हमेशा ही भरोसा रखा जा सकता है, यदि इसे बहुत काफी अग्रसर कर सकें और इसको कायम रखें जिससे तेजी का अंत हो जाय।

इसकी उलटी जो बात है वह सदा सही नहीं उतरती। सभी तरह के यंत्र उलटी दिशा में भी चल सकते हैं। मुद्रा का विस्तार किया जा सकता है। इससे मुद्रा-तुल्य की ब्याज-दर नीचे गिर जा सकती है और यह बाजार के हर अंश में इतनी मुद्रा पहुंचा दे सकता है कि वे सिक्यूरिटी खरीद लेने को आतुर हो जा सकते हैं। पर यही क्रम उलटी दिशा में उतना सहा-सही काम नहीं कर सकता। इसका सरल कारण यह है कि आशावाद को जितना शीघ्र बिगाड़ा जा सकता है उतनी ही आसानी से उसे बनाया नहीं जा सकता। कम ब्याज-दर का प्रभाव निश्चय ही विनियोग की वृद्धि की ओर होता है परन्तु यदि इसकी पूर्ववर्ती मंदी

बहुत तीव्र गुजरी हो तो सस्ती मुद्रा का जो नुस्खा है उसको बहुत देर लग जायगा तब कहीं वह कुछ काम कर सकेगा।

इस तरह से ब्याज की दर में कमी-बेसी करना जो केन्द्रीय बैंक के हाथ में है वह इसका प्रधान अस्त्र है; यह अस्त्र वजनी तो है पर बचत और विनियोग के बीच के सम्बन्ध पर नियंत्रण रखने के लिए कुंद भी है। परन्तु इधर के वर्षों में कुछ ऐसा हुआ है कि इस हथियार के प्रयोग पर प्रतिबंध लगाया गया है। अमेरिका और ब्रिटेन दोनो देशों की सरकारों ने अपने यहां के केन्द्रीय बैंक पर यह प्रतिबन्ध लगाया है कि ब्याज की दर को न केवल स्थिर रखें पर करीब-करीब उसी निम्नतम स्तर पर रखें जहां वह एक बार पहुंच गयी थी। इसी को तथाकथित सस्ती मुद्रा-नीति कहते हैं। इसके कई कारण हैं। एक कारण यह है कि इस नीति ने १९३० के आसपास की भारी मंदी के काल में उसको संभालने में बड़ा पुरअसर काम किया था। इसमें कोई संदेह नहीं कि कम से कम ब्रिटेन में ब्याज की नीची दर ने भवन-निर्माण के काम और विनियोग के अन्य कामों को, जिनपर व्यावसायिक पुनरुद्धार का दारमदार था, बहुत उत्फुल्लित किया। सस्ती मुद्रा को मंदी के दिनों में इस्तेमाल किये जाने पर जो लाभकारी प्रभाव होता है उसकी मान्यता को देखकर जनता के मन में यह विश्वास होना स्वाभाविक है कि इस चीज में अब कभी हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। वह सोचने लगती है कि उस जमाने में भी इसे पलटा न जायगा जिस जमाने में— जैसे कि युद्ध के तुरत बाद के दिनों में—आवश्यकता इस बात की होती है कि विनियोग को बढ़ाया न जाकर सीमित कर दिया जाय। यही कारण है कि जनता में और राजनीतिक क्षेत्रों में भी सस्ती मुद्रा की लोकप्रियता है।

परन्तु इसके साथ-साथ इसका एक टेकनिकल कारण भी है। एक कारण, वह भारी राष्ट्रीय ऋण है जो दो-दो महायुद्धों के कारण राष्ट्रों के सर पर पड़ गया है। ब्याज की ऊंची दर का अर्थ होगा अधिक धन ब्याज में देना, जिसके लिए बहुत अधिक कर लगाने की आवश्यकता पड़ेगी। यह एक प्रमुख दलील है पर

इसको भी अतिरंजित नहीं करना चाहिये। जब ब्याज की दर चढ़ जाती है तो राष्ट्रीय ऋण के जिस अंश पर इसका प्रभाव होता है वह चालू ऋण (floating debt) है जिसे हर तीसरे महीने नया करना पड़ता है। पर जितना ही अधिक दिनों तक ब्याज की दर ऊंची रहती है उतनी ही अधिक घटी होती है क्योंकि अधिकाधिक ऋण की मियाद पूरी होती जाती है और उसे अधिक ब्याज की दर पर फिर से नया करना पड़ता है। राष्ट्रीय ऋण की इस दलील से यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि जो ब्याज-दर औसतन नीची हो गयी हो उसे वहीं रोक रखने की व्यवस्था की जाय। बैंक आफ इंग्लैण्ड द्वारा ब्याज की दर को औसत से कुछ ऊपर, नीचे ले आये ले जाये जाने में जनता को जो आर्थिक हानि होगी वह कम ही होगी पर आर्थिक नियंत्रण (financial control) को पुनः स्थापित करने में जो लाभ होगा वह खासा होगा। अन्य टेकनिकल कारण, ब्याज-दर की शीघ्रता पूर्ण ऊंची गति से डरने का, यह है कि बैंक आजकल, पिछले अध्याय में युद्ध-कालीन अर्थ-नीति का जो स्वरूप दिखाया गया उस तरह से, सरकारी सिक्यूरिटियों के बहुत बड़े भाग को रखने वाला है। १९३९ में लंदन के क्लीयरिंग बैंकों के पास ६००० लाख पौंड से कुछ ऊपर की सिक्यूरिटियां थीं। आठ ही वर्ष बाद ये बढ़ कर १५००० लाख पौंड की हो गयीं। अगर ब्याज की दर तेजी से बढ़े तो इन सिक्यूरिटियों का बाजार-भाव गिरेगा और बैंकों को इससे कुछ परेशानी होने लगेगी। ग्रेट ब्रिटेन में तो यह कोई बहुत भारी आपत्ति नहीं है जहां के बैंकों के पास यथेष्ट सुरक्षित धन रहता है और जहां सरकारी सिक्यूरिटियों का परिमाण १९४७ में बहुत अधिक था पर इससे डिपाजिटों के अनुपात में पहले से कोई बहुत अधिक फर्क नहीं आया था—वह प्रायः वही था जो पहले रहता था। परन्तु अमेरिका में, जहां विभिन्न दर्जे की ताकत वाले बहुत अधिक बैंक हैं, और जहां सरकारी कागजों का स्टाक डिपाजिट के अनुपात से भी और यों भी बहुत अधिक बढ़ा हुआ है, यह तत्व, सस्ती मुद्रा की ओर झुकाव रखे जाने का एक खास कारण बना हुआ है।

किसी भी हालत में, कारण चाहे जो कुछ भी हो, सरकार के इस हठ से कि ब्याज

की दर बहुत नीची रखी जाय और इस निश्चय का कड़ाई के साथ पालन होने से आर्थिक अभिवृद्धि के ऊपर शासन रखने की केंन्द्रीय बैंक की क्षमता पर बहुत अधिक व्याघात होता है। ऊपर से देखने में तो लगता है कि इसके पास अभी भी वह ताकत है कि वर्तमान मुद्रा के आकार को यह कम या अधिक कर दे। परन्तु इस मुद्रा-पूर्त्ति के आकार में परिवर्तन का सीधा प्रभाव, ब्याज-दर के हिसाब को छोड़कर जैसा कि हम लोगों ने ऊपर देख लिया है, बहुत कम होता है। साथ ही मुद्रा-पूर्त्ति के मामले में बैंक की कार्य-स्वाधीनता भी प्रायः छायात्मक (illusory) ही है। यदि सस्ती मुद्रा-प्राप्ति (maintenance of cheap money) ही प्राथमिक और मुख्य उद्देश्य हो तो बैंकवाले न केवल मुद्रा-पूर्ति को रोक नहीं सकते, वरन ये लाचार हो इसे बढ़ाने भी लग जायेंगे। यही परिस्थिति थी जिसमें बैंक आफ इंगलैंड १९४६ में पड़ गया था। अर्थमंत्री ब्याज-दर को गिराना चाहते थे, जो बहुत नीची तो थी ही पर वह चाहते थे कि इसे और भी नीची ला कर कौनसोलों (consols) के बराबर ले आया जाय। अर्थात वह चाहते थे कि स्थायी सिक्यूरिटियों की ब्याज-दर २½ प्रतिशत पर ठहरा दें और अन्य अल्प मियादी सिक्यूरिटियों की ब्याज-दर को और नीचे ले आवें। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बहुत-सी अतिरिक्त मुद्रा के सृजन की आवश्यकता हुई। ३१ दिसम्बर १९४५ और ३१ दिसम्बर १९४६ के बीच साल भर में लंदन के क्लीयरिंग बैंकों की डिपाजिटों की जोड़ कम से कम ८३५० लाख पौंड से बढ़ा दी गयी—यह १७ प्रतिशत से भी अधिक हुआ। फरवरी १९४७ में आकर बहुत ही सस्ता मुद्रा-सृजन का यह क्रम बंद कर दिया गया और "कौन्सोल" जो प्रायः बराबर पर पहुंच गये थे, गिरकर इस समय ८० पर आ गये थे, जहां उनपर प्रायः ३ प्रतिशत ब्याज बैठता था। यह ब्याज-दर और अधिक मुद्रा-सृजन के बिना भी स्थिर रखी जा सकती थी क्योंकि १९४७ के शेष भाग में डिपाजिटों की जोड़ में बहुत कम हेरफेर नजर आया था।

इस वर्णन का सार यह है कि केन्द्रीय बैंक, कुछ सीमाओं के साथ ब्याज की दर को उतना चढ़ा-उतार सकता है जितना अर्थमंत्री चाहें पर उसे अन्य सभी उद्देश्यों को, जैसे कि व्यवसाय पर स्थिरकारक (stabilizing) प्रभाव डालने की इच्छा को, त्याग कर केवल इसी ओर ध्यान देना होगा। अथवा इस काम को छोड़कर यह बहुत कुछ ऐसा काम कर सकता है जिससे विनियोग का आकार बचत के आकार की बराबरी में आ जाय, जो संतुलित आर्थिक प्रबन्ध की खास दशा है। परन्तु यदि केन्द्रीय बैंक से यह काम लिया जाय तो उसे इस बात की छूट भी मिलनी चाहिये कि यह ब्याज-दर को ऊपर-नीचे चढ़ा-उतार सकें। जिस समय ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं उस समय व्हाइटहाल (अमेरिकी सरकार के प्रेसिडेन्ट का दफ्तर) और वेस्टमिनिस्टर (ब्रिटिश सम्राट का निवास), दोनो जगह यह विचार व्याप्त है, यद्यपि यही बात लंदन शहर में नहीं है, कि केन्द्रीय बैंक के लिए यह अच्छा है कि वह अपनी कोशिश कम दर के ब्याज को स्थिर करने में लगाये, तथा बचत और विनियोग में संतुलन लाने के काम को और अधिक सीधे तरीकों को सौंप कर निश्चिन्त हो जाया जाय। ये सीधे तरीके पूंजी-योजनाओं (capital projects) को लाइसेंस देने आदि के हो सकते हैं। परन्तु यह विचार बदल सकता है। सीधा और खास-खास काम के लिए लाइसेंस देने की कार्यवाही बहुत भीड़-भाड़वाली और लचर होती है। जब इस कार्यवाही को कम प्राप्त होनेवाले कच्चे माल के भागदान (allocation) की कठिनाई के कारण हम लागू नहीं कर सकते, तब इसका काम सीधे रुक ही जाता है। इसके बाद पुनः आर्थिक नियंत्रण-नीति पर पलट कर भागने की आवश्यकता पड़ जा सकती है। पर जब तक यह प्रश्न निर्णीत होता है और जब तक बैंक आफ इंगलैण्ड यह जान सकने की स्थिति में आये कि पुनः नियंत्रण का मुख्य अस्त्र उसके हाथ में आ जायगा या नहीं, इस विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन है कि मुद्रा-नीति से कहां तक आर्थिक संतुलन बना कर रखने में सफल हुआ जा सकता है।

व्यावहारिक संभावनायें

PRACTICAL POSSIBILITIES

फिर भी यह समझ लेना गलत होगा कि जिस समय पाठक यह विषय पढ़ रहे हैं उस समय जो स्थिति विद्यमान है, वही हमेशा स्थिर रहेगी। और यदि फिर कभी केन्द्रीय बैंक को इसका स्वाभाविक काम सौंप दिया गया तो इस विषय पर विचार करते हुए हम पिछले पृष्ठों में जिस नतीजे पर पहुंचे हैं, वह एक बार फिर समुचित हो उठेगा। इसमें से दो तो खास कर व्यावहारिक महत्व के निष्कर्ष हैं।

इसमें पहला यह है कि स्फीति को रोकने, कीमतों के चढ़ाव को रोक देने आदि की बैंक की जो शक्ति है वह, लगता है कि, उसकी विस्फीति को रोकने या कीमतों को गिरने से ठहराने की ताकत से बहुत अधिक है। ऐसा क्यों है, इसका कोई कारण है? जनता को अपनी बचत बढ़ाने या अचानक अपने विनियोग को कम करने से रोकने वाली कोई ताकत नहीं है। ये दोनो काम स्फीति पैदा करते हैं क्योंकि इन दोनो कार्यों में दूसरी पार्टी की आवश्यकता नहीं है। पर विनियोग में बढ़ोत्तरी करने के लिए अवश्य ही बैंक से ऋण लेने की जरूरत होती है जिसमें उसकी रजामन्दी चाहिये। धन की पूर्ति के विस्तार पर ब्रेक लगा कर और ब्याज-दर में बढ़ोत्तरी लगा कर वे स्फीति को समाप्त कर दे सकते हैं। पर विपरीत स्थिति में केवल नयी मुद्रा के सृजन की बैंक की इच्छा और ब्याज-दर का नीचे ले आना, इन्हीं दोनो से यह अर्थ नहीं निकलता कि नया धन जो जनता के हाथ में जायगा वह विनियोग में लगेगा—कम से कम तुरत ही ऐसा होगा इसकी तो संभावना नहीं। ब्याज की काफी ऊंची दर विनियोग को अलाभकर बना देता है और इससे वह तुरत बन्द हो जा सकती है। पर ब्याज-दर की गिरावट से ज्यादा से ज्यादा जो यह होगा कि विनियोग पर अधिक मुनाफा मिलने की संभा-वना हो सकेगी और यदि भविष्य में क्या होगा इसका विश्वास ही न हो तो अच्छी से अच्छी लाभकारी योजना (profitable projects) की पूंजी के लिए भी दर-दर

भटकना पड़े, फिर भी वह इकट्ठी न हो। थोड़े में, जनता में यह डर पैदा कर देना कि विनियोग से कोई लाभ न होगा, आसान है परन्तु डर दूर करना आसान नहीं है।

इस विषय की चर्चा से दूसरी नसीहत यह निकाली जा सकती है कि शुरू-शुरू में ही सुधार के उपाय किये जायें तो बिगड़ने वाली परिस्थिति का भी सुधार हो सकता है। चाहे स्फीति हो या विस्फीति यदि उसे छोड़ दिया जायगा, तो उसमें तेजी आ ही जायगी। बढ़ती हुई कीमतें अधिकाधिक नफा देती हैं जिससे अधिकाधिक विनियोग किये जाते हैं। गिरती हुई कीमतें हानि देती हैं जिससे विनियोग का काम और भी क्षीण हाता है। बेकारी की बढ़ती से सभी प्रकार के मालों की मांग कम हो जाती है, इससे मूल्य और गिरता है और इस गिरावट से बेकारी और बढ़ती है। समृद्धि (prosperity) की बढ़ती का अर्थ है, और खुले हाथ खर्च (free-spending) और उससे और भी मूल्य-वृद्धि। आशावाद एवं निराशावाद दोनो अपना ही मांस खा कर जीते हैं। जब स्फीति अथवा विस्फीति, दोनो में से कोई भी अच्छी तरह चल निकलती है तब इसकी तेजी (impetus) और इसकी झपट (momentum) इतनी तीव्र हो सकती है कि उसके सम्बन्ध में और कुछ नहीं किया जा सकता, सिवा इसके कि उसे अपने रास्ते चल कर थक जाने दिया जाय। दूसरी ओर, यदि शुरू-शुरू में ही आदमी सचेत हो जाय तो बहुत मामूली उपाय से ही इसका प्रवाह रुक सकता है। उदाहरणार्थ, विस्फीति के प्रारम्भ में, जब कि कीमतें गिरनी शुरू हो गयी हों और बेकारी बढ़ने लगी हो, परन्तु इससे पहले कि आर्थिक भरोसा टूटने लगे अथवा जनता का एक चौथाई भाग अपनी बेकारी में समाज के सर पर मुर्दा-भार-सा हो कर पड़ गया हो, ब्याज की दर में यदि थोड़ी गिरावट कर दी जाय और ऋण देने का परिमाण यदि थोड़ा ही बढ़ा दिया जाय तो इसी से विनियोग के विस्तार में गति आ जायगी और स्थापित संतुलन नष्ट न होने पायेगा। इसी तरह स्फीति के प्रारंभ में ही ऋण देने की प्रक्रिया में थोड़ी ही सख्ती, बचत और विनियोग के बीच संतुलन

स्थापित करने के लिए काफी हो सकती है। पर इस तरीके के इस्तेमाल में कठिनाई कारण-निदान की ही है, क्योंकि क्या होने वाला है, इसका प्रायः इससे पेश्तर अनुमान ही नहीं होता, जब तक कि वह आ न बीते। आर्थिक वातावरण आने में प्रायः समय लगता है और इसमें थोड़ा और समय लग जाता है कि उस वातावण की रिपोर्ट आंकड़ों में अनुवादित होकर केन्द्रीय बैंक वालों की टेबिल पर पहुंच जाय। इसको रोकने का वह जो निषेधक उपाय करने लगता है, उसे भी विस्तार-लाभ करने में विलम्ब लगता है और उसके असर पैदा करने का समय होते-होते तक प्रारम्भिक कठिनाइयां गहरी जड़ पकड़ लेती हैं।

यदि विस्फीति की अपेक्षा स्फीति को रोकना आसान है और फिर दोनो को ही खतम करना भी आसान है जब तक कि वे नयी हैं और नाजुक हैं तो केन्द्रीय बैंक वाले के लिए सब से सहल उपाय यह मालूम देगा कि आसन्न स्फीति की स्थिति की ताक में वह चौकस होकर रहे और जन्मते ही इसका गला दबोच दे। इस काम के लिए जो व्यावहारिक कठिनाइयां हैं उनके अतिरिक्त ऐसा करने में केन्द्रीय बैंक को बड़े साहस की जरूरत पड़ती है। क्योंकि तेजी की दशा, यद्यपि सीमा अतिक्रमित कर के अन्त में भारी मंदी ले आने वाली होती है, जब तक वह चलती रहती है बड़ी सुख देने वाली होती है। मुनाफा बढ़ जाता है, चारो ओर बेकारी मिट कर सब को काम मिल जाता है, जीवन-यापन-स्तर बहुत जल्द ऊंचा उठ जाता है—ऐसा लगता है कि सुहानी दुनिया में सब कुछ सुहाना ही सुहाना है। क्या केन्द्रीय बैंक इस सुहानेपन से मुंह मोड़ कर उसे हटाने की चेष्टा करे? अर्थशास्त्री अपनी दृष्टि इतिहास पर रख कर बीत जाने वाली मन्दी की ही याद करके नहीं वरन आने वाली मन्दी का ध्यान कर के, जो निश्चय ही आने वाली होती है, इस स्फीति की दशा को अबाध रूप से यों ही चलने देने को खुशी-खुशी 'हां' कह देगा। वह यह जानता है कि उन्नति की धीमी अथच निश्चित गति अधिक सुख लाने वाली एवं कम से कम परेशानी वाली होती है। परन्तु केन्द्रीय बैंक वाला ही रहता है प्रकाश में, और बहुत-से देशों में उसके संचालक उस समय की

सरकारों द्वारा नियुक्त किये गये होते हैं। इसलिए वे जनता की धारणा के प्रवाह के प्रतिकूल चलने की जुर्रत नहीं कर सकते (इस कारण अर्थशास्त्री की बात नहीं मानी जाती है)। इधर के वर्षों में सरकारें आर्थिक मामलों में बहुत सीधा हस्तक्षेप करने लगी हैं और आर्थिक नीति सम्बन्धी बहुत-सा निर्णय जो पहले केन्द्रीय बैंक वालों को करने के लिए छोड़ दिया जाता था अब वे स्वयं करने लगी हैं। अधिक संभावना यही रहती है कि केन्द्रीय बैंक वालों को अपने मन से कोई निश्चय करने और उसका प्रयोग करने के लिए नहीं छोड़ा जाता। और यदि वे ऐसा करने के लिए स्वाधान भी हों तो भी, वे इस भय के मारे अपने विचार को क्रियान्वित नहीं करते कि क्या जाने कहीं वह गलत ठहर जाय और यह आवश्यक न हो कि जनता में जो आशावादिता की लहर फैली हुई है उसे रोका जाय। परन्तु देर करना घातक होता है क्योंकि जितने अधिक दिनों तक वह तेजी को आगे जाने देता है उतना ही वह हाथ से निकल कर इलाज के बाहर हो जाती है। व्यवसाय-चक्र की जिस अवस्था में केन्द्रीय बैंक द्वारा रोक-थाम होने से सफलता की अधिक संभावना रहती है, वह वही अवस्था है जिसमें केन्द्रीय बैंक वाले के लिए कुछ बोलना और कड़े निश्चित उपाय करना राजनीतिक और व्यावहारिक विचार से अत्यन्त कठिन होता है। मुद्रा-इतिहास का एक अध्ययन इस कथन की सत्यता को प्रमाणित करता है कि तेजी, और फिर तेजी के ही सम्बन्ध से मंदी को भी, शुरू-शुरू में ही रोकने की कभी कोशिश नहीं की गयी।

हमलागों को सचेत रहना चाहिये कि इस समस्या को बहुत अधिक आसान भी न समझ लें। ऐसी बात नहीं है कि हमलोग बैंक-नीति के सम्बन्ध में किसी ऐसी नयी दुनिया में विचार कर रहे हैं जिसे न मंदी का परिचय हो और न तेजी का। संसार तेजी और मंदी के गीत बहुत सुन चुका है और यह देख चुका है कि दोनो ही हद से अधिक गाये जाते हैं और अन्त में दोनो एक दूसरे को पैदा करते हैं। यह बात भी नहीं है कि स्थिति का पेंडुलम डोलता-डोलता अब एकदम बीच में आकर रुक गया है और हमलोगों को यह देखना है कि यह मध्यस्थिति बिगड़ने न पावे।

असल में यह पेंडुलम बड़े वेग से हिल ही रहा है और हमारी समस्या यह है कि इसे स्थिर कर दें। पर यह जहां पर पहुंचा हो वहीं पर इसे रोक देने की व्यवस्था से भी हमारा काम नहीं चलने का, अगर उसे रोका भी जा सके। मंदी के काल की जो अस्थिरता है उसे स्थायी बना देना निरर्थक है और तेजा के काल की जो स्थिति है उसको स्थायी बनाना ही असम्भव है। इससे यह निकलता है कि अधिकांश समय में केन्द्रीय बैंक संतुलन को बनाये नहीं रख पाते पर वे यह चेष्टा करते रहते हैं कि एक गड़बड़ी को दूर करने के लिए वे दूसरी गड़बड़ीं पैदा करें। यदि स्फीति बढ़ती पर हो तो केन्द्रीय बैंक को चाहिये कि वह विस्फीति के तत्वों को चालू कर दे और अगर विस्फीति बढ़ती पर हो तो उसे चाहिये कि वह स्फीति लाने की चेष्टा करे। मंदी की पेंदी तक पहुंच कर केन्द्रीय बैंक को ऐसा काम करना चाहिये जो कि साधारण अवस्था में भारी स्फीति पैदा कर दे। और अगर यह कामयाब रहा तो सचमुच स्फीति पैदा कर देता है। क्योंकि यदि विस्फीति अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी हो—जैसी दशा १९३१-३२ में थी—उस समय स्फीति को एक कड़ा खुराक देना जरूरी है जिससे कि काम-काज की साधारण अवस्था आ जाये और तब संतुलन-स्थापना की आवश्यकता सब को महसूस हो। इसी तरह तेजी की पराकाष्ठा पर विस्फीति की कुछ कार्यवाही, स्फीति के फफोलों में कुछ छिद्र करना, संतुलन और होश लौटा लाने के लिए अनिवार्य रूप से वांछनीय है। इसलिए केन्द्रीय बैंक का काम यह नहीं है कि जन-मानस (public psychology) के परिवर्तनशील तारतम्य में जो कठिनाइयां पैदा होती हैं उनके कारणों की खोज-ढूंढ़ में लगे और उनको जरा-सा खुरच कर हट जाये। उसे चाहिये कि वह उस हिंडोले के वेगवान कम्पन को एकदम ठहरा दे। स्फीति में किसी एक ही पांव पर सारा भार देकर खड़ा होना कभी-कभी तो ठीक पर प्रायः सर्वनाशी ही होता है और दोनो पैरों पर बराबर भार देकर खड़ा हाना सही नीतिं है, पर वह बीच की न्यूनतम अवधि के लिए ही सही है। आज की दुनिया जैसी है उसमें केन्द्रीय बैंक को या तो स्फीति को बढ़ाते रहना होगा या विस्फीति

को। एक क्रम को ठीक वाजिब वक्त पर बदल कर दूसरे पर चल पड़ने में बहुत आला दर्जे की चेतना और अतीव तत्परता की आवश्यकता होती है।

परन्तु केन्द्रीय बैंक की नीति में चेतना और तत्परता आ जाना कठिन बात है। हमने यह बताया कि केन्द्रीय बैंक का अपना मत स्थिर करने में किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और यह भी बताया है कि उस निश्चय को क्रियान्वित करने में भी उसे कितनी झिझक और अटक होती है और वह क्यों होती है। पर वह शुरू-शुरू में ही यदि ठीक निदान पर पहुंच भी जाय और यदि उसको किसी विरोध का भी सामना न करना पड़े, चाहे वह विरोध राजनीतिक किस्म का हो या टेकनिकल किस्म का, तो भी यह आशा नहीं करनी चाहिये कि वह रातो रात अपनी युक्तियों का परिणाम पैदा कर देगा। मान लें कि केन्द्रीय बैंक अपना ऋण बढ़ाना और विनियोग को प्रोत्साहित करना चाहता है। ऐसी अवस्था में इसकी नीति यह होगी कि बैंक-दर कम कर दे और सरकारी सिक्यूरिटियां भी थाम्ह ले। इस उपाय से सदस्य बैंक और भी अधिक ऋण लगाने और नीची दर में ब्याज लेने में समर्थ हो जायेंगे। पर यह प्रारम्भिक युक्ति भी कार्य में लाने में महीनों लग जायेंगे। सस्ती और प्रभूत ऋण-प्राप्ति का प्रभाव पहले तो मुद्रा-बाजार पर पड़ेगा और तब केवल धीरे-धीरे वह नये ऋण-बाजारों पर पड़ेगा। और जब तक यह मुद्रा-सुविधा (monetary ease) की लहर बैंकों की परिखा (paiphery) तक पहुंचेगी, जहां विनियोग वाले पाये जा सकते हैं, उन्हें कुछ और महीने सोचने-विचारने और मौका बनाने के लिए मिलने चाहिये। जब वह अपने विनियोग के लिए द्रव्य का प्रबन्ध कर लेगा तब वह खर्च करना शुरू करेगा। तब जाकर इसका प्रभाव कीमतों पर और बेकारी पर पड़ेगा। व्यापारी अपना स्टाक बढ़ाना शुरू कर देंगे (जो विनियोग का एक पक्का रूप है), आशावादिता की भावना बढ़ेगी, स्फीति का हिम जमना शुरू हो जायगा। ऋण की रोक का प्रभाव इससे जल्दी होता है जैसा कि हमलोग जानते हैं कि बैंक कारबार की विशेष योग्यता के कारण वह वृद्धि को बहुत जल्द रोक दे सकता है।

पर यद्यपि केन्द्रीय बैंक के हाथ की बात भी हो कि एक ही दिन में विनियोग की सारी नयी योजनाओं को समाप्त करा दे, वे योजनायें जिनमें हाथ लगाया जा चुका है जारी ही रहेंगी। बहुत दिन लग जायेगा तब कहीं जाकर विस्तार की प्रवृत्ति के स्थान पर संकोचन का क्रम आकर जमेगा।

परिणामतः केन्द्रीय बैंक द्वारा किसी पक्के निश्चय के निर्धारण और उसके क्रियान्वित होने के बीच, अच्छे से अच्छे समय में भी बहुत वक्त का हेरफेर पड़ता है। इस समय में निदान के विलम्ब का समय जोड़ दें और फिर इसी के साथ उस छौ-पांच की प्रक्रिया में जो समय लगता है उसको भी जोड़ दें जो राजनीति के चलते अथवा विरोधियों को जीतने या उन्हें कायम करने की चेष्टा में अथवा स्वाभाविक छौ-पांच में लग जाता है तो भी यह बहुत है। अब इसका हिसाब ले लेने के बाद केन्द्रीय बैंक की लाचारी स्पष्ट हो जाती है। यह कहना कुछ अतिरंजना नहीं है कि केन्द्रीय बैंक वालों की बहुत अधिक कार्य-शक्ति हाल के वर्षों में खर्च हो गयी है; उन प्राकृतिक आर्थिक प्रवृत्तियों के दमन में नहीं जो तेजी या मंदी पैदा करती हैं, पर अपनी ही प्रतिकार का पूर्व युक्तियों के प्रभाव को रोकने में, जो बहुत देर कर के काम में लायी गयीं। इस बात का एक उदाहरण अमेरिका के फेडरल रिजर्व सिस्टम के इतिहास से दिया जा सकता है। १९२७ में इस संस्था ने जो विस्तार की नीति बनायी, वह यद्यपि उस समय के लिए बिलकुल ठीक नीति थी, वह इतने दिनों तक जारी रखी गयी कि इसकी सहायता से एक अदृष्टपूर्व एवं अतीव आश्चर्यजनक स्फीति पैदा हो गयी। और जब तक फेडरल रिजर्व संस्था के विभिन्न अंग इस नीति को छोड़ने और विस्तार-नीति को दबाने का निश्चय करें, यह अपनी पराकाष्ठा पर चली गयी थी। १९२९ में यह पलटा नीति अमल में आ सकी जब कि उस साल गर्मी में बैंक-दर बढ़ायी गयी और ऋण पर नियंत्रण डाला गया। नतीजा यह हुआ कि यह तेजी को न रोक सकी और इस तेजी ने उस आसन्न मंदी को और ताकत पंचायी जो इसके बाद आने ही वाली थी। इसके बाद पुनः प्रतिकारात्मक निश्चय किया गया पर पुनः यह १९३२ से पहले

सम्पूर्ण रूप से अमल में न आ सका और तब तक यह दो साल पिछड़ चुका था।

इसलिए इस वर्णन से देख लिया गया होगा कि केन्द्रीय बैंक वाले का काम आसान नहीं प्रत्युत बहुत ही कठिन है। संभवतः यह इतना ही कठिन है कि आजकल इसके प्रभाव को तराजू के सही पलड़े की ओर लगाने का ही विचार लोगों के मन में आता है, गलत पलड़े की ओर नहीं।

इतना जो कुछ कहा गया वह बैंकों की नियंत्रण-क्षमता का निराशावादी पक्ष हुआ और इस लाचारी को न प्रकट करना इस विषय का सही वर्णन नहीं होता। परन्तु इसका यह मतलब नहीं लेना चाहिये कि बैंकों द्वारा कुछ हो ही नहीं सकता। इसके विपरीत बैंक कारबार के सिद्धान्तों और उनकी कार्य-शैली में प्रभूत उन्नति की गुंजाइश भा है। अपने देश के निवासियों की आर्थिक सम्पन्नता के लिए जो केन्द्रीय बैंक जिम्मेदार है यह चीज यह अच्छी तरह नहीं समझता है। बहुत कम इस योग्य हैं कि सही फैसले पर वे तत्परता से पहुंच जायें और फैसला कर के अपनी पूरी शक्ति से उसे क्रियान्वित भी करें। निकट भविष्य का एक कर्तव्य यह है कि केन्द्रीय बैंक की जिम्मेदारी को बढ़ा दिया जाय, इसे संतुलन-स्थापना का दिशा में प्रयत्न करने की प्रेरणा दी जाय, केवल संकट-काल में ही नहीं प्रत्युत सभा कालों में इसे एक ऐसी मशीन का 'गवर्नर' या सुरक्षा-साधन बनाया जाय जिसकी प्रकृति सदा नियंत्रण से बाहर भाग जाने की है। ये ऐसे गुण हैं जो अनुभव से ही पक्के हो सकते हैं, इन्हें कानून के जरिये लाद नहीं सकते। सरकार द्वारा केन्द्रीय बैंकों पर अतिरिक्त नियंत्रण रखा जाना भी निश्चित रूप से ऐसे देशों के लिए आवश्यक हो सकता है जैसा कि ग्रेटब्रिटेन है क्योंकि वहां सरकारी नियंत्रण रहा भी है पर बहुत कुछ नाम के लिए। कारण इसका यह है कि भविष्य में आर्थिक नाति उस विस्तृत राष्ट्र-नीति का एक अंग होगी जिसका उद्देश्य देश में आर्थिक संतुलन कायम करना है। परन्तु वह सरकारी नियंत्रण जो केन्द्रीय बैंक पर कोई कुनीति लादे, जो बैंक द्वारा साधनों के चुनाव में हस्तक्षेप

करे, जो बैंक के निश्चयों को अमल में लाने की उसे स्वाधीनता न दे अथवा जो उसे उचित काम न करने दे, लाभ के बदले हानि ही अधिक करेगी। एक पक्के केन्द्रीय बैंक को प्रायः हर समय चालू जन-मत के प्रवाह में उलटी दिशा में ही तैरना पड़ेगा क्योंकि यह जनमत का वाह ही है, जो कभी तो अतिशय आशावान और कभी अतिशय निराशापूर्ण होता है और इसी से वही एक अकेला कारण तेजी और मंदी की स्थिति का होता है। वह राजकीय नियंत्रण जो इस दृष्टि से केन्द्रीय बैंक पर नियंत्रण रखेगा कि केन्द्रीय बैंक की नीति सदा जनतान्त्रिक देश के मतदाताओं में सराही जाय, आर्थिक सफलता की दृष्टि से सदा ही सर्व-नाशी सिद्ध होगा।

बैंक-नीति कभी अकेले इस योग्य नहीं हो सकती कि वह आर्थिक स्वप्न-स्वर्ग (Utopia) की स्थापना कर सके। इसका पहला काम यह हाना चाहिये कि एक गुत्थीदार ऋण-रीति के भीतर जो स्वाभाविक अस्थिरता है उसे दूर करे। इसका दूसरा काम यह होना चाहिये कि वे आपत्तियां जो इसके नियन्त्रण के बाहर की हैं उनके कारणों को दूर करने की जहां तक हो सके कोशिश करे। परन्तु स्वयं इन कारणों के लिए तो हम लोगों को धन के दायरे से बाहर झांकना चाहिये। मुद्रा पक्के महाजनी तरीके पर संगठित और सर्व द्रष्टा केन्द्रीय बैंक के द्वारा नियन्त्रित होकर और तो कुछ नहीं कर सकती पर यह जनता की इच्छाओं, भावनाओं, भय और आशाओं एवं कमजोरियों और दृढ़ताओं को चरितार्थ करती है। मुद्रा का आविष्कार मनुष्य की बुद्धि के एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में हुआ, इससे अधिक यह कुछ नहीं है। यदि मनुष्य कृतसंकल्प है कि युद्ध करे तो मुद्रा उसे रोक नहीं सकती। युद्धों में मुद्रा की हानि हो सका भी बचाया नहीं जा सकता। यदि मनुष्य वस्तुओं के उस विनिमय-व्यापार में बाधा देने का दृढप्रतिज्ञ है जिसके सहारे उसने अपने को वर्तमान उच्च आर्थिक स्थिति में पहुंचा लिया है, तो इसके परिणाम-स्वरूप जो गोलमाल और तज्जन्य दुख पैदा होगा उसे भी रोका नहीं जा सकता। अगर मनुष्य को यह हठ हो कि वह अपने कामों के नीतीजे के लिए कुछ दूर पर

नहीं परन्तु बिलकुल पास ही खोज करे तो इससे अधिक दूरवर्ती 'परिणाम को कष्ट-कर होने से मुद्रा नहीं बचा सकती। मुद्रा एक वफादार नौकर है, उसे इतना ही करना चाहिये कि अपने मालिक मनुष्य की दुर्बलताओं में अपनी भी दुर्बलता न जोड़ दे।'

सातवां अध्याय

विदेशी विनिमय

THE FOREIGN EXCHANGES

विदेशी मुद्रायें

FOREIGN CURRENCIES

हम लोगों ने देखा है कि मुद्रा को मूल्य इसी कारण मिला हुआ है कि लोग अपने सामान और सेवा के परिवर्त्तन में इसे अंगीकार करने को तैयार रहते हैं। यह धातु की बनी हो सकती है जो स्वयं कुछ मोल रखती है अथवा कानूनी मान्यता (tender) के कारण इसके साथ कीमत जुड़ गयी हो सकती है। पर इन दोनो में से कोई भी गुण मुद्रा की परिभाषा के लिए अनिवार्य नहीं है और वास्तव में ग्रेट ब्रिटेन में जितना भी आर्थिक लेन-देन होता है उसका अधिकांश भाग ऐसे कागज-पत्रों के जरिये होता है जो कानूनी-मुद्रा नहीं हैं। अगर लन्दन का कोई निवासी ग्लासगो के किसी निवासी को कुछ रुपया देना चाहे तो वह सिक्के, बैंक-नोट या चेक के द्वारा ऐसा करता है। असल में इन तीनो में से चेक चूंकि सबसे अधिक सुविधापूर्ण होता है, सबसे अधिक पसन्द किया जाता है बशर्ते कि यह ऐसे बैंक के ऊपर दिया गया हो जिसके ठोस होने का विश्वास महाजन को है और जो उसका जानकारी का बैंक है। इस तरह चेकों की स्वीकार्यता उन्हें मुद्रा के प्रकार में ले आती है और इनके द्वारा कारबार में बहुत सुविधा मिल जाती है।

इस पुस्तक के आगे के पृष्ठों में हम मुख्यतः उस आर्थिक विनिमय के सम्बन्ध में विचार करेंगे जो देश की सीमा के बाहर होता है और जिसमें मुद्रा का अन्तर्राष्ट्रीय स्थानान्तरण लगा होता है। और इस विषय के प्रारम्भ में ही हमें यह कह देना चाहिये कि ऐसा कोई तत्व नहीं है, अदायगी का ऐसा कोई साधन नहीं है जिसे दावों की पूर्ति में सम्पूर्ण संसार में एक समान अंगीकार किया जाता हो। अन्तर्राष्ट्रीय

मुद्रा नाम की संसार में कोई चीज नहीं है। इस बात में पुराने जमाने में सोना एक अपवाद हो सकता था। हमको एक अध्याय इसी विषय पर लगाना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रचलन में सुवर्ण की भूमिका क्या है। सुवर्ण को संसार के हर एक देश में मूल्य दिया जाता है और संसार के विभिन्न सिक्कों के साथ इसका सम्बन्ध गहरा रहता है। पर आधुनिक संसार की स्थिति में सुवर्ण भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा नहीं है—कम से कम जहां तक एक साधारण आदमी का सवाल है। अमेरिकी मोटरगाड़ियों का ब्रिटिश आयातक, ब्रिटेन के लोहे का भारताय खरीदार, अर्जेन्टिना की रेलवे कम्पनी जो चेल्टनहाम में रहनेवाले भागीदार को नफा का रुपया देती है—इनमें कोई भी बोरे-बोरे सोना भर कर इधर से उधर नहीं भेजता। इस सम्पूर्ण और इसके बादवाले पूरे अध्याय में भा हमलोग पायेंगे कि विदेशी विनिमय के ढंग के ऊपर विचार करते समय सोना, एक खास तरह से, अपवाद के रूप में हमारे विचार के मध्य कूद-कूद पड़ता है। पर वे मामले जिनमें सुवर्ण की आवश्यकता पड़ती है, इतने कम हैं कि विशाल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को मद्दे नजर रखते हुए, जहां तक विषय के प्रधान सूत्र से गरज है हम बड़ी आसानी और सुरक्षापूर्वक उसको उपेक्षित कर सकते हैं।

अब हम फिर उसी कथन पर आते हैं कि ऐसी कोई भा मुद्रा नहीं है, जो अन्तर्राष्ट्रीय रूप से स्वीकृत का जाती हो। बेलफास्ट का कोई व्यापारी, जो लन्दन के किसी व्यापारी के हाथ अपना सौदा बेचता है, चेक द्वारा या बैंक-नोटों के जरिये अथवा यदि देनेवाला तैयार हो तो, नगद सिक्कों में अपने सौदे का मूल्य लेने में उज्र न करेगा। इनमें से कोई भा साधन उसके उपयुक्त है; ये चीजें पौंड, शिलिंग और पेन्स के प्रतिरूप हैं जिनसे वह कच्चा माल खरीद सकता या जिसे वह अपने कारीगरों को मजदूरी के एवज में दे सकता है। पर हम कल्पना कर लें कि लन्दन के नहीं, किसी न्यूयार्क के व्यापारी के हाथ सौदा बेचा गया है। तो अब उसे माल का दाम कैसे मिलेगा? अमेरिकी खरीदार के पास अगर नोट है तो वह डालर-नोट होगा पर ये नोट बेलफास्ट के उस सौदागर के किसी काम के नहीं

हैं क्योंकि न उसको कच्चा माल देनेवाला ही उससे यह नोट लेगा और न उसका कारीगर ही। बेलफास्ट के व्यापारी को तो पौंड-नोट चाहिये पर न्यूयार्क का व्यापारी अपने रोजगार के साधारण प्रकरण में तो पौंड-नोट नहीं पाता। अगर मूल्य-प्रदान चेक के जरिये किया जाय तो भी समस्या का समाधान नहीं होता क्योंकि अमेरिका का चेक अल्स्टर के आदमी को स्वीकार्य नहीं होगा क्योंकि यह चेक किसी ऐसे बैंक के ऊपर होगा जिसका नाम भी उसने नहीं सुना हो और ऐसी मद्रा में होगा जो उसके किसी काम की न होगी।

पर कार्य-रूप में इस विभिन्नता के कारण कोई बाधा तो उपस्थित नहीं होती। बेलफास्ट का सौदागर न्यूयार्क के किसी बैंक के ऊपर का डालर-चेक पाकर सिर्फ उस चेक को अपने नगर के किसी बैंक में जमाकर देगा और उसके बदले में वहां से वह पौंड-शिलिंगवाले सिक्कों में डिपाजिट की रसीद पा जायेगा। पर इस तौर से काम पूरा नहीं हुआ, वह एक के सिर से उतर कर दूसरे के सिर पर चढ़ा। सवाल यह है कि वह बेलफास्ट का बैंक ही उस चेक को लेकर क्या करेगा। उसे भी तो डालर और सेन्टों की जरूरत नहीं है। न तो बैंक के कर्मचारी ये डालर लेंगे, न इसके डिपाजिट करनेवाले इसे चाहेंगे और न इसके भागीदार ही इसको अपने दावों के भुगतान में लेने को तैयार होंगे। बैंक उन बेकार डालरों को जमा करके क्या करेगा? यह डालर के चेक को भंजाकर उसके एवज में तभी पौंड दे सकता है यदि उस डालर के चेक को पुनः भुना कर वह उसके बदले में पौंड वापस पा सके। इसलिए इस डालर के चेक को बेलफास्ट वाला बैंक लन्दन के किसी बैंक के हाथ बेचेगा। पर ऐसा होने तक ये डालर तो ऐसे किसी हाथ में अब तक नहीं पहुँच पाये जो इनका स्वयं उपभोग कर सके। इसलिए यह विनिमय-प्रवाह आगे चलता जायगा और तभी यह समाप्त होगा जब कि वह चेक किसी ऐसे हाथ में चला जाय जो पौंड देकर डालर लेना चाहता हो जिसे खुद डालर का आवश्यकता हो—फिर आगे विनियोग के लिए नहीं। डालर का जरूरत वाले आदमी वे ही हो सकते हैं जो अमेरिका के निवासी हों अथवा वे आदमी हो सकते हैं जिन्हें किसी अमेरिकी को

रुपया देना हो अथवा जिन्हें अमेरिका में अपना धन जमा करने की इच्छा हो। आर इसी तरह जिन्हें पौंड की आवश्यकता है वे ब्रिटेन को रुपया भेजनेवाले (क) ही हो सकते हैं।

इसलिए विदेशी विनिमय का यह पहला आवश्यक सिद्धान्त है—हर देश के पास अपनी मुद्रा होती है और यद्यपि वह मुद्रा उस देश की सीमा के भीतर मजे में चलती है, वह उस देश के बाहर नहीं चलती। अब इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हर एक अदायगी जो देश की सीमा के बाहर होती है उसमें एक मुद्रा से दूसरी मुद्रा में विनिमय का प्रसंग होता है। अगर न्यूयार्क के व्यापारी को बेलफास्ट के कारखानेदार को कोई रुपया देना है तो या तो उस अमेरिकी को अपने डालरों के बदले में पौंड प्राप्त करके उन्हें बेलफास्ट के सौदागर के पास भेज देना चाहिये अथवा बेलफास्ट वाले को ही किसी तरह उन डालरों का पौंड में विनियोग करा लेने की क्षमता होनी चाहिये जिनकी आवश्यकता उसे है। दोनो हालतों में मुद्रा का विनिमय हो रहा है।

अलबत्ता यह बहस बहुत ज्यादा बातूनी है। परन्तु इसपर आश्रय लेना अभी जरूरी है क्योंकि मुद्रा के अन्तर्राष्ट्रीय कार्य-कलाप को समझने के लिए यह तत्व अत्यन्त आधार-रूप है और बहुत-सी गलतफहमियां इसी साधारण-सी चीज को न समझ रखने के कारण होता हैं। किसी भी विनिमय में दो पार्टियों का होना जरूरी है—डालर को पौंड में नहीं बदल सकते जब तक कि उसी समय पौंड के डालर में विनियोग की भी व्यवस्था न हो। और चूंकि नगद अदायगी में भी दो पार्टियों का व्यवहार होता है, एक देनेवाला और एक लेनेवाला, इसलिए इससे जाहिर होता है कि अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रायिक विनिमय-व्यापार में साफ-साफ चार व्यक्तियों की आवश्यकता है—दो लेनेवाले और दो देनेवाले। विनिमय के इस व्यापार को मामूली भाषा में तबादला (conversion) भी कह दिया जाता है जिससे यह मतलब निकलता है कि डालर का पौंड में अमुक

(क) अथवा वह ऐसे किसी देश के निवासी हों जहां पौंड स्टर्लिंग चलता है।

न अमुक दर से तबादला हुआ अथवा फ़्रांक का गिल्डर में इसी तरह से विनिमय हुआ आदि। किन्तु इस शब्द से कभी-कभी भारी गलतफहमी हो सकती है। मिलवाला गेहूं को आटे में बदलता है, नानबाई आटे को रोटी में परिवर्तित करता है। पर यह काम तो मुद्रा के विनियोग से एकदम भिन्न प्रकृति का है। मिल वाला जब गेहूं को आटे में परिवर्तित करता है तो उसे यह खोजने की आवश्यकता नहीं होती कि इस आटे को कोई फिर गेहूं में बदल देने वाला भी हा, न नानबाई को ही यह फिक्र होती है कि रोटी को फिर आटा में परिवर्तित करने वाला भी चाहिये। परन्तु ऐसा कोई उपाय नहीं है कि पौंड-नोट डालर-नोट में, गेहूं-आटा-परिवर्तन के अर्थ में, परिवर्तित हो सके। यह हो सकता है कि इस पौंड के नोट से, नोट रखने वाला व्यक्ति कोई चीज खरीदे, इसके बाद उसे अमेरिका भेज दे और वहां उसे बेच कर डालर अर्जित कर ले। पर इसमें भी विनिमय के ही दो व्यापार हुए, परिवर्तन का व्यापार एक भी नहीं हुआ। इस परिवर्तन (conversion) शब्द का जब मुद्रा के सम्बन्ध में व्यवहार हो तो उससे विनिमय का ही बोध करना चाहिये।

शब्दों के इसी भ्रामक व्यवहार का नमूना उस समय भी मिलता है जब हम कहते हैं कि "लंदन में मुद्रा आई' अथवा 'लंदन से बाहर मुद्रा खींच ली गयी'। जिस एक ही तरीके से मुद्रा सदेह रूप में, शब्दार्थ के अनुरूप, लंदन आ सकती है वह यह है कि या तो सिक्का या पौंड-नोट और खास-खास अर्थों में सोना बांध कर लंदन लाया जाय। 'मुद्रा के वहिर्गमन' (outflow) अथवा 'अन्तर्गमन' (inflow) कहने से जो मतलब निकला वह यह है कि विदेशी लोग अपनी मुद्रा के विनिमय पर पौंड को ब्रिटेन से बाहर ले जा रहे हैं, यह 'वहिर्गमन' कहलाया और अपनी मुद्रा लेकर पौंड को ब्रिटेन में वापस दे रहे हैं यह 'अन्तर्गमन' हुआ। लंदन में यदि विदेशा मुद्रा की बाढ़ आ जाये तो इससे यह नहीं कहेंगे कि लंदन की मुद्रा बढ़ गयी, अगर बैंक आफ इंग्लैंड या अन्य बैंक अधिक मुद्रा-सृजन न करें, जो बिलकुल ही एक दूसरी बात है। और लंदन से

बाहर मुद्रा निकल जाय तो इसी तरह लंदन दरिद्र भी नहीं हो गया। इसमें जो कुछ भी हुआ है वह यह है कि ब्रिटेन की अपनी मुद्रा का 'वजर' की दशा में एक बड़ा अंश और 'भाटे' की दशा में छोटा अंश, इस वहिर्गमन और अन्तर्गमन के बनिस्बत अब विदेशियों के कब्जे में चला गया है। क्या विदेशी लोग ब्रिटेन की मुद्रा को कम या अधिक अपने पास रखते हैं? इस विषय पर हम इसके आगे कहेंगे। यहां केवल यह मुद्दा ध्यान में रखना है कि ब्रिटेन की मुद्रा उन्हें ब्रिटेन में ही खर्च करने के काम में आ सकती है और इसको हटाने का एक यही उपाय उनके पास है कि वे इसको अपने देशों की मुद्रा से बदल लें।

एक और उदाहरण इस बात का जान लेना उपादेय होगा कि किस तरह विनिमय के सिद्धान्त को लोग भुला देते हैं। १९१४-१८ के युद्ध के पश्चात, जिस समय जर्मनी से क्षति-पूर्ति लेने का विषय भारी विवाद-ग्रस्त विषय बना हुआ था, जर्मनी से लौटने वाले यात्री प्राय: यह बहस निकालते थे कि जर्मनी का जो यह बहाना है कि वह क्षति-पूर्ति नहीं दे सकता वह गलत है। क्योंकि वे बताते थे कि जर्मनी में धन का कमी नहीं है। वे बताते थे कि जर्मनी के नैश क्लबों (night club) में भीड़ का ठिकाना नहीं रहता है और नयी-नयी कीमती मोटरों से सड़कें भरी रहती हैं। पर नैश क्लबों का बिल और मोटरों की कामत तो 'मार्क' में चुकायी जाती थी और अगर ब्रिटेन, फ्रांस और अन्य राष्ट्र मार्कों में क्षति-पूर्ति लेना चाहते तो अलबत्ता जर्मना तब तक क्षति-पूर्ति कर सकता था जब तक उसकी जनता के पास एक भी चीज कर-प्राप्ति के योग्य रह जाती। परन्तु मित्रराष्ट्र 'मार्क' लेकर क्या करते क्योंकि यह उनके किसी काम की चीज नहीं था। क्षति-पूर्ति के लिए जर्मन सरकार को अपने 'मार्क' से बदल कर पौंड, फ्रांक और अन्य देशों की मुद्रा देने की बात थी और कठिनाई इसलिए पैदा हुई कि जिन लोगों के पास ऐसी विदेशी मुद्रायें थीं वे 'मार्क' लेने को तैयार नहीं थे। क्यों वे लोग 'मार्क' से अपनी मुद्रा के विनिमग को तैयार नहीं थे, यह एक अलग विषय है जिसपर हम तुरत आ रहे हैं। परन्तु चूंकि विदेशी मुद्रा रखने

वाले राजी नहीं होते थे, इसलिए कोई ऐसी युक्ति नहीं थी कि जर्मन सरकार के पास विदेशी मुद्रा आता। फलत: क्षति-पूर्ति का भी कोई उपाय नहीं था।

अमेरिका में दोनो महायुद्धों के बीच के काल में भा इसी तरह की एक गलत-फहमी प्रचलित थी। अमेरिका में यह बात धड़ल्ले से कही जाती थी कि योरोपीय जातियों के लिए यह कहना कि हम युद्ध-ऋण नहीं लौटा सकते एक बहाना मात्र है जब कि वे अपने पास भारी-भारी व्ययसाध्य पैदल सेना और जल-सेना रखे हुए हैं। यहां भी कठिनाई यही थी कि पदाति और जल-सेना को तो पौंड और फ्रांक में वेतन मिलता था और उनके रखने वाले देशों को डालर का कर्ज लौटाना था। ऋणा देशों को अपने पौंड और फ्रांक के विनिमय में डालर नहीं मिलते थे क्योंकि ऐसे अमेरिकी काफी नहीं थे जो पौंड और फ्रांक के एवज में डालर दें। दोनो उदाहरणों में कठिनाई यह नहीं थी कि देने की इच्छा नहीं थी, मुश्किल तो यह था कि देने का साधन, विनिमय का जरिया, नहीं था।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रायिक समस्याओं को समझने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक चीज मन में धारण करनी चाहिये कि हर एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में मुद्राओं का विनिमय आवश्यक होता है और हर एक मुद्रा-विनिमय में कम से कम दो पार्टियों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए यह आवश्यक निष्कर्ष निकलता है कि किसी देश से संसार के अन्य देशों को जो भी प्रदान (payment) होता है वह आवश्यक रूप से उन देशों से भी निकल कर उस देश में आने वाले प्रदान के बराबर होना चाहिए। क्योंकि एक पार्टी द्वारा जितना भी पौंड विनिमय में दूसरी पार्टी को दिया जाता है वह वही पौंड है जो दूसरे लोगों ने भी विनिमय में दूसरे लोगों से प्राप्त किया है। यही पहला और असल में सब से प्रधान नियम विदेशा विनिमय का है।

विदेशी विनिमय-बाजार

THE FOREIGN EXCHANGE MARKET

१९३९ साल में जब से महायुद्ध प्रारम्भ हुआ तभी से विदेशी मुद्राओं में कारबार करने का काम अधिकतर देशों में जबर्दस्त सरकारी नियन्त्रण में कर लिया गया। सरकार ने इसी समय से यह कहने का अधिकार अपने हाथ में ले लिया कि किस व्यक्ति को राष्ट्रीय मुद्रा का विदेशी मुद्राओं से विनिमय करने का काम करने दिया जायगा, किस काम के लिए यह विनिमय होगा और किस दर पर होगा। सिवा कुछ अत्यन्त भाग्यशाली देशों के संसार के अधिकतम देशों में वह चीज नहीं है जिसे हम 'स्वाधीन विदेशी विनिमय-बाजार' (free foreign exchange market) कह सकते हैं।

इस पुस्तक के कई अंश हमें इस समय काटने पड़ रहे हैं क्योंकि वे महायुद्ध के पहले ही लिखे गये थे। ऐसा दो कारणों से किया जा रहा है। पहले तो अमेरिकी, ब्रिटिश और अन्य कई सरकारों की यह घोषित नीति है कि विदेशी विनिमय-बाजार के लिए कम से कम आंशिक स्वाधीनता वापस दी जाय। दूसरे कि किस तरीका से स्वाधीन विदेशी विनिमय-बाजार का काम होता है इसको समझ लेने के बाद ही विनिमय-नियन्त्रण (exchange control) की युक्तियों को सराहा जा सकता है अन्यथा नहीं। इसलिए इसके बाद के अनुच्छेदों में वर्तमान काल का प्रयोग किया जा रहा है—इस आशा से कि किसी दिन यह काल-प्रयोग एक बार फिर सही सिद्ध हो।

विदेशी मुद्रा-बाजार मुख्यतः वह संगठन है जिसके मारफत विदेशी मुद्राओं का विनिमय किया जाता है। परन्तु इसके पहले कि हम इसके मुख्य कर्तव्य का वर्णन करें यह संक्षेप में वर्णन कर देना अच्छा होगा कि विनिमय-पत्रकों (bill of exchange) की कार्य-प्रणाली क्या है। अध्याय दो में इसके सम्बन्ध में कुछ झलक मात्र दी गयी है। विनिमय-पत्रक अन्तर्राष्ट्रीय अदायगी के कागज

नहीं हैं, असल में तो वे इस तरह की अदायगी की आवश्यकता को काट देने वाले हैं। हमने दिखाया है कि अमेरिका की ओर से यदि कोई मुद्रा ब्रिटेन को आदा की जाने को है (मानलें कि अमेरिका भेजे गये किसी माल की कीमत में यह अदायगी करनी हो) तो यह आवश्यक होता है कि उसको एसी ही किसी उधर के देय (ब्रिटेन द्वारा अमेरिका की अदायगी) से सम्पर्कित करा दें। केवल इसी हिसाब से डालर का सम्बन्ध पौंड से हो सकता है, विनिमय की व्यवस्था हो जाती है और दोनो और का देय अदा हो जाता है। 'बिल आफ एक्सचेंज' या विनिमय-पत्रक यही काम आसानी से करता है।

विनिमय-पत्रक चेक का ही समकक्ष है। चेक एक धनादेश है जो रुपया जमा करने वाला अपने बैंक पर जारी करता है और इसमें यह लिखा होता है कि निश्चित रकम या ता उसे दी जाय या उसमें जिसका नाम लिखा हुआ है उसको दी जाय या बहुत मौकों पर पर चेक ले जाने वाले आदमी के ही हाथों में दे दी जाय। संक्षेप में चेक एक मुद्रा-दान का आदेश है। विनिमय-पत्रक की भी यही बात है, पर इसमें थोड़ा विभेद है। इन विभेदों में तीन मुख्य विषय हैं—(१) चेक किसी बैंक के ऊपर होता है पर विनिमय-पत्रक किसी देनदार के नाम होता है, (२) चेक का भुगतान चेक उपस्थित किये जाने के साथ ही होना चाहिये जबकि विनिमय-पत्रक कुछ समय लेता है और आगे की कोई तारीख इसमें लिखी रहती है जिस दिन यह देय हो जायगा और (३) चेक एक ऐसा कागज है जो किसी ऋण का अदायगी में बिना इस बात की खोज के भी स्वीकार कर लिया जाता है कि उस चेक का रुपया बैंक में जमा है या नहीं, बैंक से इस सम्बन्ध में 'सकार' मंगाने का जरूरत नहीं है। पर विनिमय-पत्रक की यह बात नहीं है। विनिमय-पत्रक तब तक पक्का नहीं है जब तक कि देनदार ने उसको स्वीकार करते हुए उसपर 'सकार' (accepted) लिख कर अपना सही न कर दिया हो। एक और प्रभेद, यद्यपि कुछ खास नहीं, यह है कि विनिमय-पत्रक में यह लिखा रहता है कि यह धन किस कारण देय है पर चेक में ऐसा कुछ भी लिखा नहीं रहता।

अब हम यह कल्पना करें कि बेलफास्ट के एक कपड़ा बेचने वाले मैक डरमौट नामक व्यक्ति ने अपने न्यूयार्क के खरीदार ब्राउन के नाम एक विनिमय-पत्रक लिखा है जिसमें आदेश दिया है कि पत्रक की उपस्थिति के दिन से '९० दिनों के भीतर' या तो खुद मैक डरमौट के पास १ हजार पौंड धन पहुंचा दिया जाय अथवा उस मियाद के दिन पर यह पत्रक जिसके पास हो उसे दे दिया जाय। यह पत्रक लिखा जाकर ब्राउन के पास भेज दिया जायगा, जो उसपर सकार लिख कर उसे पुनः मैक डरमौट के पास लौटा देगा। अब हम और कल्पना करें कि उधर दूसरी ओर लीवरपूल के जोन्स नामक किसी आदमी को १ हजार पौंड न्यूयार्क के ही स्मिथ नामक किसी आदमी के पास भेजना है जो उसे रुई के दाम स्वरूप अदा करना है। अब इससे सुगम और क्या तरीका हो सकता है कि मैक डरमौट ने जो विनिमय-पत्रक लिखा है उसे वह जोन्स के हाथ बेच दे और जोन्स इस पत्रक का रुपया मैक डरमौट को चुका कर उस पत्रक को वह न्यूयार्क स्मिथ के पास पहुंचा दे जिसे ब्राउन के पास निश्चित तिथि पर पहुंचा कर स्मिथ वहीं उसी से अपना रुपया डालरों में ले ले। इस तरह हर देनदार ने रुपया दे दिया और हर पावनेदार ने पा भी लिया और दोनो को अपने ही अपने देश की मुद्रा मिल गयी। दोनो कारबार पूरे हो गये और इनमें किसी अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की आवश्यकता नहीं पड़ी।

विनिमय-पत्रक-विधि (bill of exchange system) का यही सीधा-सादा तरीका है। मगर इसी में थोड़ा-बहुत पेंच-पांच भी है जिनमें से दो का जिक्र करना आवश्यक मालूम होता है। पहली बात यह है कि विनिमय-पत्रक पर पार्टी का सकार भी लिखा जा चुका हो तो भी वह तब तक बाजार में बिकने योग्य नहीं हो सकता जब तक कि पत्रक के लिखने और पाने वाले को बाजार में लोग जानते नहीं और जानने पर भी इसके साथ-साथ यह विश्वास होना चाहिये कि दोनो में लेने-देने की पक्की क्षमता है अर्थात दोनो की साख भी बाजार में होनी चाहिये। न्यूयार्क के ब्राउन नाम के

आदमी द्वारा प्रदत्त विनिमय-पत्रक तब तक नहीं बिक सकता जब तक कि ब्राउन के सम्बन्ध में ऊपर लिखी गयी शर्तें लागू न हों। इसलिए अब यह तरीका निकाला गया है कि उस विनिमय-पत्रक पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय साख वाली संस्था का सकार भी होना चाहिये। ब्राउन यह प्रबन्ध न्यूयार्क के नैशनल सिटी बैंक के साथ कर लेता है कि वह उसके पत्रकों को सकार लिया करे और वह मैक डरमौट को लिखता है कि विनिमय-पत्रक उसके नाम पर न लिख कर वह नैशनल सिटी बैंक के नाम ही लिखा करे। अथवा ब्राउन लंदन के किसी बैंक अथवा किसी बड़े 'सकार बैंक' (accepting banks) के साथ यह व्यवस्था कर लेता है कि उसकी ओर से वे मैक डरमौट के पत्रकों को सकार दिया करें। विनिमय-पत्रक जो पौंडों में होते हैं उनका सकार प्रायः लंदन में किये जाने की व्यवस्था हुई है और इसी तरह जो पत्रक डालरों में होते हैं उनके सकार की व्यवस्था न्यूयार्क में है। सकार करने वाली पार्टी, पत्रक को लेकर साधारणतः कोई रकम पत्रक लिखने वाले को नहीं देती; इसमें होता यह है कि वह इस विश्वास पर 'सकार' कर देती है कि पत्रक की मियाद पूरी होने तक देनदार उतना रुपया उसके पास जमा कर जायगा। इस सारी प्रक्रिया का तत्व असल में यह है कि सकार-पार्टी एक प्रकार से यह आश्वासन देती है कि वह पत्रक के देनदार की ईमानदारी और रुपये की अदायगी की ताकत को जानती है और इसके लिए जामिनी करती है। एक शब्द में, यह देनदार को साख (credit) ऋण देती है और बैंक द्वारा किसी पार्टी की सकार खोले जाने के कार्य को टेकनिकल भाषा में साख का खाता खोलना (opening a credit) कहते हैं।

अब दूसरी बात यह है कि जब कोई विनिमय-पत्रक किसी प्रसिद्ध क्षमताशील प्रथम श्रेणी के बैंक द्वारा स्वीकृत हो जाता है तब यह मुद्रा-बाजार में बेचने-खरीदने योग्य कागज हो जाता है। बैंक के धन (fund) का एक हिस्सा, जैसा कि हमने पहले बताया है, सिक्यूरिटियों की खरीदारी में लगाया जाता है जिनमें से

कुछ न कुछ बराबर मुद्दतों पर पहुंचती रहती हैं और इनमें जोखिम भी कम से कम रहता है। इस काम के लिए विनिमय-पत्रक से अच्छी चीज और कौन हो सकती है ? यह तीन महीने अथवा उससे भी कम समय में मुद्दत पर पहुंच जाता है और इसमें मुद्रा-बाजार की अच्छी से अच्छी लोक-प्रसिद्ध पार्टी की गारंटी रहती है। इसलिए विनिमय-पत्रकों की विदेशी भुगतान की जरूरत के अलावे भी बाजार में सौदे की तरह ही मांग रहती है। लीवरपूल के जोन्स के हाथों पत्रक को बेचने के बजाय, जिसे अमेरिका में रुपया भेजने के लिए इसकी जरूरत है, मैक डरमौट इसे मिडलैंड बैंक के हाथ बेच दे सकता है, जो इस कागज को अपनी दूसरी श्रेणी की सुरक्षित निधि के रूप में रखना चाहता है। इस ढंग से विनिमय-पत्रक एक दूसरा काम भी करता है। जब जोन्स अमेरिका को कुछ रुपया भेजने के लिए एक विनिमय-पत्रक लेना चाहता है तो वह मुद्रा-बाजार में आता है और वही पत्रक लेना चाहता है जिसका मुद्दत बहुत नजदीक आ गयी हो। क्योंकि ऐसा न होने से उसके महाजन को रुपया के लिए ठहरना पड़ेगा। पर मिडलैंड बैंक तो जहां सकार हो गया कि उसे लेना चाहेगा। इसलिए इस मुद्रा-बाजार की पत्रक का ख्वाहिश (विदेशी विनिमय के लिए पत्रक की मांग से अलग) से मैक डरमौट इस योग्य हो जाता है कि वह पत्रक को और पहले बेच सके। दूसरे शब्दों में वह पत्रक बेच कर मैक डरमौट अपना रुपया ब्राउन द्वारा दिये जाने के पहले ही पा जाता है।

यहां जो बातें लिखी गयीं वे हम लोगों के असली मुद्दे से हट कर हुईं; हमारा असली उद्देश्य तो यह बताना है कि अन्तर्राष्ट्रीय रुपया-प्रदान किस ढंग से होता है। विदेशी विनिमय-बाजार शुरू-शुरू में 'विदेशी विनिमय-पत्रक-बाजार' ही था। यह वह स्थान था जहां से वे विनिमय-पत्रक खरीदे जा सकते थे जिनका रुपया न्यूयार्क, शंघाई, ब्युनसएरिस तथा पचासों अन्य स्थानों में देय थे। बहुत दिनों तक रुपया भेजने का यही मुख्य ढंग रहा।

विनिमय-पत्रक आज भी विदेशी विनिमय-बाजार में बेचे, खरीदे जा सकते हैं।

सचमुच विदेशी विनिमय सम्बन्धी कई किताबों में इन्हें व्यापार का मुख्य आधार माना भी गया है यद्यपि आजकल अन्तर्राष्ट्रीय कारबार के मामलों का एक अंश भी जो निर्यात और आयात के सम्बन्ध के होते हैं, उनके द्वारा निपटाया नहीं जाता— सम्पूर्ण आर्थिक व्यापार का विशाल ढांचा उनके द्वारा कहां तक सम्हलेगा। इसके अलावे उन विनिमय-पत्रकों में जो ।वदेशी मुद्रा के आधार पर लिखे गये होते हैं, मूल्य सम्बन्धी दो बातें होती हैं। एक तो है विदेशी मुद्रा का मूल्य और दूसरे इस पर लगनेवाली छूट। यह दूसरा तत्व भारी गड़बड़ी करनेवाली चीज है जब कि हमलोगों को विभिन्न विदेशी मुद्राओं के पारस्परिक मूल्य से मतलब है। इसलिए इस संक्षिप्त व ॅन के बाद शेष अध्याय में अब विनिमय-प ः.क का संयोग से ही काई जिक्र आयेगा। विदेशी मुद्रा-बाजार में अब तो एक मुद्रा को दूसरी मुद्रा में बदलने की सीधी बात रहती है। इसलिए इस बाजार का नाम विदेशी मुद्रा-बाज़ार होना अधिक उपयुक्त होता यदि हम यह न जानते कि सभा अन्तर्राष्ट्रीय कारबार विनिमय ही है।

इसको 'बाजार' नाम तो यों ही दे दिया गया है क्योंकि विदेशी मुद्रा सम्बन्धी काम करनेवाले, अन्य कारबारियों की तरह बाजार में नहीं बैठते और न आमने-सामने आकर ही खरीद-बिक्री करते हैं। और सच तो यह है कि विदेशी विनिमय-बाजार किसी एक ही देश की चार-सीमा के भीतर ही वद्ध भी नहीं है। आज के युग में यातायात और पत्राचार की सुविधा के कारण यह सम्भव हो गया है कि संसार भर के सभी आर्थिक केन्द्र अब एक दूसरे के साथ एक ही साथ सौदा तय करें। विदेशी विनिमय का काम करनेवाला अपना काम टेलिफोन पर कर लेता है या जहां कि दूरी बहुत अधिक हो, तार से अपना कारबार करता है। और लन्दन में बैठा-बैठा एक विदेशी विनिमय-व्यापारी पेरिस या न्यूयार्क के व्यापारी के साथ उतनी ही जल्दी और उतनी ही बार सौदा कर सकता है मानो वह सामने के ग्राहक के साथ कर रहा हा।

पाठकों को अब एक दूसरी गलतफहमी से भी सावधान कर देना जरूरी है। साधारण आदमी की विदेशी मुद्रा से जान-पहचान साधारणतः इतनी ही रहती

है कि वह विदेश-भ्रमण में बैंक-नोट देखता है। इस सीमित अर्थ में विदेशी मुद्रा को विदेशी विनियम-बाज़ार में खरीदा जा सकता है पर वह तो इसके भारी कारबार का एक छुद्रतम अंश है। जैसे कि ग्रेट ब्रिटेन अथवा अमेरिका जैसे देशों में कारबार का बहुत बड़ा भाग चेकों द्वारा सम्पन्न होता है उसी तरह से मुद्रा के विनिमय में—माल के दाम के नहीं परन्तु अन्य प्रकार की मुद्राओं के विनिमय में—लेन-देन का बहुत बड़ा भाग कागजों (documents) के स्थानान्तरण से किया जाता है जो चेक की तरह के ही होते हैं। असल में विदेशी विनिमय-बाजार का काम ऐसे होता है कि एक बैंक के डिपाजिट को दूसरे बैंक के डिपाजिट से बदल लिया जाता है और उसका भुगतान चेक द्वारा होता है। परन्तु चूंकि विदेशी विनिमय के कारबार में माल से धन का तबादला नहीं प्रत्युत धन से धन का तबादला होता है, इसलिए दोनो ओर का हिसाब चेकों के द्वारा तय होता है। उदाहरण के लिए, जब १ हज़ार पौंड ४ हजार डालर में बेचा जाता है, तो पौंड का बेचनेवाला खरीदनेवाले को अपने लन्दन बैंक के ऊपर १ हज़ार पौंड का चेक देता है आर उसके बदल में न्यूयार्क बैंक पर निकाला गया ४ हज़ार डालर का एक चेक ले लेता है। पर अधिकांश काम-काज के विषय में यह वर्णन भी बिलकुल ही दुरुस्त नहीं है। न्यूयार्क बैंक के ऊपर कोई चेक मिले तो उसे उस बैंक में जमा देने को अतलांतक महासागर के पार भेज देना पड़ेगा और परिणामतः इस चेक का रुपया एक सप्ताह के लिए जाम हो जायगा। आज के दिन तो अधिकांश कारबार इस तरह नहीं होता, आज तो तार के द्वारा यह स्थानान्तरण-क्रिया होती है और चेक देने के बजाय डालर बेचनेवाला अपने न्यूयार्क बैंक को तार भेज देता है जिसमें यह आदेश रहता है कि या तो ४ हज़ार डालर खरीदार के नाम से जमा कर लिया जाय या उस व्यक्ति के नाम से जमा किया जाय जिसके विषय में वह हिदायत दे। इस तार-सम्वाद में हस्ताक्षर की जगह पर किसी कोड शब्द (a code word) का व्यवहार होता है।

उस जमाने में जब कि 'विदेशी विनिमय' का अर्थ 'विदेशी विनिमय-पत्रक' होता था, विदेशी मुद्रा-बाजार के काम करनेवाले केवल दलाल होते थे अथवा

बिचवान (intermediary) और उनका काम यह होता था कि वे उस आदमी को जिसके पास विक्रयार्थ कोई पत्रक होता था उस आदमी से मिला दें जिसे खरीदना है। लन्दन जैसे बड़े भारी विदेशी विनिमय-बाजार में अब भी विदेशी विनिमय के काम करनेवाले दलाल हैं जो बेचनेवाले और खरीदनेवाले के बीच बिचवानी का काम करते हैं। पर आजकल इस बाज़ार में सबसे अधिक क्रियाशील तत्व तो व्यापारी ही हैं, जो सचमुच ही विनिमय-पत्रकों को खरीदते-बेचते हैं। विदेशी विनिमय का काम करनेवाले दलाल की पूंजी-पाती (stock-in-trade) उसकी बैंक में जमा बड़ी रकम है और यह प्रायः संसार के हर एक बड़े व्यापार-केन्द्रों में जमा होता है। इसलिए इस काम में बहुत बड़ी पूंजी की आवश्यकता पड़ती है और इस कारण विदेशी विनिमय का काम करनेवाले आजकल मुख्यतः बड़े-बड़े बैंक हैं। ये बैंक अपनी मुद्रा के एवज में किसी भी देश की मुद्रा को लेने के लिए तैयार रहते हैं। वे तो विदेशी मुद्राओं में भी अदलाबदली करा देते हैं। इस तरह लन्दन का बैंक डालर के एवज में 'फ्राङ्क' दिलवाने की भी व्यवस्था करता है या फ्रांक का डालर भी दिलवा सकता है। परन्तु बैंकों के कारबार का बड़ा भाग अपनी ही मुद्रा के विनिमय का होता है (लन्दन के बैंक के लिए पौंड मे)। वह अपनी मुद्रा को चाहे विदेशी मुद्रा में बदल दे या विदेशी मुद्रा को अपनी मुद्रा में। अगर कोई लन्दन का बैंक डालर खरीदता है तो वह उसका मूल्य या तो बेचनेवाले का उतना धन अपने यहां जमा करके देता है अथवा उसे अपने ही ऊपर का एक चेक दे देता है। इसी तरह जब वह डालर बेचता है तो यह उसका मूल्य खरीदार का नाम लिख कर अथवा एक चेक लेकर अदा करता है।

बैंकों के विदेशी विनिमय को खरीदने की यह तत्परता कुछ शर्तों के साथ है। साधारण कोटि के माल का कोई व्यापारी, साधारण अवस्था में अपनी बिक्री से लापरवाह होकर माल का भारी स्टाक नहीं करेगा अथवा अपने स्टाक को और खरीदारी करके पूरा करने का ध्यान छोड़ कर माल बेचता न चला जायगा। इसी

तरह बैंक भी अपने विदेशी मुद्रा का स्टाक सदा साधारण स्तर पर रखने का ध्यान रखता है। यदि स्टाक बढ़ने लगता है, यानी जब बैंक अपनी बिक्री से अधिक विदेशी मुद्रा खरीदने लगता है, तब यह अपने ही मन से मुद्रा-बाजार में पहुँचेगा और अतिरिक्त विदेशी मुद्राओं को बेचकर अपना स्टाक अन्दाज का कर लेगा। और अगर खरीदगी से अधिक बिक्री कर देता है और इसका अपना स्टाक कमने लगता है तो यह मुद्रा-बाज़ार में खरीदार बनकर पहुंचता है। साधारण नियम यह है कि बैंक अपने विदेशी मुद्रा-स्टाक को हिसाब से ठीक रखते हैं—यानी विदेशी बैंकों में इनका खाता प्रायः नित्य दिन के कारबार के बाद ठीक रहता है। इसलिए वे इस चीज़ के व्यापारी हुए इसमें कोई अतिरंजना नहीं है। जब मुद्रा की मांग बढ़ती है और पूर्ति उतनी नहीं रहती तो वे अपना स्टाक काटकर पूर्ति को पूरा नहीं करते और जब पूर्ति ही मांग से बढ़ी हुई होती है तो फिजूल खरीदारी कर के वे अपना स्टाक नहीं बढ़ा लेते। इस तरह से बाजार को नियन्त्रण में रखने की किसी युक्ति की अविद्यमानता में, जिसपर हम आगे चल कर विचार करेंगे, विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति के हिसाब से उसका दाम निश्चय करने में काफी स्वाधीनता रहती है।

विनिमय की दर

THE RATE OF EXCHANGE

मुद्रा का मोल क्या है? इस प्रश्न का उत्तर एक दूसरे ही प्रश्न से होगा। एक पौंड चीनी का मूल्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है—एक पौंड चीनी की कीमत उतनी मुद्रायें हैं जिनका मोल उस समय वही है जो चीनी का मोल है। अगर प्रति पौंड चीनी की कीमत ४ पेंस हो तो चीनी और मुद्रा के मूल्यों का अनुपात यह हुआ—४ पेनी = एक पौंड चीनी। चीनी का मूल्य वह अनुपात है जिसपर चीनी और मुद्रा का विनिमय होता है। यही अनुपात है अथवा यही विनिमय की दर हुई।

'ठीक दो तरह की मुद्राओं के बीच भी दर का ऐसा ही सम्बन्ध रहता है। इसमें एक मुद्रा की इकाई मुद्रा-बाजार में दूसरी मुद्रा की कितनी इकाइयों के बराबर है यह बात रहती है।' इस तरह से यदि डालर और पौंड के बीच विनिमय की दर ४ डालर एक पौंड हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि विनिमय के हिसाब में ४ डालर की वही कीमत है जो १ पौंड की है। लेकिन इसमें एक पेंच भी है। 'चीजों की कीमत तो उसकी संख्या धर कर बतायी जाती है कि एक मुद्रा में चीज की इतनी संख्या मिलेगी। इस तरह से अखबारों में रोज हम पढ़ते हैं कि खांड़ का भाव आज इतने पेंस प्रति पौंड है, टिन का भाव इतने पौंड प्रति टन है, कोयले की दर इतनी शिलिंग-पेंस प्रति टन है, त्यादि। 'अब न्यूयार्क में विदेशी मुद्राओं की दर भी ठीक इसी प्रकार बतायी जाती है। उसी पत्र में और प्रायः उसी पृष्ठ पर न्यूयार्क वालों को पढ़ने को मिलता है कि पौंड की कीमत ४ डालर है, फ्रांक की कीमत आधा सेंट है; यों ही और-और मुद्रा में भी। पर लंदन में ठीक इसी की प्रतिकूलता है। यहां इसी बात को दूसरी ओर से घुमा कर कहते हैं। यानी यहां पौंड बराबर है ४ डालर के न कह कर, कहेंगे कि डालर बराबर है ५ शिलिंग के और ऐसे ही अन्य मुद्रायें। यह इसी तरह से है जैसे यह न कह कर कि चीनी का भाव ४ पेंस प्रति पौंड है, हम यह कहें कि एक पौंड में ६० पौंड चीनी मिलती है। मूल्य या विनिमय की दर दोनो हालतों में वही है, केवल कहने का ढंग पृथक है। इस मूल्य-प्रकाश की उलटी-सीधी रीति के कारण भी मुद्रा-बाजार की हालत समझने में कुछ चक्कर पड़ता है। जब चीनी सस्ती हो जाती है तब इसका दाम, यानी विनिमय-दर, गिरता है पर जब डालर सस्ता हो जाता है तो विनिम-दर बढ़ जाती है। यह गोलमाल आसानी से समझमें आ जाय जब हम समझलें कि सस्ता शब्द का अर्थ क्या हुआ। जब कोई चीज किसी चीज के सम्बन्ध में सस्ती पड़ जाती है तो इसका मतलव यह हुआ कि उस दूसरी चीज की समान संख्या पर भी विनिमय में पहली चीज अधिक प्राप्य है। जब चीनी ४ पेंस से गिरकर ३ पेंस प्रति पौंड रह जाती है तो इसका मनलब यह है कि या तो चीनी अब ४ पेंस के बदले ३ ही

पेंस में प्रति पौंड मिल रही है या यह कि एक पौंड के एवज में अब ६० के बजाय ८० पौंड चीनी आयेगी। इसी तरह से जब डालर ५ से गिरकर ६ पर आ जाता है तो इसका मानी या तो यह है कि ५ के बदले अब ६ डालर एक पौंड के परिवर्तन में देना पड़ता है, या यह कि १ डालर की कीमत अब ४ शिलिंग के स्थान पर ३ शिलिंग ४ पेंस ही रह गयी है। दाम निर्ख करने (quotation) के ये विभिन्न ढंग कुछ उलझाने वाले तो जरूर हैं पर इसके भीतर का असली तत्व नहीं बदला है।

दो मुद्राओं के बीच की विनिमय-दर की अथवा सम्बन्धित मूल्य की व्याख्या कर देने के बाद अब हमलोग इससे अधिक कठिन और महत्व के प्रश्न पर आते हैं वह यह है कि विनिमय की दर जैसी कुछ भी हो, यह होती क्यों है। और यह कि इसे समय-समय पर उतरना-चढ़ना क्यों पड़ता है ? पहली बात इस सम्बन्ध में जो बताना है वह यह है कि विनिमय-दर की ह्रास-वृद्धि भी उसी तरह एक साधारण और स्वाभाविक प्रक्रिया है जैसे कि अन्य चीजों में यह होती है। ऐसा भी समय गुजरा है जब यह कथन लागू नहीं था, उदाहरण के लिए जब दो मुद्रायें एकदम निखालिस सोने की बनी हों तो उनके मूल्य के अनुपात में बहुत कम अंतर पड़ेगा—अलबत्ता दोनो के वजन के हिसाब से मूल्य में जो फर्क पड़े वह पड़ेगा।

१८१४-१८ के महायुद्ध के पहले फ़्रांक और पौंड में कई युगों से जो सम्बन्ध था वह ठीक ऐसा ही कहा जा सकता है। पर इस युद्ध के बाद अब संसार में ऐसी एक जोड़ी मुद्रायें भी नहीं रही हैं जो निखालिस तो क्या अधिक भाग सोने का लेकर बनायी जाती हैं। जहां मुद्रायें, जो बैंक-नोट के रूप में भी, हों और जिनके पीछे सोने की गारंटी हो, व्यवहृत होती हैं वहां भी उन मुद्राओं की विनिमय-दर में बहुत ह्रास-वृद्धि नहीं होती जब तक कि बैंक-नाट को बदल कर आसानी से सोना प्राप्त होता रहे। पर हम आगे के पृष्ठों में बतायेंगे कि सोना देने की स्थायी गारंटी कोई ऐसी चीज नहीं है कि उसे स्वाभाविक प्रक्रिया के ऊपर छोड़ दिया जाय और वह आपसे आप सुनिश्चित रहे। इसमें सदा सरकारों की क्रियात्मक व्यवस्था की आवश्यकता होती है, तब ऐसा हो सकता है। इसलिए

बैंक-नोटों का सुवर्ण के साथ विनिमय प्राकृतिक नहीं मनुष्यकृत चीज है और मनुष्य यत्नपूर्वक ही उसे कायम रख सकता है। अभी हमें वर्तमान विषय के विचार के लिए इस बहस में पड़ना नहीं है कि विनिमय-दर का स्थायित्व अधिक वांछनीय किंवा प्राकृतिक है अथवा ह्रास-वृद्धि-क्रम। इस सम्बन्ध में यही ऐतिहासिक तत्व आगे धर देने से हमारा काम अभी चल जाता है कि सम्पूर्ण आर्थिक इतिहास में स्थायित्व की अवधि अपवाद-स्वरूप ही रही है, साधारण नियम-रूप नहीं। फिर भी आर्थिक विषय में दिलचस्पी रखने वाले व्यक्तियों में से अधिकांश ने इस सम्बन्ध में अपनी राय उस समय कायम की जिस समय मूल्य-स्थायित्व की सब से बड़ी अवधि चल रही थी, और इसी कारण अब अस्थायित्व को अस्वाभाविक अथच अवांछनीय मानने की प्रवृत्ति मनुष्य-समाज की हो गयी है। वे लोग जो अपने जीवन में अधिकांश समय उस झील के किनारे रहे हैं जो एक कृत्रिम बांध के द्वारा बनायी गयी है, बांध का हट जाना, फलतः एक बंधी हुई झील की जगह तीव्रगामिनी नदी का प्रवाहित हो जाना, देखें तो उन्हें लगेगा कि यह व्यापार भारी अस्वाभाविक अथच संकटमय है। पर प्रकृति और इतिहास की नज़र में तो यह बांध ही अस्वाभाविक है। हम आगे चलकर विनिमय के स्थायित्व के पक्ष-विपक्ष की दलीलों पर विचार करेंगे। यहां यह मुद्दा साफ कर कह देने की आवश्यकता है कि आज की दुनिया में, जहां मुद्रायें अब निखालिस सोने की बनी हुई नहीं होतीं, उनकी कीमत की स्थिरता तभी सुनिश्चित रह सकती है जब कि उसके लिए खास कर युक्तियां की जायें। जिस प्रकार कि अन्य पदार्थों में होता है, मुद्रा का मूल्य भी विदेशी बाजार में उसकी मांग के कमोवेश होने की स्थिति पर निर्भर करता है। इस कथन का ठीक-ठीक तत्व समझने में थोड़ी दिक्कत हो सकती है। ब्रिटेन के लोगों को अमेरिका मुद्रा पठाने की सैकड़ों जरूरतें हो सकती हैं। यह देना चीजों की खरीदगी अथवा मजदूरी के एवज में हो सकता है। कोई ऋण का ब्याज देना भी हो सकता है। फिर ब्रिटेन वाले अमेरिकी सिक्यूरिटी खरीदना चाह सकते हैं। याने अमेरिकी जिन्होंने

ब्रिटेन की सिक्यूरिटी खरीद कर रखी है, उसे बेचकर उसकी कीमत घर भेजना चाह सकते हैं। यह भी हो सकता है कि ब्रिटेन वाले अपने अमेरिकी मित्रों और सम्बन्धियों को रुपया भेजें कि वे डालर खरीद कर उनके अमेरिका प्रवास के समय खर्च अथवा अमेरिकी जहाजों के भाड़े में देने को तैयार रखें या अमेरिकी फिल्मों की रायल्टी के लिए धन भेजा जाय। पौंड का रखने वाला जो भी आदमी डालर खरीदना चाहेगा, चाहे वह खरीदगी किसी भी कारण क्यों न हो, वह पौंड के एवज में डालर की मांग पैदा करेगा। कोई भी शख्स जो डालर के एवज में पौंड लेना चाहेगा, चाहे वह किसी भी कारण से ऐसा करना चाहे, डालर का प्रदान (offer) या उसकी पूर्ति करने वाला हुआ। डालर की पूर्ति क्या है ौंड की मांग पैदा करना है और पौंड की पूर्ति डालर की मांग बढ़ाना है। जब हम पौंड के बदले डालर की मांग और पूर्ति के रुख की चर्चा करते हैं तो कहना चाहते हैं कि पौंड को डालर में बलने के लिए जितनी संख्या में पौंडों की मांग की जाती है उसमें और जितने डालर की पूर्ति की जाती है उसमें पारस्परिक सम्बन्ध क्या है।

किसी मुद्रा की मांग और उसके प्रदान के भीतर इतने कारण होते हैं और वे इतने विभिन्न प्रकार के होते हैं और मांग का उद्गम-सूत्र (origins) पूर्ति के उद्गम-सूत्र से इतना स्वतन्त्र होता है कि ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है मानो यह संयोग की ही बात है कि जिस दिन जितने डालर की मांग होती है उस दिन उतनी ही 'संख्या' में डालर बिकने के लिए भी आ जाय और मांग और पूर्ति बराबर हो जाय। असल में ज्यादा सम्भव तो यही रहता है कि किसी भी मुद्रा की मांग और पूर्ति एक-सी न रहे। फिर भी यह स्वयंसिद्ध बात है कि हर एक दिन के कारबार के समाप्त हो जाने के बाद शाम को खरीदे गये डालरों की संख्या बेचे गये डालरों की संख्या के बराबर ही रहे क्योंकि जितना डालर कोई खरीदता है उतना ही कोई बेचता भी है। पर यदि मांग और पूर्ति शुरू-शुरू में ही असमान रहे तो इस सौदे की समानता अर्थात खरीद-बिक्री की समानता—सरकारी नियन्त्रण या हस्तक्षेप के अभाव में—केवल मूल्य में

कमी-बेसी करके ही लाई जा सकती है। अर्थात् विनिमय की दर में हेरफेर होना जरूरी होता है। कल्पना करें कि सोमवार का काम खतम हो जाने पर रात में बाजार बन्द होने के समय डालर-पौंड की विनिमय-दर ४·५० डालर = १ पौंड था। अब मङ्गलवार को सबेरे अधिक आदमी पौंड देकर डालर लेना चाह रहे हैं और डालर देकर उसी दर पर पौंड की मांग करनेवालों की संख्या इससे कम है। अब चूंकि डालर की पूर्ति से मांग अधिक है, डालर का मूल्य पौंड के सम्बन्ध में बढ़ जायगा और विनिमय-दर में हेरफेर होकर यह ४·४० डालर = १ पौंड रहेगा। अब डालर रखनेवाले लोग जिन्होंने ४·५० पर अपना डालर नहीं दिया था, इस सस्ती में पौंड खरीदना चाहेंगे और उधर पौंड रखने वाले लाग जो ४·५० पर डालर खरीदने को तैयार नहीं थे अब और भी हिचकेंगे जब कि एक पौंड पर उन्हें ४·४० डालर ही मिलेंगे। दूसरे शब्दों में पौंड से बदले जाने वाले डालरों की संख्या बढ़ जायगी पर पौंड के एवज में डालर चाहने वालों की संख्या घटेगी। इसी तरह होते-होते विनिमय-दर अन्त में उस संख्या पर आकर स्थिर हो जायगी जिसमें डालरों की मांग और पूर्ति की संख्या में बराबरी दिखेगी। जब तक उसी दिन बेचने वाले से अधिक डालर खरीदने वाले रहेंगे, डालर का मूल्य अर्थात विनिमय की दर डालर के पक्ष में रहेगी। जब तक खरीदने वालों से अधिक बेचने वाले रहेंगे उसका मूल्य गिरता रहेगा और विनिमय-दर पौंड स्टर्लिंग के पक्ष में कहा जायगा।

पर केवल इन्हीं दोनो मुद्राओं में यह बात हो ऐसा नहीं है। हर समय, जब कि कारबार लन्दन और न्यूयार्क में साथ ही साथ चल रहा हो, डालर और पौंड के बीच की विनिमय-दर दोनो केन्दों में प्राय: एक ही रहेगी। यदि ४·५० का भाव लन्दन में हो और ४·४० न्यूयार्क में तब आदमा ऐसा करने लगेगा कि ४४० डालरों में १०० पौंड न्यूयार्क में खरीदेंगा और उसको लन्दन में बेच कर ४५० डालर पा लेगा और इस तरह १० मिनट में यह नफा कर लेगा। जब इस काम में लोग झुक पड़ेंगे, नतीजा यह होगा कि न्यूयार्क में तो पौंड की खोज बढ़ेगी और लन्दन में डालरों की। इससे न्यूयार्क में विनिमय-दर बढ़ेगी और लन्दन में घटेगी और

तब तक ऐसा होगा जब तक यह घटी-बढ़ी समाप्त नहीं हो जाती। इस प्रकार के व्यापार का नाम 'आर्बिट्रेज' (arbitrage) दिया गया है। और चूंकि हर एक मुद्रा-बाज़ार में बहुत-से दलाल इस काम को करने वाले मौजूद रहते हैं और वे इसी ताक में रहते हैं कि कब इसी तरह के उलट-फेर से कुछ नफा मार लें, इस कारण यह घट-बढ़ कुछ क्षणों से अधिक देर तक नहीं रह पाता।

पर ये मुद्रा-दलाल केवल डालर और पौंड का काम करते हों ऐसा नहीं है। हम लोग कल्पना कर लें कि डालर पौंड का सम्बन्ध लंदन और न्यूयार्क दोनो जगहों में ५ डालर = १ पौंड है। उधर पेरिस और लन्दन में १०० फ्राङ्क = १ पौंड है और फ्राङ्क और डालर में विनिमय-दर ५ सेंट = १ फ्राङ्क के, ऐसा न्यूयार्क और पेरिस दोनो स्थानों पर है। ये सभी दरें मिलती-जुलती हैं—इनके बीच कोई गुंजाइश नहीं है जिसको पकड़ कर दलाल नफा कर सके। अब यह कल्पना करें कि न्यूयार्क को लन्दन से बहुत-सा रुपया भेजना है जिससे डालर के सम्बन्ध से पौंड की पूर्ति बढ़ जाती है पर इससे लन्दन और पेरिस में अथवा पेरिस और न्यूयार्क के बाजारों में तो कोई प्रभाव नहीं आता। लन्दन में डालरों की जो अधिकाधिक मांग होगी उससे विनिमय की दर गिरने को वाध्य होगी; मान लें कि यह ४·९५ डालर पर आ जायगी और दलाल इस प्रयत्न में रहेंगे कि लन्दन और न्यूयार्क दोनो जगह इसी तरह का चलाचल रहे। पर पेरिस को जिन मुद्राओं से सरोकार है अगर उनमें से कोई भी चल-विचल नहीं हुआ है तो अब लन्दन, पेरिस, न्यूयार्क के त्रिमुखी विनिमय में त्रिशाखा लाभ की गुंजाइश हो जायगी। लन्दन में १०० पौंड से १०००० फ्रांक खरीदा जा सकता है और इन १० हज़ार फ्रांकों से ५०० डालर आदमी ले ले सकता है। पर अब नये लन्दन-न्यूयार्क सम्बन्ध में ५०० डालर १०१ पौंड से भी कुछ ऊपर ही है और इस काम में नफा है। इसलिए मुद्रा-दलाल ऐसे काम में लगे रहते हैं और उनकी मुद्रा दुनिया भर घूमती ही चलती है। फ्रांक के मुकाबिले पौंड की पूर्ति बढ़ेगी उधर फ्रांक से बदलने के डालरों की मांग बढ़ेगी। लन्दन-पेरिस-दर गिर कर ९९$\frac{1}{2}$ फ्रांक = १ पौंड हो

जायगी और उधर पेरिसन्-यूयार्क सम्बन्ध में समझ लें कि भाव गिर कर ४·९६५ सेंट = १ फ्रांक हो जायगा। दूसरे शब्दो में डालर लन्दन और पेरिस दोनो जगह बढ़ेगा, पर लन्दन में अधिक बढ़ेगा और पेरिस में कम। साथ ही पौंड भी गिरा होगा पर न्यूयार्क में अधिक और पेरिस में कम और फ्रांक न्यूयार्क में गिरा होगा, लन्दन में चढ़ा होगा। इस तरह दो मुद्राओं के बीच के मांग और पूर्ति-सम्बन्ध में जो हेरफेर होता है उसका प्रभाव शेष मुद्राओं पर पड़ता है। अगर लन्दन में डालर और फ्रांक की बढ़ी हुई मांग बराबर-बराबर होती तो फ्रांक और डालर दोनो के सम्बन्ध में बराबर-बराबर हिसाब से पौंड गिर गया होता और फ्रांक-डालर का क्रास-रेट (cross rate) प्रभावित नहीं हुआ होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि विनिमय के अभिप्राय से किसी एक मुद्रा (currency) की पूर्ति और मांग के विषय में हम ठीक-ठीक कुछ भी नहीं कह सकते। हमें सभी मुद्राओं की मांग और पूर्ति के सम्बन्ध में एक साथ विचारना चाहिये।

विदेशी मुद्रा-बाजार की तरलावस्था, और जिस आसानी से हजारों मील दूर बैठे हुए पलक मारते विनिमय-व्यापार का काम हो सकता है, उसके कारण यह पकड़ना प्रायः असम्भव होता है कि किसी खास क्षण में बाजार की ह्रास-वृद्धि का कारण क्या हुआ। विनिमय-दर की मामूली-सी ह्रास-वृद्धि का मूल कारण यह भी हो सकता है कि किसी अमेरिकी धन्ना-सेठ ने १ करोड़ डालर लंदन के किसी रोजगार को खरीदने के लिए भेज दिया जिससे लंदन के बाजार में कुछ गर्मी आ गयी। इसमें डालर से बदलने के लिए पौंड की मांग है और यद्यपि किसी अन्य जोड़ी मुद्राओं की बीच की विनिमय-दर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ हो तो भी यह काम न्यूयार्क को लायर (lire), पेसो (pesos) और पेसेटा (pesetas) की खोज में व्यस्त छोड़ सकता है और फिर यही काम लंदन पहुंच कर उसे फ्रांक के बदले में पौंड, गिल्डर (guilders) और स्वीडन के क्राउन (crowns) की तलाश में व्यस्त कर सकता है। इन सब चलाचलों के भीतर हम केवल इतना-सा अन्दाज रखते हैं कि इनके कारण हमेशा पौंड कुछ ऊंचा रहता है और

डालर कुछ नीचा और यह भी जानते हैं कि पौंड की उन्नति के कारण संचयकारियों को यह प्रेरणा हुई है कि वे २० लाख पौंड को (विनिमय-दर ५ डालर = १ पौंड के आस-पास रहने से) बदल कर कई तरह की अधिक मुद्रायें खरीद कर रख लें। उधर डालर के ह्रास के कारण अन्य प्रकार की मुद्रायें लायर, फ्रांक, गिल्डर आदि के रखने वालों की यह इच्छा हुई कि वे १ करोड़ डालर खरीद कर जमा करलें।

अब हम उस प्रश्न का नैमित्तिक (formal) उत्तर दे चुके कि विनिमय का दर का निश्चय कैसे होता है ? परन्तु यह उत्तर पूर्ण रूप से सन्तोषजनक उत्तर नहीं है। यह कहना कि कई तरह के अदृश्य कारण, जो इस तरह से गति करते हैं कि उनके गति-प्रवाह का अंकन करना असम्भव है, मांग और पूर्ति के संतुलन में गड़बड़ कर देते हैं और इस कारण विनिमय की दर में भी चलाचल आ जाता है, कुछ स्पष्ट करने वाला कथन नहीं हुआ। किन्तु प्रतिदिन होने वाले अल्प परिवर्तनों के सम्बन्ध में इतना कहना सन्तोषजनक होना चाहिये। चतुर अनुभवी व्यवसायी यह अन्दाज कर सकते हैं कि आज डालर क्यों तेज हो गया है और लायर क्यों गिरा हुआ है, पर निश्चित रूप से इसका कारण कोई बता नहीं सकता। परन्तु यदि हम दीर्घ अवधि को दृष्टिगत रखें तो मांग और पूर्ति के पीछे जो कारणीभूत मौलिक तत्व लगे रहते हैं उनके विषय में कुछ कह सकते हैं एवं ऐसे कुछ सिद्धान्त स्थिर कर सकते हैं जो विभिन्न प्रकार की मुद्राओं के सम्बन्धित मूल्यों को निश्चित करते हैं।

मुद्राओं का मूल्य

THE VALUE OF CURRENCIES

हमने दिखाया है कि जिन कारणों से लोग मुद्रा-विनिमय की इच्छा करते हैं, वे बहुतेरे हैं। पर उन्हें तीन समूहों में रखा जा सकता है। प्रथम और सबसे अधिक स्पष्ट प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय देना का है जो साधारण व्यवसाय के सिलसिले में दिया जाता है। इस अर्थ में 'व्यवसाय' (trade) शब्द का अर्थ वह काम लेना नहीं चाहिये जिसमें मामूली तरह से उन मालों की खरीद और बिक्री का हिसाब रहता है

जो हम उठा-धर सकते हैं और जो आंख से देखें जा सकते हैं। इसमें सेवा की खरीद-फरोख्त भी समझना चाहिये। सेवा में जहाज भाड़े की बिक्री, भ्रमण-कारियों का सेवा बजाने का काम, बीमा का काम, पेटेन्ट इस्तेमाल करने का काम तथा इसी किस्म की अन्य सेवाओं को समझना चाहिए। असल में व्यावसाय माने 'दृश्य' तथा 'अदृश्य' दोनो तरह के पदार्थों का क्रय-विक्रय है।

दूसरा प्रकार है पूंजी और पूंजी पर लगने वाले ब्याज का चलाचल। अंग्रेजों ने पिछले युगों में विदेशों में बहुत-सी पूंजी लगा रखी है। (क) यह पूंजी उन्होंने सम्पत्ति की सीधे खरीदगी में, विदेशी कम्पनियों में शेयर खरीद कर, विदेशी राष्ट्रों को ऋण देकर, विदेशी औद्योगिक प्रतिष्ठानों को उधार देकर लगायी है। यद्यपि इस पूंजी का एक बड़ा भाग १९३९-४५ के युद्धकाल में खींच लिया गया है फिर भी अभी काफी बची हुई भी है। जब कभी इन लगे हुए रुपयों पर ब्याज या मुनाफा की रकम अदा की जाती है अथवा जब कि असली पूंजी ही लौटा ली जाती है, ग्रेट ब्रिटेन को दूसरे देश वाले रुपया भेजते हैं और इसमें पौंड की मांग बढ़ जाती है। इसी प्रकार जब कोई विदेशी ग्रेट ब्रिटेन में कुछ विनियोग करना चाहता है—वह कोई मकान या कोई कारखाना खरीदता है, या लंदन के सट्टा बाजार से ब्रिटिश सरकार की सिक्यूरिटी खरीदता है—तब उसे अपनी मुद्रा को पौंड से बदलने की आवश्यकता पड़ जाती है। उन दिनों जब कि एक मुद्रा को दूसरी मुद्रा में आसानी से बदला जा सकता था और फिर उसे पलट भी सुगमता पूर्वक सकते थे, अल्पावधि के अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग बहुत होते थे। इंग्लैंड के बैंक उन दिनों अपने सुरक्षित कोष की एक दूसरी पंक्ति भी रखते थे। यह दूसरी श्रेणी का कोष न्यूयार्क में "इन्दुल तलब या अल्पावधि" ऋण के रूप में होता था। देश से

(क) हमारी वार्ता के लिए अभी विदेशी देश उन्हें समझ सकते हैं जिनकी मुद्रा-प्रणाली ग्रेट ब्रिटेन की मुद्रा-प्रणाली से भिन्न है। इसलिए इसमें सभी स्वशासनाधीन उपनिवेशों को भी गिनना चाहिये। इसमें ब्रिटिश साम्राज्य के बहुत-से भागों की गिनती कर सकते हैं।

अच्छा ब्याज यदि विदेशों में मिल पाता था तो ऐसा किया जाता था। फिर व्यावसायिक मंदी अथवा राजनीतिक क्रांति के समय देश के धनी लोग अपने धन को एक देश से दूसरे देश में अच्छे ब्याज के लिए नहीं पर सुरक्षा की खोज में घुमाते फिरते हैं। गत अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-काल में यह अन्तर्राष्ट्रीय अल्पावधि पूंजी तथा 'हौट मनी' (hot money) बहुत अधिक निकल पड़ी थी और एक देश से दूसरे देश को सके सहसा प्रत्यावर्तन के कारण कभी-कभी बड़ा गोलमाल मचा करता था। पर अन्तर्राष्ट्रीय अल्पावधि पूंजी अब आगे आने वाले दिनों में शायद बहुत ही अल्प होगी। क्योंकि वे लोग भी, जो कि पूर्व के निर्बन्ध विदेशी विनिमय-बाजार को लौटा लाने की बड़ी ख्वाहिश रखते हैं, यह बात जानते हैं कि सरकारों के लिए यह आवश्यक है कि पूंजी के चलाचल पर कस कर नियन्त्रण रखना सदा के लिए आवश्यक माना जाय।

तीसरा प्रकार सट्टे (speculative transactions) के कारवार का है। किसी समय लोगों के मन में एक-ब-एक अकारण भी यह उठ सकता है कि हो न हो दूसरी मुद्राओं के मुकाबिले डालर का भाव ऊंचा जायगा। ऐसे समय लोग डालर संग्रह करना चाहने लग सकते हैं। उधर पौंड का संग्रह कर रखने वालों के मन में हठात यह डर पैदा हो जा सकता है कि पौंड की कीमत गिरने जा रही है इस कारण वे लोग एक-ब-एक उसको बदलने के लिए दौड़ सकते हैं। प्रायः हर विदशी विनिमय को हम इन्हीं तीनो में से किसी एक समूह में रख सकते हैं—या तो यह प्राप्त माल का मूल्य होता है अथवा किसी तरह की सेवा की कीमत; या यह विनियोग या सिक्यूरिटी की खरीदगी के लिए पूंजी के चलाचल के रूप में होता है या पूर्व में लगायी गयी पूंजी के ब्याज तथा नफे के रूप में होता है; अथवा यह सट्टे वाला कारबार होता है जिसमें नफा की उम्मीद रहती है किंवा विनिमय-दर की स्वतः ह्रास-वृद्धि के कारण हानि न हो इस भय से होता

है। (क) इन तीनो प्रकार के व्यापार को हमलोग 'व्यवसाय', 'पूंजी' और 'सट्टा' या 'फाटका' नाम दे सकते हैं।

इन तीनो प्रकारों में से पिछले दो प्रकार के व्यापार व्यवसाय से एक खास मुद्दा पर विभिन्नता रखते हैं। जब पौंड पूंजी के विनियोग के लिए डालर से बदला जाता है, स पूंजी पर ब्याज तो देना ही पड़ता है और पूंजी की रकम को भी एक दिन वापस करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में बाहर लगाया हुआ रुपया कई सूरतों से भीतर को रुपया भेजता है। २० साल की अवधि में ब्रिटेन की जनता द्वारा विदेशों में लगायी हुई १० हजार पौंड की रकम के लिए प्राय: १० हजार पौंड तक ब्याज के रूप में आ जाता है। इसलिए २० वर्षों की अवधि तक तो पौंडों की पूर्ति और उनकी मांग बराबर ही बढ़ती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि पूंजी जो लगायी जाती है वह प्रत्यावर्तक होती है अर्थात वह हमेशा प्रतिकूल दिशा में देय फेंकती रहती है। इसलिए उसका मुद्रा पर प्रभाव अस्थायी होता है, स्थायी नहीं हो सकता। हां, अल्पावधि पूंजी का चला-चल, अगर ऐसा कोई हो तो, बहुत जल्दी प्रत्यावर्तित हो सकता है।

फाटके वाला काम भी इसी तरह से प्रत्यावर्तक होता है। जब कोई फाटकाबाज इस उम्मीद में कोई मुद्रा खरीद लेता है कि दूसरी मुद्रा के मुकाबिले में जब इसका मूल्य चढ़ेगा तब इससे नफा मिलेगा, वह तब तक तो कुछ भी

(क) इसमें अपवाद केवल वे ही अदायगी हैं जो बिना कारण लाभ की आशा से दी जाती हैं। इस तरह के दानों के मुख्य उदाहरण ये हैं—एक देश की जनता द्वारा दूसरे देश की जनता के लिए भेजा हुआ उपहार और पराजित राष्ट्र से विजेता राष्ट्र द्वारा क्षति-पूर्ति की रकम की प्राप्ति। दोनो प्रकार के ये उदाहरण किसी खास समय पर किसी खास देश के लिए महत्वपूर्ण रहे हैं (१९२२-२९ में अमेरिका को उपहार के रूप में भेजे गये पदार्थ और उसी समय जर्मनी से प्राप्त क्षति-पूर्ति) और आज के दिनों में, जिस समय यह पुस्तक छापी जा रही है, अमेरिका द्वारा बड़े पैमाने पर उपहार भेजे जा रहे हैं। पर साधारण समय में अव्यावसायिक लेन-देन बहुत ही साधारण परिमाण में होते हैं और विशाल वाणिज्य के मुकाबिले उनकी गिनती नहीं है।

लाभ नहीं पाता है जब तक वह उन्हें बेच न दे। इसी तरह जब वह किसी मुद्रा को उसके मूल्य-ह्रास से नफा उठा लेने के लिए बेच देता है तो उसे तब तक नफा नहीं मिल सकता जब तक उनकी फिर खरीद न करे। इसलिए दुहरे कारबार की प्रकृति फाटके के काम में लगी हुई होती है।

हमारे बनाये तीन समूहों में से पहला अर्थात व्यवसाय ही एक ऐसा काम है जिसमें आत्मप्रत्यावर्तन नहीं है। जब कि लीवरपूल का रुई का कोई काम करने वाला दलाल अपनी रुई की खरीदगी के लिए डालर लेता है तो इस कारबार में ऐसी कोई चीज नहीं है जो पीछे चल कर किसी भी तरह के प्रत्यावर्तित कारबार को जन्म दे। यह वहीं समाप्त हो जाता है और खरीदारी के समय जो कुछ प्रभाव डालर में पौंड की तबदीली की दर में इसके कारण हुआ हो वह सदा के लिए रह जाता है। यह स्थायी इस अर्थ में रह जाता है कि आगे चलकर भी कभी वह प्रतिकूल प्रभाव न डालेगा।

अब विभिन्न प्रकृति के कामों में जो प्रभेद है वह हमें विभिन्न देशों की मुद्राओं में मूल्य का जो तारतम्य और एक दूसरे से कम-अधिक होने के तत्व होते हैं उनके कारणों के सम्बन्ध में सब से महत्वपूर्ण रहस्य बताता है। जहां तक विनिमय-दर की दैनिक ह्रास-वृद्धि का सम्बन्ध है, हमलोगों को उन सभी विभिन्न प्रकार के अदायगी का हिसाब लेना होगा जो समाज में चलते हैं। परन्तु चूंकि पूंजी और फाटके का काम अन्त में प्रत्यावर्तित होता है, हम लोग मुद्रा के स्थायी अथवा दार्घावधि मूल्यों के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्हें आसानी से छोड़ दे सकते हैं और अपने विचार को केवल व्यवसाय के सम्बन्ध में की गयी अदायगी को ही दृष्टिगत रख सकते हैं। अगर हमलोग यह निकाल सकें कि कोई देश अपने माल और अपनी सेवा के लिए जो मूल्य पाता है और माल और सेवा के लिए दूसरे देशों को जो मूल्य देता है उन अदायगियों के आकार का निश्चय कैसे होता है, तो हम लोग एक दूसरे के मुकाबिले मुद्राओं के मूल्य का मूल स्रोत क्या है, यह पा सकते हैं।

किसी देश की विदेशी माल और सेवा की खरादगी और बिक्री के आकार पर प्रभाव डालने वाला जो एक प्रकट तत्व है वह टेरिफ (tariff) और चुंगी-कर में मिलता है। परन्तु यह प्रभाव उतना प्रमुख तथा स्थायी नहीं होता, जितना कि देखने में लगता है। जब कोई देश आयात-कर लगा कर अपने आयात में बाधा उपस्थित करता है तो इसका तात्कालिक फल यह होगा कि विदेशी विनिमय-बाजार में इसकी मुद्रा की जो आमदनी होती वह घट जाती है। फलत: उसका मूल्य बढ़ता है। किन्तु ऐसी कार्रवाई का प्रभाव यह होता है कि तुरत दूसरे देश भी उस देश के अपने आयात पर चुंगी लगा कर रोक लगाते हैं जिसका नतीजा यह होता है कि पहले देश का निर्यात-व्यापार घट जाता है और इस तरह प्रथम प्रभाव की चोट, जहां तक विनिमय से इसका सरोकार है, घट जाती है। तो भी यह कोई कड़ा नियम नहीं है कि ऐसा अवश्य हो। और जभी कोई देश टेरिफ के द्वारा अपने आयात को सीमित कर के देखता है कि उसके निर्यात पर अन्य देश में लगायी गयी चुंगी कम है फलत: आयात से निर्यात ही अधिक हो रहा है, तो इसका परिणाम यह होता है कि उस देश की मुद्रा का विनिमय-मूल्य स्थायी रूप से बढ़ जाता है और बढ़ कर यह उतने से अधिक हो जाता है जितना साधारणत: रहना चाहिये। इसका एक अच्छा उदाहरण अमेरिका है जिसने इस चेष्टा में सफलता पायी है कि उसका आयात तो जहां तक हो सके कम हो जाय पर उसके निर्यात पर कोई असर न पड़े। इसका कारण कुछ तो यह है कि अमेरिका जो माल दूसरे देशों को भेजता है वे इतनी जरूरी हैं कि इच्छा न रहते हुए भी वे उसको मंगाने से अपने को रोक नहीं पाते। इसका उलटा भी इतना ही सही है। जब कोई देश अपने देश के आयात को रोकने अथवा उसे बहुत कम करने की चेष्टा में अक्षम या अनिच्छुक रहता है, जैसा कि उसके देश से माल मंगाने के सम्बन्ध में अन्य देश ने किया है, तो इसका प्रभाव मुद्रा-विनिमय-बाजार पर पड़ता है। इसकी मुद्रा की मांग कम होकर अंत में उसका मल्य इतना कम हो जाता है कि वह वाजिब से भी नीचे चला जाता है।

१९३२ में चुंगी की जो व्यापक व्यवस्था हुई थी उस समय तक ग्रेट ब्रिटेन ऐसा ही देश था। (क)

टेरिफ के अलावे और भी अनेक कारण हैं जो किसी देश के वाणिज्य के आकार-प्रकार पर प्रभाव डालते हैं और इन सब की यदि जांच करने चलें तो हमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-विषय में लिखना पड़ेगा जो इस पुस्तक का विषय नहीं है। परन्तु यहां पर हम इस विषय से भी सम्पर्कित नहीं हैं कि किसी देश के आयात और निर्यात के आकार पर किन तत्वों का प्रभाव होता है। हम लोगों को यही जानना है कि आयात का मूल्य निर्यात के मूल्य के मुकाबिले क्यों बदल जाता है।

अब यह प्रकट है कि सब से बड़ा प्रभाव इस विषय पर मूल्य का पड़ता है। लोग बाहर से तभी माल मंगायेंगे जब घर के बने माल से बाहर का माल उसी मूल्य में अच्छा मिले या सस्ता मिले। और यदि विदेशी माल सस्ता पड़े तो उनका अधिकाधिक आयात होगा। अगर ब्रिटेन में चीजों का साधारण मूल्य-स्तर गिर जाता है, तो बहुत अधिक माल निर्यात होगा जब कि बहुत थोड़े-से माल का ब्रिटेन में आयात किया जायगा क्योंकि देश में बने हुए सस्ते माल के मुकाबले में उसकी पूछ न होगी। इस तरह आयात का मूल्य चुकाने के लिए विदेशी मुद्रा की मांग घट जायगी जब कि ब्रिटेन को माल के निर्यात के लिए दाम देने में पौंड की मांग पूर्ति की वृद्धि के हिसाब से बढ़ेगी और पौंड का मूल्य अन्य मुद्राओं के मूल्य-

(क) यह कहा जा सकता है कि "सुरक्षात्मक चुंगी और तटकर" लगाये जाने के पक्ष-विपक्ष में यह सिर्फ एक दलील है। इस दलील का जो प्रधान अंग है वह इस पुस्तक का विषय नहीं है। फिर भी कोई अर्थशास्त्री इस बात से इनकार नहीं करेगा कि 'तट-कर' लगाये जाने का परिणाम, जहाँ तक कि वे दूसरे देश द्वारा किये गये ऐसे ही बर्ताव का बदला नहीं है, यह होता है कि **उस देश की मुद्रा का विनिमय-मूल्य उसके साधारण मूल्य से बढ़ जाता है**। प्रमुख अक्षरों में दिया गया वाक्यांश बहुत महत्वपूर्ण है जैसा कि शीघ्र ही पता लग जायगा। परन्तु यह भी अपेक्षित नहीं है कि अपनी मुद्रा का मूल्य बहुत अधिक बढ़ जाय।

सम्बन्ध में रहेगा। यह बात ब्रिटेन में मूल्य-ह्रास के सम्बन्ध में, अन्य देशों में वर्तमान मूल्य-स्तर के हिसाब से ही लागू होती है। अगर ब्रिटेन के मूल्यों के समान ही अन्य देशों में भी मूल्य-ह्रास होता हो तो कोई कारण नहीं है कि ब्रिटिश निर्यात बढ़े या आयात घटे। इसके उलटे यदि ब्रिटेन की कीमतें यथास्थिर रहीं जब कि विदेशी मूल्य चढ़ गये तो भी उसका असर वही होगा जो ब्रिटेन के मूल्य-स्तर में ह्रास का हुआ था। ब्रिटेन के मूल्य-स्तर के उत्थान का प्रभाव मूल्य-स्तर में ह्रास के प्रभाव का उलटा है—ब्रिटेन का आयात बढ़ता है और निर्यात घट जाता है।

मूल्य और विनिमय के बीच यह जो सम्बन्ध है वह तो महज सीधी बात है। मुद्रा का मूल्य (value) मूल्यों (price) के द्वारा उलटा ठहराया जाता है। जब चीजों की कीमतें ऊँची होती हैं तो मुद्रा का मूल्य अर्थात उसकी क्रय-शक्ति नीची रहती है और जब दाम नीचे होते हैं तो यह शक्ति बढ़ी होती है। कीमतों के द्वारा मुद्रा का जो मोल तौला जाता है उसको हम मुद्रा का अन्तर्निहित मूल्य (internal value) कहते हैं। मुद्रा का वहिर्गत मूल्य (external value) वह है जो दूसरे देशों की मुद्रा के मुकाबिले विनिमय में ठहरता है। इसलिए अब तक हम जो कुछ कह गये हैं वह यही है कि मुद्रा के वहिर्गत मूल्य का चलाचल इसके अन्तर्निहित मूल्य के हिसाब पर ही चलता है। और भी ठीक से कहें तो कहना होगा कि मुद्रा के वहिर्गत मूल्य का चलाचल इसके अन्तर्निहित मूल्य के चलाचल पर निर्भर है और इसका सम्बन्ध अन्य देशों की मुद्राओं के अन्तर्निहित मूल्य के साथ बंधा है। इसी चीज को और दूसरी तरह यह कहेंगे कि किन्हीं दो मुद्राओं के बीच विनिमय का अनुपात वही बन जाता है, जो उन दोनो की विभिन्न क्रय-शक्तियों का अनुपात होता है। इसलिए इस सम्पूर्ण सिद्धान्त का नाम "क्रय-शक्ति-समानता का सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory) दिया गया है।

१९१४-१८ के महायुद्ध के समय और उसके बाद के कुछ वर्षों में इस सिद्धान्त

को स्वाडन के एक अर्थशास्त्री अध्यापक गस्टाव कैसेल (Gustav Cassel) ने अच्छी तरह प्रतिपादित किया था। उसके मुताबिक विनिमय-दर ठीक उसी अनुपात में गिरेगी जिस तरह से मूल्य-स्तर बढ़ेगा। यों अगर ब्रिटेन में मूल्य-स्तर वृद्धि-प्राप्त होकर दूना हो गया जब कि अन्य देशों में कीमतें नहीं बढ़ीं तो पौंड की नयी संतुलित कीमत अपना पहली कीमत की ठीक आधी होगी। अध्यापक कैसेल तो इतने से भी अधिक चला गया। उसने कहा कि मूल्य-स्तर के चलाचल से ही विनिमय-दर में भी चलाचल पैदा होता है जबकि विनिमय-दर का चलाचल मूल्य पर कोई स्थायी असर डालने की शक्ति नहीं रखता। प्रोफेसर कैसेल के सिद्धान्तों का महत्व इस बात में है कि उसने उस समय राष्ट्रों की नीति पर बहुत प्रभाव डाला। उन दिनों केन्द्रीय यूरोप के प्राय: प्रत्येक देश का बजट संतुलित होता था, प्राय: सभी देशों में कागजी मुद्रा का विस्तार बढ़ता जाता था, मूल्य-स्तर निरंतर बढ़ता जा रहा था और प्राय: सभी देशों की मुद्रा की दर विदेशी बाजार में गिरती जा रही थी। इस स्थिति में पड़ कर उन देशों की सरकारों ने एलान किया कि उनकी मुद्राओं का मूल्य-ह्रास या तो इस कारण हो रहा है कि उन्हें क्षति-पूर्ति देनी पड़ रही है, या अन्तर्राष्ट्रीय फाटकेबाजों (international speculators) के काम का प्रभाव इसपर पड़ा है या अन्य बहुत-से कारण हैं। इन सरकारों ने यह भी एलान किया कि मूल्य-स्तर-वृद्धि के कारण उनकी मुद्राओं का मोल गिरा है, जिससे आमदनी बढ़ाये विना सरकार को अपने बजट को संतुलित रखने में कठिनाई हो रही है और इसीसे सरकारों को छापेखाने पर निर्भर रहकर आमदनी और खर्च के बीच जो खाई है उसको भरने के लिए कागजी मुद्रा छापते जाना पड़ रहा है। फलतः उन्होंने यह दलील देनी शुरू की कि बजट को संतुलित करने और कागजी मुद्रा छापने के क्रम को रोकना असम्भव है जब तक मुद्रा के विनिमय-मोल के ह्रास को रोका नहीं जाता। दूसरे शब्दों में, इन सरकारों का कहना यह था कि हमारा दोष नहीं है। अब यदि अध्यापक कैसेल ठीक थे तो इस तरह की दलील देनी गलत थी और उन देशों की

सब से पिछली नहीं सब से पहली आवश्यकता यह थी कि वे अपने बजट को संतुलित करते तब उनके देशों की आर्थिक पुनर्रचना (monetary reconstruction) होती क्योंकि इसी उपाय से कागजी मुद्रा का प्रणयन रुक सकता था जो मूल्यों को ऊंचा चढ़ाये जा रहा था।

अध्यापक कैसेल के विचार को उस समय के अर्थ-विशेषज्ञों ने स्वीकार कर लिया और उस समय जो घटनावलियां घटीं उनसे प्रोफेसर का कथन प्रमाणित भी होता गया क्योंकि जब तक विभिन्न देशों की जनता और सरकार दोनो अपना कुछ स्वार्थ बलिदान करके अपने बजट को संतुलित नहीं करतीं तब तक उनकी मुद्रावस्था का विपर्यय (collapse) रुक नहीं सकता था। पर जहां तक प्रोफेसर कैसेल के क्रय-शक्ति-समानता के सिद्धान्त का सम्बन्ध है, इसमें कई बातें हैं।

हमने पहले ही बताया है कि यह बात तटकर-नीति (tariff policy) के अधीन है। क्योंकि कोई देश यदि मान लें कि अमेरिका के बाजार में अच्छा स्थान रखता है तो यह अपनी मुद्रा के उच्चतम विनिमय-मूल्य को कायम रख सकता है बनिस्बत उस मूल्य के जो यह साधारणतः रखता। इसका अर्थ दो में से एक यह हो सकता है कि जब कोई देश अपने तट-कर को दूसरे देश के तट-कर के प्रभाव से अछूता रख लेता है, तो इसकी मुद्रा की विनिमय-दर अन्तर्निहित मूल्य-स्तर में कोई हेरफेर किये बिना भी बढ़ जाती है। वही असर तब भी पैदा होगा जबकि विनिमय-मूल्य वही रहेगा जो पहले था और मूल्य-स्तर बढ़ गया होगा। दोनो अवस्थाओं में मुद्रा का वहिर्गत मोल इसके भीतरी मोल अथवा क्रय-शक्ति से अधिक होगा। यही कारण है कि कई युगों से डालर की क्रय-शक्ति जब वह पौंड से बदला जाता था और ब्रिटेन में खर्च किया जाता था, उस क्रय-शक्ति से अधिक होती थी जब वह अमेरिका में ही व्यय होता है।

दूसरे स्थानों में हमें यह परिभाषा करनी चाहिये कि मूल्य-स्तर का क्या अभिप्राय हुआ। क्योंकि यह साफ है कि जो लोग विदेशी व्यापार करते हैं उनके

हिसाब में सभी प्रकार की कीमतें तो नहीं समातीं। उदाहरण के लिए हम समझें कि फान्स में ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा मकानों की कीमत सस्ती हो सकती है पर इस सस्तेपन के कारण क्या लोग फ्रान्स से घर का आयात करेंगे ? परन्तु इस दलील को देख कर अब इसके प्रतिकूल दूसरी दलील के छोर पर भी जा पहुँचना और यह सोच लेना नहीं चाहिये कि विनिमय-दर केवल ऐसे ही पदार्थों के मूल्य के प्रभाव से ठहरता है जा वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में चल होते हैं—हमको ऐसे भी कुछ पदार्थों के मूल्य पर हिसाब लेना होगा जो चल सकते हैं। जैसे कि कोयला न तो ब्रिटेन से अमेरिका जाता है और न अमेरिका से ब्रिटेन आता है परन्तु अगर ब्रिटेन के भाव से अमेरिका में कोयले का भाव इतना कम हो कि अतलांतिक महासागर के पार से उसे लाने में भी वह सुभीता पड़े और अगर उसका आयात सम्भव हो सके तो वह भी आना शुरू हो जायगा और इससे विदेशी विनिमय-बाजार में आने वाले पौंड और डालर के आकार (volume) पर प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। यह तो एक दृष्टान्त हुआ क्योंकि कोयला मंगाने का खर्च तो दाम से भी बहुत अधिक होगा, पर इस दृष्टान्त से यह समझना चाहिये कि हर दो देशों में कुछ न कुछ ऐसे पदार्थ भी रहते ही हैं जिनका आदान-प्रदान उन देशों के मध्य नहीं होता पर हो सकता है, अगर दोनो देशों के तत्सम्बन्धी मूल्य-स्तर में कुछ हेरफेर कर लिया जाय। जब हम यह कहते हैं कि विनिमय-दर किसी दो पदार्थों के सम्बन्धी कीमतों की उंचाई से तय होती है तो इस मूल्य-स्तर शब्द में हमें उन सभी पदार्थों का मूल्य लेना चाहिये जिनका व्यापार हो सकता है या हो रहा है।

यह कथन अब क्रय-शक्ति की समानता को जोड़ने में एक व्यावहारिक कठिनाई उपस्थित करता है जैसा कि हम लोगों ने तीसरे अध्याय में देख लिया है। हम लोग साधारण मूल्य-स्तर के परिवर्तनों को ठीक-ठीक माप नहीं सकते केवल सूचक अङ्क (index number) के सहारे उसका अन्दाज ही कर सकते हैं। और इस सूचक अङ्क की तैयारी से पता लगेगा कि मूल्य-स्तर का कौन-सा अंश इसमें सम्मिलित हुआ है। अब सब से अच्छा सूचक अङ्क जिसे माना जाता है वह थोक

मूल्यों का है, जो बहुत ही कम संख्या के कच्चे मालों और प्राथमिक उत्पादनों (primary products) के बाजार-भाव के परिवर्तन का हिसाब लगाता है। अगर हम क्रय-शक्ति की समानता का हिसाब इन्हीं सूचक अङ्कों से लगावें तो हम लोग न केवल सभी प्रकार के निर्मित पदार्थों की कीमतों को छोड़ेंगे पर हमें सेवाओं का सम्पूर्ण वृत्त और 'अदृश्य निर्यातों' (invisible exports) का भी हिसाब छोड़ देना पड़ेगा। इसके अलावे इन कच्चे मालों में से बहुतों का रोजगार तो खुले बाजार में ऐसे देशों में होता है जो एक दूसरे के पड़ोसी हैं। इस तरह से जब डालर के मुकाबले पौंड का भाव गिर जाता है तो या तो लीवरपूल में गेहूँ का भाव बढ़ेगा अथवा शिकागो में इसका भाव गिरेगा अन्यथा यह फायदेमन्द रहेगा कि लीवरपूल से गेहूं खरीदें और शिकागो में ले जाकर बेच दें। इसलिए यदि हम लोगों ने अकेले गेहूं की कीमतों की समानता का हिसाब लिया और उसी को विनिमय-दर के चलाचल का कारण कह कर पेश कर दिया तो हम कारण और कार्य में गोलमाल कर बैठेंगे। दूसरी ओर अगर हम दूसरे छोर पर चले जायें और जीवन-व्यय के आंकड़े (cost of living index number) लेकर उसको सूचक अङ्क मान लें तो समें हम कई प्रकार के व्यय शामिल कर लेंगे; जैसे मकान-भाड़ा आदि जिसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (international trade) पर काई असर नहीं होता। इसके अतिरिक्त किसी देश की खुदरा चीजों की कीमतें इस बात का प्रमाण नहीं हो सकतीं कि वे ही चीजें थोक में किस मूल्य पर विदेशियों के हाथों बेची जायंगी। इस गोरखधन्धे (dilemma) से बचने का कोई उपाय नहीं है। किसी भी तरह से यह अच्छा है कि हम वेतन-दर का सूचक-अङ्क लेकर प्रयुक्त करें क्योंकि वेतन तो हर एक चीज में व्याप्त है, सेवा हो चाहे माल और माल उत्पादित हो या नहीं। जब तक कि निर्यात-व्यापार में मजदूरी अन्य उद्योग-धन्धों के अनुपात में नीची न हो (जैसा कि १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद वाले युग में ग्रेट ब्रिटेन में हुआ था) तो वेतन के सूचक अङ्क का चलाचल इतना ही अच्छा पथ-प्रदर्शक हो सकता है जितना कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में चल और चल होने योग्य

पदार्थों और सेवाओं के मूल्य-स्तर के चलाचल का सूचक अङ्क होगा। पर यहां भी हमको विभिन्न देशों के मजदूर-वर्ग की कार्य-दक्षता में जो विभेद होता है उसके लिए गुंजाइश रखनी होगी। (क)

प्रोफेसर कैसेल ने क्रय-शक्ति-समानता (purchasing power parity) का जो सिद्धान्त प्रतिपादित (propounded) किया है उसमें एक और आपत्ति उठायी जा सकती है। उनके सिद्धान्त का तत्व यह है कि मूल्य-स्तर में परिवर्तन लाकर विनिमय-दर में परिवर्तन लाया जा सकता है पर विनिमय-दर के परिवर्तन से मूल्य-स्तर पर कोई प्रभाव पड़े यह आवश्यक नहीं है। अब कैसेल के सिद्धान्त की यह बात हमेशा सही नहीं निकलती। उदाहरणार्थ हम मानलें कि भारी पूंजी का चलाचल जो फाटके के ढंग का है, पौंड का मूल्य घटा देता है और कई महीनों तक यह ऐसा ही दबा हुआ रह जाता है। तो इसका तात्कालिक फल यह होगा ब्रिटेन में सभी आयात की गयी चीजों का दाम मंहगा हो जायगा क्योंकि ऐसी स्थिति में अमेरिकी गेहूं या फ्रान्सीसी लेस की कीमतों

(क) इस मान्यता पर कि यह कठिनाई हल की जा सकती है और पूर्ण सूचक अंक निकाला जा सकता है, क्रय-शक्ति-समानता के तत्व को इस हिसाब से निकालते हैं:—हम मान लें कि भूत-काल की अवधि में से कोई एक निश्चित अवधि चुन ली जाती है। इस समय यह मान लिया जाता है कि उस अवधि में वास्तविक विनिमय-दर प्रायः संतुलन की अवस्था में है। मानलें कि आधार वर्ष में अमेरिका का सूचक अंक १२० था और ब्रिटेन का १०० था और विनिमय की दर थी ५ डालर = १ पौंड। फिर मानलें कि आज अमेरिका का सूचक अंक १८० और ब्रिटेन का २०० है। तब दोनो देशों की क्रय-शक्ति का सूचक अंक यों ठहरा—

$$५ \text{ डालर} \times \frac{१००}{२००} \times \frac{१८०}{१२०} \text{ या } ३·७५ \text{ डालर} = १ \text{ पौंड}$$

अब यदि सचमुच ही विनिमय की दर ३·७५ डालर है, तो सूचक अंक में आये हुए दोनो सेट कीमतों की औसत के बीच जो सम्बन्ध ठहरा है वह वही होगा जो 'आधार वर्ष में' होगा। और यदि आधार वर्ष की स्थिति संतुलित अवस्था का दिग्दर्शन कराती है तो इस सिद्धान्त के अनुसार दोनो के सम्बन्ध में भी संतुलन है।

में अधिक पौंड खर्च करना पड़ेगा। बहुत-से ब्रिटिश उद्योग-धंधे आयात के कच्चे माल पर ही निर्भर करते हैं और तब उन्हें अपना दाम बढ़ाने को मजबूर हो जाना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त विदेशी मुद्रा में ब्रिटेन का निर्यात सहसा सस्ता पड़ने लगेगा और इससे उनका अधिक भाग बिक जायेगा। इसलिए ब्रिटेन के निर्यातकों को अपनी कीमत बढ़ाने का लोभ पैदा होगा क्योंकि पौंड में जितनी गिरावट हुई है उससे कुछ कम तक भी यदि वे अपने सामानों की कीमत उठा देते हैं तो भी उनका मुनाफा बढ़ जायेगा लेकिन उधर उनका माल फिर भी सस्ता ही पड़ेगा और विदेशी बाजारों में वे खूब चलता रहेंगी। इस तरह से पौंड की गिरावट से ब्रिटेन का मूल्य-स्तर उठेगा। इसके साथ ही साथ ब्रिटेन के उद्योग-धंधों की होड़ करने की बढ़ी हुई क्षमता के कारण दूसरे देश वाले भी लाचार होकर अपना दाम घटायेंगे ताकि व्यापार हाथ से न निकल जाय। इस प्रकार पौंड की गिरावट दुहरा असर पैदा करेगा; यह न केवल ब्रिटेन के मूल्य-स्तर को बढ़ा देगी वरन विदेशी मूल्यों को भी गिरा देगी। साधारण स्वरूप में यही बात हुई जब कि सितम्बर १९३१ में पौंड की कीमत गिर गयी थी।

विनिमय-दर में ह्रास-वृद्धि होने से मूल्य-स्तर पर जो प्रभाव होता है वह विभिन्न देशों में विभिन्न तरह का होता है। उस देश में जो अपने उपभोग का बहुत-सा भाग बाहर से मंगाता है और अपने साधनों को अधिकतर निर्यात-पदार्थ बनाने में लगाता है, इसका प्रभाव सब से अधिक पड़ सकता है। क्योंकि विनिमय-दर में परिवर्तन के कारण आयात और निर्यात दोनो प्रकार के पदार्थों पर असर पड़ता है और जहां ये दो प्रकार के माल ही सम्पूर्ण पदार्थों का अधिकांश भाग होते हैं वहा साधारण मूल्य-स्तर की ह्रास-वृद्धि भी उतनी ही अधिक होगी। इस विचार से विनिमय-दर का चलाचल मानलो रूस से अधिक हालैंड में असर डालेगा। पर यहां पर एक बार फिर यह सावधान कर देना है कि सम्बन्धित चलाचल (relative movement) को निस्संपर्क चलाचल (absolute movement) में गड़बड़ नहीं करना चाहिये। किसी देश के विनिमय की

कीमतों में पतन होने से उस देश के मूल्य-स्तर में वृद्धि का श्रीगणेश हो जायगा। इस विनिमय-दर का उत्थान तब होगा जब कि उस देश का मूल्य-स्तर पुनः गिरने लगेगा और अन्य देशों का स्थिर रह जायगा। पर वह देश जिसकी मुद्रा का पतन हुआ है यदि बड़ा है और बाहर से माल मंगा कर अपने यहां खर्च चलाता है, तो यह विश्व-बाजार पर इतना अधिक प्रभाव डालेगा कि इसकी मुद्रा की कीमतों के पतन से अन्य देशों की कीमतें भी गिरेंगी, यह हो सकता है, परन्तु इसकी कीमतें नहीं उठेंगी। १९३१ के सितम्बर महीने में जब पौंड का अवमूल्यन (depreciation) हुआ तो यही बात हुई थी। कई प्रकार की वस्तुओं में संसार के देशों के लिए ब्रिटेन का बजार ही एक सब से बड़ा पूर्तिकारक (supplier) है। जब पौंड का मूल्य गिरता है और ब्रिटेन के रहने वाले इन वस्तुओं के मूल्य के लिए कम प्रदान (विदेशी मुद्रा में) करते हैं तो उनका मूल्य विदेशी मुद्राओं में भी पतन को प्राप्त होता है। जैसे कि १९३१ के बाद, जबकि पौंड स्टर्लिंग का मूल्य ४० प्रतिशत तक कम हो गया था, तत्सम्बन्धित ब्रिटेन की कीमतों का उत्थान इस उपाय से साधित हुआ था कि प्रायः समस्त शेष संसार के बजारों में कीमतें गिर गयी थीं पर ब्रिटेन में चालू मूल्य-स्तरमें प्रायः कुछ भी गड़बड़ नहीं हुआ था।

परन्तु यद्यपि विनिमय-मूल्य में चलाचल होने का प्रभाव प्रायः सभी देशों में एक समान नहीं होता पर हमेशा कुछ न कुछ प्रभाव होता अवश्य है। इसलिए हमको ऐसा नहीं कह देना चाहिये कि मूल्य-स्तर का चलाचल ही विनिमय-दर के चलाचल का एकमात्र कारण है। हमलोग इस विषय में इतना ही कह सकते हैं कि दोनो के बीच कुछ मौलिक सम्बन्ध है। और हमलोग जब उस सम्बन्ध को क्रय-शक्ति की समानता के सिद्धान्त के द्वारा व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं, हमारे सामने वे सब प्रकट कठिनाइयां आ जाती हैं जिनका हमने ऊपर जिक्र किया है। क्रय-शक्ति-समानता का सिद्धान्त तटकर-नीति (tariff policy) के प्रभाव के अधीन है। क्रय-शक्ति-समानताओं को जोड़ने का जो

भी प्रयत्न किया जाता है, वह इस कारण उलझन में पड़ जाता है कि किन-किन मूल्यों का हम हिसाब लें, इसका निश्चय नहीं हो पाता और दूसरी उलझन, उनको प्रकट करने वाले सूचक अंक को प्राप्त करने की कठिनाई पेश होती है। इसके अलावे यदि यह हिसाब निकाल लेना संभव भी हो तो जो परिणाम निकलेगा वह वर्षों और युगों के हिसाब में पूंजी के चलाचल के अनुसार फर्क पड़ जायगा।

इन सभी शर्तों की मौजूदगी में संभवतः क्रय-शक्ति-समानता का नाम लेना उचित नहीं है। पाठक इससे यह निष्कर्ष निकाल लें कि इस सिद्धान्त को भूल जाना ही अच्छा है। पर ऐसा कहना भी अतिरंजना होगी। हमलोग जानते हैं कि कभी-कभी ऐसा भी रहता है कि दो देशों के बीच संतुलित विनिमय-दर भी रहती है। संतुलित विनिमय-दर उसको कहा जायगा जिसमें हर एक मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति के बराबर होगी, इसमें फाटके तथा असाधारण पूंजी के चलाचल का काल छोड़ देना होगा। (क) हमलोग इस संतुलित दर को ठीक-ठीक जोड़ भी नहीं सकते पर मूल्यों के विभिन्न चलाचलों की तुलना से कुछ मोटा-मोटी अनुमान हो सकता है।

जो कुछ भी हो, अपनी कमजोरियों के बावजूद यह मान्यता कि मूल्य और विनिमय-दर के बीच एक निकट का सम्बन्ध है कुछ व्यावहारिक महत्व मुद्रा-नीति

(क) संतुलित विनिमय-दर के विषय में, जो लम्बे समय तक चले, जब सोचा जाय तो उसमें पूंजी के चलाचल के विषय में ध्यान देना नहीं चाहिये। पर थोड़े काल के लिए सोचना हो तो हम यह मानले सकते हैं कि पूंजी का कुछ तो चलाचल (पूंजी के ब्याज का चलाचल) 'साधारण' बात है (दसवां अध्याय देखिये) और अपने हिसाब में इसकी गुंजाइश रखनी चाहिये। इसके अतिरिक्त "प्रलम्ब अवधि व्यापी विनिमय-दर का संतुलन" वाक्यांश जो है, वह एक बड़ा सवाल पैदा करता है क्योंकि ऐसा होना तभी संभव है जब कि दो देशों के आर्थिक सम्बन्ध उतने दिनों तक स्थिर रहें। पर ऐसा होना मुमकिन नहीं है, जब तक कि ऐसा रखने के लिए जान-बूझ कर खास युक्ति न की जाय। जैसा कि हम आगे चलकर अध्याय ९ में दिखायेंगें 'सुवर्ण-मान के निर्माण के भीतर यही मार्मिक तत्व है।

(currency policy) को लेकर रखता है क्योंकि यह राष्ट्रों को चेताता है कि खबरदार कुछ ऐसे भी काम हैं जो तुम नहीं कर सकते।

उदाहरण के लिए १९२५ में ग्रेट ब्रिटेन ने स्वर्ण-मान को पुनः अंगीकृत करते हुए पौंड की कीमत इतनी ऊंची रखी कि वह उन दिनों की मजदूरी, जीवन-व्यय तथा साधारण मूल्य-स्तर के मुकाबिले बहुत ऊंची थी क्रय-शक्ति-समानता सिद्धान्त के अनुसार यह स्पष्ट है कि पौंड स्टर्लिंग का यह मूल्य-स्तर तभी सुरक्षित रह सकता था जबकि मूल्यों और मजदूरी को घटाकर उस समय अन्य देशों में प्रचलित मूल्य और मजदूरी के स्तर के बराबर कर दिया जाता। अगर ऐसी युक्ति न की जाती तो पौंड के मूल्य को गिरना ही पड़ता। छ साल तक ब्रिटेन की सरकार ने विदेशी पूंजी को आर्कषित करने के उद्देश्य से ब्याज-दर की वृद्धि आदि युक्तियों द्वारा पौंड की यह कीमत कायम रखी। अब इस सम्बन्ध में हमने पिछले अध्याय में बताया है कि ब्याज-दर को ऊंचा रखने से विनियोग घट जाता है और इसका ह्रासजनक प्रभाव मूल्यों पर पड़ता है और बेकारी बढ़ जाने के कारण वेतन-दर पर भी इसका बुरा असर होता है। परन्तु ग्रेट ब्रिटेन की परिस्थिति कुछ विचित्र होने के कारण, यद्यपि देश में बहुत अधिक बेकारा इन दिनों रही, मजदूरी की दर नहीं घटी और इसलिए मूल्य भी घटाये नहीं गये। इस कारण मूल्य-स्तर और विनिमय-दर की असमानता कायम रही और चूंकि मूल्यों का पहाड़ विनिमय-दर के मुहम्मद (mahomet) के पास नहीं आ सकता था, मुहम्मद को ही पहाड़ के पास जाना पड़ा। अगर मूल्य और व्यय दोनो को न घटाते तो यह निश्चित था कि आज नहीं तो कल पौंड का विनिमय-मूल्य (exchange value) घटाना पड़ता। यही अनिवार्य चीज १९३१ में हो के रही जब कि विदेशी पूंजी, जो ऊंची ब्याज-दर के कारण खिचकर लंदन चली आई थी, सहसा आतंकित हो गयी और भगी और इस भगदड़ में पौंड को पुनः स्वर्ण-मान से उतारा गया।

इसकी उलटी बात भी एक समान ही सही है। जिस तरह अपनी मुद्रा की

कीमत खूब ऊंची रहने के कारण ब्रिटिश निर्यात का ह्रास हुआ और उसका ह्रास-जनक प्रभाव मूल्य-स्तर पर हुआ, उसी तरह यह भी देखा गया है कि कई बार सरकारों ने इस आशा में कि इससे निर्यात बढ़ेगा, अपनी मुद्रा का कीमत को बहुत नीचे कर के रखा है। कुछ दिनों के लिए यह युक्ति सफल होती मालूम पड़ सकती है पर हम इसके आगे के अध्याय में दिखायेंगे कि इस सफलता की गति भी सीमित ही होती है। ये सीमायें यह हैं कि या तो धीरे-धीरे मूल्य, मजदूरी और व्यय-मान को बढ़ने दिया जाय और निर्यातकों की विभेदमूलक सुविधा को इस प्रकार से समाप्त होने दिया जाय अथवा मुद्रा के विनिमय-मूल्य को गिर कर अपनी संतुलित दर पर आ जाने दिया जाय। अन्त तक आते-आते आर्थिक सिद्धान्त अपना यथार्थता प्रकट करेंगे ही और तब विनिमय-दर अपनी संतुलित अवस्था से न अधिक रहने पायेगी न कम, जिससे विभिन्न देशों के आर्थिक ढांचे (economic structure) के साथ उनका संतुलित सम्बन्ध पुनः व्यक्त हो के रहेगा। (क)

कहा है कि अन्त आते-आते ऐसा ही होगा पर वह अन्त बहुत लम्बी अवधि के बाद आ सकता है। अगर कोई देश विदेशों से हर साल भारी रकम कर्ज लेता जाय तो यह अपनी मुद्रा की कीमत को क्रय-शक्ति-समानता के स्तर से ऊंचा रख कर बहुत दिनों तक उसे चला सकता है। इस चीज का एक लिखित उदाहरण कनाडा का है। १९०० से १९१४ तक कनाडा ने विदेशों से प्रतिवर्ष कम से कम ३ करोड़ डालर का ऋण लिया और किसी-किसी साल तो उसने ३० करोड़ तक पहुंचाया। नतीजा यह हुआ कि यह अपने डालर की दर को क्रय-शक्ति-समानता के स्तर से ऊंचा रख सका। चूंकि कनाडा का डालर सुवर्ण-मान पर स्थापित था और बढ़ नहीं सकता था इस कारण इसकी क्रय-शक्ति गिर

(क) यानी, यदि विदेशी विनिमय-बाजार को स्वतंन्त्र छोड़ दिया गया तब। असंतुलित अवस्था को कायम रखने के लिए सरकार को विनिमय-नियन्त्रण की पाशविक शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। इन युक्तियों का वर्णन अगले अध्याय में होगा।

गयी अर्थात मूल्य-स्तर बढ़ गया (क) पर यह एक अपवाद का उदाहरण ही है। ऐसे देश कम ही हैं जहां विनियोग का भविष्य ऐसा उज्वल है और जो विदेशी मुद्रा-बाजार से इतना अधिक सम्पर्क रखते हैं कि वे हर साल विदेशों में ऋण उठाने में सफल हो सकें चाहे वह वर्ष बुरा हो या भला। पर बहुसंख्यक देशों के लिए तो यह 'अन्त तक' का काल छ-आठ वर्षों का अथवा ऐसा ही कुछ का होता है। (ख)

निष्कर्ष

CONCLUSION

मुख्य निष्कर्ष जिसपर अब हम पहुंच सके हैं तीन विस्तृत मन्तव्यों में आंका जा सकता है। उन्हें संक्षेप में लिखने में तो एक प्रकार से कुछ-कुछ लकीर का फकीर बनना पड़ता है और उनमें से कुछ के साथ कोई न कोई पक्ष भी लगा हुआ है। पर

(क) कनाडा का मूल्य-स्तर जान-बूझ कर कृत्रिम तरीके से ऊंचा रखा जा रहा था और बाहर भेजे जाने वाले माल का दाम बहुत ऊंचा होता था। कहने का अभिप्राय यह है कि कनाडा को उस स्थिति के मुकाबिले सस्ती चीजें मिल रही थीं और वह अपना माल मंहगे दामों में बेच अधिक धन देश में ला रहा था। यदि वह कृत्रिम रूप से अपना मूल्य-स्तर ऊंचा न रखता तो ऐसा होना मुमकिन नहीं था। पाठकों को इस विषय में विशेष जानकारी प्रोफेसर जेकोब विनर लिखित Canada's Balance of International Indebtedness 1900-1913 (Harvard University Press, 1924) से मिल सकती है। इस पुस्तक में विदेशी विनिमय के सिद्धान्त-सम्बन्धी बहुत दिलचस्प हाल दिया हुआ है।

(ख) इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में, इसी स्थल पर एक और वार्ता forward exchange नाम से जुड़ी हुई थी। इसको वर्तमान पुस्तक में परिशिष्ट में दिया गया है। क्योंकि यह बात संदेहास्पद लगती है कि कभी निकट भविष्य में ऐसा भी समय आयेगा जब कि खुले बाजार में अग्रिम विनिमय का काम पुनः चालू होगा भी या नहीं।

इन सिद्धान्तों को फिर से लिख दिया जाय तो मुख्य रूप-रेखा थोड़ी और स्पष्ट हो जायेगी।

१. हर एक राष्ट्रीय मुद्रा अपने ही देश की सीमा के भीतर चलती है और संसार में चूंकि कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा नहीं है और एक मुद्रा को दूसरी में बदलने के लिए कोई निश्चित माध्यम भी नहीं है, इसलिए हर एक मुद्रा के परिवर्तन के लिए विनिमय का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है।

२. विनिमय में कम से कम दो पार्टियों की आवश्यकता होती है, यही अन्तर्राष्ट्रीय तथा अन्तर्देशीय कारबार में फर्क है, और अन्तर्राष्ट्रीय अदायगियों में कई तरह की कठिनाइयां पैदा कर देता है।

३. मुद्राएँ विदेशी विनिमय-बाजार में विनिमयकृत होती हैं। जिस अनुपात पर उनका विनिमय होता है उसका निश्चय कई तत्वों पर होता है। पहला तत्व है हर एक मुद्रा की पारस्परिक मांग और पूर्ति की स्थिति। इसके अलावे और भी तत्व हैं पर उनमें से कई ऐसे हैं जिनकी सटीक परिभाषा देनी मुश्किल है, क्योंकि विभिन्न मुद्राओं की आंतरिक क्रय-शक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध ठीक-ठीक ठहराया नहीं जा सकता।

फिर भी इस सम्पूर्ण अध्याय में एक तत्व की प्रच्छन्न मान्यता (assumption) चली ही आई है। हमने यह मान लिया है कि प्राय: हर देश में विदेशी मुद्रा-विनिमय-बाजार एक 'स्वतन्त्र बाजार' है। मतलब यह कि किसी पर कारबार करने या न करने के सम्बन्ध में कोई सरकारी दबाव नहीं दिया जाता और कारबार अथवा विनिमय-दर की ह्रास-वृद्धि पर भी कुछ नियन्त्रण रखने की कोई सीमा नहीं दी जाती। हमने विदेशी विनिमय के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त लिखे हैं वे उस स्थिति को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं जिसको दोनो युद्धों के बीच के वर्षों में 'साधारण' (normal) माना जाता था। हमारा दूसरा प्रयत्न होगा कि इस मान्यता को हटा कर विदेशी विनिमय-प्रणाली (working of the foreign exchange) की असाधारण समयों की पृष्ठ भूमि में जांच करें। इसमें हमें

स्वर्ण-मान-रीति (working of gold-standard) की परीक्षा करनी होगी जो विनिमय-दर को घटने-बढ़ने से रोकने के लिए एक नयी युक्ति मानी जाती है। इसमें और भी महत्व की बात यही है कि यह युक्ति किसी ने आविष्कृत नहीं की पर ऊपर से नीचे की ओर आपसे आप बढ़ गयी है। हम अध्याय ९ में इस विषय को लेंगे। पर इस बीच में हमें इस विषय पर विचार करना है कि विदेशी मुद्रा-विनिमय-बाजार में जान-बूझकर सरकारों द्वारा जो हस्तक्षेप किया जाता है उसका प्रभाव क्या होता है; इसका उद्देश्य क्या है और क्या इसके तरीके हैं। और यह समझने की चेष्टा करनी है कि इस तरह के हस्तक्षेप का परिणाम क्या हो सकता है।

आठवां अध्याय

विनिमय-प्रबन्ध और नियन्त्रण

EXCHANGE MANAGEMENT AND CONTROL

विनिमय-प्रबन्ध के उद्देश्य

THE OBJECTS OF EXCHANGE MANAGEMENT

नियोजित अर्थ-व्यवस्था और खानगी व्यवसाय पर सरकारी नियन्त्रण के इस युग में यह ताज्जुब की बात ही होगी यदि विदेशी विनिमय-बाजार पर कुछ भी नियन्त्रण सरकार का न रहे। जिस समय यह किताब लिखी जा रही है उस समय दुनिया में शायद ही कोई देश ऐसा होगा जहां देश की मुद्रा तथा विदेशों की मुद्राओं के विनिमय पर, उस कारबार पर, जो विदेशी विनिमय-बाजार में किया जा सकता है, किसी न किसी तरह का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, प्रभावकारी अथवा प्रभावहीन, नियन्त्रण विनिमय-दर पर नहीं किया जाता हो। इस किताब में हम उन तरीकों पर विचार करेंगे जिसके द्वारा यह नियन्त्रण साधित होता है और यह भी देखेंगे कि जिन देशों में यह नियन्त्रण है उन देशों की मुद्रा-प्रणाली (monetary system) पर इसका क्या प्रभाव होता है। परन्तु इस विचार में लगने के पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि क्यों सरकार अन्तर्राष्ट्रीय कारबार तथा अपनी मुद्रा (currencies) के विनिमय-मूल्य पर नियन्त्रण रखना चाहती है।

इसका सबसे मुख्य कारण यह है कि इसी के द्वारा सरकार विनिमय-दर को उससे भिन्न बना सकती है जो प्रकृतया चालू हो जाती है। यदि सरकार सन्तुष्ट रहती है कि स्वाधीन रूप से कारबार में जो विनिमय-दर निश्चित हो गयी है वह ठीक है तो फिर वह उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करती। स्वतन्त्र दर से, यदि भिन्न दर रखने की जरूरत सरकार को मालूम पड़े तो वह जो युक्तियां करती है उनमें तीन विभिन्न उद्देश्य देखे जा सकते हैं। पहले उद्देश्य में यह हो सकता है कि

मुद्रा के मूल्य-स्तर को स्वाधीन भाव से प्रचलित मूल्य-स्तर से ऊंचा रखना उद्देश्य हो या इसकी उल्टी दिशा में यदि उससे नीचा रखना आवश्यक समझा जाता हो अथवा नियन्त्रण इसलिए किया जा रहा हो कि दीर्घावधि तक विनिमय-मूल्य को मोटा-मोटी उस स्थिति के बराबर रखने का इरादा हो जिसमें मांग और पूर्ति की समानता रहती है और उसके साथ-साथ उन सभी ह्रास-वृद्धियों से बचा जाय जो स्वतन्त्र बाजार में होने की सम्भावना रहती है। सुविधा के लिए इन तीनो प्रकार के लक्ष्यों को हम 'अधिकमूल्य-धारण' (overvaluation) (क) 'अल्प-मूल्य-धारण' (undervaluation) और 'ह्रास-वृद्धि-निरोध' ये तीन नाम दे सकते हैं। अब हम तीनो पर बारी-बारी से विचारें।

विनिमय-प्रबन्ध अथवा नियन्त्रण का सबसे अधिक साधारण उद्देश्य यह होता है कि इसके द्वारा अधिकमूल्य-धारण की दशा से बचे रहें। बहुतेरे कारण हैं जिनके लिए किसी देश की मुद्रा का मूल्य स्वतन्त्र बाजार होने से जो चलता उससे अधिक रखा जाता है। परन्तु ये सभी कारण एक ही स्थिति से पैदा होते हैं, वह यह है कि चाहे इस कारण हो या उस कारण देश का व्यावसायिक सम्बन्ध बेसम्भाल हो जाता है और यदि विनिमय-बाजार को अनियन्त्रित छोड़ दिया जाय तो देश की बहुत मुद्रा विदेशी खरीद में निकल जायगी और बहुत कम विदेशी मुद्रा निर्यात से प्राप्त होगी। यह हो सकता है कि देश किसी युद्ध में फंसा हो जिसके कारण उसे निर्यात के लिए सामान बनाने की फुर्सत न हो और इस कारण उसे कच्चा

(क) 'मुद्रा का अधिक मोल' एक तो यह हुआ कि उसका दाम उस समय चालू संतुलित विनिमय-दर से अधिक रखा गया (देखो पेज ३०१–२) और दूसरा यह कि स्वतन्त्र मुद्रा-बाजार होने से उसमें विनिमय की जो दर स्थिर होती उससे अधिक। दोनो का मानी एक ही नहीं है जब कि हम यह न समझ लें कि स्वतन्त्र बाजार में बराबर संतुलित दर ही चालू रहती है। अधिकतर तो 'अधिकमूल्य-धारण' का मतलब पहले कहे गये अर्थ में लिया जाता है। यहां यह दूसरे मतलब में व्यवहृत किया जा रहा है। पर इस फुटनोट से बात साफ हो जाने के बाद हमलोग इस सम्बन्ध में जो थोड़ा-सा अर्थ सम्बन्धी फर्क है उसे भूल जा सकते हैं, इससे कोई हानि न होगी।

माल और तैयार पदार्थ दोनो बाहर से लाकर उपभोग करने की बहुत आवश्यकता हो। अगर विदेशी मुद्रा खरीदने का हक अच्छी तरह नियन्त्रित नहीं रहे, या यों कहें कि यह अधिकार असल में सरकारी अनुमति प्राप्त संस्थानों अथवा स्वयं सरकार के हाथ में न रहे तो उस अवस्था में विनिमय-दर में प्रलयान्तक पतन (catastrophic fall) हो जाय। विनिमय के बहुत-से तरीके तो असल में युद्धकाल में ही निकले हैं। किसी बड़ी लड़ाई के बाद पुनरुत्थान की अवधि, खास कर उस युद्ध के बाद जिसमें राष्ट्र की आर्थिक क्षमता अच्छी तरह दुह गयी और बिगड़ गयी हो, वह स्थिति पैदा करती है ज़िसमें उसे आयात की आवश्यकता अन्य साधारण दिनों की अपेक्षा कहीं अधिक रहती है पर निर्यात की क्षमता नहीं रहती जिससे आयात-कृत माल का मूल्य भर दिया जा सके। ऐसी अवस्था में विनिमय-दर में पतन कर लेने से यह नहीं समझना चाहिए कि हम मांग और पूर्ति का बिगड़ा हुआ संतुलन दुरुस्त कर लेंगे। यदि आज (१९४७ में) पौंड की कीमत चार डालर के बजाय दो डालर हो जाय तो भी अमेरिकी गेहूं, तम्बाकू और यन्त्रादि का आवश्यकता ब्रिटेन को कम नहीं रहेगी और अपना माल बाहर भेजने की योग्यता उसकी बढ़ नहीं जायेगी। इसका एक ही असर होगा और वह यह कि अमेरिकी माल ब्रिटेन के माल के मुकाबिले और भी महंगा पड़ेगा और इसलिए ब्रिटेन के माल के निर्यात से आयात की कीमत चुकाना और भी कठिन हो जायगा। इस अवस्था में सरकार के लिए हस्तक्षेप करके देश की मुद्रा के मूल्य की गिरावट रोकने का प्रयत्न करना, जो स्वतन्त्र बाजार रहने से अवश्यंभावी होगा, और भी उचित ठहरता है। इसलिए उस देश को, जिसे अपनी आवश्यकताओं के लिए बाहर से माल मंगाना बहुत जरूरी है, अपनी मुद्रा के सम्बन्ध में अधिकमूल्य-धारण की नीति ही ठीक है।

अधिकमूल्य-धारण का ऐसा ही एक दूसरा कारण भी है। संसार में बहुत-से ऐसे देश हैं जो विदेशों के, विदेशी मुद्रा में, भारी कर्जदार हैं। अर्जेन्टिना और कई ब्रिटिश उपनिवेश उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग और बीसवीं सदी के

प्रारम्भ में लन्दन के मुद्रा-बाजार के करोड़ों-करोड़ पौंड स्टर्लिंग के कर्जदार थे। अर्जेन्टिना की मुद्रा पेसो (peso) और अस्ट्रेलियाई पौंड की कीमत चाहे जो भी रहे उन्हें ब्रिटेन के पौंड में यह कर्ज भरना था तथा हर साल उसका व्याज भरना था। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद जब कि यूरोप के देशों की आर्थिक दशा खराब हो गयी थी उन्हें पौंड स्टर्लिंग में ब्रिटेन आदि देशों से और इससे भी कहीं ज्यादे डालर में अमेरिका से कर्ज लेने की जरूरत पड़ गयी। इन पौंड और डालरों की आवश्यकता पड़ी—शस्त्रास्त्र की खरीद के लिए नहीं, पर अपना कर्ज या ब्याज चुकाने के लिए—और इन्हें यह सूझा कि यदि अपनी मुद्रा का मूल्य बढ़ा दें तो पौंड-डालर के स्थिर मूल्य के हिसाब से उनका दाय-भार कुछ हलका जरूर हो जायगा। इस तरह अपनी मुद्रा का अधिक दाम रखना कर्जदार देश के लिए पक्की नीति (sound policy) है या नहीं जब कि इसमें सभी तत्वों का विचार होता है, एक दूसरा प्रश्न है। हम इस प्रश्न का उत्तर बाद में देंगे। पर हम यह कह सकते हैं कि इस तरह से मूल्य-वर्धन एक अच्छा उपाय तो लगता है इसमें सन्देह नहीं।

अपनी मुद्रा का मोल बढ़ाने का तीसरा कारण भी हो सकता है मगर वह बाहरी परिस्थिति से नहीं घरेलू स्थिति से। मान लें कि विशुद्ध देशीय कारणों से मूल्य-स्फीति की अवस्था आने वाली हो। हम यह भी मान लें कि यह वह देश है जिसके राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था (national economy) में आयात और निर्यात का बड़ा हाथ है। अब यदि देश का मुद्रा का बाहरी मोल गिर जाने दिया जाय तो उसका नतीजा यह होगा कि आयात की कीमत मंहगी हो जायगी और निर्यात में देश को जो नफा होता था वह छूमन्तर हो जायगा। दोनो ही दशाओं में स्फीति की आग में और घी पड़ेगा। और अगर इसके बाद सचमुच मूल्य-स्तर चढ़ गया तो उस देश की क्रय-शक्ति-समानता नष्ट हो जायगी और तब यह डर है कि वह प्रक्रिया धड़ाधड़ चालू हो जायगी जिसमें मुद्रा का बाहरी और भीतरी मोल एक पर एक गिरना शुरू कर देगा और इसी तरह एक हानिकारक मुद्रायिक स्थिति उपस्थित हो

जायगी। लगेगा कि जो स्थिति वतायी जा रही है वह काल्पनिक है—ऐसा कभी नहीं हुआ। पर नहीं, ऐसा हुआ है, ऐसा होने के कारण ही १९३० में सभी देशों में झटपट सरकारी नियंत्रण लागू हुआ था। इसका कारण यह था कि केन्द्रीय योरोप के लोगों को उन दिनों की स्मृति भूली नहीं थी जब कि भयानक स्फीति की दशा वे १० ही साल पहले भुगत चुके थे। उन दिनों वे नित्य सांस रोककर विनिमय-दर की गति-विधि देखा करते थे जो उनकी अपनी मुद्रा के मोल की रक्षा का एक मात्र विश्वसनीय आधार रह गया था। जब १९३१-३२ में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्रान्ति के कारण इन देशों के लिए अपनी मुद्रा का मूल्य कायम रखना और घिरे हुए संकट को पार कर विदेशी ऋण के सहारे निकलना कठिन हो गया तब उनकी सरकारें उस घबड़ाहट का सामना करने से घबड़ा उठीं जो गिरते हुए विनिमय-मूल्य के कारण चारो ओर फैल गयी थी। ऐसी ही अवस्था में उन्होंने अपनी मुद्रा का दाम अधिक रख कर बल पूर्वक नियंत्रण द्वारा उसको कायम रखने की युक्ति की।

स्वतन्त्र मुद्रा-बाजार में किसी देश की मुद्रा का जो मूल्य चल रहा हो उससे बढ़ा कर मोल रखने के मुख्य कारण यही हो सकते हैं। परन्तु अधिकमूल्य-धारण के कई बहुत गम्भीर परिणाम हो सकते हैं। जब किसी देश की मुद्रा का दाम अधिक रखा जाता है यानी विनिमय-दर के संतुलन से ऊंचा करके दाम रख लिया जाता है तो मूल्य-स्तर उस देश में पड़ोसी देशों के मूल्य-स्तर से ऊंचा हो ही जाता है। इसके बाद ही यह होता है कि निर्यात-व्यापार में व्याघात पड़ता है और उस देश में बाहर से माल ठेलना शुरू हो जाता है [अगर इस क्रम को तटकर (tariff), कोटा (quota), लाइसेंस आदि की रोक लगाकर रोका न जाय]। परन्तु यह तो 'अधिकमूल्य'-क्रम का केवल प्रारम्भिक परिणाम हुआ। १९२५ और १९३१ के बीच में ग्रेटब्रिटेन, १९३२-३६ के बीच में फ्रांस और दूसरे-दूसरे समयों पर दूसरे देशों ने यह सीखा कि अधिक मूल्य की युक्ति भारी मारक जहर हो सकती है। वास्तव में कभी-कभी किसी-किसी स्थिति में तो सम्पूर्ण आर्थिक ढांचा को इस यक्ति के कारण लकवा मार जा सकता है।

इसलिए ऐसे समय होते हैं जब किसी देश को अधिकमूल्य की आवश्यकता महसूस होती है और फिर ऐसे भी समय होते हैं जब उसे अपनी मुद्रा का मोल घटाकर रखना वांछनीय मालूम होता है। इन दो विभिन्न परिस्थितियों का आगमन किन कारणों से होता है इस सम्बन्ध में बहुत सैद्धान्तिक भाव मन में रख लेना उचित नहीं मालूम होता। परन्तु इस सम्बन्ध में एक साधारण नियम कुछ सहायताप्रद हो सकता है। साधारणतः कहें तो कह सकते हैं कि जिस देश को दूसरे देशों को बहुत-सा धन अदा करना हो उसके लिए यह चीज लाभदायक हो सकती है चाहे वह अदायगी बढ़े हुए आयात के लिए करनी हो अथवा लिये हुए कर्ज के सम्बन्ध में। पहली दशा युद्धकाल में उपस्थित हो सकती है। अधिक दाम रखने से अलबत्ता निर्यात की कीमत अधिक मिलती है। परन्तु विश्व-व्यापी तेजी के जमाने में (जैसा कि युद्धकाल में होता है) इससे देश के निर्यात में बहुत रोक पड़े ऐसा नहीं है क्योंकि इस समय तो निर्यात इस तत्व पर निर्भर करता है कि कितने आदमी निर्यात-माल बनाने के लिए उस देश में प्राप्त हो सकते हैं। उस समय मूल्य की इतनी खोज नहीं रहती। परन्तु मंदी के दिनों में और उन दिनों में जब कि संसार भर के बाजार खरीदारी के लिए खुले रहते हैं, जिस समय ऐसा मालूम होता है कि संसार में सब चीजों की सभी जगह अधिकता है और जिस समय माल खरीदना झंझट का काम नहीं माल बेचना ही परेशानी का काम हो जाता है, उस समय यह अच्छा है कि अपने देश की मुद्रा की कीमत कम रख दी जाय अर्थात अल्पमूल्य-धारण की नीति अपनायी जाय। इसलिए मोटामोटी नियम यह हुआ—युद्ध और अभाव के दिनों में अपनी मुद्रा का मोल अधिक रखो जौर मंदी और सुभाव के वक्त मुद्रा का मूल्य घटा कर रखो।

यह नियम बहुत मोटा और भोंड़ा है। खास-खास मामलों में इस नियम के प्रतिकूल भी हो सकता है। और सभी देश इस नियम का एक-ब-एक पालन नहीं कर सकते। क्योंकि एक ही मुद्रा के लिए एक ही साथ अधिकमूल्य और अल्प-मूल्य-धारण दोनो चल नहीं सकता। फिर भी १९३० के बाद ऐसे बहुत-से देश

थे जो अपने विनिमय को इस प्रकार व्यवस्थित किये हुए थे कि न केवलअ धिक-मूल्य-धारण से बच रहे थे पर जान-बूझकर अल्पमूल्य-धारण को अपनाये हुए थे। अल्पमूल्य-धारण का प्रभाव साधारणतः अधिकमूल्य-धारण के विपरीत होता है। अल्पमूल्य-धारण के कारण निर्यात बढ़ जाता है, आयात घट जाता है और साधारण मूल्य-स्तर को सहारा मिल जाता है। पर इन प्रभावों की एक गंभीर परिसीमा भी है। यह सच है कि अपनी मुद्रा का मूल्य कम रखने के कारण दूसरे देशों में प्रचलित मूल्य के मुकाबिले अपने देश का मूल्य-स्तर बढ़ता हुआ मालूम देगा। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि मूल्य सचमुच बढ़ते हैं—इसका मतलब सिर्फ इतना है कि अन्य देशों के मूल्य घट रहे हैं। यदि वह देश जिसकी मुद्रा का अल्पमूल्य-धारण हुआ है बड़ा हो और विश्व-व्यापार में उसकी महत्त्वपूर्ण अवस्थिति हो, तो अल्पमूल्य-धारण से उसकी मुद्रा का मूल्य बढ़ने के बजाय संसार के बाजार के मूल्य-स्तर में ह्रास होगा। (क) और दूसरी तरफ़ कोई छोटा देश हो जिसका

(क) १९३१ में ब्रिटेन ने जब स्वर्ण-मान छोड़ दिया तो यही हुआ। पौंड बहुत तेजी से गिरने लगा और कम से कम प्रारम्भ में तो इसका अल्पमूल्य-धारण अवश्य किया गया। अब, ग्रेट ब्रिटेन विश्व का प्रमुख बाजार ही नहीं है, कई चीजों के लिए यही एकमात्र बाजार है, उदाहरणार्थ खाद्य द्रव्य। पौंड जो गिरा तो उसमें ऐसी कोई बात नहीं थी कि ब्रिटेन के रहने वाले भी गेहूं, तम्बाकू, मांस और मक्खन की खरीदारी में अधिक पौंड देना शुरू करें। और चूंकि लन्दन-बाजार में जो मांग रहती थी उसका बड़ा भाग घरेलू ही होता था इन पदार्थों की स्टर्लिङ्ग कीमत संसार की कीमत हो गयी और उन देशों की मुद्रायें भी जो पौंड के अवमूल्यन के साथ-साथ अवमूल्यन में नहीं आई थीं गिरने को लाचार हुईं और उन्हें पौंड के अवमूल्यन के साथ मेल रखना पड़ा। उस समय जो-जो तत्त्व कार्य कर रहे थे उनका सांगोपाङ्ग वर्णन इतने से ही खतम नहीं हो जाता। यह बिलकुल ही सम्भव है कि विश्व का मूल्य-स्तर गिरता जरूर चाहे पौंड का अवमूल्यन होता या नहीं। ऐसा कुछ भी सबूत नहीं है कि पौंड की गिरावट के १२ महीने के भीतर उन देशों (अमेरिका) के मूल्य ने भी तेजी से गिरना प्रारम्भ किया जिनमें स्वर्ण-मान था। उनका दाम तो असल में १२ महीने पहले से डांवाडोल हो रहा था। परन्तु स्वर्ण-मान का परित्याग मूल्यों के और गिरने का एक मात्र कारण हो या न हो, एक मुख्य कारण तो अवश्य था।

स्थान विश्व-बाजार में कम प्रमुख हो तो अल्पमूल्य-धारण से वह विश्व-बाजार के मूल्यों में घटती न लाकर अपना मूल्य ही बढ़ता हुआ पा सकता है। जब अल्पमूल्य-धारण के कारण निर्यात बढ़ने लगता है तो छोटे देश को अन्य व्यावहारिक सुविधा भी प्राप्त हो जाती है; परिणाम-स्वरूप तरह-तरह की व्यापारिक बाधाएं खड़ी कर उसको रोका जा सकता है किन्तु छोटे देश के निर्यात में बहुत बड़ा विस्तार हो भी जाय तो भी उसपर किसी की नजर नहीं पड़ सकती है फलतः उसका रोजगार अबाध रूप से चलता जा सकता है।

एक दूसरे तत्व पर भा ध्यान देना है। मुद्रा का अल्पमूल्य-धारण मूल्य-स्तर को प्रभावित कर सकता है किन्तु केवल आयात और निर्यात के मूल्यों द्वारा। इसलिए इसका प्रभाव बहुत व्यापक भी हो सकता है और शाघ्र (speedier) भी हो सकता है—ऐसे देश में, जहां विदेशी व्यापार का परिमाण उस देश के परिमाण से अधिक है और यह समाज के सम्पूर्ण उत्पादन का एक छोटा ही अंश है। इन दोनो तत्वों को एक साथ लेकर हम कह सकते हैं कि अल्पमूल्य-धारण न्यूजीलैंड जैसे देश के लिए लाभदायक हो सकता है जिसका विदेशी व्यापार उसके लिए भले ही महत्वपूर्ण हो पर जो संसार के लिए उतना ही महत्वपूर्ण नहीं है। और यह चीज अमेरिका जैसे विशाल देश के लिए बहुत कम लाभदायक हो सकता है जिसका विदेशी व्यापार यद्यपि विश्व-व्यापार में बड़ा भाग रखता है, फिर भी देशीय उत्पादन और व्यापार के मुकाबले में इसका आकर नगण्य हा है। यह देखना आसान है कि जिस देश का मुख्य निर्यात-व्यापार खाद्यान्न और कच्चे माल का है उसको किसी ओद्यौगिक देश की

किसी भी दशा में एक भारी व्यावसायिक देश के लिए यह मुश्किल है कि वह अपने मूल्यों को, मुद्रा के अल्पमूल्य-धारणद्वारा ऊपर उठा सके। मूल्य-स्तर या आधार-स्तम्भ को नीचा कर देने का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य होता है। आर्किमीदस का कहना था कि अगर उसे एक काफी लम्बा लीवर मिले और एक आधार-शिला मिले तो हम पृथ्वी को उठा लें। परन्तु वह पृथ्वी को लीवर बनाकर चांद को चाहे उठा सकता पर चाँद को लीवर बनाकर वह पृथ्वी को हर्गिज टस से मस नहीं कर सकता।

अपेक्षा अधिक आवश्यकता अपनी मुद्रा का मोल घटाने की है। क्योंकि ऐसे माल का विश्व-व्यापी मूल्य कारखानों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षा मन्दी के समय में अपने आप ही अधिक गिर जाता है। इसलिए यदि कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश अपना मुद्रा का अल्पमूल्य-धारण कर लेता है तो यह इस बात में शक्य हो सकता है कि अपने मुख्य उत्पादनों का दाम यह अपनी राष्ट्रीय मुद्रा में यथातथ्य कायम रख सके और इस तरह अपनी मूद्रा को विश्व-बाजार के गिरे हुए मोल के अनुसार नियोजित (adjust) करने में उसे अधिक परेशानी न उठानी पड़े। आयातकृत माल अलबत्ता इस हिसाब से उसे महंगा पड़ेगा जिससे कि कच्चे माल के उत्पादकों की क्रय-शक्ति कुछ कम हो जायगी। पर जिन चीजों की किसा देश को आवश्यकता रहती है उनके मूल्य की थोड़ी वृद्धि से अपनी क्रय-शक्ति पर थोड़ा ह्रास कबूल करना अच्छा है बनिस्बत इसके कि यह जितनी भी चीजें बेचता है उन सबका मूल्य गिर जाय। इससे कम आर्थिक विपर्यस्तता (economic disturbance) पैदा होती है। पहली अवस्था में इस देश की जनता की नगदी आमदनी घटती नहीं है, दूसरी अवस्था में यह घट जाती है।

कर्जदार देश के लिए कई तरह के वैकल्पिक उपायों के सम्बन्ध में एक मनोरंजक बात और है। हमने पृष्ठ ३१०–११ पर बताया है कि जिस कर्जदार देश का कर्ज विदेशी मुद्रा में चढ़ा हुआ है वह अपनी जान इस तरह बचा सकता है कि अपनी मुद्रा का मूल्य ब ा ले। परन्तु यह भा कहा गया है कि यदि यह देश कच्चे माल का उत्पादक है, अगर वह छोटा राष्ट्र है और ऐसा है कि उसके लिए विदेशी व्यापार ही जान है तो ऐसे देश को अपनी मुद्रा का मोल घटाना ही चाहिये, बढ़ाना नहीं। अब इन दोनो बातों में से कौन-सी बात मानी जाय, कोई साधारण उत्तर इसका नहीं दिया जा सकता। किसी-किसी देश में अपनी मुद्रा का मूल्य इतना घटा लेना कि वह अल्पमूल्य-धारण के स्तर तक पहुंच जाय ऐसा लाभकर होता है—इतना निर्यात बढ़ाने वाला और देश में समृद्धि ले आने वाला—कि ऋण का ब्याज अदा करने के लिए उस देश को विदेशी मुद्रा खरीद लेना कुछ भी भारी नहीं

लगता यद्यपि इस काम के लिए सरकार अधिकाधिक आन्तरिक कर लगा कर धन एकत्रित करती है। १९२९ की मन्दी के जमाने में न्यूजीलैंड और अस्ट्रेलिया ने ऐसी ही युक्ति की थी और बहुत लाभ उठाया। परन्तु उन्हीं दिनों दूसरे-दूसरे देश, जैसे हंगरी, विदेशी पौंड और डालर के इतने बड़े कर्जदार थे और जिनकी आन्तरिक व्यवस्था कोटा और चुंगी (quota and prohibitive tariff) के कारण इतनी व्यतिव्यस्त (hemmed) थी कि यदि वे अपनी मुद्रा का अल्पमूल्य-धारण कर लेते तो ऋण का ब्याज देना उनके लिए और भी कठिन हो जाता।

हम लोग यहां पर विनिमय-नीति की नैतिकता के सम्बन्ध में कुछ विचार नहीं कर रहे हैं—वास्तव में इस विषय में नैतिकता का प्रश्न ले आना कुछ अजीब-सा लगता है। फिर भी यह बात है ही कि मुद्रा का अल्पमूल्य-धारण—जान-बूझ कर अल्प-मूल्य-धारण—एक अनैतिक कार्य है। एक पूर्णत: नैतिक संसार में इस व्यवस्था को सर्वथा स्वार्थ-सिद्धि की नीति कहनी चाहिए। कोई भी सुविधा जो इस उपाय से एक राष्ट्र को प्राप्त होती है, वह निश्चित रूप से दूसरी राष्ट्र की हानि पर ही आधारित है। और इस विचार से इसे लाभ भी नहीं मानना चाहिए क्योंकि कोई राष्ट्र अलग तो है नहीं—सम्पूर्ण विश्व-परिवार का वह भी एक सदस्य है। परन्तु आज की नाई बनी हुई दुनिया में शायद यह अच्छा ही है कि नीति के ऊपर व्यवहार भी एक चीज है। अल्पमूल्य-धारण का खेल तो हर राष्ट्र खेल सकता है। परन्तु यदि हर राष्ट्र यह खेल खेलने लगे और संसार की मुद्राएं इस होड़ में पड़ जायें कि कौन सब से अधिक कम दाम रख सकता है तो इस होड़ का नतीजा यह हो कि संसार की सभी मुद्राएं मूल्य-हीन हो जायें। हाल साल में ऐसा युग भी बीता है जिसमें लगता था कि अल्पमूल्य-धारण की यह होड़ सर पर आने ही वाली है पर इस होड़ के पागलपन तथा इससे होने वाली दुर्गति के भय ने राष्ट्रों को इस होड़ के खेल से रोक रखा है।

विनिमय-प्रबन्ध (exchange management) का तीसरा संभव उद्देश्य ह्रास-वृद्धि को रोकने का है। इसके सम्बन्ध में बहुत विचार करना अनावश्यक

है। सिद्धान्त-रूप से यह माननीय है कि बाजार को दोनो तत्वों का स्वाद मिलना चाहिए—स्थिरता का भी और अस्थिरता का भी। पर व्यवहार में इसकी व्याख्या करना भी कठिन है और इसका कार्य-रूप में परिणत करना भी। उद्देश्य यह होना चाहिए कि बाजार-भाव की उस ह्रास-वृद्धि को रोका जाय जो बिलकुल ही सामयिक और अस्थायी होती है और विभिन्न मुद्राओं के पारस्परिक मूल्य में जो वास्तविक तब्दीलियां हों उनके मुताबिक अपनी मुद्रा की जो दर स्थिर हो जाय उसमें हस्तक्षेप करना नहीं चाहिए। पीछे की ओर नजर डालकर हम समझ सकते हैं कि कौन-सी तब्दीली वास्तविक थी, कौन-सी नहीं। पर इस चीज की व्यवस्था करने वालों को तो तत्क्षण यह निर्णय करना होता है कि क्या करें। उन्हें तो पीछे देखने की फुर्सत नहीं रहती और जो अस्थायी ह्रास-वृद्धि होती है उसको पहचानने का भी कोई उपाय नहीं होता कि कौन-सी वास्तविक है और कौन-सी अवास्तविक। इस हालत में यह स्वाभाविक होता है कि ह्रास-वृद्धि रोकने की नीति ही इस सम्बन्ध में अपनाली जाय और वह अवसरवादिता-सी लगे। इस ढंग की सबसे प्रख्यात नीति ब्रिटेन वालों ने १९३२ से शुरू करके १९३९ में युद्ध-प्रारम्भ होने के पूर्व तक "विनिमय-समानीकरण खाता" (Exchange Equalization Account) के द्वारा अपनाली था। इस खाते का लक्ष्य न तो अधिकमूल्य-धारण था और न अल्पमूल्य-धारण पर इसका लक्ष्य पौंड की अस्थायी ह्रास-वृद्धि को रोकना था। व्यवहारतः यह विश्वास करने के कारण हैं कि इन दिनों ब्रिटेन की सरकार के लिए पौंड के अल्पमूल्य-धारण और अधिकमूल्य-धारण दोनो के लिए कारण मौजूद थे। अध्याय ९ में जिस अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) का वर्णन हम करेंगे उसका आभास यहां पर दे देना गैरवाजिब न होगा। यह १९४७ में प्रारम्भ हुआ था और इसके नियमों के अनुसार इस कोष में भाग लेने वाले राष्ट्रों ने यह वादा किया था कि वे अपनी मुद्राओं का मूल्य स्थिर रखेंगे जब तक कि वे इस कोष के व्यवस्थापकों को यह न समझा दें कि उनके देश में कोई मौलिक असन्तुलन

(fundamental disequilibrium) व्याप्त हो गया है जिसके कारण विनिमय-दर में परिवर्तन होना लाजिमी है। ह्रास-वृद्धि-निवारण (avoidance of fluctuation) नीति का यह साधारण रूप है और यद्यपि इस विषय के अनुभव अभी तक एकत्रित नहीं हो पाये हैं, यह समझना चाहिये कि विनिमय-दर में परिवर्तन करने के लिए अनुमति-प्राप्ति का आवेदन बहुत कम किया जायगा। यह भी आशा करनी चाहिए कि इस कोष के सदस्य-देश थोड़े-से अधिकमूल्य-धारण और थोड़े-से अल्पमूल्य-धारण की प्रक्रिया की कुछ परवाह नहीं करेंगे, कम से कम उस हालत में जब कि उन्हें लगता हो कि यह क्रम महज अस्थाया है।

अप्रत्यक्ष नियन्त्रण

INDIRECT CONTROL

विनिमय-प्रबन्ध के उद्देश्यों के सम्वन्ध में विचार कर लेने के वाद अब हमें उसके तरीकों पर विचार करना चाहिये। केवल इसी उपाय से यह प्रवन्ध प्रभावकारी हो सकता है जब कि उसके द्वारा मुद्रा-बाजार में मुद्रा की मांग भी बनी रहे और उसकी पूर्ति भी रहे। बाजार पर चाहे जितना भी नियंत्रण रखा जाय किसी भी दिन जितने पौंड की खरीद होती है उतने हा की बिक्री भी होनी चाहिये। इसलिए नियंत्रण करने वाली सरकारें दो प्रशस्त वैकल्पिक नीतियां (broad alternatives of policy) रखती हैं। स्वतन्त्र बाजार में अगर वह विनिमय-दर जिसपर मांग और पूर्ति बराबर होने की सम्भावना हो, सरकार को पसंद न हो तो वह दो काम कर सकती है। या तो वह अपने ही मन से बाजार में प्रवेश कर सकती है और जिस मुद्रा में उसकी दिलचस्पी हो उसकी मांग या पूर्ति को पूरी कर सकती है अथवा वह इन मांग और पूर्ति में से कुछ को बाजार तक जाने से रोक दे सकती है। यदि ब्रिटेन की सरकार चाहे कि पौंड को उठाया जाय तो वह मुद्रा बाजार में अपने से जाकर पौंड की मांग करके उसके लिए मूल्य का अंक धर कर (bidding for pounds) ऐसा कर सकती है अथवा जो लोग मुद्रा-बजार को

पौण्ड की पूर्ति देते हैं उन्हें रोक कर ऐसा कर सकती है। दोनो युक्तियों से पूर्ति के मुकाबिले मांग बढ़ जाती है और पौंड का विनिमय-मूल्य बढ़ जाता है। इसके विपरीत यदि ब्रिटिश-सरकार की इच्छा हो कि पौंड का मूल्य गिरे तो या तो वह अपने से ही बहुत परिमाण में बिकने को बाजार में पौंड भेज दे सकती है अथवा जो लोग मुद्रा-बाजार में पौंड की मांग करते हों उनको अपना मांग उपस्थित करने से रोक सकती है। /इन दोनो युक्तियों में जो विभेद है वह यह है कि एक से मुद्रा-बाजार का काम बढ़ता है और दूसरे से कम होता है। एक मुद्रा-बाजार को सभी आने वालों के लिए खोल देता है पर उसपर एक कृत्रिम तत्व (artificial element) रख देता है और दूसरा जनता के स्वतन्त्र प्रवेश में हस्तक्षेप करता है। /

नियन्त्रण की इन दो युक्तियों को हस्तक्षेप (intervention) और रोक-छेंक (restriction) नाम देना ठीक होगा। (क) इस अध्याय के अगले दो अनुच्छेदों में हम दोनो पर बारी-बारी से विचार करेंगे और साथ ही इस बात पर भी विचार करेंगे कि किन उपायों से सरकार अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सीधे समर्थ होकर विनिमय-दर पर प्रभाव डालती है। परन्तु प्रारम्भिक वार्ता की तरह हमको पहले कुछ उन अप्रत्यक्ष उपायों पर ध्यान दे लेना चाहिये जो इस परिणाम की प्राप्ति के लिए सरकार करती है। ये वे तरीके हैं जिनका स्वरूप ही कुछ दूसरा है पर जो विनिमय-दर पर फिर भी प्रभाव डालते हैं।

एक प्रकट और चालू तरीका विदेशी विनिमय-बाजार पर प्रभाव डालने का वह

(क) विनिमय-नियन्त्रण-रीति का सुन्दर वर्णन पौल इनजिग कृत Exchange Control (Macmillan, 1934) में दिया गया है। लेखक इस अध्याय में वर्णित बातों के लिए बहुत कुछ उसी का आभारी है। डा० इनजिग की इस किताब में ४१ तरीकों का वर्णन आया है। पिछले साल दो साल के बीच "विनिमय-नियन्त्रण" शब्द का इस्तेमाल इस अर्थ में हुआ है कि उसका अभिप्राय केवल 'बन्धेज' निकलता है। परन्तु इस अध्याय में इस शब्द का प्रयोग हम इससे व्यापक अर्थ में कर रहे हैं। हमने एक दो स्थान पर 'विनिमय-नियन्त्रण' न लिख कर 'विनिमय-व्यवस्था' शब्द का भी प्रयोग किया है जहाँ यह देखा है कि 'नियन्त्रण' शब्द के प्रयोग से अर्थ में कुछ भ्रम होने का डर था।

है कि जिसमें कोई देश कस्टम चुंगी (customs tariff) बैठाता है या 'कोटा'-निर्धारण का तरीका अपने आयात को कम करने के विचार से प्रयुक्त करता है। इससे मुद्रा-बाजार में उसकी मुद्रा की पूर्ति निश्चय ही कम हो जाती है क्योंकि आयात का मूल्य चुकाने को बहुत कम विदेशी मुद्रा की खोज उस देश को रह जाती है। परिणाम यह होता है कि उस देश की मुद्रा का मूल्य बाढ़ की तरफ रुख करता है। यह सत्य है कि ऐसा ही दूसरे देश भी कर सकते हैं क्योंकि उनको भी कस्टम चुंगी बैठाने या कोटा ठीक कर देने से कोई रोकने वाला नहीं होता। और सचमुच यदि सभी देश इसी तरह कर लें तो किसी भा मुद्रा के पारस्परिक मूल्य में कोई परिवर्तन न हो। परन्तु यह बात रही जाती है कि आयात-कर की विद्यमानता किसी देश की मुद्रा के मूल्य को आयात-कर की अविद्यमानता की अवस्था से ऊंचा चढ़ा देती है यदि अन्य चीजें बराबर ही रहें। इसी तरह के तर्क से यह दिखाया जा सकता है कि निर्यात पर कर लगाये जाने से देश की मुद्रा का मूल्य-ह्रास होता है। निर्यात पर कुछ उपहार (bounty) दिया जाय तो अवश्य ही उससे मुद्रा का मूल्य ऊंचा उठे, आयात पर उपहार दिया जाय (जैसा कि आज तक सुना नहीं गया है) तो वह मुद्रा को गिरा दे। निर्यात के लिए उपहार देना सुना गया है, निर्यात पर कर लगाया जाता भी सुना गया है पर कम, लेकिन आयात के लिए उपहार देना प्रायः कभी नहीं हुआ।

विदेशी मुद्राओं के स्वतन्त्र बाजार पर इससे थोड़ा सूक्ष्म प्रभाव विभिन्न दशों में ब्याज की दर के परिवर्तन से डाला जाता है। ऐसे विदेशी विनिमय-बाजार में जो कारबार होता है उसका अधिकांश चीजों की खरीद-बिक्री के सम्बन्ध के लेन-देन में नहीं होता, वह पूंजी और विनियोग के चलाचल के सम्बन्ध में होता है। लंदन में यदि ब्याज-दर की बढ़ती हो तो इससे अन्य देशों का धन उधर आकृष्ट होकर जायगा और इससे ब्रिटेन के बैंक वालों को इसी में अधिक लाभ दीखने लगेगा कि वे अपने धन को बाहर न लगाकर घर में ही रखें। विनियोग से जो कुछ आमदनी होती है उससे ब्याज की बढ़ती से जहां तक सम्बन्ध है उसपर यह प्रभाव पड़ेगा कि

ब्रिटेन के विनियोग वाले बाहर जाकर अपना धन लगाने से विरत हो जायँगे। एक कर्जदार देश जो अपने यहां ब्याज-दर बढ़ा देता है, कभी-कभी (यदि उसकी पूंजी को अन्तर्राष्ट्रीय जगत में घूमने-फिरने की छूट हो) बहुत बड़े परिमाण में विदेशी धन को अपने यहां के कल-कारखानों में लगाये जाने को आकृष्ट करता है जैसा कि जर्मनी में १९२४ से ३० तक की दशा से ज्ञात होता है। इस तरह ब्याज-दर की वृद्धि से कई स्रोतों से मुद्रा की मांग बढ़ कर उसकी पूर्ति को घटा देती है, फलतः उसकी कीमत बढ़ जाती है।

विनिमय-दर पर प्रभाव डालने के इन अप्रत्यक्ष तरीकों पर कई बातें कही जा सकती हैं। प्रथम तो यह कि विनिमय-नियंत्रण (exchange control) के ध्येय के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी ये युक्तियां की जा सकती हैं। कस्टम-कर (customs duties) इसमें संदेह नहीं कि अधिकतर इसलिए लगाया जाता है कि उससे किसी धंधे को संरक्षण मिले अथवा राष्ट्रीय कोष के लिए धन मिलें। निर्यात-व्यापार को बढ़ावा देने के लिए निर्यात-उपहार (export bounty) की बात रखी जाती है। घरेलू ऋण-स्थिति के लिहाज से ब्याज-दर भी विभिन्न प्रकार की होती हैं। पर इन सबका प्रयोग निश्चित रूप से विनिमय-दर पर प्रभाव डालने के लिए होता है। और चाहे इस नीयत से इनका प्रयोग हो या न हो वास्तव में वे विदेशी विनिमय-दर पर प्रभाव डालते ही हैं। दूसरी बात यह कि यह प्रभाव अप्रत्यक्ष होता है—बाजार की स्वतन्त्रता पर किसी तरह का सीधा हस्त-क्षेप नहीं किया जाता। इसलिए विनिमय-दर को मनचाहा बनवाया जाता है (influenced)—बनाया नहीं जाता (directly managed)। तीसरी बात यह है कि इनके प्रयोग के साथ कई सीमाएँ भी हैं। कोई भी ऐसा देश नहीं है जो अपने आयात को काट कर शून्य के बराबर कर सकता है या उन्हें बहुत कम भी कर सकता है। क्योंकि ऐसा कोई देश नहीं है जो अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुएँ स्वयं ही उत्पादित कर लेता है। और किसी भी दशा में आयात पर जो रोक लगायी जाती है और उससे जो लाभ सोचा जाता है वह हो नहीं पाता क्योंकि अन्य

देश वाले भा ऐसा ही करने लग सकते हैं। फलतः जो लाभ होता है वह इस हिसाब से लुप्त हो जाता है। निर्यात-उपहार तो राष्ट्रीय कोप की क्षमता पर निर्भर करता है। व्याज-दर के परिवर्तन की भी सीमा है। व्याज की दर इतनी नहीं बढ़ायी जा सकती कि उससे घरेलू (domestic) व्यापार में वाधा पड़ती हो। इसके दुष्परिणाम को मारने के लिए दूसरे-दूसरे देशों में भी यदि व्याज-दर बढ़ा दी जाय तो भी इससे काम नहीं चलता और ऊंची व्याज-दर की लालच में पूंजी जो चलाचल प्राप्त कर जाती है, उससे व्याज और अदायगी का चलाचल उलटी दिशा में चल पड़ता है, या तो वह निकट भविष्य में हो या दूर भविष्य में।

इसलिए अप्रत्यक्ष नियन्त्रण की ये युक्तियां, यद्यपि किसी भी प्रकार से नगण्य (negligible) नहीं हैं, इतनी ताकतवर और वाजिब भी नहीं हैं कि सरकार इनका प्रयोग करके विनिमय-बाजार पर सीधा शासन जमा सके। इसलिए इस प्रसंग का त्याग कर हमें प्रबन्ध के अन्य प्रत्यक्ष उपायों (direct method) के विषय में सोचना चाहिये।

हस्तक्षेप

INTERVENTION

कोई सरकार विदेशी विनिमय-बाजार में दो कारणों से ही हस्तक्षेप कर सकती है—या तो अपनी मुद्रा का मूल्य वह बढ़ाना चाहे अथवा घटा देना चाहे। इन दोनो में पहला उद्देश्य ही ज्यादा प्रचलित है। जब हस्तक्षेप इसलिए किया जाता है कि मुद्रा को बढ़े हुए दाम पर स्थिर कर दिया जाय तो कहा जाता है कि मुद्रा को इस मूल्य पर 'कील' दिया गया (pegged) है और यह 'कीलन' ही आज-कल हस्तक्षेप का धान रूप है। ब्रिटेन की सरकार ने १९१४-१८ के युद्ध-काल में पौंड स्टर्लिंग को ४·७६$\frac{७}{१}$ डालर पर कील दिया था। इस मूल्य में कितना भारी अधिकमूल्य-धारण था यह चीज १९१९ आते-आते मालूम होने लगी और उस समय पौंड की कीमत गिर कर साल भर के अन्दर ३·४० डालर पर चली आयी।

कीलन से मतलब होता है मोल को उठाकर ही ठहरा देना पर १९३० में कई सरकारों ने अपनी मुद्राओं का मूल्य नीचे लाकर छोड़ दिया था, हम उसे भी कीलन ही कह सकते हैं। इस तरह १९३३ में न्यूजीलैंड के पाउण्ड और ब्रिटेन के पौंड में जो सम्बन्ध स्थिर हुआ था वह यह था—न्यूजीलैंड का १२५ पाउण्ड = १०० पौंड (या न्यूजीलैंड का १ पाउण्ड = १६ शिलिंग) स्टर्लिंग। इसके ठहराये जाने के कई साल बाद तक बाजार में न्यूजीलैंड के पाउण्ड की कीमत अधिक मिल सकती थी पर न्यूजीलैंड सरकार ने अपनी मुद्रा के अल्पमूल्य-धारण के लिए उसे इसी दर पर लाकर मानो कील दिया था।

कालन में, चाहे वह उठे हुए मूल्य के सम्बन्ध में हो अथवा गिरे हुए मूल्य के सिलसिले में, दर का निश्चयीकरण होता है। कम से कम लम्बी अवधि तक के लिए दर निश्चित हो जाती है। परन्तु हस्तक्षेप में आवश्यक नहीं है कि दर का निश्चयीकरण हो। उदाहरणार्थ, कोई सरकार अपनी मुद्रा को उठाने अथव गिराने के लिए निश्चित दर करने की चेष्टा किये बिना हस्तक्षेप कर सकती है। पर इस काम का उद्देश्य और विधि भा वही है और हमलोग कीलन को भी हस्तक्षेप का ही एक प्रकार मान सकते हैं।

यदि कोई सरकार अपनी मुद्रा को स्वतंत्र बाजार में उठने वाली दर से ऊंची दर पर कील देती है तो परिभाषा के अनुसार इससे यह होगा कि बाजार में उस मुद्रा की विनिमय-मांग उस दर पर पूर्ति से कम हो जायगी। अगर सरकार पूर्ति रोकने को तैयार न हो [जिसका अर्थ स्वतंत्र बाजार की कार्यवाही में हस्तक्षेप करना हुआ और इसलिए इसे 'रोक' या 'बंधेज' (restriction) कहेंगे जिसकी चर्चा आगे करेंगे] तो इसे बाजार में उस मुद्रा की इतनी मांग रखनी चाहिये कि उस कील की हुई दर पर सम्पूर्ण पूर्ति वह उठाये। १९१४-१८ के महायुद्ध के समय ब्रिटेन की सरकार ने अपने पौंड का बाजार-दर से ऊंची दर पर 'कीलन' किया था पर साथ ही उस समय उसे इस बात के लिए तैयार रहना पड़ता था कि बाजार में जो पौंड आ जाये और जो बाजार के अन्य लेने वाले न ले सकें उन्हें वह ले लेगी और इसके लिए विदेशी मुद्रा देगी। इसकी

विपरीत दिशा में नीचे दाम पर कीलन की स्थिति में सरकार को बाजार की जरूरत पूरी करने को तैयार रहना पड़ता है यानी बाज़ार में जितनी मांग हो उतनी मुद्रा उसे जुटा कर देनी और उनके लिए विदेशी मुद्रा लेनी पड़ती है। इसलिए नियम यह हुआ कि जो सरकार दर को उठाकर कीलन करना चाहे उसे बाजार में आये हुए सभा पौंडों को उठी हुई दर में लेकर उसके बदले विदेशी मुद्रा तैयार रखनी चाहिये और जो सरकार नीची दर में कीलन करना चाहे तो इसी तरह उसे भी जितना पौंड बाज़ार चाहे देनें और उनके एवज में विदेशी मुद्रा लेने को तैयार रहना चाहिये। और दोनो को इस बात की भी तैयारी कर लेनी चाहिये कि यह क्रम दीर्घकाल तक चलाया जायगा। अगर वे रोक या बंधेज की कार्रवाई न करें और अगर ऐसा न कर सकेंगे तो अपनी मुद्रा पर नियंत्रण रखने का उनका उद्योग सफल न होगा।

इसलिए हस्तक्षेप द्वारा विनिमय पर शासन करने की सरकारी क्षमता बिलकुल इस बात पर निर्भर करता है कि उसके पास इस काम में लगने की सीमा तक साधन या मुद्रा-संचय है या नहीं। ऊंची दर पर कीलन की दशा में सरकारी क्षमता का जो सवाल पैदा होता है उसकी सीमा कुछ संकुचित है क्योंकि उस दशा में सरकारी क्षमता विदेशी मुद्रा का आकार लेती है। १९१४-१८ में पौंड का जो डालर के साथ कीलन किया गया उस समय ब्रिटिश सरकार की यह क्षमता थी कि उसे जितनी आवश्यकता हो वह अमेरिका से डालर कर्ज ले सकती थी और ब्रिटेन के कल-कारखानों और व्यक्तिगत जनता के पास भी जो डालर की सिक्यूरिटियां थीं वह उन्हें इकट्ठा कर सकती थी। (१९३९-४५ के युद्ध-काल में जो युक्ति की गयी उससे भी पौंड-डालर-सम्बन्ध की एक दर निश्चित हो गयी थी पर वह युक्ति तो उस हस्तक्षेप से भी और आगे बढ़ी हुई थी जिसका उदाहरण ऊपर दिया गया है।) सिवा कठिन आवश्यकता के सरकार विदेशों से अपनी मुद्रा को सहारा पहुंचाने के उद्देश्य से बराबर भारी-भारी रकमें कर्ज नहीं लिया करती। सरकार ऐसा करे तो तुरत उनकी साख उठ जायगी क्योंकि कोई

कारण नहीं है कि ऐसे अनुत्पादक कार्य के लिए कोई देश बराबर कर्ज लेता जाय फिर भी उसकी साख कायम रहे। ऋण लिया जा सकता है (या खानगी जनता की विदेशी सिक्युरिटियां बंधक रख ली जा सकती हैं) थोड़े दिन की आवश्यक परिस्थिति संभालने को अथवा खास-खास मौकों के लिए। (क) परन्तु इन मामलों के अतिरिक्त भी कोई सरकार अपनी मुद्रा के विनिमय-मूल्य का कीलन कर सकती है यदि उसके पास काफी विदेशी मुद्रा का संचय हो और तब भी यह कार्रवाई तभी तक चल सकती है जब तक उसके पास वह संचय है—अनन्त काल तक के लिए यह युक्ति नहीं चलने की। अल्पमूल्य-कीलन करने (pegging down) में जो बखेड़ा है वह पहली नज़र में आसान मालूम नहीं पड़ता क्योंकि इस काम के लिए भी जिस क्षमता की आवश्यकता है वह यही है कि इसमें राष्ट्र के पास अपनी मुद्रा का प्रभूत संचय रहे। जो देश अपनी मुद्रा को कम मूल्य पर कील रहा है वह विदेशी मुद्रा प्राप्त कर रहा है, उसे खो नहीं रहा है। परन्तु इसकी भी सीमा है। यह सच है कि कोई सरकार अपने पास जितनी निधि अपनी मुद्रा का रख सकती है, उतनी वह विदेशी मुद्रा की नहीं रख सकती। पर यह संचय इन तीन उपायों द्वारा ही हो सकता है—कर लगाकर, जनता से ऋण लेकर अथवा नयी मुद्रा बनाकर (या तो केन्द्रीय बैंक से कर्ज लेकर या केवल कागज छाप-छापकर)। कर को तो हम लोग छांट ही दें—बहुत कम जनता ऐसी होगी जो विदेशों में पावना जमा करने के लिए लगातार कर-भार बरदाश्त करती जायगी। इससे कुछ अधिक संभव युक्ति ऋण लेना है।

(क) जैसे कि किसी मुद्रा के ऐसी दर पर स्थिरीकरण के लिए जिसमें पहले तो सहारे की जरूरत हो पर पीछे थोड़े ही संक्रमण काल के बीतने के पश्चात इस मुद्रा-दर को कायम रखने में किसी हस्तक्षेप की आवश्यकता न हो। १९२४ और २८ के बीच यूरोपीय देशों की मुद्राओं के स्थिरीकरण में प्रायः हर बार एक ऋण लेना पड़ जाता था अथवा विदेशी विनिमय के ऋण का वादा करना पड़ता था जिससे कि शुरू-शुरू में नयी दर को कुछ सहारा दिया जा सके।

सिद्धान्त-रूप में सरकार के लिए अपनी ही जनता से ऋण लेना आसान हो सकता है, उस धन से वह अपनी मुद्रा के अल्पमूल्य-धारण को कील सकती है और इस उपाय से जो विदेशी मुद्रा प्राप्त हो उसका इस तरह उपयोग करे कि उससे इतनी आमदनी हो कि अपने ऋण के धन का व्याज वह अदा कर सके। यह प्रक्रिया वास्तव में बहुत बड़ा आयतन ले सकती है। १९३२ और १९३७ के बीच में ब्रिटेन की सरकार ने अपने ही बाजार में सोना खरीदने या विदेशी मुद्रा लेने के लिए ५५ करोड़ पौंड से कम ऋण नहीं उठाया। पर ऋण-प्राप्ति बहुत ज्यादा नहीं चल सकती है। इसका अर्थ धीरे-धीरे पहाड़-सा बढ़ने वाला भीतरी ऋण होता है और इससे सरकार की भी चिंता बढ़ती जाती है कि बढ़ते हुए विदेशी मुद्रा-कोष को लगाने के लिए सुरक्षित और पक्का एवं लाभकारी सूत्र खोजा जाय। तीसरी युक्ति अर्थात नवीन मुद्रा-सृजन भी एक व्यावहारिक सीमा रखता है। इस तरह से जो मुद्रा बनेगी सरकार तो तुरत उसका इस्तेमाल विदेशी मुद्रा खरीदने में करेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि यह मुद्रा विदेशी मुद्रा बेचने वालों के हाथ पर रख दी जायगी और तुरत ही चलन-चक्र (circulation) में सम्मिलित होकर वर्तमान मुद्रा-पूर्ति को और बढ़ा देगी। दूसरे शब्दों में यह मुद्रा-स्फीति को चालू कर देगी। अब मुद्रा के अल्पमूल्य-कीलन (pegging down) करने का जहां तक सम्बन्ध है, इस स्फीति से उसमें लाभ ही होगा क्योंकि मूल्य की कुछ भी वृद्धि होने से मुद्रा का संतुलन नीचा होगा और फिर यह जरूरत ही नहीं रह जायगी कि मुद्रा के मोल की घटती को स्थायी करने के लिए कीलन-विधि का सहारा लेना पड़े। इस तरह अगर सरकार की इच्छा यह न हो कि मुद्रा का अल्पमूल्य-धारण चिरस्थायी हो, वह यदि चाहे कि एक वार कम कर के इसकी मुद्रा का संतुलन स्थापित कर दिया जाय, तो इस युक्ति में कई सैद्धान्तिक आकर्षण हैं। परन्तु यदि अल्पमूल्य-धारण का सहारा इस उद्देश्य से लिया जाय कि मुद्रा का मूल्य स्थायी रूप से कम कर के संतुलित मूल्य (equilibrium rate) से कम पर रख दिया जाय और जब कभी संतुलित दर में और स्खलन हो

उसे और घटा दिया जाय तो इससे एक भयंकर आन्तरिक स्फीति के प्रवाहित हो जाने का डर रहेगा। १९३९-४५ के महायुद्ध में दोनो दल वालों को हमेशा स्वीडन के सिक्के क्राउन (crown) की आवश्यकता रहा करती थी। अगर इसको छूट दे दी जाती तो इसका मूल्य बहुत ऊंचा हो जा सकता था पर स्वेडिश .सरकार ने अच्छा समझा कि इसका कीलन कर के नीचा ही रखें पर इससे देश में जो स्फीति आ गयी उसके कारण वे लोग कम परेशान नहीं हुए।

इसलिए अल्पमूल्य-कीलन में उतनी सख्त पाबन्दी नहीं है जितनी अधिक-मूल्य-कीलन में। परन्तु फिर भी यह एक खर्चीला और परेशान करने वाला काम है और खास कर उस देश के लिए जो इसे कुछ स्थायी तौर पर लागू करता है। इससे हमलोग यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हस्तक्षेप अस्थायी रूप से सम्भव है, स्थायी रूप से नहीं। यह निष्कर्ष अधिकमूल्य-धारण और अल्पमूल्य-धारण दोनो प्रकार के हस्तक्षेप के सम्बन्ध में सही माना जा सकता है परन्तु इसमें पिछले की अपेक्षा पहले में प्राविधिक कठिनाइयां (technical difficulties) अधिक हैं और वे कड़ी भी हैं।

अब कुछ थोड़ा-सा उस हस्तक्षेप के विषय में भी कहना चाहिय जो विनिमय-दर की ह्रास-वृद्धि को रोकने के उद्देश्य से किया जाता है। इस नीति में कभी तो अधिकमूल्य-धारण की आवश्यकता पड़ती है और कभी अल्पमूल्य-धारण की। (क) इस कारण जो सरकार इस नीति को लागू करना चाहती है उसके पास साधन यह होना चाहिये कि कभी तो उसके हाथ में प्रभूत विदेशी मुद्रा का संचय हो और कभी अपनी मुद्रा का। इस नीति का सर्वाधिक प्रसिद्ध उदाहरण ब्रिटेन की सरकार का 'विनिमय-समानीकरण खाता' (Exchange Equalization Account) है जो इसने १९३२ में चालू किया था। खाता शुरू होने के लिए सरकार ने पहले

(क) इसके मानी यह है कि अधिकमूल्य-धारण या अल्पमूल्य-धारण उस दर के मुकाबिले जो स्वतन्त्र बाजार-दर में निश्चित हो। पृष्ठ ३०९की पाद-टिप्पणी देखिये।

ब्रिटेन की जनता से बहुत धन पौंडों में ऋण लिया। (क) इससे वह पौंड की कीमत गिराये रखने में समर्थ हुई। पर इसे उठाने में वह समर्थ न हो सकी। परन्तु पौंड को नीचा रखने की प्रक्रिया में उस खाते के लिए विदेशी मुद्रा का स्टाक प्राप्त किया गया (या सोना जमा किया गया जो विदेशी मुद्रा में परिवर्तनार्थ रखा गया था)। खाता चालू होने के पहले एक-दो महीने तक इस खाते में अच्छे परिमाण में विदेशी मुद्रा का संचय हुआ। पर १९३२ के शरद के अंत में ही पौंड के विरुद्ध ऐसा जबर्दस्त प्रवाह आया कि विदेशी मुद्रा का यह स्टाक पौंड को ऊंचा रखने की चेष्टा में खप गया। और जब यह खप गया तो फिर इस खाते के वश की बात नहीं रही कि वह पौंड को आगे गिरने से बचाये। १९३३ के बसन्त काल में प्रवाह एक बार फिर पलटा और इस खाते के द्वारा पौंड को उस हिसाब से उठने से रोक कर, जैसा कि स्वतन्त्र बाजार में यह उठ जाता, इस निधि के विदेशी मुद्रा-कोष को फिर पूरा कर लिया गया।

इस प्रकार हस्तक्षेप की नीति को यदि सफल बनाना हो तो इसमें आवश्यक है कि न तो अधिकमूल्य-धारण और न अल्पमूल्य-धारण की नीति को बराबर अपना कर रखा जाय। अगर ऐसा न हो, अगर विनिमय-समानीकरण खाता को पौंड के नीचा रखने की अपेक्षा ऊंचा रखने में अधिक जोर लगाया जाय तो विदेशी मुद्रा का स्टाक शेष हो के रहेगा और इसका उलटा किया जाय तो देशी मुद्रा का अभाव पड़ेगा। इससे यह निकलता है कि ह्रास-वृद्धि रोकने के उद्देश्य से किया गया हस्तक्षेप मुद्राओं के बीच का जो संतुलित मूल्य (equilibrium rate) है उसके आधारभूत तत्वों को विनिमय की बाजार-दर में परिलक्षित होने से रोक नहीं सकता। यह इतना ही कर सकता है कि दैनन्दिन, कमोवेश आवशेमय और दुस्साहसपूर्ण ह्रास-वृद्धि को दूर किये रह

(क) पहले यह ऋण १५ करोड़ पौंड था जो १९३३ में बढ़कर ३५ करोड़ पौंड हो गया और पीछे ५५ करोड़। इस खाते की तहवील में शुरू-शुरू में २½ करोड़ पौंड की विदेशी मुद्रा भी थी।

सकता है जो बड़े-बड़े फाटका के रोजगारों (speculative market) की खास प्रकृति है ।

इस तरह से हस्तक्षेप की संभावनाएँ सीमित हैं । स्थायी नीति जो निश्चिन्तता पूर्वक धारण की जा सकती है वह मामूली ह्रास-वृद्धि को रोकने का मामूली-सा काम है। स्थायी अधिकमूल्य-धारण और अल्पमूल्य-धारण की जान-बूझकर स्थापना के लिए यदि हस्तक्षेप किया जाय तो उसकी शक्ति इतनी सीमित है कि वह अस्थायी रूप में ही संभव हो सकता है । इसके अतिरिक्त यह नीति बहुव्ययी भी है और विनिमय पर प्रभाव डालने के इसके तात्कालिक फल के अतिरिक्त यह इस क्षेत्र से बाहर बुरा आर्थिक परिणाम पैदा करता है ।

विनिमय की रोक-छेंक

EXCHANGE RESTRICTION

हाल के हलचलों में, और खासकर १९३९ के महायुद्ध के श्रीगणेश के बाद, कई देशों के लिए हस्तक्षेप की नीति विनिमय-नियंत्रण के लिए कमजोर युक्ति साबित हुई है और तब उन देशों ने इससे अधिक प्रबल युक्ति रोक-छेंक की लगायी है । दोनो युक्तियों का मौलिक प्रभेद यह है कि जो सरकार हस्तक्षेप की नीति बरतना चाहे उसे विदेशी मुद्रा-बाजार में खरीद-बिक्री करके बाजार के व्यापार का परिमाण बढ़ाना चाहिये और ऐसा करने के लिए बहुत विदेशी मुद्रा-संचय उसके पास रहना चाहिये अथवा उसे संचित करने की व्यवस्था करनी चाहिये जिसमें किफायत खर्च नहीं है । उधर रोक-छेंक की प्रक्रिया में मुद्रा-बाजार की मांग-पूर्ति में कृत्रिम बढ़ोत्तरी करने की आवश्यकता नहीं है पर इसमें मुद्रा-बाजार में पहुंचने वाली मुद्रा की पूर्ति को बाध्यता पूर्वक रोकने की व्यवस्था करनी पड़ती है। कुछ तरह के लोग जो विदेशी मुद्रा के विनिमय में देशी मुद्रा दे सकते हैं वहां कारबार नहीं करने दिये जा सकते हैं। यों कृत्रिम रूप से पूर्ति को

मांग से कम रखने का कोशिश की जाती है और यों मुद्रा का मोल कायम रखा जाता है। (क)

यदि हम पक्की परिभाषा लें तो कह सकते हैं कि विदेशी विनिमय-बाजार के कारबार को जो युक्ति घटा दे वही रोक-छेंक हुआ। इसमें टेरिफ और आयात का भाग-निर्धारण (import quota) भी है जो आयात को रोक कर भुगतान के लिए मुद्रा-बाजार में पहुंचने वाले मुद्रा के परिमाण को घटा देते हैं। इसके भीतर उस तरह के अनुरोध को भी लेना चाहिये जैसा कि ब्रिटेन की सरकार ने युद्ध के दिनो में ब्रिटेन की जनता से किया था कि सिवाय माल के दाम चुकाने के, सर पर पड़े हुए ऋण चुकाने के, या आवश्यक विदेशी भ्रमण के लिए खर्च मुहय्या करने के वे अन्य मदों में विदेशी मुद्रा की खरीदारी बंद कर दें। इसके अंदर वह काम भी आता है जो ब्रिटिश सरकार ने लंदन के पूंजी-बाजार में विदेशी ऋण जारी होने से रोकने के लिए समय-समय पर किया था। पर हमलोग इन युक्तियों को छोड़ कर और सीधा रोक के जो उपाय किये जाते हैं उनपर ही विचार करें तो यह विषय कम गोलमालकारी रहेगा। इस हिसाब से तीन काम हैं जिन्हें विशुद्ध तरीके की रोक-छेंक कह सकते हैं। पहला, विदेशी मुद्रा का सारा व्यापार सरकार अपने हाथों में ले लेती है अथवा अपने किसी एजेन्ट को दिलवा देती है। दूसरा, किसी भी दूसरी मुद्रा के विनिमय में अपनी मुद्रा देने के लिए सरकार से अनुमति लेनी पड़ती है और तीसरा, यह कि जो कोई व्यक्ति बिना सरकारी अनुमति के विनिमय-व्यापार करता है वह दोषी ठहराया जाता है और उसे सरकारी एजेन्सी के मारफत ही काम करना पड़ता है।

(क) सिद्धान्त-रूप में यह सम्भव है कि कोई सरकार अपनी मुद्रा की माँग पर रोक लगाकर उसका अल्पमूल्य के स्तर पर रख ले। पर इसमें बहुत-सी व्यावहारिक कठिनाइयां हैं (उदाहरणार्थ इसमें सरकार द्वारा अपने निर्यात-उद्योग को अपने निर्यात की अदायगी लेने की मनाही भी सम्मिलित है); और किसी भी अवस्था में इस की चेष्टा की गयी या नहीं, यह सन्देहात्मक है, अतः हम इसे छोड़ भी सकते हैं।

इस अर्थ में विनिमय की रोक-छेंक सब से पहले (रूस से बाहर) जर्मनी और आस्ट्रिया में देखने में आयी जब १९३१ में इन देशों में अर्थ-संकट आया हुआ था। १९३९ में महायुद्ध-प्रारम्भ के काल तक विनिमय की रोक-छेंक को खूब कड़ा कर के लागू रखने में जर्मनी ही अग्रगण्य रहा। जर्मनों ने ही इस विषय की बारीक से बारीक युक्तियों को निकाला और उन्हें कड़ाई से लागू किया। इस जमाने में जर्मनी में विनिमय-नियमों का उल्लंघन करने वाला मृत्युदंड का अपराधी ठहराया जाता था। जब तक महायुद्ध नहीं छिड़ा था तब तक विनिमय की रोक-छेंक केन्द्रीय यूरोप और दक्षिण अफ्रिका के दो ही गुट के देशों तक सीमित रखी गयी थी। लड़ाई छिड़ जाने पर तो फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन और ब्रिटिश उपनिवेशों ने भी यह रोक-छेंक लगायी, जिसका अनुसरण कुछ तटस्थ देशों ने किया और अंत में युद्ध की समाप्ति तक तो संसार में ऐसा कोई भी देश नहीं बचा जिसमें कमोवेश रोक-छेंक नहीं लगायी गयी हो। जिस समय उपस्थित वर्णन लिखा जा रहा है (मूल अंग्रेजी पुस्तक) यानी १९४७ के अप्रैल मास तक, ऐसे देश जो बिना सरकारी अनुमति के अपनी मुद्रा को किसा भी विदेशी मुद्रा के साथ अपनी स्वतंत्र इच्छा से बदल सकें, उंगली पर गिने जाने योग्य ही हैं। विनिमय की रोक-छेंक के अनेक विभेद हैं और उनके ढंग भी असाधारण। यदि सब प्रभेदों का वर्णन करने और नाम देने की चेष्टा की जाय तो वह समझ में आने योग्य नहीं रह जायगा। इसी लिए यहां पर वैसी चेष्टा न कर के हम इस विषय के मुख्य सिद्धान्तों का जिक्र करेंगे और मुख्य-मुख्य ढंगों को चुन कर उनके स्वरूप और उद्देश्यों का वर्णन करेंगे।

पहले-पहल १९३१ में केन्द्रीय यूरोप में यह रोक-छेंक चालू की गयी कि विनिमय के लिए मुद्रा-बाजार में राष्ट्रीय मुद्रा की जो मांग होती थी उसको पूर्ति के मुताबिक कम कर के विनिमय-मूल्य में भयानक ह्रास की प्रवृत्ति को रोका जाय। १९३१ के पहले ये देश अन्य देशों से बराबर ही भारी-भारी रकमें कर्ज लिया करते थे। इन देशों को इस ऋण का न केवल भारा ब्याज अदा करना पड़ रहा था प्रत्युत बहुत-से ऋण जो अल्पावधि वाले थे उनके भुगतान की मांग भी

शीघ्र ही होने वाली थी और यहा हुआ भी। १९३१ में जो मुद्रा-संकट हुआ उसमें हर एक देश ने झट से अपने अल्पावधि वाले ऋण वापस मांगे। इस कारण मुद्रा-बाजार में मार्क (marks), क्राउन (crowns), पेंगू (pengos) एवं अन्य मुद्राओं का ज्वार-सा, न केवल ब्याज की अदायगी में आया वरन कुछ-कुछ असल में भी। इसके अतिरिक्त यह बात उस समय हुई जब कि इन मुद्राओं की मांग जो निर्यात की कीमतों के रूप में उपजी थी, मूल्यों के भीषण ह्रास और अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक मन्दी के कारण बहुत घट गई थी। ऐसी अवस्था में उस समय यदि कुछ नहीं किया जाता तो इन मुद्राओं का विनिमय-मूल्य घट कर मिट्टी हो जाता। परन्तु फिर भी सन्देह है कि इस मूल्य-स्खलन से सन्तुलन स्थापित होता या नहीं क्योंकि पहली बात तो यह है कि ये ऋण डालर या स्टर्लिंग में लिये गये थे इसलिए यदि मार्क की कीमत गिरती तो ऋण-शोध अथवा ब्याज की अदायगी में अधिकाधिक मार्क देने पड़ते और इस तरह मार्क की पूर्ति उसके मूल्य की गिरावट के साथ-साथ बढ़ती ही जाती। दूसरी बात यह कि जिस तरीके से साधारणतः विनिमय-दर का परिवर्तन संतुलन लाता है वह यह है कि उन लोगों को जो विनिमय में देशी मुद्रा देने के लिए प्रस्तुत होते हैं, ऐसा करने से राक दिया जाता है। पर इस उपस्थित मौके पर यह सन्देह था कि देनदारों को शायद रोका न जा सकता यद्यपि उन्हें वह संरक्षण दिये जाने की बात थी जिसका जिक्र किया गया है। वे आसन्न आर्थिक विपत्ति से घबड़ा रहे थे और इसीलिए अपने देश का चमड़ा उधेड़ रहे थे। इसमें कोई नफा-नुकसान का जोड़ा-तोड़ा हुआ हिसाब नहीं था। और इस अवस्था में विनिमय के मूल्य-ह्रास को यदि स्वीकार कर लिया जाता तो उनका भय और भी पक्का हो जाता। फिर भी, जर्मनी की मार्क-स्फीति की समाप्ति को ८ वर्ष से भी कम ही हुआ था और लोगों को यह मानना सिखाया गया था कि उस तरह की विपत्ति से बचने का एक मात्र उपाय यह है कि अपनी मुद्रा के एक निश्चित स्वर्ण-मूल्य को पक्की तरह से पकड़ कर चलना चाहिए। इन कारणों से केन्द्रीय यूरोप के देश इस निश्चय पर पहुंचे कि

उन्हें विनिमय-दर को कायम रखना और उस हद तक अपनी मुद्रा को बाजार में न आने की बाध्यतामूलक व्यवस्था करना है, जहां तक उसके निश्चित मूल्य में बाजार में उसकी खपत हो जाय, मूल्य गिरे नहीं। इस व्यवस्था में पहली चीज यह थी कि विदेशी पूंजी की वापसी पर प्रतिबन्ध (prohibition) लगाया जाय। कुछ हालतों में जर्मनी, आस्ट्रिया या हंगरी को देनदार के ऋण की वापसी की मांग पर या उसकी अवधि पूरी हो जाने पर ऋण-परिशोधन से छूट नहीं दी गई पर यह नियम बना कि यह ऋण-परिशोध लेनदार के पास न भेज कर देश के केन्द्रीय बैंक में उसके नाम पर जमा कर देना होगा। यह रकम विदेशी मुद्रा में तबदील नहीं हो सकती थी अर्थात एक प्रकार से इस रकम को जाम (blocked) कर दिया गया था।

जहां ऋण-परिशोध का सवाल न होकर माल के आयात-निर्यात की खरीदारी और बिक्री के सन्तुलन का प्रश्न था वहां भी यही छौ-पांच उठ खड़ा हुआ। उदाहरण के लिए कोई भी देश हो सकता है, जो ऐसी ही दो-एक चीजों का निर्यात करता हो, जिसकी मांग मन्दी के दिनों में प्रायः हो ही नहीं और उसे अपने यहां खपत के लिए बहुत-सी चीजों का आयात करना पड़ता हो, साथ ही उसे पिछले ऋणों का ब्याज भी भरना पड़ता हो। (मन्दी के दिनों में दक्षिण अफ्रिका के कई देशों का यही हाल था।) इस अवस्था में विनिमय-दर को बहुत आगे बढ़कर जाने की जरूरत होगी जिससे कि निर्यात पर्याप्त रूप से बढ़े और आयात को यथेष्ट रूप से काटना पड़ेगा। तब जाकर संतुलन कायम हो पायेगा। इन परेशानियों की अपेक्षा आसान है कि ऐसे ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सीधी तरह से विनिमय के काम पर रोक-छेंक लगा दी जाय।

जब देश किसी लड़ाई में लग जाता है तब भी यही आवश्यकता पड़ती है। जिस समय १९३९ में ब्रिटेन और फ्रान्स ने अपने यहां विनिमय पर रोक-छेंक लागू की, उनका मुख्य उद्देश्य यह नहीं था कि उनके देश से जिन देशों को ऋण-परिशोध लेना था उनका ऋण समाप्त हो जाय। इसके प्रतिकूल उन दिनों बहुत-से विदेशी

महाजनों का तो सारा कर्ज चुका भी दिया गया था। परन्तु दोनो देशों ने यह देखा कि जब तक युद्ध चलता रहेगा, उन्हें यह कठिनाई रहेगी ही कि अपनी आवश्यकता के अनुरूप उन्हें यथेष्ट विदेशी मुद्रा प्राप्त होती रहे। उन्होंने देखा कि इन दिनों तो अपने निर्यात को कायम रखने में उन्हें भारी परेशानी होगी और उसपर उन्हें बहुत-से गोले-बारूद का आयात करना होगा (यह स्मरण रखना चाहिए कि युद्ध प्रारम्भ होने के समय से १८ महीनों तक अमेरिकी सामान केवल 'नगद' खरीदे जा सकते थे, उधार-पट्टा का कानून तो बहुत पीछे चल कर हुआ था)। विनियम पर रोक-छेंक का प्रथम उद्देश्य यह था कि इन देशों के सुवर्ण-कोष और विदेशी मुद्रा-निधि को बचाया जाय, उन लोगों के डालर की पूर्ति में यह निधि न लग जाय जो अपनी पूंजी सुरक्षा के विचार से अमेरिका भेज देने के लिए अधिक से अधिक देशी मुद्रा देकर भी डालर लेना चाहते थे और यह कि डालर जैसी बहुमूल्य मुद्रा को—चाहे वह हाल की कमाई का हो, चाहे एकत्रित सुरक्षित कोष का हो, चाहे ब्रिटेन के नागरिकों से लिये गये डालरों की पूंजी का जमा हो, अथवा सोना बेचने से मिला हुआ डालर हो—केवल बहुत आवश्यक सामान की खरीद के लिए ही सुरक्षित रखा जाय।

✓ चाहे जिस किसी अवस्था में विनिमय पर रोक-छेंक लगाई जाय इसका उद्देश्य सदा यही होता है कि दूसरी मुद्राओं में परिवर्तित होने के लिए देशी मुद्रा की जो पूर्ति बाजार में आती है उसके परिमाण में कमी हो और यह रोक-छेंक यों लगायी जाती है कि विनिमय-बाजार के किसी-किसी तरह के काम को बन्द कर दिया जाता है। जो धन इस तरह परिवर्तित होने से बचा लिया जाता है वह यदि देश की जनता का हुआ अथवा उस देश में स्थायी अथवा अस्थायी निवासियों का हो, तब परिवर्तन रुक जाने पर वह देश में ही व्यय होता है, विनियोग पर उठ जाता है या और किसी तरह व्यय होता है। इसमें धन का स्वामी उस धन से अन्य कोई नफा का काम कर लेता है। बस, इससे इतना ही होता है। पर देशी मुद्रा अर्पण करने वालों में विदेशी भी तो हो सकते हैं। ✓ १९३१ में विनिमय-नियन्त्रण (exchange control) विदेशियों को अपनी पूंजी खींचने से रोकने के लिए पहले-

पहल लागू हुआ। नियन्त्रण की दूसरी रीतियों में यह भी है कि विदेशियों द्वारा जो माल भेजा गया उसकी कीमत भी जाने से रोकी जा सकती है। यह और भी गम्भीर बात है। विदेशी, अथवा निष्कासित और शरणार्थी भी उस देश में आकर अपना वह धन खर्च नहीं कर सकते हैं जिसे जमाकर दिया गया हो—उन्हें केवल उसी देश की मुद्रा के इस्तेमाल का अधिकार है। हिटलर जिन दिनों यहूदियों का जर्मनी में उच्छेद कर रहा था उन दिनों कई लन्दन में आये हुए यहूदियों ने देखा, जर्मनी में उनके लाखों रुपये जमा थे पर फिर भी लन्दन में उनके भूखों मरने की नौबत थी। इसलिए जमा रुपयों के विदेशी स्वामी यह अच्छा समझते हैं कि अपने जमा को कुछ बट्टा (discount) देकर भी बेच दें अगर ऐसा करने से उनकी रकम निकल आवे।

प्रायः हर एक रोकी-छेंकी मुद्रा, इस तरह से किसी न किसी अवसर पर सरकारी दर से कम दर पर खरीदी और बेची गयी है। साधारणतः इस तरह का सौदा नाजायज है, यह चोर बाजार में चलता है और वे लोग जो कि इस कारबार में लगे होते हैं अपने को भारी दण्ड-भागी बनाते हैं। यह समझना आसान है कि अधिकारी क्यों इस व्यापार को टेढ़ी नजर से देखते हैं। हर एक मुद्रा-सम्बन्धी कारबार एक विनिमय मात्र है और अगर पौंड चोर बाजार में सस्ता मिलता है, तो कोई न कोई तो उसे विनिमय में कोई विदेशी मुद्रा देकर खरीद ही लेगा। अब जो खरीदेगा उसे उसकी आवश्यकता होगी तभी वह खरीदेगा। अगर वह चोर बाजार में उसे सस्ती दर पर न पा सके तब उसे लाचार होकर खुले बाजार में आना होगा और उसे सरकारी दर पर खरीदना होगा और इस अवस्था में वह जो विदेशी मुद्रा देगा वह सरकार के हाथ लगेगी और सरकार उसका उपयोग करेगी। पौंड की हर एक चोर बाजारी खरीद-फरोख्त पौंड की वास्तविक आवश्यकता पर ही होती है और चूंकि पहली बात रोक-छेंक लगाये जाने की यह है कि बाजार में उस दर पर पौंड की मांग पूर्ति की अपेक्षा कम हो गयी, जिस दर पर सरकार उसे रखना चाहती है, नतीजा यह निकलता है कि पौंड की भी यदि चोर बाजारी होनी शुरू हुई तो इससे सरकार का काम और भी कठिन हो जायेगा।

चोरबाजारी को रोकने के प्रयत्न में कभी-कभी अधिकारियों को विदेशी जामशुदा (blocked) पूंजी के सम्बन्ध में और भी कड़े उपाय काम में लाने पड़ते हैं। पहले विदेशियों से यही कहा जाता है कि वे देशी मुद्रा को विदेशी से विनिमयकृत करने के लिए अर्पित न करें और उससे देश के भीतर चाहे जिस तरह से व्यय होने में लगा दें। पर इस रोक-छेंक से चोर बाजार और बढ़ता ही है। कल्पना करें कि अ नाम के किसी अमेरिकी का धन लंदन में 'जाम' कर दिया गया है। उसका मित्र ब छुट्टी मनाने लंदन जा रहा है। अब इससे सरल तरीका क्या होगा कि अ अपना जाम किया गया रुपया ब के नाम पर चढ़ा दे कि वह लंदन में उसमें से खर्च करे और उसके बदले अ अमेरिका में ब से डालर ले ले। परन्तु इसका अर्थ यह हुआ कि ब ब्रिटेन की सरकार को अब एक भी खरा मोहरा डालर पौंडों के एवज में न देगा जो वह खर्च करेगा। ऐसे ही कारणों से रकम जाम के मद में धीरे-धीरे साधारण रुकावट (prohibition) से लेकर कड़े से कड़ा विनिमय-नियन्त्रण तक आ गया है।

फिर भी ऐसे मौके हुए हैं कि चोर बाजार के मूल्य पर अधिकारियों द्वारा आक्षेप हुआ है। यों १९४० के प्रारम्भ में ब्रिटेन की सरकार ने जाम हुए पौंड-पावना वाले विदेशी मालिकों को यह अनुमति दे दी कि वे अपना पावना अन्य विदेशियों के नाम कर दें और इसके बाद जाम हुए पौंड-पावनाओं का एक बाजार ही अमेरिका में खुल गया जहां १० प्रतिशत या सरकारी दर से और भी नीची दर पर पौंड-पावने की खरीद-बिक्री शुरू हुई। इस अनुमति का कारण यह है कि सरकार ने उन विदेशियों को अपना पावना सरकार को कुछ कमीशन देकर वसूल लेने का अवसर देना अपनी साख बचाने के लिहाज से अच्छा समझा जिनका रुपया युद्ध के कारण इधर ही फंस गया था। यह कमीशन सरकारी दर से नीची दर पर पौंड की बिक्री करके सरकार को दे सकते थे। किन्तु कई कारणों से इस बाजार की पौंड-पूर्ति धीरे-धीरे घटती गयी और अन्त में एकदम रुक ही गयी।

कभी-कभी जिस देश में विनिमय पर रोक-छेंक लगायी जाती है वहां की सरकार स्वयं यह बताती है कि कौन-सा पावना किस मद में लगाया जायगा और वही यह भी निश्चित कर देती है कि वहां की मुद्रा विदेशी मुद्रा पर कितने बट्टे से बिकेगी। महायुद्ध के पहले जर्मन-सरकार ने ऐसा ही किया था और पिछले वर्षों में समय-समय पर कई तरह के जर्मन सिक्के जैसे कि रजिस्टरमार्क (Registermarks), ब्लौकमार्क (Blockmarks), एफेक्टेनेस्पर्रमार्क (Effektenspermarks), सोंडरमार्क (Sondermarks), हैंडेल्समार्क (Handelsmarks), डीगोमार्क (Degomarks) आदि इसी ढंग से लंदन के बाजारों में २ पेंस से १ शिलिंग ९ पेंस तक के दामों पर बिके हैं।

इस तरह बट्टा लेकर फण्ड देना शायद पहले-पहल विदेशी महाजनों के दबाव और उन्हें कुछ खास सुभीता देने के विचार से शुरू किया गया। परन्तु शीघ्र ही सरकारों की समझ में यह बात आ गयी कि इस तरीका में, जिसका व्यावहारिक रूप यह है कि एक ही मुद्रा के दो बिलकुल विभिन्न मूल्य हो जाते हैं, उन्हें कुछ सुविधा भी रहती है। जब विदेशी महाजन देशी पावना बेचते हैं और कम दाम में बेचते हैं तो उन्हें कौन खरीदता है? और किस मतलब से खरीदता है? अगर यह सिक्का, मान लें कि मार्क, खरीदने वाला कोई वह आदमी है जो जर्मनी से मंगाये गये सामानों का मूल्य चुकाने के लिए मार्क खरीदता है और अगर वह मार्क सस्ता पा जाता है तो उसका अर्थ यह हुआ कि सस्ते मार्क पर लिया हुआ जर्मन माल भी सस्ता हुआ। इस युक्ति से उसी तरह निर्यात बढ़ जायेगा जैसे कि विनिमय-दर में साधारणतः ह्रास कर देने से बढ़ जाता है। इस कारण यदि अधिकारी इस प्रकार कुछ बट्टा लेकर अपनी मुद्रा की बिक्री का प्रबन्ध करा सकें और उस मुद्रा से होने वाले कारबार के विभिन्न प्रकारों को सावधानी से निश्चित कर दें तो इससे वे बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं। यह उनका काम है कि विनिमय की व्यवस्था अपने लिए भी और अपनी जनता के लिए ऐसा कर लें कि जब कभी वे अपनी मुद्रा दे रहे हों और विनिमय में विदेशी मुद्रा लेते हों (यानी आयात का मूल्य चुका रहे

हों) वे अपनी मुद्रा का विनिमय-मूल्य ऊंचा रखें और जब कभी वे अपनी मुद्रा ले रहे हों और विदेशी दे रहे हों अर्थात निर्यात की कीमत घर ला रहे हों, तो वे अपनी मुद्रा की कम से कम मूल्य पर खरीद करें। इस तरह वे ऊंचे मूल्य पर बेचते हैं और नीचे मूल्य पर खरीदते हैं। इसका दूसरा पक्ष यह हुआ कि विदेशियों को मंहगा लेना और सस्ता देना पड़ता है। यह सम्पूर्ण ढांचा इस बात पर निर्भर करता है कि विदेशी, जिनका रुपया किसी देश में 'जाम' हो गया हो, उसको निकालने की चेष्टा में उसको कुछ बट्टा देकर लेने को राजी हो जायँ। पर इसमें यह देखना भी जरूरी है कि जब विदेशी पावनेदार अपना पावना बट्टा पर बेचने को तैयार हों तो वे सरकार के हाथों ही उसे बेचें, किसी अन्य विदेशी के हाथ न बेचें जिसे यदि कुछ आवश्यकता उस देश की मुद्रा की हो तो उससे पूरा-पूरा मूल्य प्राप्त हो सके। इस रीति का सफलता इसी बात पर प्रधानतः निर्भर करती है कि रोक-छेंक लगाने वाली सरकार के पास इतनी क्षमता हो कि वह विभिन्न प्रकार की मुद्राओं को अलग-अलग तहखानों में सुरक्षित रखे अथवा अपनी मुद्रा को दो प्रकार से प्रचलित करे, जिनका कीमत देश के भीतर तो समान रहे पर विदेश में असमान। अर्थात यह देनदारों के फण्ड को अच्छी तरह से रोक रखने की योग्यता पर निर्भर रहता है। यदि रोक-छेंक लगाने वाला देश इस युक्ति में दोनो ओर के लाभ ले सकता है तो इस कारण वह विदेशी है जिसे सबसे बड़ी असुविधा भोग कराई जाती है।

जो सटीक रीति इस सम्बन्ध में धारण की जाती है वह अलग-अलग परिस्थितियों पर एक खास देश के विषय में निर्भर करती है। उदाहरण के लिए अर्जेन्टिना में १९३९ में यह नीति धारण की गयी थी कि सरकार केवल इतनी विदेशी मुद्रा संचित करले कि सरकारी ऋण का ब्याज सुगमता पूर्वक अदा हो जाय यद्यपि यह अपनी जनता के धन की चिन्ता कम ही करती थी जो विदेशों में लगा हुआ था। इस विचार से इसकी विदेशी विनिमय-नीति का खास उद्देश्य यह था कि सस्ती विदेशी मुद्रा प्राप्त कर के सरकारी ऋण का ब्याज अदा करे और मंहगी मुद्रा प्राप्त कर के अन्य विदेशियों को उसकी पूर्ति

करे। हर एक अर्जेन्टिना वासी (या वह भी जो अर्जेन्टिना में बस रहा हो) जिसके पास विदेशी मुद्रा हो, चाहे वह निर्यात के मूल्य के रूप में उसे मिली हो अथवा अन्य किसी तरह से, इस बात पर मजबूर किया गया था कि वह अपनी मुद्रा सरकार के हाथ बेच दे और उसके बदले एक निश्चित दर से, पेसो ले ले। अर्जेन्टिना सरकार ने इस रीति से बहुत-सी विदेशी मुद्रा जमा कर ली। इसमें से जितने की आवश्यकता हुई, लेकर उसने सरकारी ऋण का ब्याज अदा किया। जो बच गया उसको उसने पेसो रखने वाली अपनी जनता के बीच रख कर नीलाम कर दिया जो विदेशी मुद्रा चाहते थे। इस तरह से १९३९ के युद्ध प्रारम्भ होने तक जिस सरकारी दर पर अर्जेन्टिना सरकार विदेशी मुद्रा खरीदती थी वह यह थी कि १५ पेसो में १ पौंड स्टर्लिंग की खरीद होती थी। पर बिक्री की दर सरकार ने १७ पेसो फी स्टर्लिंग पौंड रखी थी। इस तरह सरकार को जितनी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता थी वह पा गयी और कम से कम दर में और विदेशी विनिमय में जिसकी आवश्यकता उसको न थी उसने नफा भी मार लिया। नुकसान हुआ निर्यातकों को (जो प्रायः विदेशी थे), उनको, जिन्हे कम मूल्य में विदेशा मुद्रा बेचनी पड़ी थी (यानी कम पेसो लेकर या उलटी तरह से कहें तो जिन्हें अधिक मूल्य पर पेसो खरीदना पड़ा था), और सरकार को छोड़ कर उन आदमियों का जिनको बाहर का देना था (अब ये लोग भी बाहरी आदमी हा थे जैसे कि ब्रिटेन वालों की रेल कम्पनी) जिन्हें अधिक दर में विदेशी मुद्रा खरीदनी पड़ी। जर्मनी में जो रोक-छेंक लगायी गयी थी उसका उद्देश्य कुछ दूसरा था। १९३९ में महायुद्ध शुरू होने के कई साल पहले से ही युद्ध-कालीन अर्थ-व्यवस्था चालू थी। जर्मनी का उद्योग-धंधा बाहर से खरीद कर मंगाये गये कच्चे माल पर निर्भर करता है और नाजी सरकार को जर्मन उद्योग-धंधों पर आवश्यक सामानों के राशनिंग करने के कड़े विनिमय-नियंत्रण के कारण जो अपरिमित शासन-शक्ति मिल गयी थी, वह उसके हाथ में साधारण औद्योगिक नियंत्रण का एक जबरदस्त अस्त्र थी। परन्तु इसके अतिरिक्त

जर्मनी की चेष्टा इस दिशा में लगी हुई थी कि आयातकृत कच्चे माल की अधिक से अधिक पूर्ति प्राप्त करें जिसका खर्च भी युद्ध में था, जिसका भारी स्टाक भी जमा कर रखा जा रहा था और उसकी कीमत अधिक से अधिक निर्यात द्वारा चुकावें। उस समय जो-जो युक्तियां की गयी थीं उनके देखने से यह पता लगता है कि विदेशी ऋण अदा करने का जर्मन सरकार का उद्देश्य तो केवल द्वितीय दर्जे का था। उसकी चिंता तभी की जाने को थी जब कि उस ऋण अदायगी के साथ-साथ जर्मनी को कुछ आर्थिक लाभ भी हो। इस उद्देश्य से उन्होंने जो युक्ति लगायी वह बहुत ही पेचीदी थी और बहुत ही चतुराई के साथ उसकी व्यवस्था की जाती थी। कुछ चीजें जो जर्मनी बाहरी दुनिया को देता था उनकी मांग बहुत लचीली थी। कहने का मतलब यह कि दाम कम कर देने से इसकी खपत बहुत हो सकती थी और इसलिए ये बहुत अधिक विदेशी मुद्रा ला सकती थीं। ऐसी चीजों के निर्यातकों को यह पूरी छूट थी कि वे ह्रासमान मार्क के हिसाब से अपना मूल्य चाहे जिस सीमा तक जोड़-तोड़ कर ले जायें; अन्य पदार्थों के लिए दुनिया को जर्मनी का दाम देना पड़ता था—उसमें कोई रियायत न थी। समूची नियंत्रण-प्रणाली (system) को इस तरह चलाया जा रहा था कि संसार से जितना अधिक हो सके विदेशी मुद्रा निकाल लें जिससे कि गोला-बारूद बनाने के लिए कच्चे माल की खरीदारी हो सके।

विनिमय-भुगतान

EXCHANGE CLEARINGS

जो कुछ भी हो, पर यह नहीं समझ लेना चाहिये कि इस तरह की व्यवस्था और चाल को, जिसका मतलब हर तरह से विदेशी व्यापारी को ठग लेना था, विदेशी राष्ट्रों द्वारा बिना प्रतिवाद या प्रतिशोध के चुपचाप स्वीकृत कर लिया जाता था। विदेशी कारबारियों द्वारा जो एक आम बदला इसका चुकाया जाता था वह बहुधा विनिमय-भुगतान होता था। इस चीज को एक उदाहरण देकर ठाक-ठीक समझाया

जा सकता है। १९२९ में, याने मन्दी आने के पहले के अन्तिम साल में, जर्मनी ने स्विट्जलैंड को ६२ करोड़ ७० लाख 'रिशमार्क' (Reichsmarks) मूल्य का माल भेजा था। उसी साल उसने ३१ करोड़ ८० लाख रिशमार्क का माल स्वीट्जलैंड से मंगाया था। प्रचलित बात का लेकर हम तो कहेंगे कि दोनो देशों के व्यापार का बाकी शेष स्विट्जलैंड के लिए प्रतिकूल था (या विपरीत था)। अदृश्य मदों में और पूंजी के मद में स्विट्जलैण्ड का पावना ही जर्मनी पर पड़ता रहता था (इन मदों में जर्मनी के आल्प्स पहाड़ के पर्यटकों का व्यय, और स्विट्जलैंड के कर्ज का ब्याज शामिल है) परन्तु जब दृश्य, अदृश्य सभी मदों का हिसाब किया जाता तो यह बिलकुल ही निश्चित था कि स्विट्जलैंड को ही जर्मनी को अधिक रुपया देना था। अब, जब कि जर्मनी ने स्विट्जलैण्ड का ब्याज 'जाम' कर दिया, स्विट्जलैंड के पास इसका बदला लेने का एक अच्छा उपाय था। उसने एक कानून बनाकर स्विट्जलैंडवासियों से कहा कि जिस किसी को भी कुछ रुपया जर्मनी को अदा करना हो, वह उस रुपये को स्विस राष्ट्रीय बैंक (The Swiss National Bank) में जमा कर दे, सीधे जर्मनी न भेजा जाय। हाथ में इस धन को करके स्विस सरकार ने जर्मनी को लिखा कि जब तक उसके कर्ज के ब्याज की किश्त न चुकाई जायगी उसे यह धन न मिलेगा। स्विट्जलैंड ने इस तरह जर्मनी का जो धन रोका वह उस रकम से कहीं अधिक था जो जर्मनी उसे ब्याज के रूप में देता। इस धमकी का असर हुआ। अन्त में दोनो देशों के बीच एक समझौता हुआ जिसमें यह तय हुआ कि जिसको जितना मिला है उसका मोजरा-मौसूफ (offset) कर लिया जाय। कोई स्विट्जलैंडवासी, जो जर्मन का ऋण धारता हो उसको स्विस राष्ट्रीय बैंक में जमा करे। यह धन ऐसे स्वीट्जलैंडवासी को दिया जाता था जिसका जर्मनी पर ऋण आता था, चाहे यह पर्यटन-खर्च के मद का हो, बेचे हुए माल की कीमत हो, ब्याज के सिलसिले में हो या जैसे भी हो। इसी तरह जर्मनी का कोई आदमी अगर किसी स्विस का कुछ धारता था तो वह स्विट्जलैंड रुपया भेजने के बदले उसे 'रिश बैंक' में जमा करता था जहां यह रुपया उस जर्मन को मिलता था जो किसी

स्विस का महाजन था। इस भुगतान में बैंकों के बीच जो पत्र-व्यवहार होता था वह केवल इस बात की सूचना होती थी कि अमुक न अमुक व्यक्ति को इतना न इतना रुपया अदा किया गया।

विनिमय-भुगतान का सिद्धान्त यही है। महायुद्ध के पहले इसी तरह की व्यवस्था कई जोड़े देशों के बीच लेन-देन की हुई। व्योरे में फर्क रहा। कभी-कभी ब देश के पक्ष में, अ देश की अदायगी का धन, अ देश के पक्ष में ब देश की अदायगी के धन की अपेक्षा इतना अधिक जमा हुआ कि अ अपने देशवासियों को ब देश का सारा कर्ज वसूल कर भी ब को बहुत-सा धन अर्पण कर सका। किसी-किसी मामले में तो इस तरह के स्वतन्त्र बकाया (देना) का जिक्र समझौते के कागज-पत्रों में भी दर्ज पाया। परन्तु विनिमय-भुगतान का आधारभूत तत्व सभी में एक समान ही रहा अर्थात देना-लेना का मोजरा-मौसूफ (offset) करना जिससे कि किसी को विदेशी विनिमय-बाजार की शरण लेने की आवश्यकता न पड़े। (क)

(क) इससे कम पेचीदा तरीके का समझौता वह होता है जिसे 'विनिमय का अदायगी समझौता कहते हैं (Exchange Payments Agreement) जिसका उदाहरण १९३७ में जर्मनी और ब्रिटेन के बीच हुआ समझौता है। इस मामले में ब्रिटेन ने अपनी जनता पर कोई वाध्यता नहीं डाली। दूसरे शब्दों में बैंक आफ इंग्लैण्ड के मारफत जर्मनी को चाहे जितनी अदायगी स्वतन्त्र रूप से की जा सकती थी। परन्तु जर्मनी में यह बात नहीं थी। जर्मन लोगों को जो कुछ भी विदेश भेजना होता था, वे 'रिश-बैंक' में जमा करते थे, वहीं सब विदेशों को भेजने के लिए विदेशी मुद्रा पा सकते थे। इस समझौते में यह तय हुआ कि 'रिश-बैंक' में जितना पौंड जमा किया जायगा उसका एक हिस्सा ब्रिटेन से माल खरीदने के लिए सुरक्षित रखा जायगा। इसमें से कुछ अंश जर्मनी ब्रिटेन से लिये गये ऋण के ब्याज के रूप में देगा; इसी से अवधि समाप्ति वाले ऋण वापस करेगा, यह भी तय हुआ था। इसमें यह चीज ध्यान देने की है कि यह समझौता जर्मनी ने तब स्वीकार किया था जब कि ब्रिटेन सरकार ने यह धमकी दी कि समझौता नहीं होने पर वह पूरा-पूरा भुगतान का तरीका चालू करेगी। ब्रिटेन की सरकार के ऐसा करने से जर्मनी को ही अधिक घाटा था क्योंकि ब्रिटेन से जर्मनी को जितना धन जाने वाला था वह उस धन से कहीं अधिक था जो जर्मनी से ब्रिटेन में आता।

सन १९३१ और ३९ के बीच के वर्षों में योरप के बहुत-से देशों के बीच लेन-देन के भुगतान का यह तरीका अमल में आया। जर्मनी ने भी दक्षिण अमेरिका के कई देशों के साथ ऐसी ही व्यवस्था की। इन सैकड़ों समझौतों में मुश्किल से ही कोई किसी से मिलता-जुलता हो। जैसा कि पहिले लिख दिया गया है प्रायः ऐसा होता था कि इन समझौतों में एकत्रीकृत धन का कुछ भाग विदेशी मुद्रा में परिवर्तनार्थ भी छोड़ दिया जाता था। इसे स्पीजेन (spitgen) कहते थे। परन्तु जर्मनी ने, जो विनिमय-भुगतान (exchange clearing) वाले देशों में सब से बड़ा था, इस तरह की बहुत कम ही छूट रखी थी। इसके अतिरिक्त 'स्पिजेन' का हिसाब हमेशा कम रकम की ओर जोड़ा जाता था। विनिमय-भुगतान-समझौता के द्वारा वास्तव में दो समझौते में बंधने वाले देशों के कारबार को बराबर बनाया जाता था। उदाहरणार्थ एक बार हंगरी को पता लगा कि उसका बहुत-सा धन ऋण-रूप में स्वीट्जलैंड में अटका पड़ा है जिसके लिए उसे स्विस उत्पादित पदार्थ ही लेना पड़ेगा। हंगरी ने इसके बाद सम्पूर्ण रकम को बट्टा खाते न लिख कर इस रकम से पुनः स्विट्जलैंड में ही वे चीज खरीद ली जो वह दूसरे देशों से मंगा चुका था। उसने ऐसी चीजें भी ले ली जिनकी उसको आवश्यकता न थी। इस तरह हंगरी में एक बार इतनी स्विस घड़ियां आ गयीं कि जिसका शुमार न था। चूंकि कई अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ऐसे होते हैं जिनमें कई देश लिपटे रहते हैं, इस कारण ऐसे कामों का हानिकर प्रभाव देश की साधारण आर्थिक अवस्था पर पड़ता है। जैसे कि युद्ध-पूर्व के साधारण दिनों में ब्रिटेन के उपनिवेश जर्मनी के हाथों कच्चा माल बेचा करते थे, जर्मनी उनका पक्का माल तैयार करके स्कैन्डेनेविया को देता था और स्कैन्डेनेविया से ब्रिटेन को लकड़ी भेजी जाती थी। इस चक्करदार तरीके से ब्रिटेन लकड़ी के रूप में अपनी विदेशों में लगी हुई पूंजी का लाभ पाता था। इस शृंखला में जितने देश आते थे उनमें से किसी दो के बीच व्यापारिक समानता (equality of trade) नहीं थी और यदि विनिमय-भुगतान का नियम कस कर लागू किया जाता तो सारा

कारबार विशृङ्खल हो पड़ता जिसे कोई भी देश पसन्द नहीं करता क्योंकि सब को हानि होती। यह विनिमय-भुगतान की कठिनाई तभी दूर हो सकती थी जब कि शृंखला में आने वाले सभी देशों के साथ एक साथ समझौता किया जाता। पर यह संभव न था। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि दूसरे-दूसरे देशों के साथ अदायगी अथवा भुगतान की जो भी व्यवस्था ब्रिटेन ने की थी वह यथेष्ट उदार होती थी—इसमें पौंड पाने की बहुत सुविधा कर दी जाती थी। यह सुविधा खास ब्रिटेन में ही नहीं, सम्पूर्ण 'स्टर्लिंग क्षेत्र' के लिए लागू होती थी। (क)

फिर भीं विशुद्ध भुगतान की प्रक्रिया की अपेक्षा इस विनिमय-भुगतान में कुछ विशेष फायदे हैं। वे ये हैं कि कुछ सीमित नियन्त्रित मार्गों से ही सही, पर इसमें व्यापार-विस्तार की गुंजाइश रहती है। बहुत-से देश, अपनी मुद्रा को अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में इस्तेमाल किये जाने से रोक कर, और आगे बढ़ गये हैं—उन्होंने मुद्रा-हीन व्यापार का प्रबन्ध कर लिया है जो वस्तु-विनिमय (barter) के हिसाब से चलता है। विनिमय-भुगतान-व्यवस्था में कम से कम देश के भीतर तो मुद्रा का व्यवहार होता ही है—जर्मनी के स्विस देनदार जर्मनी के स्विस लेनदार को मुद्रा देते हैं और उधर उन्हीं के जैसे जर्मनी निवासी अपने यहां ऐसा ही करते हैं। पर हर मामले में लेन-देन का भुगतान दोनो देशों के राष्ट्रीय बैंकों के द्वारा होता ह,

---

(क) ब्रिटेन द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों के पहले तक "स्टर्लिंग-क्षेत्र" से उन देशों का बोध होता था जिनकी मुद्रा को पौंड के हिसाब पर बांधकर स्थिर रखते थे। पर १९४० के बाद से कार्यतः इस शब्द से उन देशों का बोध होता है जिन्होंने स्वयं यह समझौता किया है कि अपने-अपने देशों में मुद्रा-विनिमय को स्वतन्त्रता पूर्वक चलते रहने देंगे, पर अपने क्षेत्र से बाहर के किसी देश की मुद्रा के साथ अपनी मुद्रा के विनिमय को संयुक्त रूप से नियन्त्रित रखेंगे। स्टर्लिङ्ग क्षेत्रीय देशों ने अपने पास के डालर तथा ऐसी ही अन्य दुर्लभ मुद्राओं का कोष भी संयुक्त कर लिया है। स्टर्लिङ्ग क्षेत्र की सीमा समय-समय पर बदलती रही है पर इसका स्थायी अखाड़ा ब्रिटेन के राष्ट्र कुलीय (Common wealth) देशों को (जिनमें कनाडा और न्यूफौंडलैंड शामिल नहीं हैं) तथा मिश्र और ईराक को समझना चाहिये।

दोनो देशों की दोनो पार्टियां इस भुगतान में कभी प्रत्यक्ष नहीं आतीं। कुछ अन्य देश युद्ध के कुछ पहले के वर्षों में ऐसी तिजारत करने लगे जो वस्तु-विनिमय के ही समकक्ष थी। तिजारती लोग इसमें गेहूं को बदल कर लोहा ले लेते थे या ऐसे ही किसी चीज का किसी चीज से विनिमय हो जाता था। इस काम (transaction) में मुद्रा की कोई खोज न थी—उसकी जरूरत केवल हिसाब जोड़ने में होती थी। यह हिसाब लगाया जाता था कि इतना हंड्रेडवेट गेहूं कितने का हुआ और उसका कितने टन लोहा से विनिमय होगा। चूंकि इस काम में दोनो पक्ष एक दूसरे से मूल्य-मुआबिजा (compensation) लेते हैं इस कारण इस रोजगार का नाम मुआबिजा-रोजगार (compensation trade) पड़ गया। किन्तु इस रोजगार में मुद्रा की आवश्यकता व्यापारियों को अपने-अपने देश में तो पड़ती ही थी। रुमानिया का गेहूं-निर्यातक जो लोहा गेहूं से विनिमय कर मंगाता था उसे अपने पास तो रखता नहीं था—वह इसे अपने देश में ही किसी के हाथ बेच देता था। परन्तु भुगतान-रोजगार और मुआबिजा-रोजगार में फर्क यही है कि तब तक मुआबिजा-रोजगार की अनुमति सरकार नहीं देती है जब तक कि दोनो ओर के आयात-निर्यातों की व्यवस्था ठीक नहीं हो जाती। इसमें दोनो में से किसी भी आर्थिक प्रवन्ध की आवश्यकता नहीं पड़ती, न इसमें किसी विदेशी व्यापारी के नाम पर या दूसरे बैंकों में रुपया जमा करने की जरूरत पड़ती है।

कुछ देशों ने विनिमय की रोक-छेंक की इन संस्कृत रीतियों को रोक-छेंक को एकदम हटा देने का साधन बना लिया था। इस बात का सबसे बढ़िया उदाहरण आस्ट्रिया था जिस समय वह नाजियों के चंगुल से मुक्त था। नाजियों ने १९३८ में आस्ट्रिया पर चढ़ाई की थी। आस्ट्रिया में पहले-पहल विनिमय की रोक-छेंक इस उद्देश्य से जारी की गयी थी कि उस देश में लगी हुई अल्पावधि विदेशी पूंजी को निष्क्रमित होने से रोका जाय। परन्तु पहली घबड़ाहट जब दूर हो गयी और अल्पकालीन लेनदारों के साथ यह बन्दोवस्त हो गया कि वे इस ऋण को धीरे-धीरे कर के कई किश्तों में चुका देंगे तब आस्ट्रिया की सरकार ने

यह अनुभव किया कि देशीय मुद्रा चिलिंग (schilling) के लिए अब अपने पैरों पर खड़े होने की संभावना हो गयी है यदि इसे भी पौंड स्टर्लिंग के समान ही निम्न मूल्य-स्तर पर लाकर अन्य मुद्राओं के समकक्ष बना दिया जाय। परन्तु आस्ट्रिया के निवासियों को भी स्फीति का उतना ही भय लगता था जितना कि अन्यों को और सरकार यदि एक-ब-एक सीधे यह एलान कर देती कि चिलिंग का दाम घटाया जा रहा है तो इससे एक और नयी घबड़ाहट फैल जाती। इसलिए इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो युक्ति लगायी गयी वह यह थी कि पहले विनिमय-भुगतान और मुआबिजे के समझौतों में चिलिंग का मूल्य कम कर के रखा गया। इसके बाद धीरे-धीरे चोर बाजारी (black bourse) के विरुद्ध सारे प्रतिबंध (prohibition) एक-एक कर के हटाये जाने लगे जब कि धीरे-धीरे यह काली (black) चीज भूरी (gray) हुई और फिर भूरी से सफेद (white) हो गयी। इस तरह आस्ट्रिया में केवल पूंजी-निर्यात पर रोक रखे रह कर और सभी प्रकार की रोक-छेंक हटा ली गयी।

परन्तु चतुर नाजियों के हाथ में यह विनिमय-भुगतान का ढंग एक प्रबल यौद्धिक अर्थ-व्यवस्था (war economy) के रूप में आया। जिस तरह उन लोगों ने विनिमय की सारी रोक-छेंक अपने लाभ के लिए लगायी उसी तरह उन्होंने यह भी पता पाया कि किस तरह विनिमय-भुगतान की रीति चलायी जाती है जो शुरू में उनपर बदले के रूप में लागू हुई थी। यह समझने के लिए कि किस तरह यह चीज हुई हमें पहले शांति-कालीन अर्थ-व्यवस्था और युद्ध-कालीन अर्थ-व्यवस्था के भेद को समझ लेना चाहिये। शांति-कालीन साधारण अर्थ-व्यवस्था में, खास कर जब कि वह दबी हुई होती है, विदेशी व्यापार को केवल कार्य-संलग्नता को लाने वाला समझा जाता है। इस समय निर्यात इस कारण होते हैं कि वे लोगों को काम देते हैं और आयात को रोका जाता है क्योंकि यह समझा जाता है कि यह देशी उद्योग-धंधों से प्रतियोगिता कर के श्रम का महत्व घटा देगा। परन्तु यौद्धिक अर्थ-व्यवस्था में, जब कि मजदूर की कमी और अधिक

उत्पादन की अपूरणीय आकांक्षा बनी रहती है, दोनो के काम पलट जाते हैं। उस समय तो आयात की जरूरत पहले पड़ती है—वह कुछ तो कच्चे माल की शकल में और कुछ अन्य शकलों में। उस समय निर्यात को एक दुर्भाग्य-पूर्ण आवश्यकता समझा जाने लगता है क्योंकि उसमें कुछ श्रम-संख्या (labour supply) तो लग ही जाती है, जो खाली रहती, जो लड़ाई का सामान बनाती। परन्तु यह जरूरी भी है क्योंकि इसके बिना विदेशी मुद्रा आवे कहां से और वह न हो तो बाहर से माल कैसे मंगवाया जा सके? संक्षेप में यही कि शांति-कालीन अर्थ-व्यवस्था में लोगों की अधिक ख्वाहिश रहती है देश-देशान्तर में माल भेजने और बेचने की और युद्ध-काल में यह प्रवृत्ति रहती है कि खरीद करें।

अब अगर विनिमय-भुगतान को इस दृष्टि से देखा जाय कि यह माल बेचने का एक साधन है तो कहना पड़ेगा कि यह कोई आकर्षक विषय नहीं है क्योंकि इसमें पावने का भुगतान माल में लेना पड़ता है और उसमें भी कभी-कभी ऐसा होता है कि इसमें एक ही माल ले लेना पड़ता है। परन्तु खरीदारी का साधन यदि इसे माना जाय तो यह एक अपूर्व युक्ति साबित हो, वह भी खास कर उस देश के लिए जिसके पास विदेशी मुद्रा का संचय न हो। इसमें माल की खरीदारी कर ली जाती है पर उसका भुगतान उसी समय होता है जब कि इधर से भी भेजने के लिए उतने मूल्य का सामान तैयार हो जाय। जर्मनी ने इस युक्ति के प्रारम्भ से ही उन देशों में अपनी खरीदगी शुरू कर दी थी जिनके साथ उसका विनिमय-भुगतान का तरीका लग चुका था। यह इसलिए किया गया था कि विदेशी मुद्राओं के लिए उसे परेशान न होना पड़े कि जिन चीजों की प्राप्ति विनिमय-सम्बन्ध वाले देशों में न हो वह बाहर से मंगवाया जा सके। इसके अलावे वह भारी कर्ज में भी पड़ गया। उसने विनिमय-सम्बद्ध देशों से इतना अधिक माल खरीदा जितना या तो वे उससे ले नहीं सकते थे अथवा लेने को राजी नहीं थे। नतीजा इसका यह हुआ कि उसपर उन देशों का बहुत-सा ऋण चढ़ गया जिसका भुगतान पाने के लिए उन्हें केवल जर्मनी-उत्पादित पदार्थ ही

लेने पड़ रहे थे अर्थात वे सामान उन्हें लेने पड़ते थे जिन्हें वह फजल समझ कर देने को तैयार हो जाता था। ग्रेट ब्रिटेन ने भी युद्ध शुरू होने पर यही करना प्रारम्भ कर दिया। यह उस चीज का कारण हुआ जिसे "पौंड-पावना" नाम दिया गया है जिसके भुगतान में कई देश झंझट में पड़ेंगे, ऐसी संभावना है।

विनिमय-भुगतान की दूसरी दौर को जर्मनी ने दक्षिण पूर्वी योरोप के देशों पर अपने राजनीतिक प्रभाव-विस्तार तथा आर्थिक प्रभुत्व-स्थापन में लगाया। उसने इन देशों में कच्चे माल की भारी-भारी खरीदारियां की और उन्हें अपने यहां के तैयार माल खूब मंहगे दामों पर लेने को बाध्य किया। इन देशों में जो तैयार माल आते जर्मन माल उनका प्रधानतम भाग होता था और इनकी ऊंची कीमतों तथा जर्मनी द्वारा दी गयी कच्चे माल की ऊंची-ऊंची कीमतों ने उन देशों का मूल्य-स्तर बहुत उठा दिया। इसने इस परिस्थिति में इन देशों को अन्य देशों से विच्छिन्न कर दिया क्योंकि उच्च मूल्य-स्तर के कारण दुनिया के बाजार में वे होड़ करने में असमर्थ हो गये। नतीजा यह हुआ कि उन देशों का व्यापार जर्मनी से ही रह गया और वह बढ़ने भी लगा। यह पूछा जा सकता है कि जब ये देश यह चीज देख रहे थे और समझ रहे थे कि वे दिन-दिन जर्मनी के चंगुल में फंसते जा रहे हैं तब ये उस क्रम को चलाते क्यों जा रहे थे? उत्तर यह है कि इन देशों की जो पैदावार थी उसका खरीदार या तो जर्मनी ही था अथवा जर्मनी उनके लिए सबसे अधिक दाम देने को तैयार रहता था (मंहगी कीमत जर्मनी की जनता से वसूल की जाती थी)। इन सभा देशों में कृषि-उत्पादन ही राष्ट्रीय धन की नीव है और उनलोगों के लिए जर्मनी के प्रदान (offer) को टालना मुश्किल था। इसके अतिरिक्त पदार्थों के लिए भी उन्हें जर्मनी के माल पर ही निर्भर रहना पड़ता था हालांकि अन्य देशों के बने हुए ऐसे माल कुछ हालतों में अच्छे और सस्ते भी थे।

इस तरह अपनी क्रय-शक्ति का इस्तेमाल कर के जर्मनी ने अपने को अग्रणी स्थिति में रख दिया। विनिमय-भुगतान के यंत्रों (mechanism of

exchange clearing) में ऐसी कोई चाल बाकी न थी जो खेली न गयी हो। उदाहरण के लिए जर्मनी के फर्मों (firms) ने रुमानिया के किसानों के हाथ किश्त-खरीदी के ढंग (hire purchase term) पर साइकिलें बेची जिसमें कई वर्षों में रुपया चुकाने की बात थी। साइकिल जैसे ही सीमा के पार जाती उतने ही मूल्य का गेहूं या तेल उधर से मंगा लिया जाता। जर्मन फर्मों को बर्लिन स्थित विनिमय-भुगतान के खाते से तुरत साइकिलों का रुपया दे दिया जाता किन्तु रुमानिया के जिन निर्यातकों ने गेहूं के निर्यात के बदले में साइकिलें पाई उन्हें तो उसकी कीमत तब मिली जब किश्त का दाम बुखारेस्ट में चुकती हुआ। इस तरह जर्मनों ने अपनी आवश्यकता के गेहूं और तेल मंगाने के लिए दाम चुकाने का यह नया तरीका निकाला और रुमानिया को वाध्य किया कि वह उधार माल बेचे।

✓किसी देश की अपनी मुद्रा और दूसरे देश की मुद्रा के बीच जो विनिमय-सम्बन्ध रहता है वह उस दशा में भी परिवर्तित हो जाता है जब कि देश शांति-कालीन अर्थ-व्यवस्था से युद्ध-कालीन अर्थ-व्यवस्था पर जाता है। महा-युद्ध के पूर्व संसार की साधारण प्रवृत्ति अपने देश की मुद्रा का मूल्य नीचा रखने की थी अथवा अल्पमूल्य न भी रखा जाता था तो अधिकमूल्य तो नहीं ही रखा जाता था जिससे निर्यात में बाधा न पड़े। मुद्रा का मूल्य कुछ कम होना दोष नहीं था बल्कि कुछ गुण ही माना जाता था। परन्तु जैसे ही कोई देश बेचने वाला से अधिक खरीदने वाला बन जाता है उसे अपनी मुद्रा की कीमत अधिक रखने की सूझती है जिससे कि सस्ती खरीदारी पड़ सके। पर असाधारण रूप से मंहगी मुद्रा कर देने से तो अपने ही को घटी पड़ने लगती है क्योंकि फिर मंहगी होने से निर्यात ठप पड़ने लगता है। परन्तु विनिमय-भुगतान की व्यवस्था रखने से यह बुराई बच जाती है। जर्मनी ने अपनी मुद्रा रिशमार्क (Reichmarks) को रुमानियाई मुद्रा लेउ (leu) के विचार से कहीं ऊंचा चढ़ा दिया। इससे वह इस योग्य हो गया कि रुमानियाई गेहूं के लिए लेउ में अच्छा दाम धर सके और रिश-

मार्क में इससे कुछ मंहगा न पड़े और अगर रुमानिया जाकर उसकी चीज बहुत मंहगी पड़ती है ता इससे उसे क्या ? रुमानिया लाचार था कि वह दाम स्वीकार करता क्योंकि इसके सिवा अपने गेहूं की कीमत अदा कराने का उसके पास दूसरा उपाय क्या था ? जर्मनी की चीज जितनी मंहगी हो जाय जर्मनी के लिए यह अच्छा था क्योंकि इस हिसाब से उसे कम ही चीजें देनी पड़ी। अब इस चीज का रुमानिया-ब्रिटेन-व्यापार की हालत से मिला कर देखें जिसमें कि ब्रिटेन की मुद्रा की कीमत इस समय लगातार कम रखी जा रही थी। रुमानिया अपना गेहूं ब्रिटेन के हाथ न बेच सका क्योंकि विश्व-बाजार में जो दाम गेहूं का चल रहा था वह जब स्टर्लिंग पर से लेउ पर जोड़ा जाता था तो वह जर्मनी द्वारा प्रदत्त दाम से बहुत कम पड़ता था। अत: ब्रिटेन की अपेक्षा जर्मनी के हाथ गेहूं बेचना अधिक अच्छा था। और यद्यपि ब्रिटेन का माल सस्ता था रुमानिया उसे नहीं ले सकता था क्योंकि जब उसकी चीज हमलोगें के पास आती नहीं थी तो वह पौंड कहां से लाता कि हमारी चीजों का दाम चुकाता ? इसलिए ब्रिटेन यदि लेउ के सम्बन्ध में पौंड का दाम बढ़ा देता अथवा रुमानिया गेहूं के लिए दुनिया के बाजार की दर से अधिक दर देता तब ब्रिटेन रुमानिया के साथ व्यापार चला सकता था।

पर लन्दन के उस समय के ढंग के खुले बाजार में, पौंड की कीमत रुमानियाई 'लेउ' के लिए हा कैसे बढ़ती जब तक अन्य मुद्राओं के लिए भी यह नहीं बढ़ायी जाती ? खुले बाजार में एक ही मुद्रा के लिए दो स्थानों पर दो भाव नहीं चल सकते। जर्मनों ने अपनी नियन्त्रित मुद्रा-पद्धति जारी कर इसी अवस्था का लाभ उठाया। यह बात पहले बतायी गई है कि व्यापार में कई तरह की मुद्रा चालू रखने के कारण जर्मनी इस अवस्था में था कि वह मार्क की कीमत विभिन्न देशों के लिए अलग-अलग रख ले। जहां उसकी क्रय-शक्ति उसे नफा की स्थिति में रखती थी वहां वह 'मार्क' का मूल्य बहुत ऊंचा रखता था और इसी के साथ-साथ 'मार्क' की कीमत कम कर के वह कुछ देशों में अपने निर्यातकों से निर्यात भी कराता था।

इसलिए यदि किसी बलशाली देश के हाथ में पड़े तो विनिमय-भुगतान की रीति से वह प्रथम श्रेणी का आर्थिक युद्ध चला सकता है। शायद यह चीज शांति-प्रिय देशों के लिए इतनी आकर्षणीय नहीं है जब कि उन्हें अपने ग्राहकों को धोखा देना और अपने मुवक्किलों को तङ्ग करना नहीं हो परन्तु बहुत-से लोगों की नजर में तो नाजियों ने इस विनिमय-रीति को जिस तरह से अपने फायदे का बना लिया, वह एकदम चोरबाजारी में शुमार किया जायगा चाहे उसमें सिद्धान्त का आकर्षण कितना भी अधिक हो।

विनिमय-नियन्त्रण के गुण

THE MERITS OF EXCHANGE CONTROL

विनिमय-नियन्त्रण-प्रथा के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है ? निश्चय ही इस प्रश्न का जो उत्तर होगा वह कुछ सीमित होगा। हस्तक्षेप (intervention) की नीति को तो हानि विहीन कहा जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर पृष्ठ ३२७-२८ पर दिया जा चुका है कि हस्तक्षेप के द्वारा बहुत दिनों तक मुद्रा के मूल्य को तोड़ कर रखना मुश्किल है क्योंकि यदि दबाव एक ही ओर पड़ता हो तो हस्तक्षेप के लिए सरकार के पास जिन साधनों की आवश्यकता है उसका स्टाक शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। हस्तक्षेप के द्वारा एक काम अवश्य पूरा हो सकता है कि विनिमय-बाजार की दैनन्दिन ह्रास-वृद्धि की प्रवृत्ति को स्थायी रूप से रोक दिया जाय। यह उद्देश्य भी कम आवश्यक नहीं है—सचमुच स्थायी सुस्थिरता एवं अत्यधिक अस्था-यित्व के बीच ऐसा एक सकझौता होना भी जरूरी रहता है क्योंकि, जैसा हम आगे चल कर दिखायेंगे कि यह लचीलापन ही वह आधार है जिसपर कोई भावी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-संगठन (international currency system) खड़ा हो सकता है। हस्तक्षेप को स्थायी करने के सम्बन्ध में एक ही चेतावनी दी जा सकती है। वह यह है कि ऐसा होना मुश्किल है। इसके पहले कि सरकार यह फैसला करे कि बाजार का कौन-सा रुख अस्थायी है जो आगे चल कर आपसे

आप पलट जायेगा और यह कि कौन-सा परिवर्तन स्थायी है, सरकार को इस चीज का पक्का अन्दाज होना चाहिए। हमारी मुद्रा की संतुलित दर क्या है। यह काम कर लेना कुछ आसान नहीं है और आधुनिक युग का इतिहास इस बात से भरा पड़ा है कि सरकारों ने भिन्न-भिन्न समयों पर अपनी मुद्रा का असम्भव मूल्य रख लिया है और यह आशा की है कि उनका रखा हुआ मूल्य उचित है और वह रह जायगा। इस तरह की गलत धारणा कर लेने का प्रभाव देश के लिए बुरा होता है क्योंकि इसमें राष्ट्र की ही शक्तियों का तो अपव्यय होता है एवं एक अन-होनी आशा में राष्ट्र की साख (credit) लगा दी जाती है। इसके आलावे सरकार ने यदि अपनी मुद्रा की संतुलित दर ठीक ही अन्दाजी हो तो भी यह अपने साधनों के सम्बन्ध में अति-अनुमान लगा ले सकती है। यह अति-विश्वास उसे अपनी मुद्रा के सम्बन्ध में भी हो सकता है और विदेशी मुद्रा के सम्बन्ध में भी जिनकी आवश्यकता 'अस्थायी' मांग अथवा पूर्ति की भीड़ के समय पड़ती। यह हालत कई महीनों तक चली जा सकती है और इसमें बहुत अधिक धन का खर्च उस समय तक पड़ सकता है जब कि इसमें पलटा आये।

दूसरी ओर विनिमय की रोक-छेंक के सम्बन्ध में कोई फैसला देने में अपने को खूब बांध कर चलना पड़ेगा। यह तो सभी मानेंगे कि रोक-छेंक एक अप्रीतिकर चीज है। जनता को किसी भी प्रकार की आर्थिक व्यवस्था, जिसमें उसके मन में जो कुछ आवे वह नहीं कर सके, अच्छी नहीं लगती और वह नये-नये प्रकार के अपराध (criminal offence) करने लगती है। परन्तु यह जितना भी अप्रीति-कर क्यों न हो कभी-कभी यह अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है। इस समय १९४७ में (जिस समय यह किताब लिखी गई) योरोपीय देश इसी अवस्था से गुजर रहे हैं। उन्हें खाद्यान्न खरीदने और उद्योग-धन्धे चलाने के लिए डालरों की भयानक आवश्यकता है पर वे युद्ध की आर्थिक विपर्यस्तता से इतने आहत हैं—युद्ध के कारण उनका साधारण कारबार ऐसा ठप पड़ गया है, चीजें इतनी बरबाद हुई हैं, कल-कारखाने इतने टूट-फूट गये हैं—कि वे निर्यात के लिए सामान ही नहीं

पैदा कर सकते जिसके बल पर डालर अर्जित करें। इन देशों के लिए कोई संतुलित विनिमय-दर उनकी मुद्राओं की रही नहीं गयी है। अब डालर चाहे जितना भी मंहगा कर दिया जाय, उसको पाये बिना उसका काम चल नहीं सकता क्योंकि खाद्य का अधिक उत्पादन इस समय है तो अमेरिका में ही और वहीं यथेष्ट लोहा भी मिल सकता है और इनकी खरीदारी डालर के बिना हो नहीं सकती। अपने निर्यात को अन्य देशों वाले चाहे जितना भी सस्ता बना लें वे इन चीजों की पैदावार बढ़ा नहीं सकते क्योंकि उनकी पैदावार जो नहीं बढ़ती है उसका कारण मूल्य नहीं है, उनके उत्पादन की कठिनाई है। ऐसी दशा में विनिमय-बजार को खुला छोड़ दिया जाय तो इस अवस्था में यूरोपीय देशों की मुद्रा का मोल और भी नीचे हो जायगा और मांग और पूर्ति के वीच जो खाई है वह कभी पट नहीं सकेगा।

यह जो अवस्था है उसमें रोक-छेंक होनी आवश्यक है। पर यह सब युद्धकाल में हुई विपर्यस्तता (dislocation) का परिणाम है। साधारण समय में जब कि माल बेचने वाले के लिए भी बहुत-से बाजार रहते हैं और खरीदार के लिए बहुत-से बाजार खुले होते हैं, विनिमय-बाजार की व्यवस्था करने वाली मशीनरी की ताकत फिर दीख पड़ेगी। साधारणतः हर एक मुद्रा के लिए एक संतुलित दर होनी चाहिये—अर्थात वह दर ऐसी होनी चाहिये कि निर्यात से इतनी विदेशी मुद्रा प्राप्त हो जाय कि आयात का मूल्य चुकाया जा सके। और सिवा एकाध अपवाद के केस (case) को छोड़ कर, यह संतुलित दर वास्तविक दर से इतनी भिन्न नहीं होनी चाहिये कि इसको कभी हटाना पड़े तो वह कार्य राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को भारी धक्का दे दे। इस कारण विनिमय-नियंत्रण-व्यवस्था रखने के सम्बन्ध में सही नीति यही मालूम होती है कि इसको युद्ध-काल और युद्धोत्तर (post-war) काल की कुछ अवधि तक के लिए सीमित रखा जाय (यह अवधि काफी लम्बी भी हो सकती है) परन्तु इसके साथ ही यह चेष्टा भी रखी जाय कि युद्ध-जनित विपर्यस्तता से संसार को जैसे-जैसे छुटकारा मिले यह नियंत्रण ढीला करते जायं और मांग की पूर्ति के स्वाभाविक प्रवाह

को बिना किसी सरकारी हस्तक्षेप के विनिमिय का मूल्य निश्चित करने दिया जाय।

इसमें एक बड़ा और शायद स्थायी अपवाद भी है। विनिमिय-बाजार में जो लेन-देन उठता है वह केवल माल और नौकरी की खरीद और बिक्री पर ही नहीं होता, परन्तु पूंजी के चलाचल पर भी होता है और यह पूंजी का चलाचल इतना बड़ा हो सकता है कि यह चालू कारबार को डुबा दे। किसी देश के लिए यह संभव हो सकता है कि रोक-छेंक के बिना ही वह चालू कारबार में अपनी मुद्रा की मांग और उसकी पूर्ति को संतुलित कर ले और तब भी वह पूंजी के चलाचल को संभाल न सके। विनिमय की रोक-छेंक पहले-पहल १९३१ में केन्द्रीय यूरोप से बाहर पूंजी न जाने पाय इसी मतलब से लागू की गयी थी। युद्ध-पूर्व के युग में फ्रांस के धनिकों ने अपनी पूंजी बाहर भेजने का भारी अंधेर शुरू कर दिया था। जब कभी सरकार उनके पसंद के बाहर का कोई काम करती वे अपना रुपया घर के कारबार से समेट कर बाहर ले जा कर लगा देते। युद्ध के समय ब्रिटेन ने बाहर के देशों से माल का दाम और नौकरी की उजरत की भारी रकम का कर्ज अपने सर पर चढ़ा लिया। यह ऋण अधिकतर बैंक-बकाया और अल्पावधि विनियोग के रूप में लंदन में इन देशों का जमा हुआ। अगर विनिमय-बाजार में अपने मन से काम करने को इन रकमों को छोड़ दिया जाता तो ये सारे बाजार को डुबा डालते चाहे दूसरी तरह से संतुलित भी रहते। यह भी अच्छा नहीं है कि इस भगोड़ी पूंजी का आश्रय-स्थल बनकर चाहे जितनी रकम को स्वदेश में आने दिया जाय। युद्ध के पहले अमेरिका की बराबर यह शिकायत रही है कि उसके देश में दुनिया भर से भागकर बहुत-सा धन शरण लेने पहुंच रहा है जिसे 'गर्म' धन (hot money) कहते हैं।

इन्हीं कारणों से यद्यपि संसार के बहुत-से राष्ट्रों ने ब्रेटन-उड-समझौता (Bretton Wood's Agreements) में इस नीति को स्वीकार किया है कि चालू कारबार पर लगी हुई रोक-छेंक, परिस्थिति जैसे ही सुयोग दे, उठा देनी

चाहिये, फिर भी उनलोगों ने यह भी समझौता किया है कि पूंजी के स्थानान्तरण और कारबार पर लगी हुई रोक-छेंक अनन्त काल तक लागू रखी जानी चाहिये। यह बात तो सचमुच आवश्यक है पर इसमें एक या दो प्रतिबन्ध (reservations) भी रहना चाहिये। पहली बात यह कि यद्यपि चालू कारबार और पूंजी-कारबार के सिद्धान्तों के बीच जो विभेद है वह स्पष्ट है तो भी यह कहना बहुत ही कठिन हो जा सकता है कि कोई खास लेन-देन, जिसके लिए अनुमति मांगी जाती है चालू धन है या पूंजी का धन। यह बात १९४७ की जुलाई में उस समय दिखाई पड़ी थी जबकि एक अमेरिकी बोली (bid) पर पौंड स्टर्लिंग को चालू कारबार में परिवर्तनीय करार दिया गया था। यह रोक-छेंक की परिपूर्ण वापसी (withdrawal) नहीं थी क्योंकि पौंड के ब्रिटेनवासी अधिपति (owner) पहले ही की तरह पौंड की बिक्री करने में स्वतंत्र नहीं थे। पर इस बात का अर्थ यह था कि विदेशी लोग चालू कारबार में १५ जुलाई, १९४७ के बाद जो पौंड पायें उन्हें वे विदेशी मुद्रा में परिवर्तित कर सकते हैं अर्थात चालू खाते के पौंड स्टर्लिंग को जाम नहीं किया जायगा, यह बात कह दी गयी थी। यह इरादा था कि इस रियायत को कड़ाई के साथ केवल चालू खाता के पौंड स्टर्लिंग तक सीमित रखा जायगा और पूंजी की भगदड़ पर पहले की तरह ही रोक रखी जायगी। परन्तु व्यवहारतः चालू खाते के बहाने इतना अधिक पौंड (पूंजी का धन) परिवर्तनार्थ विनिमय-बाजार में आने लगा कि केवल पांच ही हफ्तों के बाद यह सुविधा वापस ले लेनी पड़ी। इसका निष्कर्ष यह निकला कि चालू खाते का धन और पूंजी के धन के बीच विभेद करना कठिन है—इस विभेद का कोई वजन नहीं होता। यदि पूंजी पर देश में आने या देश से चले जाने का भारी दवाव पड़ रहा हो तो यह आवश्यक हो सकता है कि पूंजी के कारबार और चालू धन के कारबार दोनो पर एक समान ही रोक लगानी पड़े यद्यपि चालू कारबार स्वयं ही संतुलित रूप में रहता है।

दूसरी बात यह है कि पूंजी के स्थानान्तरण पर रोक लगाने का उद्देश्य ऐसा

नहीं कि उसे अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का स्थायी स्वरूप समझ कर अंगीकार किया जाय। एक देश से दूसरे देश तक संसार भर में अधिक से अधिक लाभ की खोज में पूंजी का पर्यटन, अर्थात उस स्थान की तलाश में जहां जाकर इसके सहारे अधिक नया धन पैदा किया जा सकता है, संसार के विकास और विस्तार में एक प्रमुख कारण रहा है और यदि इसे रोक दिया जाय तो संसार इससे गरीब ही होगा। पूंजी के लिए घूमने-फिरने की स्वतंत्रता के अधिकार को निर्मुक्त होने के लिए संभवतः अभी बहुत इन्तजार करना पड़ेगा। पर यह विषय भी आर्थिक प्रबन्ध के कार्यक्रम में बना रहना चाहिये और पूंजी को सदा-सर्वदा के लिए रोक देने की लालच का परित्याग होना चाहिये। कितने अर्से तक यह पूंजी की रोक आवश्यक रहेगी यह बात यदि सोची जाय तो वह प्रभावशाली डालर पर आक्षेप करने के समान होगा जिसके कारण विदेशी मुद्रा-विनिमय-प्रबन्ध में महा गोलमाल मचता रहता है। इस विषय को अध्याय १० में और भी विस्तार से समझाया जायगा। हो सकता है (और न भी हो सकता है) कि संसार के लिए आगे चल कर कभी ऐसा समय आये कि वह अपनी मुद्राओं को संतुलन पर स्थापित कर सके और डालर के साथ उनका सम्बन्ध संतुलित हो जाय और उस समय उन्हें डालर की उतनी ही आवश्यकता रह जाय जितनी वे साधारणतः प्राप्त कर लिया करें। यदि ऐसा कभी हुआ तो डालर और अन्य मुद्राओं के विनिमय पर रोक डालने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। किन्तु यह बात भी है कि अमेरिका अभी काफी लम्बे अर्से तक उस पूंजी के लिए आकर्षक स्थान बना रहेगा जो छूट सकती है चाहे यह निर्जीव पूंजी हो जो अमेरिका में शरण-स्थल की खोज में गयी हो, या वह फाटकाबाज पूंजी (speculative capital) हो जो वालस्ट्रीट में मुनाफा की खोज में पहुंची हो अथवा वह सिपाही-पूंजी (soldier capital) हो जो किसी लाभदायक (remunerative) दीर्घावधि विनियोग की खोज में वहां जा पड़ी हो। यदि यूरोपीय पूंजी की यह जबर्दस्त प्रवृत्ति रह गयी कि भाग कर अमेरिका पहुंचें और यह लगातार ऐसी ही रही

तो यूरोपीय देशों के लिए यह बिलकुल ही कठिन हो जायगा कि उसकी मांग के अनुरूप परिमाण में वे डालर पा सकें। इसलिए ऐसा मालूम पड़ता है कि अभी जितने दिन आगे तक नजर जा सकती है उतने दिनों तक पूंजी को अतलांतिक समुद्र के पार भागने पर रोक (prohibition) या निश्चितता (ration) का प्रतिबंध लगाना आवश्यक रहेगा।

इसलिए कुछ वाजिब और कुछ आवश्यक कारण विनिमय पर रोक-छेंक लगाने का है ही। पर इसका मतलब यह नहीं है कि विनिमय की रोक-छेंक के लिए इसके अलावे और जो कारण हैं वे अनुचित हैं। उदाहरणार्थ किसी देश के लिए यह बात प्राय: सदा ही अनुचित है कि उसकी मुद्रा का एक विच्छिन्न मूल्य विनिमय-नियंत्रण के सहारे कायम रहा करे जब कि ऐसी एक संतुलित दर है जिसको रखने से विश्व के खुले बाजार में मजे में संतुलन बनाकर रखा जा सकता है। इस अवस्था में विनिमय-नियंत्रण का एक यही औचित्य रह जाता है कि इसके द्वारा संतुलित दर से जो पार्थक्य हो उसकी पूर्ति की जाय जैसा कि पृष्ठ ३४६–४७ पर हमने आस्ट्रिया का उदाहारण देकर बताया है। और यह कहना व्यर्थ ही है कि नाजियों ने विनिमय-नियंत्रण का जो दूसरे देशों को ठगने के काम में इस्तेमाल किया कि उससे लड़ाई का सामान जुटा कर रखा जाय, वह आर्थिक अत्याचार का एक स्पष्ट उदाहरण है। ऐसा आक्रमण करने की किसी भी राष्ट्र को अनुमति नहीं होनी चाहिये।

इसलिए केवल एक ही फैसला विनिमय-नियंत्रण के लिए साधारणत: दिया जा सकता है। वह यह है कि जहां तक संभव हो इससे बचना चाहिये पर परिस्थिति के कारण कभी-कभी यह आवश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनना चाहिये जिसमें यह व्यवस्था दी गयी हो कि किस तरह का विनिमय-नियंत्रण अनुमति-प्राप्त है और वह किस परिस्थिति में। इस बात की भी चेष्टा होनी चाहिये कि विभिन्न देशों से इस कानून को स्वीकार कराया जाय और इसके दुर्व्यवहार को रोकने के विषय में समझौता भी होना

चाहिये। इस दिशा में कुछ काम शुरु कर दिया गया है जो १९४४ में ब्रेटन उड समझौते के निर्णयों के अनुसार निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कोष कमेटी (International Monetary Fund) के द्वारा हुआ है और आपसी बातचीत से स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-संगठन (International Trade Organisation) के द्वारा भी। ऐसा कानून बनने में सफलता मिलेगी कि नहीं यह इस चीज पर निर्भर करता है कि इसके लिए कितनी तत्परता से चेष्टा की जाती है, क्योंकि अनुमान लगता है कि अमेरिका इस सम्बन्ध में एक सर्वाच्छादक साधारण सिद्धान्त स्वीकृत कराना चाहेगा जिसे वह सम्पूर्ण संसार के लिए लागू किये जाने पर जोर देगा। यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि समस्त देश वाले इस बात पर संतुष्ट होंगे कि नहीं। एक कम महत्वाकांक्षी परन्तु अधिक पक्का सिद्धान्त इस सम्बन्ध में यह निश्चित हो कि धीरे-धीरे इस विषय पर कानून निर्मित किया जाय जो हर एक देश की विभिन्न परिस्थितियों की जांच और तहकीकात के बाद उपनीत आधारों पर तैयार हो।

विनिमय-नियंत्रण, जो इस अध्याय में वर्णित हुआ है, ऐसी बहुत-सी कई प्रकार की प्रक्रियाओं का समूह है जो पिछली दो पीढ़ियों में आविष्कृत हुई हैं। परन्तु कम से कम एक तरह का हस्तक्षेप तो इतना पुराना है और इसका इतना प्रयोग संसार भर में हुआ है कि प्रायः इसे ही विदेशी विनिमय का स्वाभाविक और प्रकृत अवस्था माना जाता है। वह तरीका और कुछ नहीं, 'स्वर्ण-मान' (gold standard) का तरीका है जिसके विषय में आगे का अध्याय प्रस्तुत किया जाता है।

नौवां अध्याय

स्वर्ण-मान

THE GOLD STANDARD

'स्वर्ण-मान के कार्य

THE FUNCTIONS OF THE GOLD STANDARD

स्वर्ण-मान को माना जा सकता है कि विनिमय-दर को स्थायी रखने का यह एक अच्छा तरीका है। इसका वर्णन करने से पहले हम लोगों को यह समझ लेना चाहिए कि विनिमय-दरों का स्थायित्व क्यों चाहा जाता है।

यदि विनिमय-दर में छोटी-मोटी ह्रास-वृद्धि हुआ करे तो उनसे बहुत कम असुविधा हो। परन्तु यद्यपि सिद्धान्त में विभिन्न देशों का मूल्य-स्तर इतना जल्दी-जल्दी नहीं बदलता है जो विनिमय में बहुत भारी चलविचल का औचित्य-निश्चय करे पर व्यवहार में कई तत्व ऐसे आ जाते हैं जो बताते हैं कि जब विनिमय-दर को अपने मन से कमवेश होने को छोड़ दिया जाता है उनमें बहुत ह्रास-वृद्धि होती है। मौसमी तत्व (seasonal factors) मुद्रा की दर को साल में एक बार ऊपर चढ़ा देते हैं, फिर दूसरी बार उसे गिराते भी हैं। किसी एक ही दिशा में आकस्मिक संयोगात्मक अदायगी की अधिकता एक मुद्रा के मूल्य को घटा देती है और दूसरी को बढ़ाती है। भविष्य कथन जो अफवाहों पर पलता है या चतुरता पूर्ण प्रतीक्षा (intelligent anticipation) एक महीने में खरीदारी की बाढ़ ला सकती है और दूसरे महीने उसी का भाटा आ सकता है। इन परिस्थितियों में पड़कर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भारी असुविधाओं में पड़ जाता है।

यह समझना कठिन नहीं है कि विनिमय-दर की ह्रास-वृद्धि से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कैसे बाधा उत्पन्न हो जाती है। किसी व्यापार के बीच में ही विनिमय-दर का अनपेक्षित और तीव्र चलाचल उस व्यापार का नफा ही गायब कर दे सकता

है और उसमें घटी ला देता है। जब विनिमय-दर की ह्रास-वृद्धि होती रहती है तब व्यापारी एक अनिश्चितता की दशा में काम-काज करते हैं। इससे व्यापार के आकार पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। इसमें विशुद्ध व्यापार पर ही करारी चोट नहीं पहुंचती है क्योंकि एक करार की हानि दूसरे से पूरी हो जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-प्रबन्ध (international finance) का एक बड़ा भाग, जैसा कि हम अभी दिखायेंगे, एक देश दूसरे देश से उधार-पैंचा लेकर चलाता है। अब यदि ये ऋण महाजन के देश की मुद्रा में लिये जाते हैं तो कर्जदार को यह पता नहीं लगता कि उसका ब्याज उसकी अपनी मुद्रा में उसे हर साल कितना भरना पड़ेगा। वह यह भी नहीं जानता कि अदायगी के समय उसपर छोटा या बड़ा कैसा भार रहेगा। और अगर ऋण-करार कर्जदार की मुद्रा में किया जाता है तो उसी तरह महाजन भी इस बात से अज्ञात-सा रहता है कि उसे कितना ब्याज मिलेगा और ऋण-वापसी के समय उसे कितना रुपया लेना होगा। चूंकि सभी ऋणों में महाजन के हाथ ही ऊंचा रहते हैं, सब की बातचीत महाजन के देश की मुद्रा में ही होती है और इससे कर्जदार पर कई तरह का बोझ पड़ जाता है और इससे अन्तर्राष्ट्रीय ऋण की संख्या भी घटती है और उसका परिमाण भी।

इसलिए यह आसानी से समझा जा सकता है कि विनिमय-दर की ह्रास-वृद्धि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक व्यवस्था पर शांति-काल में भी बहुत बाधा डालती है। साधारण समयों में जब कि मुद्रा में बड़ी-बड़ी सट्टा-प्रेरित ह्रास-वृद्धियां होती हैं और जिस समय निर्यात-व्यापार की वृद्धि की आशा में सरकार कृत्रिम रूप से अपनी मुद्राओं का मूल्य घटाने को तत्पर रहती हैं, तो बाधाएं अपनी चरम सीमा पर जा पहुंचती हैं। यदि स्थायित्व को स्थापित किया जा सकता और इसके पीछे लगी असुविधाएं न आ जातीं तो इसे रखा जा सकता था।

इसलिए यह ठीक नहीं है कि विनिमय-मूल्य का स्थायित्व अपना ध्येय बना लिया जाय क्योंकि इससे घरेलू (domestic) असुविधा इतनी भारी पैदा हो जाती है कि वह बाहरी सुविधा से बढ़ जाती है। आजकल कभी-कभी स्वर्ण-मान

को विनिमय-स्थायित्व के भिन्न-भिन्न पहलुओं के विचार से समर्थन मिलता है। पर यह चीज इसी या ऐसे ही कामों के लिए आविष्कृत नहीं हुई थी। इसके प्रतिकूल मुद्रा के स्वाभाविक ऐतिहासिक विकास-क्रम में से यह चीज निकली है। मुद्रायें पहले धातु की ही बनती थीं। धीरे-धीरे मुद्रा-धातु में सोने का प्रमुख स्थान हो गया। अब यदि दो मुद्रायें सोने की ही बनी हों तो यह निश्चित है कि एक के मूल्य के समान ही दूसरे का भी मूल्य होगा—२५ ग्रेन सोना और १०० ग्रेन सोने के भाव में कोई तारतम्य नहीं हो सकता। इसलिए सभी देशों में सभी काल में यदि सभी सिक्के सोने के ही होते तो विनिमय-व्यापार में इतना बखेड़ा नहीं होता। वर्तमान कागजी मुद्रा सुवर्ण-मुद्रा से ही विकसित हुई है। सबसे पहले यह हुआ कि कुछ नोट सुवर्ण-मुद्रा के आधार पर उनके एवज में ही चलाये गये। इन्हें जब चाहें तभी बदल कर सुवर्ण-मुद्रा कर ले सकते थे। बैंक-नोट भी अपने आदि काल में निश्चय ही सुवर्ण-मुद्रा के एवजी होते थे, क्योंकि वे बैंकों के ऋण-पत्र ही तो थे और यदि उनके पीछे सोने के सिक्के का समर्थन नहीं होता तो वे नहीं चलते—जनता उन्हें स्वीकार नहीं करती। उसी तरह मुद्रा-विकास के दूसरे पर्व में बैंक-डिपाजिट और चेक का विकास हुआ—ये भी शुरू-शुरू में इसी वादा के साथ निकले कि जब चाहें तभी बैंक आपको उतनी स्वर्ण-मुद्रा दे देगा। बैंक-नोट और बैंक-डिपाजिट पहले तो सम्पूर्ण धन के एक छोटे से भाग ही थे जिनका अधिकांश सोने की मुद्रा का ही होता था। पर जब इनकी तादाद बहुत बढ़ गई और धन का बहुत बड़ा भाग नोट के रूप में तबदील हो गया तब भी बहुत दिनों तक यह बात रही कि मांगने पर कागज के नोट की सुवर्ण-मुद्रा मिल जायगी। सच तो यह है कि जब तक धातव और कागजी दोनो ही मुद्राएं एक साथ चलती रहेंगी तब तक एक को जभी चाहें बदल कर दूसरा ले लेने की सुविधा होनी चाहिए, क्योंकि एक ही मूल्य के दो सिक्कों का क्या उपयोग था ? परन्तु एक पीढ़ी पूर्व जब सुवर्ण-मुद्रायें गायब हुईं तो अब बैंक-नोटों की वह गारंटी समाप्त हो गयी कि इनके बदले सुवर्ण-मुद्रा जरूर ही मिल जायगी। सम्भव है मिल भी जाय पर इसकी अनिवा-

र्यता अब नहीं। अब आजकल तो दुनिया के प्रायः सभी देशों की मुद्रा में नोटों का स्थान है (हां, इसमें सहायक मुद्रा की तरह तांबे, निकल और चांदी के सिक्कों का भी स्थान है)। जब यह कागजी मुद्रा इस कानूनी प्रतिबन्ध से बनायी जाती है कि जितने मूल्य के नोट छापे जायेंगे वे सुवर्ण के सुरक्षित कोप के अनुपात में ही होंगे, तब उसे सुवर्ण-मान की मान्यता कहा जायगा। परन्तु यह कागजी मुद्रा जिसे हम एक निश्चित परिमाण में सोने से बदल ले सकते हैं कोई मुद्रा-सम्बन्धी आविष्कार तो नहीं है—यह तो सदियों के मुद्रा-विकास का परिणाम है।

सुवर्ण-मान के विकास के इन भिन्न-भिन्न युगों को भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं। जिस समय केवल सोने के सिक्के ही चलते हैं अथवा कागजी नोट और वे दोनो साथ-साथ चलते हैं उस स्थिति को "पूर्ण स्वर्ण-मुद्रा-मान" (full gold standard) कहते हैं। जब सोने के सिक्के बाजार में चलते नहीं हैं परन्तु तो भी केन्द्रीय बैंक पर यह जिम्मेदारी रहती है कि वह नोटों के एवज में मांग के अनुसार सोना लेगा और देगा तो उसे "स्वर्ण-मूल्य-मान" (gold bullion standard) कहते हैं। इसमें सोने का भाव निश्चित रहता है और अधिक से अधिक कितना सोना आदमी ले यह यद्यपि अनिश्चित रहता है पर कम से कम कितना मांगा जा सकता है, यह तय रहता है। इसका नाम 'स्वर्ण-मान' इस कारण है कि इसमें नोटों के बदले स्वर्ण-मुद्रा मिलने की गारन्टी नहीं पर सोना मिलने की गारंटी रहती है। तीसरा वह है जिसको "स्वर्ण-विनिमय-मान" (gold exchange standard) कहते हैं। इसमें केन्द्रीय बैंक पर सोना अथवा सिक्के देने की कानूनी बाध्यता नहीं है पर यह बाध्यता है कि नोटों को ऐसे सिक्के में बदल दिया जायगा जिसको सोने में बदला जा सकता है। स्वर्ण-विनिमय-मान गरीब अथवा कम साधन वाले देशों द्वारा धारण किया जाता है जो किसी बड़े देश के स्वर्ण-मानाश्रित नोट रख कर अपने नोटों का उनसे पलटा देते हैं। एक चौथा रूप भी है जिसमें सरकार को बदलने आदि का कोई जिम्मा नहीं है

पर इसमें यह भार सरकार पर रहता है कि वह अपनी मुद्रा का विनिमय-मूल्य सोने के मुक़ाबिले ही स्थिर रखेगी। इस चौथे ढङ्ग को, जैसा कि आगे बताया जायगा कि यह भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा चालू किये जाने को है, हम "स्वर्ण-समानता-मान" (gold parity standard) नाम दे सकते हैं। परन्तु स्वर्ण-मान चाहे जो भी रूप ले ले इसका अनिवार्य लक्षण यह है कि सीधे अथवा घुमा-फिरा कर इसका सम्बन्ध सोने से या तो आयतन में अथवा मूल्य में जोड़ा गया होता है।

सोना को छोड़कर चांदी अथवा प्लैटिनम किंवा कोई और धातु क्यों अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर मुद्रा के लिए प्रयुक्त नहीं हुई इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कुछ तो मुद्रा बनाने योग्य सबसे अच्छी धातु यही है और कुछ यह है कि इसके साथ एक ऐतिहासिक परम्परा लगी हुई है। आज तो यह बात नहीं मानी जाती। परन्तु पुराने जमाने में यह माना जाता था कि मुद्रा-धातु सोना ही है, अन्य धातुओं की अपेक्षा कुछ रहस्यमय ढङ्ग से यह अधिक योग्य है। मुद्रा का मोल केवल उसकी क्रय-शक्ति है और पहले के वर्णन में यह बात समझायी गयी है कि यह तत्व कई अन्य प्रकार के तत्वों के ऊपर निर्भर करता है जो इस चीज पर निर्भर नहीं है कि सका सोना में मूल्य क्या है। मुद्रा का मूल्य तो लोगों के विश्वास और भरोसा में है और यह भरोसा तब भी उसपर हो सकता है जब कि उसका आधार सोना हो और तब भी जब कि न हो।

आधुनिक स्वर्ण-मान दो कार्य करता है जिन्हें पहचान ले सकते हैं। प्रथम तो यह मुद्रा के परिमाण को शासित करने की एक रीति हो सकता है। मुद्रा-कानूनो में बराबर यह बात कही जाती है कि नोट तभी जारी किये जा सकते हैं जब कि उनके पीछे कुछ अंश तक सुवर्ण-राशि का बल हो। इस तरह ग्रेट ब्रिटेन में १९३९ के महायुद्ध के छिड़ने तक बैंक आफ इंग्लैंड को यह अनुमति मिली हुई थी कि वह स्वर्ण-बल (gold backing) के बिना केवल साख के सहारे ४० करोड़ पौंड के नोट जारी (fiduciary issue) कर सकता था। इसके बाद के नोटों

के लिए उसे प्रति नोट जोड़कर पूरा-पूरा सोना रखने का आदेश था। शुरू-शुरू में ये साख के नोट (fiduciary issue) सम्पूर्ण नोटों का केवल एक छोटा-सा भाग होते थे पर यह भाग धीरे-धीरे बढ़ता गया और १९३९ आते-आते तक बैंक द्वारा जारी किये गये नोटों का ४/५ भाग ऐसे ही नोट हो गये—केवल शेष १/५ भाग नोटों के लिए सोना रखा जाता था। तो भी यदि इससे और अधिक नोटों की आवश्यकता होती तो वह स्वर्ण-कोष (gold reserve) को और बढ़ा कर जारी किये जाते थे। इस तरह से मुद्रा को स्वर्ण-कोष से सम्बद्ध रखने के सिद्धान्त की रक्षा की जा रही थी। महायुद्ध छिड़ जाने पर यह आवश्यक समझा गया कि देश के सुवर्ण के स्टाक को इकट्ठा करके रख लिया जाय। इस समय बैंक आफ इंग्लैंड की जो स्वर्ण-कोष था उसे सरकार के हाथ बेच दिया गया और उसके एवज में सरकारी सिक्युरिटी रख ली गई और साख पर जारी किये गये नोटों की संख्या को बढ़ा कर सम्पूर्ण नोटों का स्टाक उनसे भर दिया गया। इतना ही नहीं युद्धकाल में इसे जितना चाहें उतना बढ़ाया भी गया। १६ अप्रिल १९४७ को ऐसे नोटों (fiduciary issue) का मूल्य १४५ करोड़ पौंड था। उस समय चालू नोटों का मूल्य तो १,३९,६५,३०,९१३ पौंड ही था पर इसके अलावे शेष ५,३७,१६,९२० पौंड के नोट बैंक आफ इंग्लैण्ड में मौजूद थे। उसी तारीख को बैंक के पास जो स्वर्ण-कोष था वह २,४७,८३३ पौंड से अधिक का नहीं था। इस बैंक आफ इंग्लैण्ड के सोना के अधार पर नोट जारी करने की जो शर्त थी अब उसकी छाया मात्र रह गयी है। अमेरिका में फ़ेडरल रिजर्व बैंकों को अधिकार है कि जितने का नोट वे जारी करें उसके ४० प्रतिशत मूल्य का सोना या सुवर्ण सर्टिफिकेट (क) वे अपने पास तैयार रखें। वास्तव में अमेरिकी कानून आधुनिक मुद्रा-प्रथा (monetary system) को अधिक समझ कर बनाया गया है। यह ब्रिटेन के बैंक-कानून से अच्छा है क्योंकि इसमें और भी यह व्यवस्था है कि

(क) सुवर्ण सर्टिफिकेट एक तरह के नोट हैं जो सरकारी खजाने द्वारा जारी किये जाते हैं जिसमें शत प्रतिशत मूल्य का सुवर्ण देने की बात रहती है।

३५ प्रतिशत का (क) और सुरक्षित कोष अपने जमा के ऋण का बैंकों को सुरक्षित रखना चाहिए। दूसरे देशों में दूसरे-दूसरे प्रकार की व्यवस्था है या थी जिनमें प्रतिशत सुरक्षित कोष-प्रथा (percentage reserve system) अधिक प्रचलित है। ब्रिटेन में जो निश्चित रकम-प्रथा (fixed-fiduciary-issue system) है उससे यह तरीका अच्छा है। परन्तु चाहे कोई भी व्यवस्था क्यों न हो, यह जब रखा जाती है तब बैंकों के नोट जारी करने का अधिकार नियन्त्रित ही कहा जायगा। केन्द्रीय बैंक, जिसने स्वर्ण-मान नहीं छोड़ा है, यह अच्छा समझ सकता है कि जितने का सोना उसके पास है उससे कम ही नोट जारी करे और सचाई यह है कि जितने केन्द्रीय बैंक नोट जारी करते हैं वे सभी अपने पास सुवर्ण का थोड़ा-बहुत कोष जरूरते नागहानी (emergency) के लिए जमाकर रखते ही हैं। किन्तु कानून को तोड़े बिना ये अपने कोष के अनुपात से अधिक मूल्य के नोट जारी नहीं कर सकते। असल में यह एक रीति है जिसके द्वारा यह व्यवस्था हुई है कि यकायक मनमानी संख्या में नोट जारी नहीं कर दिये जायें।

स्वर्ण-मान का दूसरा काम विनिमय-दर की स्थिरता को कायम रखना है। जिस देश में स्वर्ण-मान रहता है वह अपने नोट जारी करने वाले अधिकारियों पर (और बहुधा तो ये केन्द्रीय बैंक ही होते हैं) यह पाबन्दी रखता है कि उसके पास जितना भी सोना बिकने को आवे वह एक निश्चित दर में उन्हें खरीद ले और जितना भी सोना उससे मांगा जाय, वह निश्चित दर में ही उसकी पूर्ति करे। इस तरह १९१४ के पहले और १९२५ से १९३१ तक बैंक आफ इंग्लैंड पर यह पाबन्दी थी कि वह जितना सोना आवे ३ पौंड १७ शिलिंग ९ पेंस प्रति औंस (standard ounce) की दर से खरीदे और इससे १½ पेंस अधिक लेकर उसे बेचे। १९२५ से १९३१ तक इसी के साथ यह शर्त थी कि बैंक ४०० औंस से कम सोना की खरीद-बिक्री न करे पर इस बात की कोई सीमा नहीं रखी गई थी कि अधिक से अधिक

(क) यह कोष या तो सोना में रखना चाहिये या चालू सिक्के में जिसका ४० प्रतिशत सोना फिर भी रखना पड़ता है।

कितनी खरीद-बिक्री की जाय। बाजार में काफी खरीदार और बेचने वाले के आ जाने से बाजार की दर निश्चित हो जाती थी। जब तक लन्दन के सराफा बाजार (bullion market) में ये नियम लागू रहे तब तक सोना के मूल्य में कुछ हेरफेर हुआ भी तो वह १½ पेंस प्रति औंस के भीतर ही हुआ। यह रकम इतनी छोटी है कि व्यवहारतः यही कहा जाना चाहिए कि सोना का मूल्य स्थिर ही रहा। दूसरे स्वर्ण-मान वाले देशों में भी ऐसी ही व्यवस्था थी यद्यपि भाव मे कुछ तारतम्य होता था। विनिमय-दर के स्थायित्व पर इस बात का जो प्रभाव हुआ वह समझना आसान है। यूक्लिड के सिद्धान्त के अनुसार दो चीजें जो अलग-अलग तीसरी के बराबर हों आपस में बराबर होती हैं। यदि १ पौंड और ४·८६⅔ डालर दोनो अलग-अलग ११३ ग्रेन निखालिस सोने के बराबर हों तो इससे यह निकला कि दोनो रकमों का मूल्य भी समान है। यह बात नहीं है कि ठीक लन्दन में ११३ ग्रेन सोना का दाम १ पौंड था और न्यूयार्क में ४·८६⅔ डालर। लन्दन और न्यूयार्क दोनो के बीच चूंकि दूरी और समय का व्यवधान है जिनको जीतने में खर्च करना पड़ता है, इसलिए १ पौंड और ४·८६⅔ डालर मूल्यों के बीच उतना अन्तर रहना स्वाभाविक है जितना सोने को समुद्र पार भेजने पर बैठे। ये खर्च तीन प्रकार के हैं--भाड़ा, बीमा खर्च और ब्याज की हानि। पर ये बहुत छोटी रकमें हैं। १९२५ में जोड़ा गया था कि १ पौंड वजन का सोना अमेरिका भेजने में प्रायः १¾ अमेरिकी सेंट (cent) खर्च पड़ता है। अब दोनो जगहों के टकसाल-मूल्य (mint parity) का हिसाब १ पौंड = ४·८६⅔ डालर, जब कभी विनिमय-दर गिर कर ४·८४९ डालर हुआ या अमेरिका में इतना-सा मूल्य बढ़ा तो यह लाभजनक दीख पड़ने लगा कि लंदन में सोना खरीद कर अमेरिका भेज दिया जाय और उसे फेडरल रिजर्व बैंक के हाथ बेच कर डालर ले लिया जाय, बनिस्बत इसके कि पौण्ड-डालर का सीधा विनिमय हो। उसी तरह यदि विनिमय-दर बढ़ कर ४·८८५ डालर हो जाय तो यह सस्ता रहेगा कि पौंड खरीदने के बजाय सोना खरीद कर मंगा लिया जाय। वह विनिमय-दर जिसमें सोना का चलाचल लाभ-

जनक दीखता था उस समय निर्यात के लिए "स्वर्ण-निर्यात-विषय" (gold export point) और आयात के लिए "स्वर्ण-आयात-विषय" (gold import point) कह कर मशहूर हुआ। विनिमय-दर इन्हीं के बीच चल-फिर करने को स्वतन्त्र थी। परन्तु दोनो 'विषयों' (gold points) के बीच चूंकि मूल्य-विभेद तुल्यता-मूल्य (parity rate) के १ प्रतिशत के बराबर पड़ता था, विनिमय-दर कुछ उठ-गिर कर भी एक प्रकार के उन लोगों के लिए स्थिर ही थी जो साधारण तबके के व्यापारी थे और जिन्हें विनिमय-बाजार की पेचीदगियों से कोई मतलब नहीं था।

यह समझना एक दिलचस्प विषय होगा कि इस तरह जिस विनिमय-दर की स्थिरता कायम रखी जाती थी उसका अध्याय ७ में वर्णित उस सिद्धान्त से कैसे मेल खाता है जिसमें कहा गया है कि विनिमय-दर की अस्थिरता जो कई तरह की अवस्थाओं के कारण आती है और जिसमें मुद्रा की मांग और पूर्ति का खेल होता है, एक स्वाभाविक चीज है। जब कि सोने का मूल्य ४'८४९ डालर पर पहुंच गया तो यह हुआ कि डालर की कोई मांग यदि उस दर पर मुद्रा-बाजार में पूरी न हो सकी, तो बैंक आफ इंग्लैण्ड भेजी जाती थी और उसका सोना खरीद लिया जाता था। इस तरह से जो मांग की अधिकता होती थी वह खप जाती थी और घुमा-फिरा कर उसकी पूर्ति हो जाती थी; उधर बाजार में मांग और पूर्ति का परिमाण बराबर रह जाता था। इस तरह प्राविधिक दृष्टि (technical point of view) से स्वर्ण-मान वह युक्ति ठहरती है जिसके द्वारा यह निश्चय रहता है कि मुद्रा-बाजार में मांग और पूर्ति हमेशा एक दूसरे के समान रहेगी। अथवा और ठीक-ठीक परिभाषा दें तो कहेंगे कि दोनो चीजें एक दूसरे से इतना अधिक न घट-बढ़ जायेंगी कि विनिमय-दर में १ प्रतिशत (क)

(क) दो स्वर्ण-विषयों (gold points) के बीच का फर्क उस दशा में बहुत ही कम होता है जब कि दो देश पास-पास होते हैं—लन्दन और न्यूयार्क जैसे एक दूसरे से दूर नहीं होते। इस तरह से १९२९ में जोड़ा गया था कि लन्दन और पेरिस के बीच प्रायः $1\frac{1}{2}$ से 1 प्रतिशत तक का फर्क है।

से अधिक हेरफेर होने का मौका आ जाय। संक्षेप में यह भी एक खास तरह का कीलन (pegging) ही है।

स्वर्ण-मान के ये दोनो काम तर्क के हिसाब से बिलकुल स्पष्ट हैं। पहले का ध्येय नोट-प्रचलन के परिमाण पर नियंत्रण रखना होने के कारण इसका स्पष्ट सरोकार मुद्रा के भीतरी मूल्य से है। हम इस कारण इसे "घरेलू स्वर्ण-मान" (domestic gold standard) कह सकते हैं। दूसरे का ध्येय मुद्रा के बाहरी मूल्य का नियन्त्रण है, अतः हम उसे "अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान" (international gold standard) कह सकते हैं। घरेलू स्वर्ण-मान में प्रमुख मुद्दा (cardinal point) परिमाण का वह अनुपात है जो कानूनन सुवर्ण-संचय और चालू मुद्रा के बीच स्थापित किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान का सार यह है कि मुद्रा को स्वर्ण में परिवर्तित होने की योग्यता होनी चाहिये अर्थात मुद्रा की एक अदद के साथ सोने की इकाई का मूल्य-सम्बन्ध निश्चित होना चाहिये। कोई देश इसमें से एक कार्य कर सकता है—दूसरे को उसे छोड़ना पड़ेगा। उदाहरण के लिए जब पौंड स्टर्लिंग ने स्वर्ण-मान छोड़ दिया (अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान से मतलव है) तब १९३१ में बैंक-कानून की वह धारा जिसमें मुद्रा-परिवर्तन की व्यवस्था रखी हुई थी स्थगित कर दी गयी और बैंक आफ इंग्लैण्ड पर यह पाबंदी नहीं रह गयी कि इसे निश्चित दर में सोना रखना ही पड़ेगा या सोना देना ही पड़ेगा, चाहे जो भी प्रचलित दर हो उस समय। परन्तु मुद्रा और बैंक-नोट कानून की जिस धारा में यह व्यवस्था दी गयी थी कि बैंक उतने ही नोट छापे जितना उसके स्वर्ण-कोष के हिताव से उसे छापने का आदेश दिग्रा गया है, वह स्थगित नहीं हुई। यह स्वर्ण-कोष, जो १९३९ तक चला, इस उद्देश्य से उसी पुराने निश्चित स्वर्ण-मूल्य से जोड़ा गया था यद्यपि वर्तमान मूल्य से उसका कोई मेल नहीं था। अब इसके प्रतिकूल यह संभव हो भी सकता है कि मुद्रा को सोने में बदल सकने की योग्यता रहे और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान मान्य किया जाता हो, परन्तु देश में जितना परिमाण स्वर्ण का हो उसमें

और प्रचलित मुद्रा के परिमाण में कोई सम्बन्ध ही न हो। १९१४ के पहले फ्रांस उसी स्थिति में था। स्वर्ण-मान के ये दोनो काम, न केवल साफ-साफ और अलग-अलग हैं, वे बराबर आपस में लड़ जाया भी करते हैं। यदि मुद्रा के पीठ पर स्वर्ण-राशि रखनी ही हो तो यह स्वयंसिद्ध बात है कि सोना उस अवस्था में निर्यात के लिए प्राप्य न होगा। वह तभी प्राप्य होगा जब स्वर्ण-बल की पाबन्दी नोटों के या मुद्रा के जारी किये जाने के लिए न रहे। नतीजा यह है कि वह देश जो घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय दोनो प्रकार के स्वर्ण-मान रखता है वस्तुतः उसे दो-दो स्वर्ण-कोष रखने पड़ते हैं—एक रखा रहता है और दूसरा काम में आता है।

इन दो प्रकार के स्वर्ण-मानों में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान ही महत्व की चीज है। घरेलू स्वर्ण-मान तो उस काम के करने का एक भोंड़ा तरीका है जो दूसरी विधियों से बहुत अच्छी तरह पूरा किया जा सकता है अगर करना हो। (क) दूसरा और अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान ही एक उपाय है जिसके द्वारा आज तक विनिमय की स्थिरता कायम रखने में इतने लम्बे अर्से तक समर्थ हुआ जा सका है। इसलिए घरेलू स्वर्ण-मान के वर्णन में हमें अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है, हम उसके सम्बन्ध में थोड़ा कुछ कह कर इस पुस्तक के शेष पृष्ठों में अब अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के सम्बन्ध में ही वर्णन करेंगे।

घरेलू स्वर्ण-मान

THE DOMESTIC GOLD STANDARD

किसी देश के स्वर्ण-कोष में तथा उस देश की मुद्रा के परिमाण में जो सम्बन्ध है वह ऐतिहासिक उद्गम (origin) रखता है। यह उस बात का अवशेष चिन्ह है जबकि काग़जी मुद्रा और बैंक का बकाया ये सब ठोस सिक्के का प्रतिनिधित्व करते

(क) पृष्ठ २३३–३४ देखिये।

थे। किन्तु इस तत्व को इतने दिनों तक बचाकर रखे रहना इस निगूढ़ अंध-विश्वास का प्रमाण है कि मुद्रा वही पक्की है जिसका आधार सोना है यद्यपि भले ही वह सोना सरकारी खजाने में बंद हो जहां जनता की पैठ नहीं। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है कि १ पौंड का नोट रखने वाले जब चाहें तभी उसको सोना में परिवर्तित करा लें। इस नोट का मोल तो वास्तव में इसी बात पर है कि स्वयं वह और अन्य लोग उसको मुद्रा कह कर स्वीकार करते हैं। तो भी सोना का प्रभाव इतना अधिक है कि यदि पूछा जाय तो साधारण जनता तक कहेगी कि उसका नोट इसी कारण कीमती है कि उसके पीछे सुवर्ण का बल है जो बैंक आफ इंग्लैण्ड में सुरक्षित है। परन्तु यह पुराना अंधविश्वास अब समाप्त हो चला है। १९३९ साल में जब कि महायुद्ध छिड़ गया तो बैंक आफ इंग्लैण्ड में जितना सोना था वह विनिमय-समानता-खाते (Exchange Equalization Account) पर चढ़ा दिया गया जहां से यह बाहरी पयोग के लिए प्राप्त हो सकता है। वर्तमान में (१९४७ की बसंत ऋतु में) हर एक पौंड नोट के पीछे केवल $\frac{१}{२०}$ पेंस मूल्य का सोना है, फिर भी नोटों पर जो विश्वास था वह कुछ भी कम नहीं हुआ।

आधुनिक युग में स्वर्ण-संचय रखकर नोट चलाने की शर्त केवल इसी उद्देश्य से है कि अपरिमित संख्या में नोट छपने न लग जायें। पर इस ध्येय को पूरा करने के लिए इससे कम बरबादी वाले अन्य उपाय भी हैं। उदाहरण के लिए वह उदाहरण दिया जा सकता है जो फ्रांस में किया गया था। १९१४ के पहले फ्रांस में यह हुक्म हुआ था कि एक निश्चित संख्या से अधिक मूल्य के नोट न छापे जायें चाहे उनके एवज में कितना भी सोना रखा जाय या नहीं। सबसे अच्छा और समझदारी का तरीका यह होता कि मुद्रा-अधिकारियों के शुभाशय (good sense) पर विश्वास रखा जाय और किसी तरह के नियम-कानून इस सम्बन्ध में न बनाये जायें। नोटों की बाढ़ स्फीति का परवर्ती व्यापार है। यह आशा करना कि मुद्रा-वृद्धि की प्रक्रिया को छोड़ देने से हम स्फीति को रोक सकेंगे

वैसी ही गलत आशा है जैसे कि पहाड़ी से नीचे की ओर आनेवाली मोटर को पेट्रोल रोक कर ठहराने की आशा करना। यदि अधिकारियों पर इतना भरोसा न किया जाय कि स्फीति को बढ़ाने वाला कोई कार्य न करेंगे तो ठीक नहीं होगा—मुद्रा की पूर्ति को रोक देने से केवल बैंक-सम्बन्धी संकट ही पैदा होगा।

मुद्रा के परिमाण को सीमित रखने के लिए निम्नतम स्वर्ण-कोष की पाबन्दी न केवल व्यर्थ है, प्रत्युत विद्वेषमूलक भी है क्योंकि इस काम से मुद्रा का परिमाण तो स्थिर नहीं हुआ केवल सुवर्ण के परिमाण और मुद्रा के परिमाण के बीच का सम्बन्ध स्थिर होकर रह गया। और यदि सुवर्ण का परिमाण स्वयं ही ह्रास-वृद्धि पूर्ण हो तो घरेलू स्वर्ण-मान मुद्रा के परिमाण को सुस्थिर न कर के उसे और अस्थिर बनायेगा।

इस विचार में कुछ औचित्य अवश्य है कि संसार की सभी मुद्राओं के पीछे जो सोने का सुरक्षित कोष है, उसे एक साथ लेकर कहा जाय तो उसमें अधिक ह्रास-वृद्धि नहीं है। सोना प्रायः न बरबाद होने वाली धातु है और खानों से किसी भी अल्प अवधि के भीतर जो सोना निकाला जायगा वह वर्तमान स्टाक का एक छोटा-सा अंश ही होगा। इस प्रकार यदि वर्तमान स्टाक वार्षिक उत्पादन का २० गुना है तो वार्षिक उत्पादन दूना होने पर भी सम्पूर्ण स्टाक में केवल ५ प्रतिशत की वृद्धि होती है। पर यह बात जितनी पक्की मालूम होती है उतनी है नहीं क्योंकि यह तो सम्पूर्ण सोने के स्टाक की बात है जो सभी प्रकार के इस्तेमाल में आता है। मुद्रा में जो सोना लगता है उसका परिमाण तो घट-बढ़ सकता है जबकि संचयकारी उसको सहेज कर रखदें या पश्चिम के सोनाखोर उसे तहखानों से बाहर लायें अथवा पूरब के लोग अपनी महिलाओं के जेवर बेच दें। इससे भी अधिक विकासोन्मुख प्रसारमान संसार को अधिकाधिक मुद्रा चाहिये और यदि सोना का वार्षिक उत्पादन मुद्रा की दैनन्दिन वर्धमान आवश्यकता के अनुरूप न बढ़े तो या तो मुद्रा की अधिकता हो जायगी या अभाव और तब मूल्य के बढ़ने-घटने का रुख पैदा हो जायगा। यह बात १९वीं शताब्दी के मुद्रा-इतिहास से

साफ-साफ झलकती है, जैसा कि अध्याय ४ में बताया गया है। (क) १८२० से जबकि नेपोलियन-युद्धों की समाप्ति हो गयी १८५० के बीच के काल में सोने का स्टाक उत्पादन के विस्तार के साथ मिलकर नहीं चल रहा था, हीन पड़ रहा था। नताजा यह है कि ऐसे भी साल हुए हैं जिनमें दाम चढ़े हैं और ऐसे भी कि जिनमें दाम गिरे हैं, औसत रुख गिरने का ही रहा है। १८५० में कैलिफोर्निया और अस्ट्रेलिया में साने की नयी-नयी खानों का पता लगा और इससे उसकी पूर्ति में वृद्धि हुई कि दाम चढ़ने लगे। १८७३ से सोने का उत्पादन फिर मुकाबिले में कमजोर पड़ने लगा। फलतः कई देशों ने जिनमें जर्मन साम्राज्य का नाम हम ले लें अपने-अपने यहां पहले-पहल स्वर्ण-मान की परिपाटी शुरू की और इसलिए सोना की सीमित प्राप्ति को लेकर होड़ भी बढ़ने लगी। १८७०--८० में जो लम्बी मंदी फैल रही थी, यह होड़ भी इसका एक जबर्दस्त कारण था। अंत में १८९६ में दक्षिण अफ्रिका के रैंड नामक वृहद् सोने की खान को पता लगने तथा सुवर्ण-खनन की अच्छी से अच्छी रीति का विकास होने के कारण सोने की कुछ प्रचुरता हुई और मूल्य-स्तर एकबार फिर ऊंचा गया। (ख)

(क) पृष्ठ १४५ देखिये।

(ख) इन युगों के विषय में विस्तार के साथ सर वाल्टर टी. लेटन तथा लेखक की लिखी हुई पुस्तक "An Introduction to the Study of Prices" में वर्णन हुआ है। यह बात स्मरणीय है कि दीर्घावधि काल में भी मूल्य-स्तर के बनाने-बिगाड़ने की सारी जिम्मेदारी मुद्रा की पूर्ति को नहीं दी जा सकती। यह तो केवल मूल्य-वृद्धि को सीमावद्ध करती है। मूल्यों का स्फीतिमूलक बढ़ाव तब तक जारी रहेगा जब तक इसको रोकने के लिए कुछ किया न जायगा। और मुद्रा का अभाव जो साख के अभाव के कारण होता है (अर्थात सदस्य बैंकों का नगद रिजर्व कम होता जाता है) और यह स्वयं सोने की कमी से होती है (अर्थात केन्द्रीय बैंक का रिजर्व-अनुपात कम होते-होते निम्नतम कानूनी स्तर पर आ जाता है)—ये ही वे चीजें हैं जो रोक की तरह थीं। इसलिए मुद्रा की पूर्ति का काम ग्रामोफोन के गवर्नर से लिमता-जुलता है—यह मोटर में गति नहीं ला सकता पर उसको बहुत तेज होने से रोकता है। अगर

इस तरह देखने में आता है कि इस विश्वास का कोई कारण नहीं है कि मुद्रा को सोने के साथ बांध रखने से उसके परिमाण की स्थिरता रखी जा सकती है। १९२८-३० में, उस मंदी के बाद जो १९१४-१८ के युद्ध-काल के बाद बाजारों में आ गयी थी यह विश्वास होने लगा था कि सोने का अभाव होगा। उस समय वर्तमान सोने की खानों के उत्पादन के सम्बन्ध में विश्वासपूर्वक भविष्यवाणी की जा सकती थी और किसी नयी खान के पता लगने की संभावना इतनी कम थी कि भूगर्भवेत्ताओं के मतानुसार उसे 'नहीं' में समझना उचित कहा जाता था। इसलिए ऐसा समझा जाता था कि अब सुवर्ण-मुद्रा का परिमाण ऐसा न बढ़ सकेगा जो १९३० और ४० के दशकों में होनेवाले वाणिज्य-विस्तार की गति के साथ-साथ चल सके। समझा जाता था कि इस कारण मूल्यों का गिराव होगा और मंदी भी आयेगी।

परन्तु घटनायें आशानुरूप नहीं घटीं। १९३१ से प्रारम्भ होकर संसार की मुद्रायें सोने से सम्बन्ध-विच्छेद कर के टूटने लगीं। उदाहरण के लिए पौंड स्टर्लिंग जो एक औंस सोने के मूल्य के एक चौथाई से कुछ ही कम मूल्य का होता था अब आठवें भाग से भी कम मूल्य रखता हैं। डालर का मूल्य अपने पहले स्वर्ण-मूल्य का अब पांच में से तीन हिस्सा ही रह गया है। फ्रांसीसी मुद्रा फ्रांक (Franc) का पतन तो इससे और अधिक हुआ है। अगर आज का पौंड कम सोना के मूल्य का है तो इससे यह निकला कि एक औंस सोना आज अधिक पौंडों से आता है। इसलिए सचमुच ही लंदन में सोने का मूल्य ८५ शिलिंग से बढ़कर १७२ शिलिंग प्रति औंस हो गया है। इसका मतलब यह होता है कि संसार की सोने की खानों के सोने का वजन तो जैसे का तैसा है पर वह कीमत में बहुत बढ़ गया है। जब १९२८-३० में ऐसा लगता था कि सोने का अभाव होगा, तो यह अभाव सोने के परिमाण के

ग्रामोफोन का स्प्रिंग कमजोर हो जाय या उसमें चाभी न रहे तो गवर्नर हो या न हो उसकी गति धीमी होने ही लगेगी। उसी तरह सोने की सीमित पूर्ति के कारण सीमित मुद्रा की प्राप्ति मूल्यों को एक निश्चित मुद्दा से ऊपर जाने नहीं देती पर यह उसे नीचे गिरने से भी रोक सके ऐसा नहीं है।

मूल्य के हिसाब से जोड़ा जा रहा था। अब तो मूल्य-वृद्धि के अभाव (shortage) का डर चला गया है—वह बदल कर अब तो 'सुभाव' (surfeit) में अर्थात वास्तविक अधिकता में परिणत हो गया है। पर असलियत यह है कि मूल्य-वृद्धि के कारण उत्पादन को बड़ी प्रेरणा मिली है। खान खोदनेवालों की मजदूरी और सोना निकालने के प्रकरण में अन्य जो व्यय हैं वे तो मुद्रा के हिसाब से निश्चित हैं, सोने के हिसाव से नहीं। सोने की कीमत के साथ वे तो नहीं बढ़े। इस तरह सुवर्ण-खान का धंधा करना वहुत लाभजनक धन्धा हो गया और ऐसा भी हुआ कि घटिया दर्जे के कच्चा सोना (ores) निकालने अथवा अधिक गहराई के कारण जिन खानों को छोड़ दिया गया था उनमें भी काम शुरू हुआ। संसार का स्वर्णोत्पादन जो १९२९ में १९५ लाख औंस था वह दस साल के बाद ३९० लाख औंस पहुंच गया। इसके अतिरिक्त १९२९ में जितना सोना निकाला गया उसका मूल्य ८५ शिलिंग प्रति औंस की दर से ८३० लाख पौंड हुआ और १९३९ के उत्पादन का १६८ शिलिंग की दर से ३२८० लाख पौंड पर पहुंच गया। इस मूल्य और परिमाण दोनो की मूल्य वृद्धि के अतिरिक्त और भी बढ़ती सोने की हुई। वह इस तरह कि स्वर्ण-संचय करने वालों ने उसका ऐसा लचीला दाम देखकर अपने गहने अथवा जमा सोना बेच दिये। यों एक युग के भीतर ही सोने के अभाव की आशंका उसकी बहुत बड़ी अधिकता की वास्तविकता में बदल गयी।

स्थिति का यह सहसा परिवर्तन अपने आप यह दिखाने में समर्थ है कि केवल उन कानूनों के बना लेने से जिनके द्वारा मुद्रा के परिमाण और सुवर्ण के परिमाण के बीच सम्बन्ध रखने की व्यवस्था हो मूल्य में स्थिरता रहने की गारंटी नहीं है। सोने की कीमत और इसलिए स्वर्णाधार पर निर्मित मुद्राओं की कीमत कुछ अधिक स्थिर रहे और उनकी क्रय-शक्ति समान रहे यह उद्देश्य प्राप्त करने के लिए तरह-तरह की युक्तियां सुझाई गई हैं। इन सभी युक्तियों में सोना के उत्पादन या मांग पर कुछ नियन्त्रण रखने की योजना है। जब तक मुद्रा के सहारे के लिए कुछ प्रति-शत सोना सुरक्षित रखने का रिवाज है, सोने की मांग, मुद्रा की मांग का ही एक अंश

है आर फिर यह घूम कर धन की मांग का एक अंश ठहर जाता है। फिर धन की मांग क्या है कि उस काम का परिमाण है जो धन के लिए (money work) किया जाय या उस कारबार का परिणाम [किसी-किसी के विचार से विनिमय-अनुपात का प्रभेद (क)] है जो धन पैदा करता है अथवा अपने साधनों का वह हिस्सा है जिसे मनुष्य धन की शकल में रखने का निश्चिय करते हैं (दूसरे के विचार से)। (ख) सोने की पूर्ति का मतलब है वर्तमान स्टाक और हर साल का उत्पादन। यदि मांग पूर्ति की अपेक्षा तेजी से बढ़ रही हो (अर्थात यदि संसार की आर्थिक अभिवृद्धि सोने के स्टाक की अभिवृद्धि से आगे निकल गयी हो) तो सोने का मूल्य बढ़ेगा ही और फिर उलटी हालत में इससे उलटा परिणाम होगा। जब तक सोने की कीमत निश्चित है और बढ़ नहीं सकती तो एक ही उपाय है जिसके द्वारा सोने की मूल्य-वृद्धि हुई है, ऐसा झलकने लगेगा। वह यह है कि अन्य चीजों की कीमतें तो गिरी हों पर सोने का मूल्य नहीं गिरा हो। इसलिए इस समस्या को हम दोनो युक्तियों से सुलझा सकते हैं। पहली युक्ति यह है कि कोई ऐसा तरीका निकाला जाय जिसके द्वारा सोने की पूर्ति को उसकी मांग के साथ संतुलित किया जा सके जिससे कि इसका मूल्य चलविचल न हो। और दूसरे, यदि सोने के मूल्य के चल-विचल को नहीं रोक सकते तो वह परिवर्तन इस तरह प्रकट हो कि अन्य वस्तुओं के मूल्यों में कोई हेरफेर न होकर सोने के मूल्य में ही हेरफेर हो जाय।

इस लाइन पर कई तरह की विभिन्न योजनायें प्रस्तुत की गई हैं। पहली योजना तो, स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय विषय है क्योंकि यह किसी भी एक देश की ताकत की बात नहीं है कि वह सोने की पूर्ति का निश्चय करे। अगर कोई ऐसी संस्था बनाई जाय जो संसार भर की सोने की खानों का ठेका ले ले और उसे इस तरह चलाये कि नफा हो या न हो, वह इतना ही सोना निकाले जिससे मांग और पूर्ति संतुलित रहे तो भी वह सोने के अभाव में शक्तिहीन रहेगी। इस तरह की विचार-धारा

(क) पृष्ठ १४४ देखिये।

(ख) पृष्ठ १५४–५५ देखिये।

चलती-चलती यह स्वरूप लेती है कि वास्तविक सोने की पूर्ति को नियन्त्रित करने के बदले सोने के बदले किसी दूसरी धातु को स्वीकृत कर के उसकी पूर्ति को नियन्त्रित किया जाय। उदाहरण के लिए यह सुझाव दिया गया है कि संसार भर के केन्द्रीय बकों के स्वर्ण-भंडार को स्थानान्तरित कर के एक ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अधीन कर दिया जाय जो सोना के एवज में 'सुवर्ण-सर्टिफिकेट' जारी करेगा। ये सर्टिफिकेट केन्द्रीय बैंक वाले अपने स्वर्ण-कोष के स्थान पर रखेंगे और सोने के चलाचल के बदले उन्हीं का चलाचल किया जायगा। उस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के लिए तब यह संभव होगा कि वह आवश्यकता के अनुरूप कम या अधिक सर्टिफिकेट जारी करे और इस तरह मुद्रा के काम के लिए सबको बराबर सोने की पूर्ति करे। जब तक राष्ट्र अपना अलग-अलग सर्वोपरि सत्ताधिकार कायम रखेंगे और एक दूसरे को सन्देह की निगाह से देखते रहेंगे और जब तक सोना बहुमूल्य धातु माना जाता रहेगा, यह योजना प्रायः अव्यावहारिक ही रहेगी। इस योजना में एक संशोधन भी इस आशय का आगे लाया गया है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारी एक सीमित संख्या में सुवर्ण-सर्टिफिकेट जारा किया करे और किसी भी केन्द्रीय बैंक से यह न कहे कि तुम्हारे पास जो सोना है वह तुम दे दो। यह सुझाव यदि सबको स्वीकृत हो तो इससे सोने की कमी तो दूर हो जायगी पर यह उसके प्रति संचय को रोकने की शक्ति नहीं रखता फलतः यह भी स्थायित्व को तोड़नेवाला ही सिद्ध होगा।

इस समस्या से जूझने का दूसरा उपाय यह हो सकता है कि इसके अस्थिर उपयोग का मुकाबिला करने के लिए इसका अस्थिर दाम नियत किया जाय। अब यह चीज भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ही की जा सकती है। पर इस सुझाव का सब से बड़ा गुण यह है कि अलग-अलग राष्ट्रों द्वारा भी अपने यहां अलग-अलग अमल में आ सकता है। इस प्रकार की सर्वोत्तम योजना वह है जिसे 'कमोडिटी डालर' (commodity dollar) नाम दिया गया है और जिसका प्रतिपादन सब से पहले प्रोफेसर इरविन फिशर ने कई साल पहले किया था। इस योजना को अमेरिकी सरकार ने १९३३ में कुछ दिन के लिए क्रियान्वित किया था। इस

योजना में यह बात है कि जब कभी मूल्य-स्तर १ प्रतिशत कम हो तो वह सोने के मूल्य में १ प्रतिशत वृद्धि के बराबर है; इसलिए सोने के मूल्य को एक प्रतिशत बढ़ाकर हम इस मूल्य-ह्रास का इलाज कर सकते हैं। सोने के मूल्य का यह उत्थान अपने ही मूल्य में प्रतिध्वनित होगा और अन्य चीजों को दबने से बचा लेगा।

इस सिद्धान्त में सरलता और गणित के समान शुद्धता भी है। पर अभाग्यवश यही विश्वास नहीं जमता कि यह काम में आ सकता है। सोने के मूल्य में वृद्धि होने का एक ही उपाय है और वह यह है कि केन्द्रीय बैंक के स्वर्ण-कोष में वृद्धि की जाय और इस तरह से और भी मुद्रा सर्जित करने योग्य बना दिया जाय। परन्तु अल्पकालीन चलाचल में मूल्य-स्तर को मुद्रा की पूर्ति से कमोवेश ताल्लुक रहता ही है। कभी-कभी मंदी के दिनों में, जैसा कि १९३०–३३ में हुआ था मुद्रा की पूर्ति के वर्धमान होने पर भी मूल्य-ह्रास हो सकता है। यह सही है कि मूल्य नीचा हो या सुवर्ण-मूल्य ऊंचा हो, दोनो एक ही बात हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि सोने के मूल्य में वृद्धि होना ही चीजों के मूल्य-ह्रास का कारण है। जैसा कि पिछले अध्यायों में हम लोगों ने देखा है, मूल्य-ह्रास पूंजी और बचत की संयुक्त गति-विधियों का भी परिणाम हो सकता है जिसके साथ मुद्रा की पूर्ति के परिमाण का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस सैद्धान्तिक आलोचना की सत्यता अमेरिका के अनुभव से साबित हो चुकी है जो उसे 'कमोडिटी डालर'-योजना की परीक्षा के समय हुआ।

सोने के मूल्य को स्थिर रखने अथवा दूसरे शब्दों में कहें, तो इसके अभाव को दूर करने का एक दूसरा उपाय यह है कि द्वि-धातु (bimetallism) मुद्रा की स्वीकृति हो अर्थात सोने और चांदी दोनो धातुओं के सिक्के चलाये जायें। पिछले युग में लोगों ने इस सुझाव का पसन्द भी किया है। दो सौ साल पहले तो चांदी ही प्रधान मुद्रा-धातु थी। आज भी चांदी और मुद्रा के लिए जो फ़ान्सीसा शब्द है वह एक ही है। सोना सब से पहले ग्रेट ब्रिटेन में मुद्रा में लगाया गया और तब धीरे-धीरे उन्नीसवीं शताब्दी तक अन्य बड़े-बडे देशों ने सोने के सिक्के बनाये।

ऐसे लोग हमेशा ही रहे हैं जिहोंने चांदी के वहिष्कार की निन्दा की है और यह राय दी है कि पुनः इसी को अपना मुद्रा-मान वनाया जाय। इस चांदी-गुट (silver party) में प्रधानतः वे लोग थे, जिनके पास चांदी की खान है और इसलिए उनकी स्वाभाविक कामना यह रहती है कि चांदी की मुद्रा वनने लगे, तो उसकी मांग बढ़ जाय और उसकी कीमत ऊंची हो। परन्तु जव कि साधारण मूल्य-स्तर गिर रहा हो और इसका कारण यह दिया जा रहा हो कि सुवर्ण के अभाव से यह मूल्य-स्तर-पतन हो रहा है तो ऐसे समय चांदी के लिए कुछ दलील हो सकती है और उसकी मुद्रा चालू कर के मूल्य-ह्रास और उसके परिणाम में आयी हुई मन्दी को रोका जा सकता है। ऐसे समय दोनो धातुओं के सिक्के रखने की बात उन लोगों को तो अवश्य ही पसन्द आयेगी, जिनकी अधिक हानि इस चीज से हो रही हो अर्थात ऐसे समय किसान इसको सवसे अधिक चाहेंगे। अमेरिका में जो एक वार चांदी के पक्ष में बड़ा आन्दोलन चला था उसका कारण यही था। संयोग से पश्चिमी राज्य अधिकांश में कृषि-प्रदेश भी थे और उनके अन्दर चांदी की खानें भी थीं। सन् १८८०-९० की भारी मन्दी के बाद १८९६ में अमेरिकी प्रेसिडेन्ट का जो चुनाव आया था, उस समय यह आंदोलन खूब जोर पकड़ गया था। उस समय यह 'द्विधातु मान्यता' ही चुनाव का विषय बन गयी थी, जव कि जनतन्त्र पार्टी के उम्मीदवार विलिमय जेनिंग्स ब्रायन ने (William Jennings Bryan) इसी मुद्दा पर किसानों का समर्थन प्राप्त कर लिया था और वह अपनी प्रगल्भ वाणी में चारो ओर यह प्रचार करता-फिरता था कि "हम सोने के क्रूस पर मनुष्यता का वलिदान देखना नहीं चाहते"।

इस सुझाव में यह नहीं कहा गया कि सोना को एकदम से छोड़ कर अव चांदी को ही मुद्रा-धातु बना दिया जाय, कहा यह जाता है कि दोनो ही रहें। सोने के साथ चांदी की मुद्रा भी चलाई जाये। यह सुझाव दिया गया था कि मुद्रा एक निश्चित दर पर परिवर्तनीय रहे (ब्रायन ने मांग की थी कि २०.६७

डालर प्रति पौंड सोने का भाव रखा जाय तथा १·२९ डालर चांदी का; अर्थात १६ : १ का अनुपात) और मुद्रा के पृष्ठ पर जो सुरक्षित पूंजी रखने की बात है वह या तो चांदी में रहे या सोना में अथवा दोनो में। इस प्रस्ताव में एक ही भारी अवगुण यह है कि दोनो धातुओं के बीच का मूल्य-अनुपात हमेशा ठीक नहीं रह सकता। दोनो के ही मूल्य-निश्चय के सूत्र भिन्न हैं और दोनो पर अलग-अलग प्रकार की मांग और पूर्ति का प्रभाव पड़ता है। इस कारण कोई भी दाम जो एक बार निश्चित होगा वह आगे चल कर एक के लिए कम और दूसरे के लिए अधिक हो ही जायगा। अगर एक ही देश द्विधातु के मन्तव्य को स्वीकार कर के उसे क्रियान्वित करे (मान लें कि वह अमेरिका है) और संसार के अन्य देशों में चांदी का कोई निश्चित मूल्य नहीं रखा जा सके, तो अमेरिकी चांदी वहां १·२९ डालर के निश्चित मूल्य में या तो सस्ती पड़ेगी या मंहगी। अगर अन्य देशों के मुकाबिले अमेरिका में चांदी सस्ती पड़ीं तो संसार के अन्य देश वहां सोना भेज कर अपने देश को चांदी ले जायेंगे और अगर वह मंहगी पड़ी तो अपनी चांदी भेज कर यहां सोना खरीद लेंगे। इसलिए यदि सारे संसार में यह 'द्विधातु'-प्रस्ताव मान लिया जाय, तब इसके सफल होने की अधिक संभावना है, पर तो भी दोनो धातुओं के निश्चित दाम से हमेशा यह संभावना रहेगी कि किसी की खान रखना कम हानि या लाभजनक रहेगा और किसी की अधिक। ऐसे विश्व-व्यापी समाधान के अभाव में संसार में यह हो रहा है कि दोनो में से एक को मुद्रा-धातु माना गया है—कहीं केवल सोना माना गया है और कहीं चांदी, और ऐसी परिस्थिति में यह बात स्वाभाविक ही है कि इनका मूल्य स्थिर न रहे। (क)

(क) इस कठिनाई से बचने के लिए मार्शल ने एक दूसरी युक्ति बतायी है जिसका नाम उसने 'संयुक्त धातु' (symmetallism) दिया है। उसके प्रस्ताव के अनुसार मुद्रा को न केवल सोना का बल रहेगा न चांदी का और न वह किसी एक में ही परिवर्तनीय रहेगी; न जनता की राय के अनुसार इस सम्बन्ध में काम होगा और न केन्द्रीय बैंक की। उसने प्रस्ताव किया कि मुद्रा सोने और चांदी में परिवर्तनीय कर दी जाय और सम्भवतः यह

जब से चांदी को मुद्रा-धातु से खारिज कर दिया गया है उसकी कीमत सोने की कीमत से अधिक गिर गयी है और १९३२ के अन्त में तो चांदी और सोने के मूल्य का अनुपात १६:१ के बजाय ८२:१ हो गया था। १९३३–३४ में इस बात के प्रयत्न किये गये और खासकर अमेरिका में कि चांदी का दाम कुछ बढ़े और १९३४ के अन्त में यह अनुपात ७०:१ का रहा। किन्तु कुछ ही दिन ऐसा रह कर यह पुनः अपनी पूर्वावस्था में चला गया बल्कि उससे भी ऊपर उठा। १९३९ में महायुद्ध छिड़ने के समय तो यह अनुपात ९६:१ का हो गया था। चांदी के मूल्य का यह परिवर्तन संसार के अधिकांश हिस्से के लिए कोई प्रभाव नहीं रखता था जहां के लिए चांदी एक धातु छोड़ कर अन्य कुछ भी नहीं परन्तु संसार के दूसरे हिस्से के लिए यह भी एक महत्वपूर्ण वस्तु है। चीन की मुद्रा का आधार चांदी थी और वहां की चांदी की मुद्रा एवं स्वर्ण-मान-देशों की मुद्रा के बीच जो विनिमय-दर निश्चित थी वह उसी प्रकार घटती-बढ़ती रहती थी जिस प्रकार सोना और चांदी के मूल्यों में ह्रास-वृद्धि होती रहती थी। इसलिए चीनी मुद्रा में बड़ी तेज गिरावट की गयी। यह गिरावट १९३३ तक रही और उसके बाद जिस तरह से गिरावट हुई थी उसी

नियम लागू किया जाय कि मुद्रा का परिवर्तन सोना और चांदी दोनों को मिला कर बनाये गये पाशों से हो सकेगा। मानलें कि एक औंस सोना और १० औंस चांदी मिला कर ११ औंस के पाशे बनाये गये, उनका दाम निश्चित कर दिया गया और केन्द्रीय बैंक से कहा गया कि वह इन्हीं पाशों का लेन-देन करे। उसको निखालिस सोना या निखालिस चांदी देने-लेने से रोक दिया गया। सुरक्षित कोष भी मान लें कि इसी संयुक्त धातु के पाशों में रखा गया। इस व्यवस्था में चांदी और सोने की कीमत को मुक्त रूप से घटने-बढ़ने की छूट रहेगी, शर्त यह है कि उनका सम्मिलित मूल्य न घटेगा न बढ़ेगा। इस प्रकार यह संभव हो सकता है कि विश्व-मुद्रा (world's currency) के लिए दोनों धातुओं की सम्मिलित पूर्ति की आवश्यकता समान रहे। यदि मुद्रा का धातव आधार रखना बहुत जरूरी ही हो, और सोने का अभाव पड़ जाने की संभावना भी हो तो अकेले सोना के रखने से इस संयुक्त धातु-प्रथा को रखना अधिक अच्छा होगा। किन्तु इसमें भी सोने के अधिक होने की संभावना को रोकने का कोई उपाय नहीं है।

तरह सहसा उसका मूल्य बहुत उठा दिया गया। इस प्रकार चीन पहले तो अपनी मुद्रा के अल्पमूल्य और फिर अधिकमूल्य-धारण से पीड़ित हुआ। दोनो में से कोई भी अवस्था अच्छी आर्थिक दशा की सूचक नहीं है पर अधिकमूल्य-धारण की अवस्था इनमें अधिक हानिकर है। चीन में जो कृत्रिम मन्दी लाई गयी उसने वहां अधिक नुकसान किया—इससे कम नुकसान तो अमेरिका में हुआ था जहां चांदी का दाम बढ़ा दिया गया था। असल में चांदी को मुद्रा-धातु के पद पर पुनः आसीन कराने के लिए अमेरिका की जो चेष्टा हुई उसी के कारण चीन को अपना चांदी का आधार छोड़ने को लाचार हो जाना पड़ा। चीन ने इसके बाद अपनी मुद्रा के लिए दूसरा आधार बनाया जो १९३९ तक पौंड स्टर्लिंग के साथ बंधा हुआ था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी स्थायी धातव मुद्रा की प्राप्ति के लिए कई तरह के सुझाव आ रहे हैं। वे सुझाव हैं अन्तर्राष्ट्रीय सुवर्ण-सर्टिफिकेट, कमोडिटी डालर, द्विधातु-प्रचलन और संयुक्त धातव योजना (symmetalism), पर इन सभी सुझावों के साथ एक खास कमी यह लगी हुई है कि जब उनकी बहुत आवश्यकता रहेगी, उनको क्रियान्वित ही नहीं किया जा सकेगा। ये सारे सिद्धान्त अपना आधार परिमाण-सिद्धान्त पर रखते हैं—इनके भीतर यह विश्वास भरा हुआ है कि व्यवसाय-चक्र मुद्रा की संख्या पर निर्भर है और इसलिए आर्थिक सुव्यवस्था में पहला काम यह है कि मुद्रा की कोई स्थिर पूर्ति प्राप्त की जाय। परन्तु पिछले अध्याय में हमने कहा है कि यह सुझाव तो बहुत सीधा-सादा है। यह सही है कि मंदी धन की कमी कर के लायी जा सकती है परन्तु मन्दी का यह न तो एक मात्र और न बहुत प्रचलित कारण है; और मुद्रा की एक स्थिर संख्या भी कर दी जाय तो भी वह किसी देश को मंदी से बचा हीं सकती। इसके अतिरिक्त पिछले अनुच्छेद में हमने मुद्रा की कुछ चर्चा कर दी है और यह दिखाया है कि घरेलू स्वर्ण-मान के परिशोधन के लिए क्या-क्या युक्तियां की जाती हैं। असल में ये चीजें धन के परिमाण को नियमित करने के उद्देश्य से ही की जाती हैं।

मुद्रा की संख्या में कमी करने से धन के परिमाण में कमी हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि ये दोनो दो विभिन्न दिशाओं को जाती हैं। यों अगर सभी तरह के धन के परिमाण की कमी के साथ-साथ जब मुद्रा की संख्या में भी कमी हो जाती है और गहरी मंदी का आलम छा जाता है, साथ ही साथ जब बैंकों पर से भी विश्वास उठने लगता है (जैसा कि अमेरिका में १९३०-३३ में हुआ था) तो जनता मुद्रा को संचित कर के गिरते हु धन के परिमाण को रोकने की चेष्टा कर सकती है और इस अवस्था में मुद्रा का चलन-चालन बढ़ जाता है। इस प्रक्रिया को रोकने से कुछ नहीं होता, इससे कठिनाई और बढ़ती है और बैंकों पर और भी गभीरतम संकट आ जाता है। यह सच है कि मुद्रा की संख्या का प्रभाव मूल्य-स्तर एवं व्यापारिक स्थिति पर पड़ता है, परन्तु यह बात भी सही है कि चालू मुद्रा का परिमाण व्यवसाय के परिमाण पर निर्भर करता है जिसे उपस्थित मूल्य-स्तर तथा व्यापार-स्थिति में, जनता चेक को छोड़कर नगद पैसे के जरिये करने लग जाती है। यह कोई कारण नहीं है, यह तो प्रतिफल है। इससे यह बात निकली कि कोई भी युक्ति, जिसका एक मात्र प्रभाव मुद्रा के परिमाण पर होता है, साधारण मुद्रायिक स्थिति को उन्नत करने और आर्थिक सुस्थिरता लाने में बहुत कम सहायक हो सकती है।

तब घरेलू (domestic) स्वर्ण-मान को कायम रखने की क्या कोई और दलील हमारे पास हो सकती है, यदि हम घरेलू स्वर्ण-मान को अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के सम्बन्ध से निश्चित करने की चेष्टा करें? हम तुरत आगे चल कर यह बतायेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान का एक आवश्यक कदम यह है कि जब सोना किसी देश से बाहर निकलता जा रहा हो तो उस देश के आर्थिक व्यवस्थापक लोग ऐसे समय मूल्य-स्तर गिराने के उद्देश्य से ऋण पर रोक-थाम लगाते हैं और जब सोना बाहर से देश में आ रहा होता है तो वे ऋण-विस्तार की छूट दे देते हैं। जब सोना सुरक्षित कोष से निकाला जाता और बाहर भेजा जाता है तब मुद्रा को संकुचित करना पड़ता है। यह एक युक्ति है जिससे यह निश्चित हो

जाता है कि इस स्वर्ण-निर्यात का सही-सही परिणाम प्राप्त होगा। पुराने जमाने में जबकि धन का अधिक भाग मुद्रा द्वारा ही ढंका रहता था और जब कि मुद्रा में स्वर्ण की प्रधानता रहती थी, यह युक्ति बहुत कारगर होती थी। क्योंकि चालू मुद्रा में से सोने के सिक्कों के निकल जाने का अर्थ यह हुआ कि सम्पूर्ण धन का उतना-सा अंश निकल गया। पर आधुनिक धन-व्यवस्था में स्वर्ण के लिए दी जाने वाली इस दलील में भी वे ही खामियां हैं जिनकी ओर अभी इंगित किया गया है कि इसमें न केवल परिमाण-सिद्धान्त का अप्रत्यक्ष स्वीकार भरा हुआ है प्रत्युत यह धारणा भी भरी हुई है कि सुरक्षित स्वर्ण-कोष की ह्रास-वृद्धि के बाद तुरत ही धन की सम्पूर्ण पूर्ति में भी ह्रास-वृद्धि होने लगती है। ऐसी दशा में घरेलू स्वर्ण-मान को रखना बेवकूफी ही होगी जबकि इस ढंग से अनिश्चित रूप में वह अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान की सहायता करता है, यदि मान लिया जाय कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान को कायम रखना अच्छा भी है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहले बताया गया है, दोनों एक दूसरे को बाधा भी देती रहती हैं चूंकि चालू मुद्रा के पीछे सोने का एक सुरक्षित कोष रखने के निश्चय के कारण निर्यात के लिए सुवर्ण की कमी पड़ जाती है।

परन्तु जब तक बहुमूल्यता एवं दुर्लभता का भाव सोने से चिपटा हुआ है, जब तक साधारण जन उस मुद्रा पर अधिक भरोसा रखने की प्रवृत्ति रखते हैं जिसके पीछे सोने का बल हो, और जब तक देश-देश में इतना सोना प्राप्य हो कि इस मुद्रा-सहायता का क्रम चल सके तब तक घरेलू स्वर्ण-मान को कायम रखने की एक जबर्दस्त मनोवैज्ञानिक दलील थी। परन्तु दो-दो महायुद्धों की आवश्यकताओं और इनके बीच की अवधि में जो आर्थिक गड़बड़ी हुई उसके कारण यह दलील अब कमजोर पड़ गयी है। संसार के अधिकांश देश अपना समस्त स्वर्ण-भण्डार बेचकर गोला-बारूद खरीद कर रखने को वाध्य हुए हैं। उनकी जनता को कागजी मुद्रा से काम चलाना पड़ा है जिसका कोई स्वर्णाधार नहीं था। और इन देशों ने यह देख लिया है कि यदि देश के अर्थाधिकारी उचित और संयत

ढंग से काम करें तो इस तरह की कागजी मुद्रा भी पूर्ण विश्वसनीय हो सकती है। घरेलू स्वर्ण-मान प्रथा अब स्वाभाविक मौत मर रही है और स्वर्ण को अब अधिकाधिक रूप से इसके लिए छोड़ दिया गया है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करने का अपना कार्य करे।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान

THE INTERNATIONAL GOLD STANDARD

घरेलू स्वर्ण-मान को मुख्यतः केवल धन के परिमाण और मूल्य-स्तर पर उसके प्रभाव से मतलब रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान का सरोकार मुद्रा के वाह्यमूल्य से और विदेशी विनिमय की स्थिरता की रक्षा से है। यहां पर उस मुद्दा को फिर से दुहरा देना अच्छा होगा कि स्वर्ण-मान की युक्ति कभी किसी खास उद्देश्य की पूर्ति के लिए जान-बूझकर नहीं निकाली गयी थी। जिसको हमने इसका घरेलू कार्य-कलाप कहा है, स्वभावतः उस अविश्वास से पैदा हुआ है, जो इस धातव मुद्रा की दुनिया में कागजी मुद्रा के प्रति लोगों का रहता था। अगर नोट को सोने के सिक्के के साथ चलाना था तो यह देखा जाता था कि वे सुवर्ण-मुद्रा के एवज में जारी किये जायँ, वे बहुत अधिक परिमाण में न जारी किये जायँ और उनके परिवर्तन में दिया जाने वाला सोना सर्वदा खजाने में सुरक्षित रहे। विचित्रता यह है कि ये सावधानियां अब भी बर्ती जाती हैं—इस युग में भी जिसमें समस्त धन कागज में परिणत हो गया है और सोने के सिक्के करीब-करीब लुप्त ही हो गये हैं। यह वह युग आ गया है जिसमें मनुष्य अपने कागजी धन से सोना बदल लेने की तब तक परवा नहीं करता जब तक कि उसे देश के बाहर भेजना नहीं चाहता हो।

यही चीज अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के कार्य में भी है। जब देश की मुद्रा का अधिकांश भाग सोने का था तो दो देशों की मुद्राओं के मूल्य में सामान्य-सा ही अंतर पड़ सकता था—बशर्ते कि दोनो वजन में पूरी हों, उनकी धातु निखालिस हो और

वे चलते-चलते घिस-घासकर खराब न हो गयी हों और उनका वजन कम न हो गया हो। पाछे चलकर जब नोट अधिक चलने लगे तो उनकी सद्यः परिवर्तनीयता और छुद्र रकम ने पूर्व स्थापित स्वतः चालित विनिमय की स्थिरता को बिना छेड़-छाड़ किये स्थापित रहने दिया। पर और भी पीछे चलकर जब बैंक का जमा मनुष्य के धन का महत्वपूर्ण भाग बना तब स्थिति में कुछ उलझन पैदा हुई। यह सच है कि जब तक बैंक के जमा को आसानी से सुवर्ण में परिवर्तित कर लिये जाने की सुविधा मौजूद थी तब तक लंदन के बैंक में जमा पौंड स्टर्लिंग और न्यूयार्क के बैंक में जमा डालर में मूल्य-विभेद बहुत नहीं होता था। परन्तु यह तरीका स्वतः सिद्ध और ठगाई विहीन भी नहीं था क्योंकि इसमें परिवर्तनीयता की समस्या अब ढुका दी गयी थी। जब किसी देश की मुद्रा में अधिकांश भाग सुवर्ण-सिक्कों का होता है तब तो उसे सोने में तबदील करने का झगड़ा ही कहां रहा? यह तो सोना है ही। परन्तु जब किसी देश की मुद्रा कागजी हो जाती है या उससे भी कम तात्विक पदार्थ मुद्रा का रूप लेता है, जैसे कि बैंक का जमा, तो उसके सोने में परिवर्तित होने का काम न तो स्वाभाविक रह जाता है और न स्वयंसिद्ध। हम आगे जो कई प्रकार की युक्तियां बताने जा रहे हैं, ऐसी दशा में करनी पड़ती हैं, जिससे कि मुद्रा की परिवर्तनीयता सुरक्षित हो जाय।

परन्तु इन युक्तियों का विकास धीरे-धीरे हुआ है। इनमें ऐसे उपाय विनिमय की स्थिरता को कायम रखने के लिए करने पड़ते हैं जो शुरू-शुरू में ऐसे स्वाभाविक होते हैं कि उनके विषय में कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। स्वर्ण-मान के विकास के इतिहास के पीछे, जैसा कि वह १९१४ के पहले तक था और जिस समय जान-बूझकर यह फैसला किया गया था कि विनिमय की स्थिरता के लिए चेष्टा की जाय, कोई श्रेणी नहीं है। प्रत्युत इसके उलटे प्रथम महायुद्ध छिड़ जाने तक स्थिर विनिमय-दर की उपादेयता के सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही पैदा नहीं हुआ था। स्थिरता प्रायः एक शताब्दी से चली आ रही थी और जब कभी कुछ अस्थिरता आयी भी तो वह लड़ाई, क्रान्ति तथा आर्थिक विपत्ति के कारण ही आयी

थी। (क) यह ज्ञान कि बहुत-से ऐसे कारण भी हो सकते हैं जिनसे विनिमय की स्थिरता को छोड़ना पड़ सकता है, बिलकुल ही पिछले ३० साल के अंदर की उपज है।

किस युक्ति से स्वर्ण-मान विनिमय की स्थिरता को कायम रखता है, यह पहले ही वर्णित हो चुका है। विदेशी मुद्रा की जो मांग विदेशी मुद्रा-विनिमय-बाजार में सीधे विनिमय की प्रक्रिया द्वारा 'टकसाली समता' (mint parity) की दर से एक या आधा प्रतिशत के प्रभेद पर आसानी से पूरी नहीं हो सकती, उसे विनिमय-बाजार से निकालकर सुवर्ण-बाजार में फेंक दिया जाता है। इस तरह से विदेशी मुद्रा-विनिमय-बाजार में जो मांग पहुंचती है उसे पूर्ति के बराबर रखने की चेष्टा की जाती है। परन्तु यह कदम इस बिना पर उठाया जाता है कि वह मांग सुवर्ण-बाजार में जाने पर, वहां की इस शर्त के अनुसार कि चाहे सोने की जितनी भी मांग आवे पूरी कर दी जायगी, पूरी हो जाने का भरोसा नहीं रहे तो जो लोग विदेशी मुद्रा लेने की नीयत से विनिमय-बाजार में जाते हैं वे स्वर्ण-बाजार में जाने को तैयार न हों। और अगर वे यह न समझें कि वहां जाने से हमको जो सोना मिलेगा उसको बेच कर हम प्रति पौंड ४·८५ डालर पा जायेंगे, वे विनिमय-बाजार से ही चिपटे रह जायें और उन लोगों के साथ चढ़ा-ऊपरा कर के जो पौंड से डालर बदलने आये हों, वे विनिमय की दर को गिरा कर ४·८४ डालर प्रति पौंड या उससे भी कम कर दें। सचमुच उन्हें इस बात का ही विश्वास नहीं चाहिये कि एक पौंड में उन्हें लन्दन में ११३ ग्रेन सोना मिल जायगा, उन्हें इसका भरोसा भी होना चाहिये कि ११३ ग्रेन सोने की कीमत उन्हें न्यूमार्क में ४·८६$\frac{3}{4}$ डालर मिल जायगा, जिस कीमत में जहाज-भाड़ा आदि का खर्च भी शामिल है। मुद्रा की सोना में परिवर्तन-क्षमता तथा सोना की मुद्रा में पलट जाने की योग्यता

(क) हां, सोने और चांदी के सिक्के के बीच की विनिमय-दर की अस्थिरता की विपत्ति के अतिरिक्त, जो स्थिरता-प्राप्ति की दो वैकल्पिक विधियों के बीच की दूरी की बहुमुखी प्रसारण-प्रवणता (divergences) के रूप में उपस्थित की जा सकती हैं।

के विना स्वर्ण-मान विनिमय-दर की स्थिरता का बीड़ा नहीं उठा सकता। इसलिए स्वर्ण-मान की समस्या मुद्राओं की सोने में परिवर्तित होने की क्षमता की समस्या में बदल जाती है।

मुद्रा की परिवर्तनीयता (convertibility) को तभी कायम रख सकते हैं जब कि असन्तुलित व्यवसाय का दायरा, जिसकी संभावना सोने के चलाचल के कारण बढ़ जाने की रहती है, अधिक और हठ-युक्त (persistent) नहीं हो। यों साधारण स्वर्ण-मान के दिनों में किसी भी एक दिन स्वर्ण-मान की ४·८४ से ४·८९ डालर प्रति पौण्ड की दर के दर्म्यान, यदि पौण्ड के एवज में डालर की मांग उसी दिन की डालर के एवज में पौण्ड की मांग से अधिक रही तो बैंक आफ इंग्लैण्ड निश्चित रूप से इस प्रवाह को अधिक दिन चालू नहीं रहने दे सकता क्योंकि उसका स्वर्ण-संचय तो अनन्त नहीं है। देश के भातर बाहर से लगातार स्वर्ण-प्रवाह आता रहे इसमें भी परेशानी होती है पर वह परेशानी उतनी स्पष्ट नहीं है। यदि बैंक को नित्य अधिकाधिक सोना खरीदते ही जाना पड़े तो उसकी सारी पूंजी तो सोना में लग कर तहखाने में जा बैठेगी। और यह सोना वहां पड़ा रहता है—कमाता कुछ नहीं। फिर बैंक का खर्च कैसे चलेगा? स्वाभाविक है कि अधिक आमदनी (inflow) से बैंक एक दिन तंग आ जायगा और इस क्रम को रोकने का उपाय करेगा। यह काम वह ऐसे ही कर सकता है कि पौण्ड की एक अतिरिक्त वृहद् पूर्ति का प्रबन्ध कर ले जिससे वह पौण्ड की मांग पूरी करता रहे। इस तरह सोने की लगातार आमदनी में कम परेशानी है बनिस्बत लगातार रफ्तनी (outflow) के। ऐसा एक उदाहरण है जिसमें एक देश ने सोना से ऊब-डूब होकर उसकी खरीदारी बन्द कर दी थी, (१९१४-१८ के युद्धकाल में स्वीडन ऐसा ही देश था) पर ऐसे देशों की संख्या कम नहीं है जिन्होंने सोने की रफ्तनी इसलिए रोकी कि उनके पास का सोना समाप्त होने पर आ गया था। फिर भी सिद्धान्त में वह दलील दोनो ओर लागू है और हम कह सकते हैं कि केवल एक ही तरीका सोने और मुद्रा की निर्मुक्त परस्पर परिवर्तनीयता (free inter-convertibility) का यह है कि

विदेशी विनिमय-बाजार में किसी मुद्रा की मांग और वहां पर उसकी पूर्ति स्थायी रूप से असन्तुलित न हो जाने पावे। सोने का चलाचल मांग अथवा पूर्ति की अधिकता को स्थायी रूप से सम्हाल सकता है पर उसमें भी यह ताकत नहीं है कि वह स्थायी अधिकता को सम्हाल सके।

इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान में ऐसी युक्तियों का समूह रहना चाहिये जिनका प्रयोग कर के मांग और पूर्ति के बीच यदि कोई असंतुलन आ जाय तो उसे दुरुस्त किया जा सके। अध्याय ७ में जो निष्कर्ष निकाला गया है उसे यहां दुहरा देना अच्छा होगा। किसी मुद्रा की मांग और पूर्ति अन्ततः उस मुद्रा-क्षेत्र में चल रहे मूल्य-स्तर और व्यय-मान (cost) तथा संसार में चल रहे मूल्य-स्तर तथा व्यय-मान के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर करता है। यदि किसी देश का मूल्य-स्तर अपेक्षाकृत ऊंचा हो तो इसकी मुद्रा की मांग गिरेगी और इसकी पूर्ति बढ़ जायगी। स्वर्ण-मान की अवस्था में इस बात से यह होगा कि सोने की रफ्तनी बढ़ जायगी—यह बाढ़ आकस्मिक नहीं होगी, बल्कि लगातार और दिन-दिन बढ़ते हुए परिमाण में सोना देश से बाहर जाना शुरू जायगा। इसके विपरीत यदि देश में, बाहरी दुनिया के मुकाबिले मूल्य-स्तर नीचा हुआ तो देश में लगातार सोने की आमदनी होती रहेगी। इसलिए मुद्रा की परिवर्तनीयता की समस्या इस कारण उठती है कि उसके द्वारा जब सोना बाहर हो तो मूल्य-स्तर गिराकर उसे रोका जाय और जब वह देश में आ रहा हो तो मूल्य-स्तर बढ़ा दिया जाय।

परन्तु कोई युक्ति जो मूल्य-स्तर पर प्रभाव डालने की नीयत से की जायगी अपना उद्देश्य पूर्ण करने में कुछ समय लेगी। मध्यस्थित समय (interim period) में सोने की रफ्तनी रोकने के लिए कुछ अन्य कदम भी उठाने पड़ेंगे। यह स्मरण करें कि अध्याय ७ में हमने उन अस्थायी तत्वों की चर्चा की थी जिनका प्रभाव मुद्रा की मांग और पूर्ति पर पड़ता है। ये तत्व हैं दीर्घावधि पूंजी का चलाचल, अल्पावधि पूंजी का चलाचल और सट्टेबाजी (speculation)। दृढ़ता पूर्वक स्थापित स्वर्ण-मान युक्त मुद्रा-व्यवस्था में, सट्टेबाजी को तो खारिज ही कर दिया

जा सकता है क्योंकि उस अवस्था में जब तक स्वर्ण-मान को कायम रखा जायगा, विनिमय-दर ज्यादा से ज्यादा १ प्रतिशत से अधिक घट-बढ़ नहीं सक ती और इसलिए इसमें सट्टेबाजी की बहुत कम गुंजाइश हो सकती है। पूंजी का चलाचल रह जाता है। अध्याय ७ में यह बताया गया था कि मुद्रा के मूल्य पर इसका प्रभाव स्थायी नहीं रहता पर लम्बे समय तक तो रह सकता है और किसी भी हालत में हमलोग किसी ऐसे तत्व की खोज में हैं जिसको स्थिति पर कब्जा कर लेने के उद्देश्य से जल्दी से जल्दी जमा किया जा सकता हो जब तक कि अधिक धीरे-धीरे चलने वाला और स्थायी परिवर्तन मल्य-स्तर में नहीं आता।

तब, जब सोना की भारी रफ्तनी सामने आती है, केन्द्रीय बैंक ऐसे तत्वों को चालू कर देता है जो अन्त में मूल्य-स्तर में गिरावट ले आते हैं साथ ही जो आंतरिक पूंजी के चलाचल (inward capital movement) को प्रोत्साहित कर देते अथवा कम से कम पूंजी को बाहर चले जाने से (outward capital movement) रोक देते हैं। ये दोनो काम बैंक-दर को बढ़ाकर और ऋण-प्राप्ति पर रुकावट डालकर पूरे किये जा सकते हैं। हमलोगों को अध्याय ६ में यह सन्देह करने की बहुत-सी दलीलें मिली हैं कि मूल्य-स्तर को प्रभावित करने का केन्द्रीय बैंक का काम सदा पूर्ण प्रभावशाली नहीं हो सकता। परन्तु ब्याज-दर की वृद्धि और कर्जदारी की रोक-थाम से निश्चय ही मूल्य-स्तर गिरने लग जाता है। साथ ही साथ बैंक-दर की वृद्धि तो पूंजी-बाजार (capital market) पर भी असर डालती है। थोड़े दिन के लिए लिये गये कर्ज की ब्याज-दर—बैंको द्वारा पैंचा की मांग, सरकारी खजाने वाले बिल और विनिमय-पत्रक पर मिलने वाली छूट की दर आदि—पर तो तुरत प्रभाव पड़ता है। इसलिए ऐसे धन को, जो साधारणतः थोड़े काल के लिए लगाया जाता है, अब यह इच्छा होगी कि केन्द्र में भाग जायें जहां ऊंचा ब्याज मिलता है। यदि लंदन में बैंक-दर बढ़ा दी जाय, तो लंदन के बैंक और महाजनी का कार्य करने वाले अन्य लोग अपने उस धन को, जिसे उन्होंने अमेरिका, पेरिस और अन्यान्य क्षेत्रों में रख छोड़ा है, तुरत लंदन में ले आयेंगे और विदेशी बैंकों

को भी अपना जमा लंदन में रख देना ही अधिक लाभदायक जंचेगा। लंदन की ओर जो इस धन का वहाव होगा उससे पौंड की मांग बढ़ जायेगी और सोने का निर्यात बंद हो जायगा। १९१४ के पहले, जबकि विश्व भर के व्यापार के एक बड़े भाग को विनिमय-पत्रकों के जरिये अर्थ-सहायता मिलती थी और ये पत्रक लंदन के बैंकों के ऊपर जारी किये जाते थे, लंदन के मुद्रा-बाजार में चालू व्याज-दर को बढ़ा दिया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि पत्रकों की संख्या में आनन-फानन में कमी हो गयी। इसलिए जो धन पुराने मुद्दत-पूरे बिलों के भुगतान-के लिए लंदन भेजा गया वह उस धन से कहीं अधिक बढ़ गया जो धन लंदन से बाहर नयी बिलों के एवज में भेजे गये। इस तरह से पौंड स्टर्लिंग की मांग पूर्ति की अपेक्षा तुरत स्वाभाविक प्रवाह में और अधिक हो गयी।

बैंक-दर की वृद्धि समय आने पर उस व्याज-दर पर असर डालती है जो दीर्घावधि सिक्यूरिटियों पर मिल सकती है। बैंक-दर की बढ़ती के बाद ही प्रायः निश्चित रूप से ब्रिटिश सरकार की सिक्यूरिटियों में गिरावट आ जाती है जिससे उनमें अच्छा फायदा मिलने लगता है। हमने अध्याय ९ में बताया है कि पूंजी-बाजार के हर कोने-अंतरे में व्याज-दर की बढ़ती के विस्तार के मार्ग में कई तरह की बाधायें हैं। परन्तु बैंक-दर की बढ़ती से सभी दरों में कुछ बढ़ती के लक्षण आ जाते हैं, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। जब लंदन में व्याज-दर बढ़ती की दशा में हो तो बाहर के ऋण चाहने वालों को तो लंदन में और भी कड़ा व्याज उधार लेने के लिए देना पड़ेगा। इस कारण वे लंदन में उधार न काढ़ कर अन्यत्र उधार काढ़ेंगे या शायद उधार लेना ही कुछ दिनों के लिए मुल्तवी कर देंगे।

इस तरह बैंक-दर में अगर बढ़ती होगी तो विदेशियों द्वारा ऋण लेने के काम में कुछ कमी हो जायगी। हमलोग इसी से समझ सकते हैं कि बैंक-दर की बढ़ती के तीन परिणाम होते हैं अगर इसके साथ-साथ ऋण देने पर भी रोक लगायी जाय। सबसे जल्दी इसका प्रभाव यह होगा कि अल्पावधि वाली बैंक-पूंजी आकर्षक हो जायगी यानी मुद्रा की मांग बढ़ेगी। समय के लिहाज से दूसरा

प्रभाव यह होगा कि विदेशियों को मिलनेवाले ऋण में ह्रास होगा यानी विदेशी विनिमय-बाजार में मुद्रा की पूर्ति घटेगी। और तीसरे यह होगा कि मूल्य-स्तर धीरे-धीरे नीचे की ओर रुख करेगा और इससे मुद्रा की मांग भी बढ़ेगी और उसकी पूर्ति भी कम होगी। इसके विपरीत बैंक-दर की घटती और ऋण लेने में सुविधाओं की वृद्धि से कम मुद्दत वाला बैंक-पूंजी (banking funds) बाहर भागने लगेगी, विदेशी ऋण में वृद्धि होगी और मूल्य-स्तर ऊंचा उठेगा, जिनमें से हर एक का प्रभाव यह है कि वह मुद्रा की पूर्ति के मुकाबले में उसकी मांग को कम कर डालेगा।

१९१४-१८ के महायुद्ध के पहले तक अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के संगठन का प्रायः यही खाका था। यह प्रायः अनहोनी बात है कि जैसा बताया गया है ठीक वैसा ही काम इससे पूरा हुआ हो। फिर भी यह ऐतिहासिक सत्य है कि १९१४ के पहले के युग में ग्रेट ब्रिटेन में ही यह सबसे अधिक नहीं चला था वरन उन देशों में भी चला था जो अपना बाजार खुला रखते थे। इसका कारण अधिकतर यही था कि वह जमाना बिलकुल 'साधारण' था, इसमें सन्देह नहीं है। उस समय अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी का चलाचल न बहुत अधिक होता था और न वह अस्थिर ही था, और कम मुद्दत वाली पूंजी की सट्टेबाजी उस समय प्रायः अनजान-सी चीज थी। १९१४ के बाद से शायद कोई साल नहीं बीता है जब कि संसार के किसी न किसी देश को आर्थिक अवस्था में कमजोर न पाया गया हो पर इसके पहले किसी भी प्रधान मुद्रा के सम्बन्ध में इस तरह की शंका नहीं उठती थी। उस जमाने में लन्दन निस्सन्देह आर्थिक जगत की राजधानी था और लंदन होकर गुजरने वाले अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का परिमाण अन्य किसी भी केन्द्र में होने वाले लेन-देन का कई गुना होता था। तो भी बैंक आफ इंग्लैंड का सुरक्षित कोष जिसपर इस कारबार का सम्पूर्ण ताना-बाना रचा हुआ था अन्य देशों से, जैसे फ्रांस से, अमेरिका से, छोटा था और दोनो विश्वयुद्धों के युग में जो काम-काज हुआ था उसमें केन्द्रीय बैंकों पर जितना सोना रखने की जिम्मेदारी डाली गयी थी उससे बहुत ही छुद्र

था। (क) परन्तु अनुभव यह हुआ कि बैंक-दर वाली युक्ति, जिसे युद्ध के तुरत पहले तक खुले बाजार के कारबार की सहायता भी नहीं मिलती थी, इसके लिए काफी थी कि यह सुरक्षित स्वर्ण-कोष न बहुत नीचा गिरे न बहुत ऊंचा चढ़े।

इस प्रकार से स्वर्ण-मान का सुन्दर नियम यह है—जब सोना घर में आ रहा हो तब तो ऋण का कारबार बढ़ाओ और जब वह बाहर जा रहा हो तो उधार का कारबार समेटो। कोई केन्द्रीय बैंक इस नियम को थोड़े दिनों के लिए छोड़ सकता है अगर वह सोना खोने और उसके पाने दोनो की परवाह न करे। और ऐसा समय भी आ जाता है जब कि इस नियम का पालन करना बेवकूफी-सा लगता है। १९१४-१८ की लड़ाई के पहले ब्रिटेन में हर साल शरद के अन्त में पौंड कमजोर पड़ जाया करता था जिसका कारण पौंड का बहिर्गमन होता था। पौंड फिर वसन्त आने पर मजबूत होता था। यह मौसिमी चीज-सा हो गया था।

आधुनिक आर्थिक युग के इतिहास में, जब कि सोने के सिक्के ही धन की पूर्ति के अधिकांश भाग होते थे, सोने के चलाचल का प्रायः आपसे आप प्रभाव घरेलू ऋण-कारबार की स्थिति पर पड़ता था। क्योंकि जब सोना बाहर भेजा जाता था तो यह निर्यात स्वयं ही मुद्रा-पूर्ति के प्रतिकूल था। १९१४ तक दोनो तत्वों के

(क) १९१३ में बैंक आफ इंग्लैण्ड का स्वर्ण-कोष प्रायः ३½ करोड़ पौंड का था। इसमें से १ करोड़ पौंड का सोना नोटों के पीछे सुरक्षित रखा रहता था और शेष २½ करोड़ पौंड सोना सोने के निर्यात के लिए रखा गया था। ३१ मार्च १९३९ को बैंक आफ इंग्लैण्ड और सरकार दोनो का सोना मिलकर प्रायः ५६ करोड़ पौंड का हो गया था। इसमें से २१ करोड़ पौंड नोट-चलन के लिए रखा गया और ३५ करोड़ पौंड निर्यात के लिये प्राप्य था। परन्तु यह बटवारा प्रायः नुमाइशी था क्योंकि सरकारी खजाने को अनुमति प्राप्त थी कि सोना को एकदम से चाहे तो दूसरे मद में ले जाये। और युद्ध छिड़ जाने पर तो प्रायः सब का सब सोना इस तरह से निर्यात के मद में चला गया था। युद्ध के पहले भी जो इतनी भारी रकम का सोना निर्यात के लिए रखा जाता था, इससे जाहिर होता है कि विदेशी मुद्रा-विनिमय-बाजार का कितना विस्तार हो रहा था।

बीच में तना सम्बन्ध रहा कि अनाड़ी भी समझता था कि यह स्वतः स्वाभाविक चीज है। बैंक आफ इंग्लैण्ड का अतिरिक्त सुरक्षा-कोष इतना छोटा था कि अपनी ही पुख्तगी के लिए बैंक आफ इंग्लैण्ड के लिए यह जरूरी हो गया कि इस सुरक्षित कोष के ऊपर यदि कोई ड्राफ्ट हो तो उसकी तुरत चुकती करता था। इसके अतिरिक्त इस सुरक्षित कोष के साथ दो तरह का खर्च भी लगा हुआ था। अगर ब्रिटेन में चीजों का मूल्य बढ़ता हो, और वह अन्य देशों से अधिक बढ़ रहा हो तो सोने का रुख बाहर जाने का हो जायगा। परन्तु उधर सोने की मांग सिक्के बनाने के लिए भी बैंक आफ इंग्लैण्ड से होगी कि जनता की जेब में कुछ अधिक चालू सिक्का पड़े और व्यापारियों के तहवाल में भी कुछ रखने के लिए हो जाय। इसके विपरीत जब इंग्लैण्ड में अन्य स्थानों से अधिक मूल्य-ह्रास हो रहा होगा तो बैंक आफ इंग्लैण्ड में बाहर से भी और जनता का ओर से भी सोने का आगमन होने लगेगा। इसलिए अपने ही स्वार्थ के विचार से बैंक आफ इंग्लैण्ड सोना के चलाचल को एकाध सप्ताह से अधिक खुला रहने नहीं दे सकता। अन्त में इसे भी उस स्वर्णिम नियम (golden rule) को मानना पड़ता है जो एक तरह से स्वतः चालित तो नहीं है पर ऐसे तत्वों से मंडित है जो स्वतः चालित-से लगते हैं।

१९१४ के पहले संसार की जो अवस्था थी उसमें स्वर्ण-मान बहुत अच्छी तरह चला। उस समय विनिमय-दर की स्थिरता कायम रखने के लिए थोड़ा भी प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी फलतः ऐसा लगता था कि यह चीज परम स्वाभाविक है। उन दिनों भी विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्था आज से कुछ कम विचित्र नहीं होती थी। उन दिनों भी अमेरिकी घास के मैदानी हिस्सों (prairies) में जो अर्थ-व्यवस्था थी वह लंकाशायर की अर्थ-व्यवस्था से भिन्न पड़ती थी, आज भी पड़ता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान की युक्ति से ये सभी विभिन्न आर्थिक ढांचे एक ही मुद्रा-रीति (monetary system) एवं एक ऐसी मूल्य-रीति (price system) के भीतर समा लिये गये थे कि वे सभी एक सदृश लगते थे और अन्तर्राष्ट्रीयता का स्वरूप पा गये थे। उस समय हरेक देश की मुद्रा

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा अर्थात सोने का ही एक भिन्न रूप लगती थी और हर एक देश की आर्थिक इमारत (economy) ऐसी लगती थी कि मानो वह अखिल संसारीय इमारत का ही एक भाग हो और एक दूसरे से सम्बद्ध हो। इसी संतुलन और एक-रूपता एवं सम्वद्धता का स्मरण अभी भी अर्थशास्त्रियों के मानस में विद्यमान है कि वे विश्वास करते हैं कि संसार के विभिन्न देशों की विभिन्न मुद्राओं में पहले जैसा ही मेल और सामंजस्य रखा जा सकता है। इसी ध्येय की पूर्ति के लिए वे पुनः अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान रखे जाने की तजवीज देते हैं।

परन्तु स्वर्ण-मान तो एक इर्ष्यालु देवता की तरह है। यह काम करता है पर तभी, जब कि इस पर अटूट भक्ति रखी जाय। यह सफल हो सकता है यदि केन्द्रीय बैंक विनिमय-दर की स्थिरता के लिए जी-जान से चेष्टा करे और दूसरा कोई अभिप्राय मन में न रखे—इसे तैयार रहना चाहिये कि जब बाहर से इसके पास सोने की आमदनी अच्छी होती रहे तब, और केवल तभी, यह अपना उधार खाता विस्तृत करे और अपना उधार कारबार यह रोके जब कि, और ठीक-ठीक जब कि, निर्यात में इसे सोना बाहर भेजना पड़ रहा हो। सोने के निर्यात से घबड़ा कर उधार खाते का संकोचन ऐसे समय आ सकता है जब कि विनियोग बचत से बढ़ता जा रहा हो और विशुद्ध घरेलू कारणों से ही इस संकोचन का स्वागत होता है—चाहे नहीं भी हो सकता है। उधार खाते का विस्तार ऐसे समय किया जाता है जब कि विनियोग की वृद्धि के लिए विस्तार की आवश्यकता हो—या न हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि केन्द्रीय बैंक जब जैसा तब तैसा का संकुचित नियम पालन करे। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि वह अपने सुवर्ण-कोष पर खास कर ध्यान रखा करे। परन्तु इसके मानी यह है कि केन्द्रीय बैंक की प्रधान चेष्टा इस ओर हो कि अपनी मुद्रा की परिवर्तनीयता कायम रहे और अन्य उद्देश्यों का पीछा तब ही किया जाया जब कि, और उसी हद तक कि, वे इस मूल उद्देश्य से न टकरायें। व्यवहारतः इसका मतलब यह है कि केन्द्रीय बैंक सुवर्ण के सुरक्षित कोष की ओर से अपनी नजर हटा भी ले सकता है और मूल्य के स्थिरीकरण और आर्थिक नियंत्रण

की ओर दो हालतों में अपना ध्यान लगा सकता है। वे दो अवस्थायें ये हैं—यदि इसके पास इतना बड़ा सोने का खजाना हो कि इसको उसकी कोई चिंता न हो या जब कि संयोग से ऐसी स्थिति वर्तमान हो कि जो नीति-परिवर्तनीयता को कायम रखने के लिए बर्ती जानेवाली हो, वह मूल्य-स्थिरता को कायम रखने के मतलब में भी सही पड़े। या कोई दूसरा ही उद्देश्य मन के भीतर हो।

देखने से तो ऐसा लगेगा कि इस तरह के सौभाग्यपूर्ण संयोग बराबर ही मिलते रहेंगे। जब सोना बाहर की ओर जायगा तो उधार खाता को संकुचित किया जायगा और सोना तभी बाहर की ओर रुख करेगा जब कि मूल्य-स्तर बहुत ऊंचा होगा। इसके विपरीत उधार खाते का विस्तार तब किया जायगा जब कि मूल्य-स्तर बहुत नीचा रहेगा। इसलिए ऐसा मालूम पड़ेगा कि वह स्वर्णिम नियम इस तरह से काम करेगा कि इधर तो मूल्य-मान स्थिर होगा और उधर विनिमय-दरों में स्थिरता आयेगी। परन्तु यह दिखावट तो भ्रामक है। मूल्यों के वृद्धि-प्राप्त होने से ही सोना बाहर की ओर भागने नहीं लगता है और इससे ही झटपट उधार-खाते का संकोचन प्रारम्भ नहीं हो जाता। इसमें मूल्य-वृद्धि ऐसी होनी चाहिये जो दूसरे देशों की मूल्य-वृद्धि के मुकाबिले अधिक ठहरे। अब, जब कि संसार का मूल्य-स्तर गिर रहा हो और ब्रिटेन का स्थिर हो तो ब्रिटेन का मूल्य-स्तर इस हिसाब में ऊंचा उठता हुआ ज्ञात होगा और तब वह जो स्वर्णिम नियम है वह ग्रेट ब्रिटेन के लिए उधार खाते को रोकना शुरू करेगा जिससे कि वहां का मूल्य-स्तर भा इसी रफ्तार में गिरना शुरू करे जैसा कि अन्य देशों का गिर रहा है। इसी तहर उधार-खाता इसी कारण झटपट शुरू नहीं कर दिया जायगा कि ग्रेट ब्रिटेन में मूल्य-स्तर गिर रहा होगा, परन्तु इस कारण कि अन्यत्र का मूल्य-स्तर उठ रहा होगा। यह स्वर्णिम नियम इस मतलब से नहीं है कि मूल्य-स्तर की संजीदगी कायम रखी जाय पर यह इस बात की निश्चितता के लिए है कि हर एक राष्ट्र का मूल्य-स्तर उसी स्तर पर रहे जितना कि कोई अन्य। और चूंकि, जब स्वर्ण-मान कायम हो, हर एक केन्द्रीय बैंक इस बात पर तुला हुआ

होता है कि विनिमय-दर स्थिर रहे और उनमें से कोई भी स्फीति और विस्फीति के समय-समय पर होने वाले दोलन—अति विनिमय और अल्प विनिमय, उच्च मूल्य-स्तर और निम्न मूल्य-स्तर—को निवारित करने की चेष्टा नहीं करता, ये दोलन इस बात में स्वतन्त्र रहते हैं कि ये अपनी पूरी सीमा तक जायें। स्वर्ण-मान इस बात की चेष्टा नहीं करता कि ये झोंके (lurches) बचा लिये जायें। उसका कोशिश यही होती है कि झोंका खायें तो सब एक साथ। उन्नीसवीं शताब्दी में यह दोष इतना भारी नहीं लगता था कि विदेशी विनिमय की स्वतः चालित स्थिरता भारी पड़े क्योंकि देशीय एवं विश्व-व्याप्त मूल्य-चलाचल, यद्यपि देखने में आता था परन्तु वह न बहुत भारा होता था और न अचानक। परन्तु हमारे आज के युग में मुद्रा-व्यवस्था की अस्थिरतायें इतनी बड़ी होती हैं और उनका प्रभाव इतना कष्टकर होता है कि हर एक राष्ट्र अपनी शक्ति भर यह चेष्टा करता है कि उन्हें जहां तक सम्भव हो सके बांधें चाहे इससे विदेशी विनिमय की स्थिरता को ताक पर भी रख देनी पड़े।

अन्तर्युद्ध स्वर्ण-मान : पुनस्थापन

THE INTER-WAR GOLD STANDARD : RESTORATION

१९१४ की लड़ाई शुरू होने पर पहले ही सप्ताह में यह स्वर्ण-मान छिन्न-भिन्न हो गया। यूरोप का हर एक युद्ध-रत देश और दूसरे-दूसरे महादेशों के किसी-किसी राष्ट्र ने भी युद्ध-घोषणा के कुछ दिन के भीतर ही परिवर्तन की सुविधा को उठा दिया और युद्ध के दौरान में तटस्थ देशों ने भी ऐसा ही किया। ग्रेट ब्रिटेन में बैंक आफ इंग्लैण्ड पर जो एक निश्चित दर में सोना खरीदने और बेचने की कानूनी बाध्यता थी वह कायम रही परन्तु चूंकि स्वर्ण-सिक्कों का गलाया जाना और सोने का निर्यात, दोनो कामों पर रोक लगा दी गयी थी, अब बैंक के पास नोट के बदले में सोना पाने के लिए दरखास्त देने के कोई मानी ही नहीं रहे। इस तरह परिवर्तनी-यता को व्यवहारत: स्थगित कर दिया गया यद्यपि कानून में यह रह गया। इस

परिवर्तनीयता की सुविधा को स्थगित करने का तात्कालिक कारण स्वर्ण-कोष को यथातथ्य सुरक्षित छोड़ देने का विचार हुआ। युद्ध के दौरान में यूरोप के हर एक युद्ध-रत देश ने सोने के सिक्के खींच लिये और उन्हें केन्द्रीय बैंक में सुरक्षित रख कर उनके एवज में नोट चालू कर दिया गया और कई लड़ाकू देशों ने, जिनमें ग्रेट ब्रिटेन भी शामिल है, इस तरह से इकट्ठा किये हुए सोने के कम से कम एक हिस्से को तटस्थ देशों से आवश्यक वस्तुओं के आयात करने में इस्तेमाल किया। इसलिए यह कहा जा सकता है कि १९१४ में स्वर्ण-मान का स्थगन था तो सैनिक आवश्यकताओं से किया गया अथवा राजनीतिक दाव-पेंच के कारण।

पर राजनीतिक दाव-पेंच के कारण न भी स्थगित किया जाता ता भी विशुद्ध आर्थिक कारणों से इसे स्थगित होना जरूरी था। युद्ध में इतना खर्च था कि वह कर से अथवा लोगों से बचत का रुपया ऋण लेकर पूरा नहीं किया जा सकता था। खर्च के लिए तो बहुत-सा धन सीधे मुद्रा-स्फीति के द्वारा—सरकारी इस्तेमाल के लिए बड़ी संख्या में नोट छाप-छाप कर और उधार काढ़ कर—लिया गया। इस स्फीति के कारण मूल्यों में चढ़ाव आया—सरकार का उद्देश्य भी चीजों का मोल बढ़ाना ही था क्योंकि चीजों के मंहगेपन के कारण ही जनता अपना उपभोग कम करती है और तब तक पदार्थों की प्राप्ति सरकार के लिए सुलभ होती है।

युद्ध को सफलतापूर्वक चलाने के लिए मूल्यों का बढ़ाना जो आवश्यक था, वह न होता यदि स्वर्ण-मान को कायम रखा जा सकता। क्योंकि इससे सोने का निर्यात होता और उधार खाता बन्द हो जाता। (क) इसलिए सुवर्ण-कोष को बचाने की इच्छा के कारण यदि स्वर्ण-मान स्थगित न किया जाता तो भी युद्ध का खर्च जुटाने के लिए बैंक के उधार खाते के विस्तार करने की जरूरत से

(क) सिद्धान्त में तो यह सही नहीं होता यदि सभी स्वर्ण-मान वाले देशों में, चाहे वे युद्ध-रत हों या न हों, एक समान ही मूल्य-वृद्धि होती। पर व्यवहारतः ऐसा होता नहीं है और इस कारण हमें उसकी उम्मीद छोड़ देनी चाहिये।

स्वर्ण-मान से हाथ धोना ही पड़ता। किसी भी तरह से हो, स्वर्ण-मान का जाना जरूरी था।

युद्ध और उसके बाद जो तेजी और मन्दी इसके चलते आई, अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान संसार के प्रायः सभी देशों में फिर से स्थापित कर दिया गया। दो कारण से यह पुनः स्थापित हुआ। पहला कारण यह था कि एक बार फिर लोगों को साधारण अवस्था में चले जाने की इच्छा हो गयी थी जो युद्ध के पहले विराज रही थी। मुद्रा-सम्बन्धी साधारण अवस्था का अर्थ हुआ स्वर्ण-मान संस्थापन और यदि सब लोगों ने नहीं तो कम से कम अधिकारियों का यह निश्चित विचार हो गया कि स्वर्ण में मुद्रा की परिवर्तनीयता पीछे उसी तरह से आ जायगी जैसे युद्ध के पश्चात शांति आती है। दूसरा बाध्य करने वाला कारण यह था कि युद्ध के कारण यूरोप के देशों की दशा स्फीति में पड़ कर खराब हो रही थी जो जर्मनी में तो किसी-किसी चीज में युद्ध के पहले की कीमतों से एक लाख गुना अधिक थी। अन्य देशों में भी मूल्य-स्तर कुछ ही कम था। इस स्फीति के कारण जो विपत्ति और तबाही चारो ओर छाई उसने लोगों में यह प्रबल धारणा पैदा की कि आर्थिक सुव्यवस्था का प्रथम तत्व यह है कि साधारण अवस्था लायी जाय और यह चेष्टा की जाय कि फिर यह दशा आने न पाये। स्वर्ण-मान इस स्फीति और गड़बड़ी को तो उगते ही नष्ट कर देता है, इसमें अन्य खराबियां चाहे जो हों। आर्थिक दशा की इस स्थिरता की आशा के कारण ही एक-ब-एक सभी देश वाले स्वर्ण-मान पर पुनः पलट जाने को सोचने लगे। इस विचार का फल यह हुआ कि युद्ध-विराम की तिथि से करीब दस साल के भीतर-भीतर संसार भर में पुनर्स्थापन का काम सम्पूर्ण हो गया।

स्वर्ण-मान पर पुनः चले जाने की समस्या भिन्न-भिन्न देशों के लिए भिन्न-भिन्न रूप में थी। अमेरिका में एक बार के अस्थायी अपवाद के बाद तो हमेशा स्वर्ण-मान कायम रहा ही। परन्तु अमेरिका में भी मूल्य-स्तर स्थिर नहीं रह सका था। गोला-बारूद के मूल्य में अन्य देशों ने बहुत-सा सोना अमेरिका भेजा था।

इसके अतिरिक्त 'फेडरल रिजर्व ऐक्ट नामक कानून के जरिये, जो १९१४ में ही बना, मुद्रा और उधार खाता की प्राप्ति के लिए बहुत ही लचीली व्यवस्था कर दी गयी। इस तरह अमेरिका में सोने की पूर्ति भी अधिक रही, सोने के आधार पर खड़ी मुद्रा का ढेर भी कर दिया गया आर इस मुद्रा पर अधारित उधार खाते की भी सुविधा हो गयी। इसलिए युद्ध-जनित तेजी में अब कोई कसर नहीं रह गयी और मूल्य चढ़ गये। यहां तक कि १९२०–२१ के संकट के बाद भी अमेरिका में औसत मूल्य-स्तर युद्ध-पूर्व की अवस्था से ड्योढ़ा ऊंचा था। अमेरिका ने अपने इस अनुभव से समझा होगा कि १८९६ के बाद से १९१४ साल तक स्वर्ण की जो अधिकता संसार में हुई है उससे अन्य देशों की क्या दशा हुई होगी। अब चूंकि डालर ही एक ऐसा सिक्का था जो सोने पर आधारित था, इस कारण सोने का मूल्य भी अब डालर के हिसाब में ही कूता जाने लगा। इसलिए कह सकते हैं कि १९२२ में डालर की क्रय-शक्ति युद्ध-पूर्व की क्रय-शक्ति के प्रायः एक तिहाई रह गयी थी। स्वर्ण की क्रय-शक्ति में दो तरह से यह ह्रास आया था। पहले तो इस तरह आया कि यूरोप के केन्द्रीय बैंकों के तहखानों में सोना एकत्रित हुआ जहां इसका उपयोग, युद्ध-पूर्व के दिनों की चालू हालत में जितना होता था उससे कहीं अधिक मुद्रा-सृजन और उधार खाते का आधार इसे बनाया गया। और दूसरे इस तरह हुआ कि साने का पुनर्वितरण हुआ और अमेरिका को इसमें बहुत ज्यादा सोना मिला।

बहुत-से तटस्थ देश भी उसी दशा में थे जिसमें अमेरिका था। उन्होंने स्वर्ण-परिवर्तनीयता को तो स्थगित कर दिया था पर वे बहुत अधिक स्फीति में नहीं पड़े थे और उनका मूल्य-स्तर मोटा-मोटी अमेरिकी सुवर्ण के मूल्य-स्तर का पीछा करता चलता था। इसलिए वे लोग इस स्थिति में थे कि पूर्वकालिक समानता के हिसाब से परिवर्तनीयता की फिर स्थापना कर दें। यह बात खास कर स्विट्जर्लैण्ड, हालैण्ड और स्कैण्डेनेवियाई देशों के लिए लागू है। दूसरी ओर स्पेन ही एक ऐसा देश है जिसने सम्पूर्ण युद्ध-काल में कभी स्वर्ण-मान पर पलट जाने की चेष्टा नहीं की।

ग्रेट ब्रिटेन की स्थिति तटस्थ देशों की स्थिति से अधिक भिन्न नहीं थी। ब्रिटेन में मूल्य-स्तर अवश्य ही अमेरिका की अपेक्षा ऊंचा उठ गया था परन्तु १९२२ के प्रारम्भ में [जैसा कि थोक की मूल्य-तालिका (price indices) को देखने से पता लगता है] २० प्रतिशत से कम का फर्क हुआ था। उस साल के दौरान में ब्रिटेन में अमेरिका की अपेक्षा अधिक तेजी से मूल्य गिरे जिसका नतीजा यह हुआ कि साल के अन्त होते-होते दोनो मूल्यों में (युद्ध-पूर्व-मूल्य और युद्धोत्तर-मूल्य में) प्रायः कोई अन्तर ही नहीं रह गया। १९२३ और १९२४ के एक भाग में ब्रिटेन में फिर कुछ तेजी आने के कारण विभेद की दरार पड़ी पर १९२४ के उत्तरार्द्ध में ही यह भर गयी। १९२५ के अप्रैल में ब्रिटेन की सरकार ने पौंड स्टर्लिंग की परिवर्तनीयता को पुनः स्थापित करने जाकर युद्ध-पूर्व की दर ४·८६$\frac{2}{3}$ डालर=१ पौंड को रहने दिया।

इस निश्चय की बहुत आलोचना पीछे चलकर हुई और इसपर बहस भी काफी उठायी गयी। इस बात पर बहुत अधिक साधारण मतैक्य था कि पौंड का युद्ध-पूर्व-मूल्य उसे उसकी योग्यता से अधिक कीमत देता है और इसलिए कहा जा सकता है कि पौंड का अधिकमूल्य-धारण किया जा रहा है। इसके बाद चूंकि डालर भी उठ खड़ा हुआ, यह डर होने लगा कि दोनों की तनातनी से स्थिति बिगड़ न जाय—तनातनी का अर्थ यह है कि या तो पौंड झुक कर डालर की पंक्ति में आकर खड़ा हो अथवा डालर ही झुक कर पौंड का अनुचर बन जाये। अधिकारियों ने देख लिया कि तनातनी की यह अवस्था अनिवार्य है पर लंदन की प्रतिष्ठा और ब्रिटेन के आर्थिक स्वार्थों के विचार से उन्होंने विचार किया कि इस तनातनी की अवस्था को थोड़े ही दिन चलने दिया जाना चाहिये। परन्तु इस निश्चय में उन्होंने दो गलत-हिसाबी (miscalculation) की। पहले तो उन्होंने इस तत्व को उचित महत्व नहीं दिया कि किस हद तक पुरानी समतावस्था से वर्तमान मूल्य-निर्धारण में अधिकमूल्य-धारण हुआ है। अगर तीन ब्रिटिश थोक मूल्य-आंकड़ों (wholesale price indices) का औसत और चार अमेरिकी थोक मूल्य-आंकड़ों के औसत

को लेकर मिलान किया जाय तो १९१३ में दोनो देशों में जो अवस्था थी उसमें ब्रिटिश मूल्य का औसत ५ प्रतिशत अधिक दिखेगा। परन्तु अध्याय ७ में क्रय-शक्ति-समानता सिद्धान्त की परीक्षा में, जैसा कि हमने दिखाया, यह थोक मूल्य-सूची (price indices) दरों के संतुलन को निकालने के लिए कोई अच्छी तरकीब नहीं है। असल में ब्रिटेन के मूल्य-आंकड़ों में बहुत संख्या आयातकृत वस्तुओं के मूल्य की होती है, जिनका मूल्य विनिमय-दर से प्रभावित रहता है। उन आंकड़ों द्वारा जो कुछ जाहिर होता है वह विनिमय-दर का जितना ही कारण है उतना ही परिणाम भी। दूसरे शब्दों में, थोक मूल्य के आंकड़ों को लेकर जो हिसाब जोड़ा जायगा उसमें संतुलित दर और वास्तविक दरों के बीच जो विभेद रहता है उसका स्पष्ट आभास नहीं मिलेगा। इसलिए यह प्रायः निश्चित बात है कि ऊपर बताये गये उदाहरण में थोक मूल्यों के मिलान से ५ प्रतिशत का जो फर्क निकलता है वह सही नहीं है—वह उससे अधिक है और इस विषय में सब की सम्मति है कि वह १० प्रतिशत से कम नहीं आयेगा, उससे अधिक भले ही आ जाय। कहने का मतलब यह है कि पौंड और डालर का संतुलित विनिमय-मूल्य होगा ४·३८ डालर = १ पौंड, न कि ४·८६$\frac{२}{३}$ डालर = १ पौंड।

दूसरी गलतहिसाबी जो इसी में हुई है वह यह है। इसमें मान लिया गया है कि ब्रिटिश व्यय और मूल्यों के बीच और अमेरिकी खर्च और मूल्यों के बीच जो विभेद है वह आसानी से मिटाया जा सकता है। खासकर यह धारणा गलत है कि उधार खाते का संकोचन ब्रिटेन में उत्पादन-व्यय को कमा दे सका है। पर इस मौके पर तो यह एकदम चूक गया। ऋण-संकोचन और ऊंची ब्याज-दर के कारण बेकारी पैदा हो गयी और व्यापार का मुनाफा घट गया परन्तु बेकारी और लाभ की कमी के कारण मजदूरी तो कम नहीं हुई। १९२६ में जो भारी श्रमिक-अशांति हुई और उत्पादन-व्यय पर जो भार पड़ा, इस कारण उस सम्पूर्ण युग में पौंड का अधिकमूल्य-धारण कायम रह गया जब तक कि १९३१ में फिर दूसरी बार स्वर्ण-मान स्थगित नहीं हुआ। पर संतुलन कभी स्थापित हो नहीं सका। ग्रेट ब्रिटेन ने इस बीच अपनी

मुद्रा के अधिकमूल्य-धारण से उपजी असुविधाओं के भरपूर अनुभव पाये। ये असुविधायें आम भी थीं और खास-खास भी। साधारण असुविधा इस बात से पैदा हुई कि बैंक आफ इंग्लैण्ड ने आसान उधार खाता (easy credit) की कभी अनुमति नहीं दी, इस डर से कि कहीं सोने का सुरक्षित कोष उसे खोलना न पड़े। व्याज की दर ऊंची रखनी पड़ी कि बाहरी पूंजी लंदन की ओर खिंचे और इस तरह पौंड की मांग पैदा हो कि विदेशी विनिमय-बाज़ार में जो पौंड पहुंचे वह खप जाये और इस तरह बैंक आफ इंग्लैण्ड के स्वर्ण-कोष की सुरक्षा रहे। उधार खाता पर अगर कानूनी रोक नहीं लगाई गयी थी तो इसकी छूट भी आसानी से नहीं दी गयी थी। अब, खास-खास असुविधाओं में वे असुविधायें हैं जो ब्रिटेन के निर्यात-व्यापार को भोगनी पड़ीं, जिनका उत्पादन-व्यय तो ब्रिटेन के मूल्य-स्तर पर निश्चित होता था पर जिनका विक्रय-मूल्य संसार के मूल्य-स्तर पर लगता था। चूंकि अधिकमूल्य-धारण की हालत ही यही है कि पहले का मूल्य-स्तर पीछे के मूल्य-स्तर से ऊंचा होता है, इससे यह बात पैदा होती है कि ब्रिटेन के निर्यातक विश्व के बाज़ार में प्रतिद्वन्दिता करने अथवा लाभ प्राप्त करने में बड़ी निराशापूर्ण स्थिति में पड़ गये।

यूरोप के अन्य युद्ध-रत देशों के लिए तो युद्ध-पूर्व की समानता पर स्वर्ण-मान पर पलट जानें की कोई आशा ही न थी। तब जो समानता अन्तिम रूप से निश्चित की गयी, मूलत: उसी दायरे तक रही जहां तक मूल्यों की स्फीति को बढ़ने का मौका दिया गया था। इस तरह फ्रांस में नयी समानता की दर पुरानी दर के प्राय: १/५ यानी १२४ फ्रांक = १ पौंड के रही। पहले यही २५ फ्रांक = १ पौंड थी। ऐसा इस कारण हुआ कि फ्रांस का मूल्य-स्तर मोटा-मोटी अमेरिकी और ब्रिटिश मूल्यों से ५ गुना बढ़ा हुआ था। जिन देशों में सबसे भयानक स्फीति थी उनमें नयी-नयी मुद्रायें बनायी गयीं (जर्मनी में मार्क के बदले रिशमार्क, आस्ट्रिया में चिलिंग और हंगरी में क्राउन की जगह पेंगो) और पुरानी मुद्रा को नयी मुद्रा से उसी हिसाब से बदला गया जिस हिसाब से स्फीति हुई थी। इस तरह रिशमार्क की पौंड के साथ

वही समानता थी जो पुराने युद्ध-पूर्व के मार्क की थी पर एक रिशमार्क, कुछ नहीं तो, एक करोड़ पुराने मार्क पर बदला जाता था। नई समतुल्यता का निश्चय ठीक उसी तरह जैसे कि पुरानी समतुल्यता का पुनर्स्थापन, मुद्रा का या तो अधिकमूल्यन करती है या अल्पमूल्यन—उसी हिसाब से जैसे वर्तमान संतुलित दर से वह ऊंची होती है या नीची। कम ही देशों का अन्दाज इस सम्बन्ध में ठीक उतरा। उदाहरणार्थ इटली ने अपनी लिरा (lira) का अधिकमूल्यन किया और उसे वहां तक अपनी कीमतें कम करनी पड़ी जहां पहुंचकर संतुलित स्थिति आयी। अन्य देशों ने अपनी मुद्राओं का अल्पमूल्यन किया। फ्रांस का इसमें विशिष्ट उदाहरण है। फ्रांक की नयी समतुल्यता में इसका इतना अल्पमूल्यन किया गया कि फ्रांस के उद्योग-धन्धे, संसार के मूल्य-पतन की प्रवृत्ति से उलटे, वर्षों तक धीरे-धीरे उठने वाले मूल्य-स्तर से फायदा उठाते रहे। और इसी के साथ फ्रांस का निर्यात-व्यापार भी, जिसमें उसका उत्पादन-व्यय फ्रांक में निश्चित किया जाता था, जो (जहां तक विश्व-बाजार से ताल्लुक है) बहुत ज्यादा सस्ता था, अपेक्षाकृत अच्छी सुविधा भोग करता रहा।

स्वर्ण-मान के पुनर्स्थापन का मार्ग जो संजीदगी के साथ १९२४ में जर्मनी के स्थिरीकरण के साथ और १९२५ में पौंड स्टर्लिंग के पुनरागमन से शुरू हुआ, वस्तुतः १९२८ में पहुंच कर पूरा हुआ जबकि फ्रांसीसी फ्रांक की स्थिरता को कानूनी रूप दे दिया गया चूंकि यह दो साल पहले ही स्थिर हो चुका था। कई प्रकार से महायुद्धों के मध्यस्थित काल का स्वर्ण-मान (inter-war gold standard) युद्ध-पूर्व के स्वर्ण-मान से आगे गया। उदाहरण के लिए यह और भी कई देशों में पहुंच गया। यूरोप के कई देश, जो युद्ध के पहले स्वर्ण-मान के पुण्य-दायरे (charmed circle) के भीतर नहीं थे, इस दायरे में आ गये। उन्होंने अपनी मुद्रा का सोने के मूल्य पर स्थिरीकरण किया और दक्षिण अमेरिकी जनतांत्रिक देशों में से प्रायः सभी जिनकी मुद्रायें १९१४ में अपरिवर्तनीय थीं, इसी रंग में रंगा गये। १९२९ के मध्य काल तक संसार में चीन, स्पेन और मेक्सिको—

बस ये ही तीन देश रह गये थे जिनमें स्वर्ण-मान नहीं था। (क) इन सभी देशों ने न परिपूर्ण स्वर्ण-मान (gold-standard) रखा, न पूरा-पूरा स्वर्ण-मूल्य-मान (gold bullion standard) ही रखा पर इन देशों में से अधिकांश में स्वर्ण-विनिमय-मान (gold exchange standard) जरूर रख लिया गया।

यह पुनस्र्थापन एक खास नमूने का भी हुआ। १९२० के ब्रुसेल्स कान्फ्रेन्स में तथा जेनोआ के सम्मेलन में, जो १९२२ में हुआ, अन्तर्युद्ध (inter-war) युग के स्वर्ण-मान की रूपरेखा तय हुई थी और इसके बाद के वर्षो में लीग आफ नेशन्स ने उन विचारों के प्रसार में बहुत मूल्यवान सहायता की। मुख्य तजवीज यह थी कि हर एक देश एक केन्द्रीय बैंक रखे जिसपर सरकारी हस्तक्षेप न हो, इसके पास सुवर्ण का कोष रख दिया जाय और इसी को व्यावसायिक बैंकों के शासन तथा विदेशी विनिमय-व्यवस्था का भार दे दिया जाय। इस तरह के केन्द्रीय बैंक सचमुच अन्तर्युद्ध युग के स्वर्ण-मान से दीर्घस्थायी हुए हैं और संसार में ऐसा एकाध ही देश होगा जहां केन्द्रीय बैक न हो अथवा जो अब उसे खोलने में यत्नशील न हो। १९३० में यंग कमेटी (young committee) की, जा जर्मनी की क्षति-पूर्ति के सम्बन्ध में विचार करने को बनी थी, सिफारिशों पर यह कोशिश की गयी थी कि इन केन्द्रीय बैंकों को एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में कर के उसका नाम बैंक फौर इन्टरनैशनल सेटल्मेन्ट्स (Bank for (International Settlements) रख दिया जाय। इस बी. आई. एस. (B. I. S.) को जो इसी संक्षिप्त नाम से प्रचलित हो गया था पहले जर्मनी से क्षति-पूर्ति की रकम वसूलने और उसके वितरण का भार दिया गया था पर इसी समय यह इच्छा भी जाहिर कर दी गयी थी कि यह संस्था एक क्लियरिंग हाउस की शकल में आगे चल कर बदल जायगी और अन्त में यही केन्द्रीय बैंकों का केन्द्रीय बैंक बन जायगी। इस सिद्धान्त के अनुसार कि स्वर्ण-मान को युद्धोत्तर

(क) सोवियत रूस की मुद्रा-व्यवस्था को श्रेणीबद्ध नहीं किया जा सकता।

आर्थिक संगठन की नीव का पत्थर बनाने का निश्चय किया गया था, इस बी. आई. एस. के विधान में यह लिखा गया था कि यह केवल स्वर्ण-मुद्राओं का कारबार करेगा। इस संस्था की स्थापना के तीन साल के भीतर ही संसार के बहुत-से देशों ने स्वर्ण-मान छोड़ दिया साथ ही क्षति-पूर्ति की वसूली भी छोड़ दी और युद्ध-ऋण भी स्थगित कर दिया गया। इससे बी. आई. एस. का काम बंद हो गया। इसके अतिरिक्त १९३९-४५ के युद्ध के बाद अमेरिकी नेतृत्व में एक नई ही संस्था अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (The International Monetary Fund) की स्थापना हुई; इसके विषय में हम आगे चर्चा करेंगे जिसके कार्यक्रम में वे ही सब विषय रखे गये जो बी. आई. एस. के कार्यक्रम में रखे गये थे। परन्तु बी. आई. एस. अभी भा है ही, और संभवतः अब भी यह कुछ उपयोगी कार्य ही कर रहा है।

अन्तर्युद्ध स्वर्ण-मान : विपर्यय

THE INTER-WAR GOLD STANDARD : COLLAPSE

ग्रेट ब्रिटेन में स्वर्ण-मान पुनः अप्रैल १९२५ में स्थापित किया गया; १९३१ के सितम्बर में यह स्थगित हुआ। ग्रेट ब्रिटेन का अनुकरण यूरोप में स्कैंडेनेवियाई देशों, यूनान और पूर्तगाल ने किया, दक्षिण अफ्रिका भी इस पंक्ति में आ गया और जापान भी। अस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और दक्षिणी अमेरिका के कुछ देशों ने तो पहले ही यह कदम उठाया था। अप्रैल १९३३ में क्षमताशाली डालर ने भी अपनी परिवर्तनीयता त्याग दी और उसका अल्पमूल्यन हुआ। केन्द्रीय यूरोप के बहुत-से देशों ने, यद्यपि इस बात की चेष्टा में वे रत रहे कि उनकी मुद्राओं की समतुल्यता बनी रहे फिर भा, अपनी मुद्राओं की परिवर्तनीयता को पूर्ण रूप से स्थगित कर दिया और सारे विनिमय-व्यापार पर भारी रोक-थाम लगा दी। पश्चिमी यूरोप के ही दो-एक देश, खास कर फ्रान्स और दो-एक साल तक स्वर्ण-मान रखे रहे। पर फ्रान्स भी १९३६ आते-आते थरथरा गया। युद्धोत्तर पुनरावतरण

(post-war reincarnation) के कुछ ही वर्षों बाद बेचारा स्वर्ण-मान लाचार हो गया और संसार के अधिक देशों ने स्वर्ण-मान परित्याग दिया। हम कोई इतिहास नहीं लिख रहे हैं इसलिए इस विषय का और वर्णन हम नहीं दे रहे। इतना ही कह देना हमारे उद्देश्य को पूर्ग कर देता है कि यह परीक्षण पूर्णतः असफल हो गया। परन्तु स्वर्ण-मान की प्रकृति को अच्छी तरह समझने में यह बात कुछ काम की हो सकती है कि उन कारणों में से कुछ का वर्णन किया जाय जिनके चलते स्वर्ण-मान असफल रहा।

इन कारणों को तीन विभागों में बांटा जा सकता है। इनमें पहला कारण यह है कि संसार के अर्थाधिकारी अव खास कर स्वर्ण-मान के उतने समर्थक नहीं थे जितना कि युद्ध के पहले थे। वे विनिमय की स्थिरता की चाह नो करते थे और जिन्हें स्फीति की अवस्था का स्मरण था, वे उसके लिए लालायित रहते थे पर स्वर्ण-मान, जैसा कि हमने दिखाया है, एक कीमत पर विनिमय की स्थिरना का लक्ष्य पूरा कर सकता है और वह कीमत यह है कि इसके अतिरिक्त अन्य लक्ष्यों का परित्याग कर दिया जाय या कम से कम उन्हें इस लक्ष्य के अधीन कर दिया जाय। स्वर्ण-मान तभी काम कर सकता है जब हर राष्ट्र एक दूसरे राष्ट्र के कदम से कदम मिला कर चले। परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद यही तो वह काम था जिसे केन्द्रीय बैंक करने को तैयार नहीं थे। युद्ध के बाद देश-देश में जो आर्थिक अव्यवस्था आ गयी थी वह इतनी भीषण थी कि कोई भी देश विना किसी 'ननुनच' के विश्व की आर्थिक गति के साथ चलने का वादा करने को तैयार नहीं होता था। विश्व-मूल्य-स्तर, जो युद्ध-काल में ऊंचा हो गया था, १९२०-२१ में भयानक मन्दी का शिकार हो रहा था और कोई भी देश अपने भावी नाच को इस तरह नाचना नहीं चाहता था कि उसमें भागने की गुंजाइश ही न रह जाये। कुछ देशों के लिए तो यह काम न केवल अप्रिय लगा पर असम्भव भी ज्ञात हुआ। उदाहरण के लिए, अगर अस्ट्रेलिया १९२९ के बाद के वर्षों में अपने आन्तरिक मूल्य-स्तर को ठाक विश्व-मल्य-स्तर के मुताबिक ठीक कर लिये होता अथवा और भी सही-सही

कहें, तो विश्व को छोड़ कर उन प्रदेशों के मूल्य-स्तर के बराबर भी कर लिये होता जिनसे उसको सरोकार पड़ता था अर्थात अगर उसने अपने गेहूं और अपने ऊन, इन दो चीजों का मूल्य संसार के मूल्य की समतुल्यता में घटाया होता तो उसकी राष्ट्रीय आय आधेआध घट गयी होती। अस्ट्रेलिया के रहने वाले हर आदमी की आमदनी में ५० प्रतिशत की कमी हो गयी होती। (क)

इस हालत में स्वर्ण-मान से चिपके रहना असम्भव था। वे देश भी जो आर्थिक गड़बड़ी से उतना भीषण रूप से पीड़ित नहीं थे, १९२९ की मन्दी के पहले ही, यह रुख प्रकट कर चुके थे। वे भा स्वर्ण-मान के देवता की पूजा न कर सके। ग्रेटब्रिटेन में अर्थशास्त्रियों द्वारा उपनीत और औद्योगिकों द्वारा समर्थित लोगों की आवाज प्रवल पड़ रही थी जो चाहते थे कि ब्रिटेन में मूल्यों के स्थिराकरण की नीति क्रियान्वित हो। अमेरिका में वही मांग कांग्रेस की भी थी, और फेडरल रिजर्व बैंक के सम्बन्ध में कई बिल अमेरिकी कांग्रेस में आये जिनका मतलब यह था कि वह मूल्यों के स्थिरीकरण की चेष्टा करे। यद्यपि ये बिल स्वीकृत हो कर कानून का रूप न ले सके पर इस सम्बन्ध में जनमत के प्रबल होने में सन्देह नहीं रह गया कि लोग विनिमय-मूल्य की तो नहीं पर विक्रय-मूल्य की स्थिरता चाहते हैं। परन्तु यह बात स्पष्ट रूप से बतायी गयी है कि मूल्य-स्थिरीकरण की नीति से स्वर्ण-मान का मेल नहीं खाता जब कि हर एक देश इसके लिए चेष्टा न करे, हर एक देश एक ही आंकड़े को स्थिरता की पहचान न मान ले और अपनी इस चेष्टा में वह सफल हो जाय। केवल तभी स्थिर विनिमय-मूल्य का सम्बन्ध स्थिर मूल्यों से हो सकता है जब कि समस्त संसार इसके लिए चेष्टा करे और अगर हर एक केन्द्रीय बैंक पर कानूनन यह मजबूरी दी जाय कि वह अपने नोटों की परिवर्तनीयता कायम रखने को वाध्य है तो उनमें से कोई-कोई ही मूल्य-नियंत्रण की बात सोचने जायगा। इसी नीति की गड़बड़ी के कारण कितना गोलमाल हुआ

(क) Australia in the World Crisis by Douglas Copland देखें

यह हम अभी दिखायेंगे। यहां पर हमें केवल यह कहना है कि स्वर्ण-मान पर पुनरागमन, जिसका अभिप्राय विनिमय-मूल्यों की स्थिरता होता है, पदार्थों के विक्रय-मूल्य की स्थिरता भी सम्पादित करे यह बात लोगों के मन से निकल नहीं गयी है।

युद्ध के बाद स्वर्ण-मान को कायम रखने में दूसरी कठिनाई यह उठी कि इसको कायम रखने के प्रयत्न का जो प्राविधिक पक्ष था वह अब बहुत बदल गया था। जैसा कि देखा गया है, स्वर्ण-मान के लक्ष्य दो हैं—(१) सोने का चलाचल प्रारम्भ कर के विनिमय की स्थिरता स्थापित करना और (२) उत्पादन-व्यय और मूल्यों में ऐसा सम्बन्ध स्थापित करना कि सोने के चलाचल की जरूरत ही निकल जाय। विनिमय की स्थिरता का जो पहला काम है वह अच्छी तरह कभी पूरा नहीं हो सकता अगर इसका दूसरा काम भी ठीक-ठीक चल नहीं रहा हो। कहने का अभिप्राय यह है कि जब छोटे-मोटे संतुलनों के द्वारा विभिन्न राष्ट्रीय मूल्यों को एक निष्ठता में रखा जाय तभी विनिमय-स्थिरता स्थापित की जा सकती है। किन्तु युद्ध के बाद मूल्यों का यह लगातार पुनर्सन्तुलन स्थापित करना अधिक कठिन हो गया है। असल में प्रथम तो आवश्यक संतुलनों का आयतन छोटा नहीं है। यह बताया गया है कि पौंड का अधिकमूल्य-धारण प्रायः १० प्रतिशत या उससे अधिक हो गया था। और उधर फ्रांस के फ्रांकों का अल्पमूल्य-धारण भी इससे कम न था। अब दोनो मिला कर २० प्रतिशत का विभेद मिटाने की आवश्यकता थी। यह काम युद्ध-पूर्व के मामूली प्रभेद को मिटाने की चेष्टा के मुकाबिले बहुत कठिन है। दूसरी बात यह कि कई मामलों में मूल्य-संतुलन स्वीकृत नहीं हो सका। यह बात खास तौर से सही उतरती थी जब कि मूल्य को उतार कर संतुलन करने की चेष्ट करनी पड़ती थी। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन के उत्पादन-मूल्य कम करने की चेष्टा १९२५ में इसी कारण सफल न हो सकी कि मजदूर थोड़ा भी मजदूरी-ह्रास बरदाश्त करने को तैयार नहीं हुए और इसके चलते ही उन्होंने १९२६ में हड़ताल कर के सारा कारबार ठप कर दिया। संभवतः यह मूल्य की कड़ाई

का सबसे कड़ा उदाहरण है, परन्तु समस्त संसार में सभी श्रेणी की जनता युद्ध-काल के जल्दी-जल्दी परिवर्तनों को देख कर मूल्य-परिवर्तन की हकीकत समझ गयी थी और इसलिए वह उसको खासकर उस अवस्था में स्वीकार करने को तैयार नहीं होता थी जब कि वह उसकी नजरों में जरा भी स्वार्थ-विपरीत लगता था। स्वर्ण-मान के साथ जैसे मूल्य-स्थिरता का साधारणतः मेल नहीं है उसी तरह खास कोई मूल्य या व्यय: जैसे कि मजदूरी, जो देश के आर्थिक ढांचा में एक अत्यावश्यक अंग है, उसकी कड़ाई भी स्वर्ण-मान को अच्छी तरह चलने नहीं देती।

स्वर्ण-मान की संतुलन-चेष्टा में बाधा पहुंचाने वाले अन्य तत्व भी हैं। यह याद रखना चाहिये कि इस रीति की सफल क्रियान्विति बहुत कर के इस बात पर निर्भर करती है कि ब्याज-दर के परिवर्तन से अल्पावधि पूंजी का चलाचल कहां तक प्रभावित होता है। १९१४ के पहले १ प्रतिशत बैंक-दर की वृद्धि से ब्रिटिश महाजनों (Banker) की देश से बाहर लगी हुई पूंजी धड़ाधड़ लन्दन लौटना प्रारम्भ कर देती थी, लन्दन में इसके कारण बाहरी पूंजी भी बहुत आने लगती थी और विदेशियों द्वारा यह अनिच्छा प्रकट की जाने लगती थी कि वे अपने व्यापार को पूंजी देने के लिए लंदन के बैंकों पर बिल भेजें (ऐसे बिल, जिनका भुगतान लंदन के डिसकाउन्ट बाजार से उधार लेकर होता हो)। इन सभी तत्वों को लेकर स्टर्लिंग की खरीदारी उसकी बिक्री से बढ़ जाती थी। परन्तु युद्ध के बाद के काल में यद्यपि ये सभी बातें काम करती थीं पर वे बहुत कमजोर थीं। बहुत कम बिल अब लंदन पर आते थे और इस कारण अब पूंजी का चलाचल लंदन की बैंक-दर के परिवर्तन से बहुत कम प्रभावित होता था। इसके अतिरिक्त ब्याज-दर के परिवर्तनों की राष्ट्रीय प्रतिक्रिया थोड़े काल की अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी से ढंक जाती थी जो ब्याज की लालच से नहीं वरन सट्टेबाजी या भय के कारण होती थी। ब्याज-दर की वृद्धि को कमजोरी नहीं माना जाता था और इससे अब अल्पकालीन पूंजी की आमद के बजाय निर्यात ही अधिक होता था। दो युद्धों के बीच के काल का अन्त आते-आते अल्पकालीन पूंजी की यह लाश एक

बला की चीज हो गयी क्योंकि इसके कारण जो कुछ हलचल हुआ वे इतने बड़े थे कि उन्होंने अन्य सारे कारबार को ढंक लिया; तो भी ये ऐसे बने रहे कि केन्द्रीय बैंक के तरकस में नियन्त्रण के जितने तीर थे वे सभी खाली हो गये फिर भी ये नियन्त्रित न हो सके। तभी इन्हें "खराब पूंजी" (bad money) का नाम दिया गया।

युद्ध के पश्चात की राजनीति भी इसके लिए सजग थी कि अन्य कामों में थोड़ी बहुत बाधा भी आये तो उसको सहन करके स्वर्ण-मान को चलाना चाहिये। इससे वे लगन के साथ चिपके हुए भी थे। क्षति-पूर्ति की मांग और युद्ध-ऋण की लम्बी को इस सम्बन्ध में बराबर गिनाया जाता है। इन रकमों ने विदेशी विनिमय के सम्बन्ध में ऐसी स्थिति पैदा की जिसपर पुराने स्वर्ण-मान के तरीके से काबू नहीं रखा जा सकता था। बैंक-ब्याज की दर कुछ भी हो और इसके स्वर्ण-कोप की भी दशा कुछ भी हो, युद्ध की क्षति-पूर्ति की किश्त अदा करने के लिए जर्मनी को अपना मार्क बेचना ही था। युद्ध-ऋणी देशों को इसी तरह डालर खरीदना ही था क्योंकि इसके विना वे ऋण की किश्त कैसे चुका सकते थे ? 'मार्क' की पूर्ति और डालर की यह मांग तो निश्चित थी, अनिवार्य थी और केन्द्रीय बैंकों के प्रत्येक प्रभाव से परे थी। पर इस रूप में क्षति-पूर्ति की रकम और युद्ध-ऋण अन्य प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय साधारण धन-दायित्व से भिन्न नहीं हैं। अन्य ऋणों के मुकाबले वे बड़े नहीं थे और ऐसा लगता है कि वे आर्थिक महत्व की अपेक्षा राजनीतिक महत्व अधिक रखते थे। अन्तर्राष्ट्रीय ऋण का विषय हम अभी दूसरे अध्याय के लिए छोड़ रहे हैं, पर तब तक के लिए इतना कह देना उचित ज्ञात होता है कि जब अन्तरर्राष्ट्रीय ऋण बड़ा भारी होता है, जैसा कि युद्ध के पश्चात यह था, तब स्वर्ण-मान की कठिनाइयां उसी हिसाब से बढ़ी हुई होती हैं।

युद्ध-ऋण और क्षति-पूर्ति की रकमों से महत्वपूर्ण तो हर देश का टेरिफ और चुंगी होती थी। टेरिफ तो अपने आप स्वर्ण-मान के दुश्मन नहीं है—१९१४ के पहले भी टेरिफ थे। परन्तु स्वर्ण-मान तब तक कोई काम नहीं कर सकता जब

तक कि वह देश जो सोना खोता हुआ-सा मालूम देता है, यह अवसर नहीं पाता है कि वह अपने देश का मूल्य-स्तर कम कर के अपने निर्यात को बढ़ावे और इस तरह अपनी मुद्रा की मांग को प्रसारित करे। युद्ध के पश्चात के युग में इस प्रकार के आवश्यक संतुलन ऊंचे और बराबर के टेरिफों द्वारा जान-बूझ कर बाधा-प्राप्त होते रहे। किसी देश के लिए केवल अपना निर्यात बढ़ाकर ही संतुलित स्थिति प्राप्त कर लेना कठिन है। इसके लिए केवल यही वैकल्पिक उपाय है कि वह अपना आयात कम करे जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय का परिमाण कम होता है और इससे वह दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति पैदा हो जाती है जिसे प्रतिद्वन्दात्मक संरक्षण-प्रथा (competitive protection) कहते हैं। एक ऐसी व्यावसायिक रीति के साथ-साथ जो तीव्रतर और उग्रतर राष्ट्रीय हो कोई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था चलना असम्भव है।

युद्ध के पश्चात स्वर्ण-मान के स्थगन का तीसरा कारण यह हुआ कि केन्द्रीय बैंक जा अपनी विभाजित राजभक्ति के कारण एक दूसरे से फटे-फटे और इस सम्बन्ध की प्राविधिक कठिनाइयों की पूरी-पूरी जानकारी रखने वाले थे, उन्होंने वह सुनहरा मार्ग छोड़ दिया। जब देश में सोने की आमदनी हो रही थी तो उस समय उन्होंने उसे लेकर अपने तहखानों में ढेर कर लिया पर उन्होंने उधार खाता प्रसारित नहीं किया जिससे मूल्य-वृद्धि हो। और जब सोने का निर्यात हो रहा था उन्होंने अपना स्वर्ण-कोष खाली कर दिया पर उधार खाता भी बंद नहीं किया और मूल्य-स्तर भी नीचे नहीं आ पाये। ब्रिटेन के आलोचकों की प्रवृत्ति इस सम्बन्ध में फ्रांस और अमेरिका को दोष देने की रही है। यद्यपि दोनो इस विषय में दोषी हैं पर अमेरिकी नीति इस विषय में कुछ सही मालूम होती है क्योंकि अमेरिकी बैंक-डिपाजिटों के जमा का योग (जिसे हम सम्पूर्ण धन-पूर्ति का प्रतिनिधि कह सकते हैं) १९२० से १९२९ तक मोटामोटी उसी हिसाब से बढ़ा जिस हिसाब से उसका स्वर्ण-कोष बढ़ा। अमेरिका के काम में जिस बात को बुरा कह सकते हैं वह यह है कि फेडरल रिजर्व बैंकों के स्वर्ण-कोष इस सम्पूर्ण अवधि में उसके

देना के लिहाज से ऊंचे अनुपात में थे और यह चीज केन्द्रीय बैंकों में जितनी थी उससे अधिक थी। (क) फ्रांस के विरुद्ध जो आक्षेप है वह इससे अधिक स्पष्ट है क्योंकि १९२८ के बाद उसने बराबर ही अपने स्वर्ण-कोष को बढ़ाते जाने का प्रयत्न किया पर उसी के मुताबिक उधार खाता के प्रसार की चेष्टा उसने नहीं का। पर इस विषय में ग्रेटब्रिटेन आक्षेप रहित था, क्योंकि इसके द्वारा बराबर ही स्वर्ण-निर्यात की उपेक्षा की जाती रही और बैंक आफ इंग्लैंड मूल्य-स्तर गिराने के मतलब से उधार खाते का संकोचन क्या करती कि उसने उसको इतना अधिक प्रसारित कर दिया जितना कि उसकी दुर्बल स्थिति में हो सकता था। ब्रिटेन का उदाहरण बताता है कि इस विषय में किसी की निन्दा-स्तुति करने से कोई लाभ नहीं। १९२५ से लेकर १९२९ तक की सम्पूर्ण अवधि में ग्रेट ब्रिटेन की स्थिति बराबर दबी रही और यह बात निर्दयता पूर्ण लगती है कि उसको और भी दबने के लिए कहा जाय। अमेरिका इस अवधि में उन्नतिशील था और वह उस समय ऐसी स्थिति में था जो कुछ-कुछ निराली थी। वहां स्फीति की दशा थी और वह स्फीति इस किस्म की थी कि बहुत प्रभाव डाल रही थी। अब उसे और भी स्फीति में जाने की राय देना क्या उचित समझा जायगा? सचाई यह है कि स्वर्ण-मान से बहुत कुछ मांग नहीं करनी चाहिये। उन दिनों जिधर भी जितना असंतुलन था वह इतना गहरा था कि ब्याज-दर और उधार खाते की दशा में मामूली-मामूली परिवर्तन से उसे मिटाया नहीं जा सकता था।

इन मौलिक असंतुलनों की कैफियत के लिए हमको दूसरे अध्याय तक ठहरना पड़ेगा। अभी यही बता देना यथेष्ट है कि आवश्यक सामंजस्य क्रियान्वित ही नहीं किया गया। स्वर्ण के चलाचल में बाधा तो दी जा सकती थी पर उसे रोका नहीं जा सकता था। संसार के राष्ट्रों ने अपने को दो दलों में विभाजित कर लिया—एक तो वे हुए जिनको सोना गंवाने की पुरानी बीमारी थी और दूसरे वे जिन्हें

(क) परन्तु अमेरिकियों का कहना है, और कहना उचित है, कि उनके स्वर्ण-कोष का अनुपात सम्पूर्ण धन के मुकाबले बहुत-से देशों की अपेक्षा नीचा ही था।

सोना की अटूट भूख रहती थी। पहले दलवाले देशों का स्वर्ण-कोष इस तरह घटने लगा जब कि दूसरे दलवालों ने अपने उचित हिस्से से अधिक सोना मार लिया। कुछ दिनों तक तो सोना गंवाने वाले देशों के स्वर्ण-कोष को उन देशों से उधार लेकर बचाया गया जो सोना इकट्ठा कर रहे थे। ग्रेटब्रिटेन ने लंदन में ऊंची ब्यार-दर दे कर ऋण लिया। जर्मनी ने १९२९ तक दीर्घावधि-व्यापी सिक्यूरिटियों को विशाल संख्या में जारी कर के ऋण लिया। यह ऋण खास तौर से लंदन और न्यूयार्क में सबसे अधिक उठाया गया (इस तरह इन दो देशों का अपना ऋण जर्मनी के माथे पर जाता रहा)। १९२९ के बाद दीर्घावधि ऋण-समाप्ति पर पहुंच गया और जर्मनी को भी अल्पावधि ऋणों का सहारा लेना पड़ा। भय का जो वातावरण इसके बाद महादेश पर छाया उसके कारण इन ऋण-दाताओं ने अपना धन वापस मांगा। अब ऋणग्रस्त देश वह ऋण पूरा-पूरा चुका नहीं सके। मई १९३१ में आस्ट्रिया को और उसी साल जुलाई में जर्मनी को लाचार होकर ऋण-भुगतान बंद कर देना पड़ा। ग्रेटब्रिटेन के महाजन अपना रुपया सोने के रूप में लेते चले गये और अन्त में स्वर्ण-कोष जब समाप्त होने पर आ गया तो सितम्बर १९३१ में सरकार ने स्वर्ण-मान उठा दिया। १९३१ का संकट अचानक आ पड़ा था, पर इसका बीज तो कई साल पहले ही रोपा जा चुका था।

लगातार इसी अव्यवस्था के कारण वह मन्दी शुरू हुई जो १९२९ में दिखाई पड़ी। इस विषय पर और बातें दूसरे अध्याय में बतायी जायंगी। यहां पर यह विषय समझ लेना चाहिये कि मन्दी का कारण स्वर्ण-मान नहीं था। वह तो वही असंतुलन या गड़बड़ी थी जिसने मन्दी भी लाई और स्वर्ण-मान को भी तोड़ दिया।

अस्थिर विनिमय

UNSTABLE EXGHANGE

१९३१ और युद्ध के प्रारम्भ के साल १९३९ के बीच संसार का बड़ा भाग अपरिवर्तनीय और ह्रास-वृद्धिमय मुद्रा रखता था। जब कि पहले-पहल पौंड

का मूल्य-ह्रास हुआ, खास कर यूरोप के महादेशीय भाग के लोगों ने इसकी खूब खिल्ली उड़ायी जिन्होंने युद्ध के पश्चात की स्फीति की दशा देखी थी। बहुत-से लोग यह भविष्यवाणी करने लगे कि ग्रेटब्रिटेन अब अपने आदर्श मार्ग से नीचे उतर कर उस मार्ग पर आ खड़ा हुआ है जो सतत वर्धमान मूल्यों तथा अस्थिर मुद्रा-व्यवस्था की ओर ले जाता है। ये भविष्यवाणियां गलत ठहर गयीं। १९३१ के बाद ग्रेटब्रिटेन में साधारण मूल्य-स्तर प्रशंसनीय रूप में स्थिर रहा—ब्रिटेन के पहले के मूल्य-स्तरों के मुकाबिले में और स्वर्ण-मान वाले देशों के मूल्य-ह्रास के मुकाबिले में भी। कमजोर दिल वालों के लिए इसमें एक बहाना भी था क्योंकि भीषण स्फीति (जो आंतरिक स्वर्ण-मान का सहोदर है) और विनिमय की अस्थिरता (जो बाहरी स्वर्ण-मान की बात है) यद्यपि दोनों साफ-साफ अलग-अलग चीजें हैं, १९३१ साल के पहले ऐसा कम ही मौका मिला था कि एक हो और दूसरा न हो। परन्तु स्वर्ण-मान से उतर जाने के बाद ग्रेट ब्रिटेन और अन्य देशों में जो अनुकूल अनुभव हुए उनके कारण मुद्रा की अपरिवर्तनीयता की नीति को बहुत व्यावहारिक समर्थन मिला। सचमुच १९३३ में डालर का जो ह्रास हुआ, वह पूरा नहीं तो थोड़ा इस इच्छा का परिणाम जरूर था कि अपरिवर्तनीयता के लाभों को प्राप्त किया जाय। ये लाभ कम से कम देखने में तो बहुत भड़कीले लगते थे क्योंकि हर एक देश ने, जिसने स्वर्ण-मान उठा दिया और अपनी मुद्रा का ह्रास होने दिया, कमोवेश उस भारी आर्थिक संकट से त्राण पाया जब कि वे देश, जिन्होंने अपनी मुद्रा की स्वर्ण-समतुल्यता (gold parity) को और कुछ साल तक चलाया, मंदी की खाई में धंसे ही रह गये।

परन्तु विनिमय की अस्थिरता का एकदम कल्याणप्रद चित्र खींचना भी गलत होगा। ब्रिटेन ने भी, जिसने सबसे पहले स्वर्ण-मान का परित्याग किया और इससे बड़ा लाभ अर्जित किया था, आगे कदम बढ़ाया और इसके बदले उसने एक तथाकथित स्टर्लिंग-गुट (sterling block) कायम किया जिसमें करीब-करीब सम्पूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य, स्कैण्डेनेविया के देश, पुर्तगाल और दक्षिण

अमेरिका के एक या दो देश सम्मिलित हुए। इस स्टर्लिंग-गुट के हर एक देश ने अपनी मुद्राओं को स्टर्लिंग के सम्बन्ध में स्थिर रखा (क) जिससे कि ग्रेट ब्रिटेन के व्यापार का बड़ा भाग स्थिर विनिमय-दरों के आधार पर चला। असल में ग्रेट ब्रिटेन को स्वर्ण-मान के परित्याग से जो लाभ हुआ वह विनिमय-दर की ह्रास-वृद्धि के कारण उतना नहीं हुआ जितना कि अधिकमूल्य-धारण से निकल भागने के कारण हुआ।

अब हमें यह देखना है कि विनिमय की अस्थिरता का प्रभाव उन देशों पर क्या हुआ जिन्होंने स्वर्ण-मान नहीं छोड़ा। स्वर्ण-मान वाले देशों में जो लगातार मंदी रह गयी वह आंशिक रूप से भी अन्य मुद्राओं के ह्रास के कारण रही। क्योंकि जब किसी देश की मुद्रा का मोल कम हो जाता है तब उस देश के निर्यातकों को उन देशों में निर्यात-व्यापार कायम करने पर कुछ पुरस्कार मिलता है जिनकी मुद्रा का अल्पमूल्य-धारण नहीं हुआ है। अगर पौंड गिरकर १२० से ८० फ्रांक पर आ जाये, तब कोई अंग्रेज निर्यातक यदि कोई ऐसी चीज भेजे जिसका दाम १ पौंड हो और जिसको उसने १२० फ्रांक में पहले भेजा हो, पौंड के मूल्य के गिरा दिये जाने के कारण अपने माल का दाम १०० फ्रांक कर दे सकता है फिर भी उसे ५ शिलिंग का अतिरिक्त नफा रहेगा। फ्रांस के निर्यात-उद्योग और उसके वे माल जो ब्रिट्रेन के माल से होड़ करते हैं इसी हिसाब से घटी में पड़ते हैं। या तो वे अपना बाजार खो देते हैं या अपना मूल्य घटाते हैं। और कभी तो दोनो ही होता है। चाहे जैसे भी, फ्रांसीसी माल का मूल्य गिर जाता है और बेकारी बढ़ जाती है। इस दलील को हम बहुत दूर तक ले जा सकते हैं। यह आसानी से दिखाया जा सकता है कि स्वर्ण-मान वाले देशों में जो ह्रास छा रहा था केवल उसके एक अंश और स्वर्ण-मान-विरत देशों में जो पुनरुत्थान हुआ था उसके और भी छोटे भाग का सीधा श्रेय दोनो दलों के देशों के निर्यात-उद्धोगों के तुलनात्मक बल-परिवर्तन को दिया जा सकता है। जो कुछ भी हो, चाहे कितना

(क) एक या दो मामलों में समय-समय पर विनिमय-दर बदली गयी पर विकल्प से उसे स्थिर ही रखा गया।

ही अल्प अंश में क्यों न हो, उस स्थिति की, जो संसार के किसी भी भाग में ह्रास की अवस्था पैदा करे, आदमी जान-बूझ कर स्थायी युक्ति के रूप में सिफारिश नहीं कर सकता।

इसके अतिरिक्त यह नहीं समझना चाहिये कि स्वर्ण-मान वाले देशों ने कुछ किया नहीं और वे चुपचाप उस हानि को सहते रहे जिसको विनिमय का रेल-ठेल (exchange dumping) कहते हैं। इस चीज का जवाब तो बढ़े हुए टैरिफ से और सम्भवतः स्वर्ण-मान-विरत देशों (non-gold countries) से आये हुए माल के साथ विभेद कर के अथवा रोक-थाम युक्त कोटा-निर्धारण के तरीके से दिया गया। स्वर्ण-मान-विरत देशों ने अपने को इस विभेद के अयोग्य मान कर इसी ढंग से बदला चुकाना चाहा। इस तरह व्यापार में रोक-छेंक बढ़ने लगी। यह चीज बिलकुल इसी बात का परिणाम न थी कि संसार के देश दो दलों में विभक्त हो गये थे; एक जिनमें स्वर्ण-मान था और दूसरा जिनमें यह नहीं था। दो देशों के बीच जिनमें से हर एक अपरिवर्तनशील और ह्रास-वृद्धिमय मुद्रा रखता है, मुद्रा-विनमय-दर का चलाचल किसी भी क्षण निर्यात-उद्योगों के प्रतिद्वन्दात्मक संतुलन को बिगाड़ दे सकता है, एक देश से दूसरे देश में आयात की वा कर दे सकता है, और उन उद्योग-धंधों को कुहरा दे सकता है जो इस प्रकार संरक्षणहीन हो जाते हैं। १९३१-३४ के बीच जो घटनायें हुई वे इस सम्बन्ध में सन्देह की बहुत कम गुंजाइश छोड़ती हैं कि विनिमय-दर की अस्थिरता, जबकि यह गंभीर ह्रास के तत्वों से भी समन्वित हो, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार रोकने के दबाव को कम नहीं करती, बढ़ाती ही है।

जो कुछ भी हो इस निष्कर्ष को समय का प्रभाव कहना चाहिये। यदि विनिमय-दर के चलाचल को उचित सीमा के भीतर रखा जा सकता, अगर वे संतुलित, वाजिब दर से बहुत दूर नहीं हट जातीं तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की बाधायें भारी न होतीं; कोई देश इससे हानि में नहीं पड़ सकता कि उसके पड़ोसी देश की मुद्रा का मूल्य घट-बढ़ रहा है। यह नुकसान में तभी पड़ सकता है जब उसका

अल्पमूल्यन हुआ हो। हाल के वर्षों में ऐसे देश कई हुए हैं जिन्होंने व्यापार-वृद्धि की लालच में जान-बूझकर अपनी मुद्रा का मूल्य कम कर दिया है। इन युक्तियों पर अन्य देशों में आपत्ति होती है और इसका बदला लेना चाहते हैं और ऐसा ही करना शुरू कर देते हैं। किन्तु इस बदले की कार्यवाही में अस्थायी और मामूली से अधिक लाभ वे नहीं पाते।

पौंड के ह्रास-वृद्धिमय मूल्य-परिवर्तन का क्रम १९३१ के सितम्बर महीने से प्रारम्भ हुआ। ५ साल के अनुभव के बाद इस सम्बन्ध का जो विचार देश-देश में फैला हुआ था, वह यह था कि आंतरिक चंगापन (internal recovery) को लाने में ह्रास की स्थिति की शक्ति इतनी प्रसारित थी कि स्वर्ण-मान पर पलट जाना अब मुश्किल है, विनिमय-बाजार में अत्यधिक ह्रास-वृद्धि का दुष्परिणाम पूरी तरह भोगना पड़ रहा है—खास कर जब यह ह्रास प्रतिद्वन्दात्मक होता है। यह विषय समझ में आ गया था कि स्वयं ह्रास-वृद्धि-प्रक्रिया में कोई खास गुण नहीं है—स्थिरता की अवस्था पर न पहुंचने का कारण एक मात्र यह है कि उस समय के लिए एक दरवाजा खोलकर रख दिया जाय जब कहीं अधिकमूल्यन का फिर से आगमन हो। इसलिए जब आखिरकार सितम्बर १९३६ में फ्रान्स की मुद्रा फ्रांक का मूल्य-ह्रास हुआ, तो इस पतन ने उस चीज को जन्म दिया जिसे तथा-कथित त्रिदलीय मुद्रायिक समझौता (Tripartite Monetary Agreement) बताया गया है। यह समझौता ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रान्स के बीच हुआ पर जिसमें पश्चिमी यूरोप के अधिकांश देश भी पीछे चलकर सम्मिलित हो गये। यह समझौता एक प्रकार का धुंधला कागज (nebulous document) था परन्तु इसमें लिखे गये मुख्य तत्व यह थे कि अत्यधिक मूल्य-ह्रास-वृद्धि को रोकने में तीनो देश एक दूसरे से सहयोग करेंगे, वे अपनी मुद्रा के सम्बन्धित मूल्य में यदि कोई संगीन परिवर्तन करने जायेंगे तो एक दूसरे की सलाह ले लेंगे और किसी भी दशा में आपस में प्रतिद्वन्दात्मक मूल्य-ह्रास या अत्यधिक मूल्य को व्यवहृत न होने देंगे। इस समझौते को स्थायी सुस्थिरता की दिशा में पलट कर जाने की

चेष्टा नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत इस समझौते का उपयोग तो विनिमय-दर में कई प्रकार के परिवर्तन लाने के लिए किया गया। पर इसमें इस बात का भरोसा था कि विनिमय-दर की स्थिरता में अब दिन-दिन स्थायित्व आता जायेगा, बड़े-बड़े उलट-फेर आपसी बातचीत के जारिये तय किये जायेंगे और कोई देश दूसरे देश की मुद्रायिक नीति पर आक्षेप नहीं करेगा।

ब्रेटन उड्स

BRETTON WOODS

यह त्रिदलीय मुद्रायिक समझौता सितम्बर १९३९ तक माना जाता रहा। युद्ध-प्रारम्भ पर ही यह समाप्त हो गया, पर उस समय भी इसे एकदम से खतम नहीं कर दिया गया। परन्तु फ्रांस और ब्रिटेन दोनों ने मुद्रा-विनिमय की रोक-थाम के कड़े नियम जारी किये और पौंड स्टर्लिंग और डालर की विनिमय-दर को झटपट खिसका कर ४·८० डालर=१ पौंड से ४·०३ डालर=१ पौंड के कर दिया गया। युद्ध-काल में जो मुद्रा-व्यवस्था थी, उससे यद्यपि त्रिदलीय समझौता की किसी धारा का उल्लंघन नहीं होता था पर वह एकदम दूसरे प्रकार की थी।

युद्ध-कला में और खास कर इस काल के पिछले हिस्से में अमेरिका, कनाडा और ब्रिटेन इन सभी देशों में इस बात पर बहुत सोच-विचार चलता रहा कि युद्ध के बाद किस तरह की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-व्यवस्था रहेगी। इस समय क्या होना उचित है, इसपर तो विशेष मतभेद नहीं था। सोचा यह जाता था कि पहले तो, कोई ऐसा साधन होना जरूरी है जिसके जरिये प्रत्येक देश अपनी मुद्राओं के मूल्य को, अपने मन से नहीं पर समझौता द्वारा परिवर्तित कर सके क्योंकि यह स्पष्ट हो गया था कि वास्तविक दर वाजिब दर से बहुत भिन्न रहती थी। किन्तु इस तरह के पुनर्मूल्यीकरण की कार्यवाही के बीच में हर देश के अर्थाधिकारियों को यह देखना चाहिये कि विनिमय-दर की एक वाजिब स्थिरता कायम रखी जाय।

पर यह भी स्वीकृत हुआ कि जहां तक जल्दी हो सके और जितनी दूर तक संभव हो सके विनिमय-प्रतिबंध का सहारा लिये बिना वे स्थिरता लाने की चेष्टा करें— हां, केवल पूंजी के चलाचल पर नियन्त्रण रखना तय हुआ। इसका अर्थ यह है कि स्थिरता लाने के लिए जो सबसे जबर्दस्त अस्त्र इस्तेमाल करने का समझौता हुआ वह वही है जिसे 'हस्तक्षेप' कहते हैं और जिसका वर्णन अध्याय ७ में हुआ है। अर्थात बाजार में मुद्रा की मांग और पूर्ति के बीच जो असंतुलन हो अधिकारी उसको ठीक करने की चेष्टा करें—इस तरह नहीं कि किसी पूर्ति को बाजार में पहुंचने से रोक कर वे ऐसा करें पर पूर्ति को बढ़ा कर किया जाय, बाजार के कारबार को कम कर के नहीं पर उसे बढ़ा कर यह काम हो। और इसके लिए, जैसा कि अध्याय ७ में बताया गया है, उनके पास विदेशी मुद्रा की पर्याप्त पूर्ति रखनी चाहिये जिसमें से लेकर उनका काम चले। असल में युद्ध के उन दिनों में इस सम्बन्ध में जो विचार चलते थे उनका आधार यही होता था कि विदेशी मुद्राओं की यह पूर्ति हस्तक्षेप के स्थिरीकरण की सफलता के उद्देश्य से किस उपाय से कहां से पायी जाय।

यह विषय ब्रिटिश सरकार की प्रेरणा से आगे आया था जिसका आधार लार्ड केनीज़ (Lord Keynes) की बनायी एक योजना थी। यह योजना पूरी की पूरी स्वीकृत नहीं हुई, पर इसमें जो सैद्धान्तिक विवाद अन्तर्निहित हैं उनको यह योजना इतनी स्पष्टता से प्रदर्शित करती है कि इसे मामूली तरह से पढ़ कर हटा नहीं दिया जा सकता। केनीज की योजना में बैंक-कारबार के मुख्य सिद्धांतों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित करने की जान-बूझ कर चेष्टा निहित की गयी थी। यह सिद्धान्त जमा और नाम (credit and debit) की समानता सम्बन्धी है। यह जमा-नाम बराबर इस तरह होता कि हर एक सदस्य देश को एक प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान संघ (International Clearing Union) नामक अर्थ-संस्था से एक निश्चित हद तक ओवरड्राफ लेने की सुविधा रहती। इस तरह हर एक देश को साधनों का एक अंश मिलता और कुछ समय

की मुद्दत मिलती जिसके भीतर उसे संसार के साथ अपने आर्थिक सम्बन्ध ठीक कर लेने का मौका मिलता।

यह स्मरण रखना चाहिये कि समस्या जो हल होती है वह यह है कि कभी विनिमय-बाजार में ऐसा भी हो सकता है कि जिस मुद्रा के स्थिरीकरण का ख्याल हो, एक निश्चित विनिमय-दर पर उस मुद्रा की पूर्ति का प्रदान (offer) मुद्रा-बाजार की मांग से अधिक हो। या इसी चीज को दूसरी तरह से कहें कि स्थानीय मुद्रा की संख्या से जो मुद्रा-बाजार में वदलाने के लिये आती है, वहां परिवर्तनार्थ विदेशी मुद्रा की कमी हो या अधिकता हो। तो अब समस्या यह उठती है कि इस अधिकता या कमी को क्या किया जाय ? अब सम्पूर्ण विश्व का हिसाब धरें तो जितनी अधिकता एक जगह हो उतनी ही कमी दूसरी जगह होनी चाहिये। ऐसा इसलिए है कि हर एक विनिमय-कारवार तो एक मुद्रा के साथ ही होता है। समूचे विश्व की बात न लें तो राष्ट्रों के एक समूह में भी उस समूह के कुछ राष्ट्रों की मुद्रा की अधिकता का योग उसी समूह के शेष राष्ट्रों की मुद्रा की कमी से मिलता है। इसलिए केनीज़-योजना का तत्व दो मुद्दों में निहित है। प्रथम तत्व यह है कि जैसे किसी केन्द्रीय वैंक में सदस्य वैंकों के लेन-देन का मोजरामौसूफ होता रहता है उसी तरह इस शेष बाकी या अतिरिक्त का भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान संघ के सदस्य राष्ट्रों के साथ मोजरा-मौसूफ होने देना चाहिये। यह काम इस तरह होगा कि किसी सदस्य देश पर जो पावना किसी दूसरे सदस्य देश का हो वह इस केन्द्रीय संस्था पर चेक काट कर अदा करेगा। यह केन्द्रीय संस्था इस तरह से केन्द्रीय बैंकों का केन्द्रीय बैंक (Central Bank of Central Banks) बन कर रहेगा या बैंकरों के बैंकरों का बैंक (bankers' bankers' bank) होगा।

पर यह भुगतान (clearing) चेक किस मुद्रा में दिया जायगा यह सवाल है। यह तो साफ है कि यह चेक डालर या सोने में नहीं हो सकता क्योंकि कर्ज-दार देश के पास दोनो में से कोई भी चीज होने की सम्भावना नहीं है। केनीज-

योजना में जो दूसरा विषय था वह इसी की व्यवस्था थी। उसने सुझाव रखा था कि इस केन्द्रीय संस्था की अपनी एक मुद्रा होनी चाहिये और भुगतान का चेक इसी मुद्रा में लिखा जाना चाहिये। इस मुद्रा का नाम "बैंकोर" (bancor) बताया गया था। इस बैंक की किताबों के अलावा बैंकोर मुद्रा की और कहीं विद्यमानता नहीं रहेगी। केवल इस बैंक द्वारा ही यह मुद्रा सर्जित होगी और यह उन देशों के इस्तेमाल के लिए बनायी जायगा जो किसी देश के अधिक (surplus) मुद्रा-कोष से उधार ले कर अपना भुगतान पूरा करना चाहते हों। (क) बैंकोर की एक इकाई की कीमत सोने के कुछ औंस मूल्य के बराबर निश्चित की जायगी पर यह नहीं सोचा गया था कि यह कीमत स्थायी रहेगी।

इसमें वैंक-कारबार की ही पूरी-पूरी नक़ल रखी गयी थी। जब किसी आदमी के पास अपने बैंक-हिसाब में धन की कमी रहती है तो वह बैंक के पास जाता है और यह व्यवस्था करता है कि बैंक उसे कुछ 'ओवर ड्राफ्ट'—हिसाब से कुछ अधिक धन देना स्वीकार करे। यानी बैंक उसके लिए कुछ मुद्रा बना कर उसके खाते में जमा कर दे और इस तरह जो नया धन बने उससे उसके कर्जदारों का भुगतान किया जाय। केनीज-योजना में भी ठीक यही व्यवस्था दी गयी थी। जब किसी राष्ट्र को किसी मुद्रा का अभाव हो तो उसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक बैंकोर बना दे और उस देश के महाजन देश उस बैंकोर को अपने पावने की भरपाई में लेना स्वीकार कर के हिसाब मिटा लें। यानी इसके लिए वे अपनी मुद्रा का आप ही प्रबन्ध कर लें। इस बैंक का साधारण बैंकों से केवल यही विभेद था कि इस बैंक को कोई भी जमा रकम नगदी में कभी लौटाना नहीं था। उसका उपोयग केवल अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिए निश्चित था। पर इस हिसाब से बैंक का जमा और नाम का मद दोनो हमेशा बराबर रहना चाहिये।

(क) यह प्रस्ताव किया गया था कि विभिन्न देश यह मुद्रा 'बैंकोर' सोना देकर इस बैंक से प्राप्त कर सकेंगे। पर यह तो एक छोटी-सी व्यवस्था थी जिससे इस व्यवस्था पर कोई विशेष प्रभाव पड़ने की संम्भावना नहीं थी।

लेकिन इसमें यह भी नहीं सोचा गया था कि इस तरह से इस बैंक के सदस्य, जिनका खाता अभाव (deficits) वाला हो वे निरन्तर अपना वह अभाव बढ़ाते चले जायँ, जितनी कि उनकी इच्छा हो। इसलिए शुरू में यह व्यवस्था रखी गयी थी कि बैंक के प्रारम्भ से ही इसमें आय की व्यवस्था इस तरह कर दी जाय कि इसके फंड में जमा देने वाले भी एक प्रतिशत व्याज के बतौर दें और इससे ओवर ड्राफ्ट लेने वाले भी इतना ही व्याज दें। इस विचित्र प्रस्ताव की, कि जमा करने वाला भी व्याज दे और लेने वाला भी, एक कैफियत देने की कोशिश की गयी थी। वह कैफियत यह थी कि संभवतः मुद्रा-विनिमय के अनंतुलन में केवल वे ही देश दोषी नहीं हैं जो कर्जदार हैं बल्कि वे भी हैं जो महाजन हैं और चूंकि विनिमय की गड़बड़ी में सभी देशों का समान हाथ होता है इसलिए उससे उत्पन्न कठिनाई को मिटाने के प्रयत्न में सबका समान सहयोग होना चाहिये। मुद्रा का कहीं तो अल्पमूल्य-धारण किया जाता है और कहीं अधिकमूल्य-धारण; इसलिए दानो पर समान भार इस गड़बड़ी को दूर करने का होना चाहिये। इसके बाद यह भी तय हुआ था कि हर एक देश के ओवर ड्राफ्ट की एक सीमा नियत कर दी जाय। यह सोचा गया था कि हर एक देश को उस देश के युद्ध-पूर्व के तीन वर्षों के आयात-निर्यात-व्यापार की रकम के योग का ७५ प्रतिशत कोटा नियत कर दिया जाय और यह निश्चित कर दिया जाय कि कोई देश इस कोटे के २५ प्रतिशत से अधिक किसी साल ओवर ड्राफ न मांगेगा (क) और जब इसका ओवर ड्राफ्ट कोटे का ५० प्रतिशत पहुंच जाता हो तो अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक इस देश को यह आदेश देगा कि वह अपनी मुद्रा का अल्पमूल्यन (devaluation) करे अथवा वह पूंजी के कारबार पर विनिमय-नियंत्रण बैठाये, यदि यह चीज पहले से न हो। अगर किसी देश का ओवर ड्राफ्ट इससे भी अधिक पहुंच जाये तो उससे

(क) अन्त में जिस संख्या पर आकर राजीनामा हुआ वह यह था कि युद्ध-पूर्व के औसत तीन वर्षों के आयात-निर्यात के आंकड़ों के ७५ प्रतिशत का चोथाई हिस्सा वार्षिक कोटा रखा जाय। इस तरह ग्रेट ब्रिटेन के लिए प्रायः ३० करोड़ पौंड की रकम हुई।

कहा जाय कि "तुम अपनी स्थिति सुधारने की कोशिश करो और अगर दो साल के अन्दर वह अपना ऋण न उतार सके तो उसे 'डिफौल्टी' (defaulty) घोषित कर दिया जाय और उस देश का अपने हिसाब में से आगे कुछ लेने का अधिकार छिन जाय। उसी तरह यदि किसी देश के जमा का आमद इसके कोटे के आधे से बढ़ जाय तो यह बैंक के प्रबन्ध-मंडल से इस विषय पर परामर्श करे कि क्या करना चाहिये। इस सम्बन्ध का निर्णय वह स्वयं करे पर इसपर वह राय ले लिया करे। इस सम्बन्ध में वह आन्तरिक उधार खाता का विस्तार, अपनी मुद्रा का पुनर्मूल्यन, चुंगी की दर घटाना अथवा अन्य देशों का दीर्घ काल के लिए ऋण देने आदि के कुछ उपाय कर सकता है।

इस तरह पता लगता है कि केनीज-योजना के दो प्रधान तत्व जो थे वे यह थे कि अन्तर्राष्ट्रीय कारबार में शेष बाकी की समस्या को एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बना कर हल किया जाय और विदेशी विनिमय में जो असंतुलन आ जाता है उसके लिए ऋणी और महाजन दोनो देशों को जिम्मेदार माना जाय। ये ही दो तत्व थे जिन्हें खासकर अमेरिका वालों ने नापसन्द किया। यह बिलकुल स्पष्ट बात थी कि महायुद्ध के बाद अमेरिका सबसे बड़ा महाजन देश निकल गया था और ब्रिटेन सबसे बड़ा कर्जदार देश था। (क) और अमेरिकनों को यह बात पसंद नहीं आयी कि महाजन और खदुक के सम्बन्ध में बराबरी के सिद्धांत इस प्रकार आरोपित हों। इसके अलावे खदुक की आवश्यकताओं को नयी मुद्रा का सृजन कर पूरी करने के किसी भी स्कीम को महाजन देश सशंकता पूर्वक देखा ही करता है। वे यह पूछने लगते हैं कि इस सर्जित मुद्रा से जो वास्तविक सम्पत्ति कर्जदार

(क) यहाँ पर 'ऋणी' और 'महाजन' शब्दों का थोड़ा ढीले-ढाले अर्थ में इस तरह व्यवहार हुआ है कि जिस देश का अधिक व्यापार हुआ उसको महाजन देश कहा गया और जिसका कम उसे ऋणी देश अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के सम्बन्ध में माना गया। अध्याय १० में बताया जायगा कि इन शब्दों का सही व्यवहार यह नहीं है। यहाँ पर यह चेतावनी हमारे मतलब के लिए यथेष्ट है।

देश ख़रीदेंगे वह माल देने वाला कौन है; और इसपर वे शंका करने लगते हैं कि इसका जवाब यही है कि महाजन देश ही उसे माल देते हैं (हालांकि ऐसा सोचना गलत है)। इस सम्बन्ध में लार्ड केनीज़ ने जो दलीलें दी हैं वे ये हैं—

प्रस्तावित योजना में किसी देश को नुकसान नहीं है। नुकसान इस बात से नहीं है कि उन साधनों का, जिनका उपयोग कोई देश फिलहाल नहीं करता है अर्थात जिनके जरिये वह दूसरे देशों से माल नहीं मंगाता, दूसरे उपयोग कर लेते हैं तो इससे उनका क्या बिगड़ जाता है? किसी बैंक के डिपाजिटर की क्या क्षति होती है, अगर बैंक-हिसाब में उसके पड़े हुए रुपये से किसी अन्य के व्यवसाय को अर्थ-सहायता मिल जाती है? जिस तरह राष्ट्रीय बैंक-कारबार के विकास से राष्ट्र के उद्योग-धन्धों के फलने-फूलने का अवसर मिलता है, उसी तरह इस प्रथा को अखिल विश्वाधार पर कायम करने से संसार की मजबूरियां कम हो सकती हैं जिससे समाज के भीतर निराशा और अशांति के प्रसार से दुनिया का त्राण हो सकता है। धन-संचय के स्थान पर एक उधार खाता चलाने वाले यंत्र की स्थापना करने से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी वे ही चमत्कार हो सकते हैं जो देशीय क्षेत्र में होते रहे हैं—इस उपाय से मानो हम पत्थर को रोटी में परिणत कर ले सकते हैं।

परन्तु इन दलीलों का प्रभाव वाशिंगटन पर नहीं पड़ सका। ग्रन्थकार का विचार है कि लार्ड केनीज की धारणा सही थी और यह दुख की बात है कि वह स्वीकृत भी नहीं हुई। किन्तु यह योजना पूर्णतः अस्वीकृत भी नहीं कर दी गयी है। इस योजना का प्रभाव हम उस अन्तिम योजना में देख सकते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जुलाई १९४४ में ब्रेटन उड्स नामक जगह पर न्यूहेम्पशायर (ब्रिटेन) में हुए सम्मेलन में स्वीकृत हुई। इस सम्मेलन में कनाडा तथा अमेरिका ने भी अपने अलग-अलग प्रस्ताव रखे थे और अन्त में सब पर विचार-विमर्श के बाद एक व्यवस्था स्वीकृत हुई। इस सम्मेलन के निर्णयानुसार दो संस्थाओं का जन्म हुआ—पहला अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) और दूसरा विकास और पुनर्निर्माण के कार्यों में सहायता पहुंचाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank for Reconstruction and

Development)। बैंक का काम यह है कि जो देश अपने पुनर्निर्माण और विकास के कार्यों को अपने ही आर्थिक बल-बूते पर नहीं कर सकता हो, उसे सहायता पहुंचायी जाये। अगले अध्याय में इस सम्बन्ध में और कुछ कहा जायगा—अभी हम अपना ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष पर लगाना चाहते हैं जिससे हमारे विषय को अधिक सरोकार है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का प्रधान लक्ष्य उन देशों को विदेशी मुद्रा देना है जिनके पास इसका अभाव हो—इस रूप में वह अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान संघ का ही प्रतिनिधित्व करता है। पर इसमें केवल 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-सृजन' की बात नहीं है। हर एक सदस्य देश को एक-एक कोटा दिया हुआ है। यह कोटा अमेरिका के लिए २७५ करोड़ डालर और ब्रिटेन के लिए १३० करोड़ डालर जैसी भारी-भारी रकमों से लेकर लाइबेरिया और पनामा को दिये गये ५ लाख डालर तक की छोटी रकम हैं। (सोवियत रूस को इसमें १२० करोड़ डालर का कोटा दिया गया था पर उसने न 'बैंक' में साथ दिया न 'कोष' में।) सारे हिसाब-किताब डालर में होते हैं, हिसाब के लिए कोई दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निर्धारित नहीं की गयी। कोष की ओर से मांग आने पर हर एक देश ने इसमें अपने हिस्से का कोटा जमा कर दिया है—कुछ तो सोना में और अधिक भाग अपनी-अपनी मुद्रा में। इस तरह कोष के पास डालर, पौंड, फ्रांक, गिल्डर आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राओं की एक खासी राशि जमा हो गयी है; इसका अर्थ यह है कि विभिन्न देशों के केन्द्रीय बैंकों में उतनी-उतनी मुद्रायें इस कोष के खाते में जमा दे दी गयी हैं। (क) यही कोष है जो उन देशों के लिए रख दिया गया है जिनको उसकी आवश्यकता पड़े। पर यह ध्यान में रखने की बात है कि यह कोष किसी को उधार नहीं देता। जब कभी किसी देश को अपना हिसाब साफ करने के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है वह इस कोष के पास पहुंचता है और जिस विदेशी मुद्रा की आवश्यकता उसे हुई, वहां

(क) यानी वह मुद्रा उसी देश की सरकार के हाथ में छोड़ दी जाती है कि जरूरत पड़ने पर कोष उसे उठाना चाहे तो उस देश के केन्द्रीय बैंक से उसे उठा ले।

से खरीद लाता है और इसके बदले में कुछ अधिक अपनी मुद्रा वहां रख आता है। 'अधिक' से मतलब यह कि विनिमय से जितनी मुद्रा उसे देनी पड़ती उससे कुछ प्रतिशत अधिक मुद्रा उसे जमा देनी पड़ती है। इस तरह से इस कोष का कारबार केवल मुद्राओं का विनिमय ही है। ऊपर से देखने से यह ज्ञात होगा कि यह उपाय भी विनिमय-बाजार की मांग और पूर्ति में वृद्धि कर के उसके संतुलन को बिगाड़ने वाला ही प्रतीत होगा और लगेगा कि 'कोष' के किये यह चीज नहीं सुधरेगी। परन्तु ऐसा नहीं है। कल्पना करें कि ब्रिटेन को डालर की जरूरत है और वह पौंड जमा कर के इस कोष से डालर निकाल लेता है। अब इस डालर को विनिमय-बाजार में भेज दिया जाता है जहां वह मांग और पूर्ति दोनों का समान अन्दाज बनाता है और उधर पौंड चुपचाप रख दिये जाते हैं और वे बैंक आफ इंग्लैण्ड में भी कोष के खाते में चढ़ाये जाकर पड़े रहते हैं।

बावजूद इस बात के इस कोष से किसी देश को कोई कर्ज नहीं मिलता, इस कोष की सहायता लेने वाले देश को प्राप्त सहायता पर कुछ व्याज या शुल्क देना पड़ता है। यह शुल्क समय और रकम के परिमाण के विचार से क्रमानुगत बनाया गया है। इसके अतिरिक्त यह शुल्क-व्याज सोने से रूप में चुकाना पड़ता है। इस बात से सहायता (ऋण नहीं) लेने वाले देश को यह स्वतः प्रेरणा होती है कि वह कम से कम आवश्यकता की रकम ले और इसे कम से कम समय तक रखे। यदि इस प्रतिबन्ध के बावजूद कोई देश अधिकाधिक विदेशी मुद्रा इस कोष से खींचता ही जाय और उसे अधिक से अधिक दिनों तक रखे रह जाय तो यह शुल्क बढ़ा कर क्षति-पूर्ति के रूप में खूब कड़ा कर दिया जाता है। इसके प्रतिकूल कोई देश यदि फण्ड से सहायता नहीं ले और उसकी मुद्रा का कोष दिन-दिन घटती पर रहे तो इस अवस्था में उस देश को कोई शुल्क देना नहीं है—ऐसी अवस्था में यह व्यवस्था है कि कोष-प्रबन्धक उस देश के प्रतिनिधि को बुला कर इसके सम्बन्ध में परामर्श करे और उसे आवश्यक सलाह दे। अगर इस स्थिति को दुरुस्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया तो कोष वाले यह घोषित कर दे

सकते हैं कि अमुक देश की मुद्रा अप्राप्य हो गयी है। इस घोषणा से तुरत कई नतीजे निकलते हैं, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे। पर यह साफ है कि कर्जदार देश पर कोष की ओर से जितना दबाव डाला जा सकता है उतना महाजन देश पर नहीं डाला जा सकता। मोटा-मोटी ऋण-खोर देश को ही गड़बड़ी का अधिक जिम्मेदार कार्यतः माना जाता है और उसी पर यह भार रहता है कि गड़बड़ी को ठीक करे। इस तरह ब्रेटन उड्स व्यवस्था लार्ड केनीज की योजना से एक सिद्धान्त के प्रश्न पर विभेद रखती है। दूसरे सिद्धान्त पर भी विभेद कम नहीं है। वह सिद्धान्त यह है कि विकास और विस्तार के विचार से, ऋण-प्रार्थी देश की आवश्यकता को अतिरिक्त मुद्रा बना कर पूरा करने की ज़रूरत है। ब्रेटन उड्स योजना में सहायता-प्रार्थी देश के लिए विदेशी मुद्रा की जो सहायता स्वीकृत होती है, उसे बनाना नहीं पड़ता। वह उस कोष में से निकाल कर दे दी जाती है जो इसी उद्देश्य से कोष में पहले से जमा है। इस तरह यह यद्यपि सही है कि कोष के हिसाब में से उतनी मुद्रा को उस देश के नाम पर चढ़ा देने से एक निकम्मी पड़ी हुई मुद्रा कर्म-रत हो जाती है पर लेनदार को इसके लिए साथ ही साथ अपनी मुद्रा भी अमानत में रख देनी पड़ती है। यों ब्रेटन उड्स योजना में विकास-विस्तार का तत्व नहीं है।

ब्रेटन उड्स योजना में ऐसी धारायें हैं जिनमें किसी देश के द्वारा अपनी मुद्रा के विनिमय-मूल्य को परिवर्तित करने की प्रक्रिया भी दी हुई है। शुरू में इस तरह के देश को यह कहा जाता है कि वह अपनी मुद्रा का चालू मूल्य सोने के मूल्य को धर कर या अमेरिकी डालर के मूल्य को धर कर बतावे। यों इसमें भी मुद्राओं के जो पारस्परिक मूल्य-सम्बन्ध हैं उनका निश्चय करने में सोने का सहारा अवश्य माना गया है। पर यही एक मात्र राजा (absolute monarch) नहीं है क्योंकि मुद्रा का मूल्य-मान आज सोना पर ही नहीं रह गया है परन्तु सोने के सिहाब करने के लिए एक हाथ का साधन मान लिया गया है। मुद्रा का असल मोल आज-कल इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी डालर के साथ

विनिमय-दर क्या है। इस योजना में मुद्रा की समतुल्यता के परिवर्तनार्थ जो-जो व्यवस्थायें दी गयी हैं उनका संक्षेप यह है—

१. कोई सदस्य अपनी मुद्रा का मोल किसी मौलिक असंतुलन को सुधारने के उद्देश्य को छोड़ और किसी दूसरे कारण से परिवर्तित करने का प्रस्ताव नहीं लायेगा और इस सम्बन्ध में वह कोष वालों की सहमति से ही कुछ कर सकेगा।

२. समतुल्यता में १० प्रतिशत तक जो परिवर्तन हो उसमें कोष वालों को आपत्ति करने का अधिकार नहीं है।

३. यदि १० प्रतिशत से अधिक और २० प्रतिशत तक परिवर्तन चाहा जाय तो कोष वाले इसे स्वीकार या अस्वीकार, चाहे जैसा भी उचित समझें, कर सकते हैं पर उन्हें अपनी सम्मति ७२ घंटे के भीतर प्रकट कर देनी पड़ेगी।

४. २० प्रतिशत से अधिक परिवर्तन अपेक्षित हो तो कोष वालों पर ७२ घंटे के अन्दर निर्णय देने का पाबन्दी नहीं है।

५. कोष वालों की इस विषय पर अवश्य सहमति होनी चाहिये कि परिवर्तन आवश्यक है। यह भी व्यवस्था इस योजना में दी गयी है कि मुद्रा-संतुलन की समस्या पर विचार करते हुए कोष वालों को किसी देश की किसी राजनीतिक, आर्थिक अथवा घरेलू नीति पर ध्यान देने का अधिकार नहीं है। जैसे कि कोष वाले यह नहीं कह सकेंगे कि मजदूरी-स्तर बढ़ाये जाने की आवश्यकता न थी अतः अल्पमूल्य-धारण के एवज में मजदूरी का स्तर घटाया जाना चाहिये।

इन शर्तों से यह झलकता है कि सदस्य देशों को मुद्रा-मूल्य के परिवर्तन में इनमें यथेष्ट स्वतन्त्रता दी गयी है।

अन्त में इस करार में कई ऐसी व्यवस्थायें हैं जिनका उद्देश्य, हम कहें तो कह सकते हैं कि "मुद्रा के सदाचरण" (good conduct of currencies)

की रक्षा करना है। हर सदस्य देश को यह अंगीकार करना पड़ता है कि वह अपने प्रदेशों में सरकारी निश्चित दर के प्रतिकूल दर पर अपनी मुद्रा और विदेशी मुद्रा के बीच विनिमय नहीं करेगा। 'सरकारी' दर से अभिप्राय कोष द्वारा स्वीकृत दर से है जो शुरू-शुरू में लिख कर कोष वालों को दे दिया गया था। इसमें अधिक से अधिक १ प्रतिशत के हेर-फेर की छूट हो सकती है। इससे उस नाजी चालबाजी से बचने की युक्ति की गयी है जिसमें एक ही मुद्रा के लिए विभिन्न विनिमय-मूल्य वे लोग रख लेते थे। इसके अतिरिक्त सदस्य देश यह स्वीकार करते हैं कि युद्धोत्तर काल की संक्रमण-दशा की समाप्ति पर, जिसे वे कम से कम बनाने की चेष्टा करेंगे, वे अन्तर्राष्ट्रीय चालू कारबार के सम्बन्ध में लेन-देन पर प्रतिबन्ध नहीं रखेंगे। परन्तु इसमें एक अपवाद भी है। वह यह है कि जिस मुद्रा का स्टाक कोष में कम हो जायगा और जिसके सम्बन्ध में कोष घोषणा कर देगा कि ऐसा है, तो अन्य सदस्य देश उस मुद्रा में होने वाले लेन-देन पर प्रतिबंध लगायेंगे। दूसरे शब्दों में, यदि अमेरिका का कारबार सदा अधिकता में ही रहे और इस कारण डालर मुद्रा का अभाव कोष में हो जाय तो ब्रिटेन की सरकार को अधिकार है यह कहने का कि ब्रिटेन वासी अन्य देशों की मुद्रा से विनिमय के लिए—जैसे फ्रांस के फ्रांक, अर्जेन्टाइना के पेसो आदि के लिए भले ही पौंड दें पर डालर के लिए वे पौंड न दें। इससे अमेरिकी व्यापार पर तो भारी रुकावट पैदा होगी पर इसी दबाव से महाजन देश इसके लिए मजबूर होंगे कि अपने कारबार को और संतुलित करने की चेष्टा करें। करार में पूंजी के स्थानान्तरण-सम्बन्धी रोक के विरुद्ध कोई व्यवस्था नहीं है, हां वह किसी सदस्य से तभी पूंजी स्थानान्तरण की कैद उठाने को अनुरोध कर सकता है जब वह समझता हो कि उस सदस्य की मुद्रा कमजोर हो गयी है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष इस तरह से एक नयी तरह की चेष्टा है जिसके द्वारा उस अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा की आवश्यकता पूरी की जाती है जिसकी चर्चा हम इस अध्याय में पहले कर चुके हैं। इसके द्वारा राष्ट्रों को अपनी मुद्रा के मूल्य की

कठोरता का उपाय किये विना एक ऐसा उपाय हाथ लगता है जिसके द्वारा वे अपनी मुद्रा के मूल्य को स्थिर रख सकते हैं। इसमें कुछेक प्रकार के विनिमय-प्रतिबंध की आवश्यकता स्वीकृत की गयी है, साथ ही यह एक ऐसा साधन भी देता है जिसके द्वारा हम आवश्यकतानुसार प्रतिबंध का प्रबन्ध कर सकते हैं और उसके दुर्व्यवहार से बच जाते हैं। ये शब्द जब लिखे जा रहे हैं उसके कुछ ही महीने पहले इस कोष ने अपना काम-काज चालू किया है और इसलिए इस सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट करना संभव हो सका है कि कोष की कार्य-प्रणाली व्यवहार में कैसी होगी। पर इसके सम्बन्ध में दो प्रकार के सन्देह फिर भी रह ही जाते हैं। एक का जिक्र पहले किया जा चुका है; पहली शंका यह उठती है कि क्या यह उचित है कि मुद्रा-सम्बन्धी असंतुलन को ठीक करने की सारी जिम्मेदारी उन्ही देशों पर लादी जाय जो इस असंतुलन के नुकसान के खाने में हैं, दूसरी शंका कोष द्वारा किये गये कारबार के परिमाण के सम्बन्ध में है। कोई सदस्य देश इस कोष से निर्धारित कोटे के २५ प्रतिशत से अधिक विदेशी मुद्रा न भी पा सकता है। इससे ब्रिटेन के संयुक्त राज्य को प्रतिवर्ष ८१० लाख पौंड कीमत की विदेशी मुद्रा इस कोष से मिल सकती है और १९४६ में इस राज्य को चालू खाते में १६६२० लाख पौंड देने पड़े थे। इसके अतिरिक्त कोष की ओर से प्राप्त सहायता पर क्रमवर्धमान शुल्क (progressive scale of charges) देने की प्रणाली रखी गयी है। उसके कारण किसी देश को इसमें हिचक हो सकती है कि वह इस कोष की रकम को अधिक दिनों के लिए क्यों ले। इसलिए ऐसा लगता है कि यह कोष छोटे और अल्पकालिक मूल्य-असंतुलन को ठीक करने में ही सहायक हो सकता है। यह स्पष्ट है कि इस कोष की स्थापना एक ऐसी दुनिया के लिए हुई ज्ञात होती है जहां एक मुद्रा का दूसरी मुद्रा के साथ जो मूल्य-सम्बन्ध है वह बहुत कुछ संतुलित हो, जहां कोई मुद्रा अपनी संतुलित दर से बहुत अधिक या बहुत काल तक फर्क नहीं रखती, और जहां के कारबार प्राय: इतने सम पर चलते हैं कि कुछ गड़बड़ी होने पर थोड़ा सुधार इधर, थोड़ा

सुधार उधर कर देने से ही काम चल जाता है। किन्तु कोई भारी गड़बड़ी होगी तो फंड को या तो इस तरह नामर्द और निरपेक्ष होकर रहना नहीं पड़ेगा अथवा यह डूब जायगा। इसलिए इस कोष की उपादेयता-अनुपादेयता के सम्बन्ध में कोई फैसला तभी दिया जा सकेगा जब यह देख लिया जायगा कि संक्रमण-काल के समाप्त होने पर संसार की अवस्था क्या रहती है। और इस-लिए इस बात की आवश्यकता ज्ञात होती है कि हम इस बात पर गौर करें कि कौन-से वे कारण हैं जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-संतुलन और किन-से असंतुलन पैदा होता है। अगले अध्याय में हम इसपर विचार कर रहे हैं।
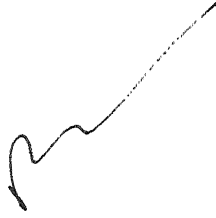
दसवां अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन

INTERNATIONAL EQUILIBRIUM

संतुलन की समस्या

THE PROBLEM OF BALANCE

पिछले अध्याय के वर्णन का निष्कर्ष यह निकलता है कि ब्रेटन उड्स समझौता के द्वारा जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष संगठित हुआ है वह ठीक तरह से काम नहीं कर सकता जब तक कि इस संसार में हर एक देश की मुद्रा की मांग और पूर्ति के बीच बहुलांश में संतुलन न रहे, जिससे कि केवल मामूली और अल्पकालीन गड़-बड़ियों को दूर करने के लिए थोड़े काल के लिए पहली या दूसरी चीज जुटाकर देने की आवश्यकता हो। यह निष्कर्ष केवल ब्रेटन उड्स समझौते के सम्बन्ध में ही लागू नहीं है, किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली में यही बात होगी। यदि मुद्रा-सम्बन्धी अनाचार बहुत भारी हो और बहुत दिनों से चला आ रहा हो तो कोई भी उपाय कारगर नहीं हो सकता। अगर पावने को किसी तटस्थ अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-मंडित तत्व (neutral international substance of value) के सहारे साफ करें, जैसे कि सोना, तो वे देश जिनकी मुद्रा की मांग कम है शीघ्र ही अपना सारा सोना गंवा देंगे। यदि भुगतान की बात महाजन द्वारा एक या दूसरी तरह से अपनी ही मुद्रा की अतिरिक्त पूर्ति के द्वारा तय किये जाने की बात हो तब भी सोने की राशि उसी प्रकार समाप्त हो जायगी। और अगर अपने पावने को अदा करने का कोई जरिया न रह जाये तो दुनिया में दिन-दिन अधिकाधिक कड़े होते जाने वाले (ever-tightening) विनिमय की रोक-छेंक के ऊसर मार्ग से चलने के सिवा दूसरा कोई चारा न रह जाये अथवा मुद्राओं में असीम ह्रास-वृद्धि हुआ करे। यदि राष्ट्रों का आर्थिक

सम्बन्ध किसा तरीके से सुन्दर व्यवस्था पर न लाया जा सके तो दूसरी ऐसी कोई युक्ति नहीं है जिससे संसार में हल्ला-फसाद होने से बचा जाय। और अगर संसार में किसी भी एक तरह की व्यवस्था चलती है तब तो कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में चल सकती है भले ही उसका ढंग कुछ और हो।

स्थिति आज यह है कि संसार में जो एक मुद्रा-प्रणाली अनादि काल से प्रचलित आ रही थी वह आज विपर्यस्त हो गयी है। स्वर्ण-मान उठा दिया गया है और दूसरी कोई चीज ऐसी नहीं मिली कि वह सोने की जगह ले सके। असल में स्वर्ण-मान इतना कड़ा था और इसमें अन्तर्राष्ट्रीय मान की रक्षा के लिए घरेलू आवश्यकताओं को इतना दबाना पड़ता है कि बहुत-से लोग तो किसी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की व्यवस्था करने की बात ही सोचना छोड़ देने को तैयार हैं और यदि कोई व्यवस्था सोच भी लेते हैं तो वह इतनी लचीली होती है कि उसका होना न होना बराबर होता है। बहुत-से देशों में अभी दो प्रकार की विचार-धारायें व्याप्त हैं। एक विचार-धारा में संसार की आर्थिक कठिनाइयों का यह हल दिया जाता है कि बड़े, विभिन्न रूप युक्त एवं निरंकुश (diversified and untrammelled) परिमाण में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चलाना चाहिये जिसमें एक राष्ट्र दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहे और इस विशाल विश्व के बाजार में इस तरह से एक स्थिरता लाकर देशीय अस्थिरता अथवा असामंजस्य की दवा की जाती रहे। यह दल अपना विश्वास विनिमय की स्थिरता पर आरोपित करता है और यह सोचता है कि जहां तक शीघ्र हो सके हमलोगों को स्वर्ण-मान पर पलट जाना चाहिये (ब्रेटन उड्स सम्मेलन में अमेरिका की ओर से यह प्रस्ताव रखा गया था कि किसी देश को अपनी मुद्रा के विनिमय-मूल्य को परिवर्तित करने की अनुमति न दी जाय जब तक कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के संचालक-मंडल के ८० प्रतिशत सदस्यों की राय इसमें न हो। प्रगट है कि यह शर्त असंभव ही है)। इस विचार-धारा के लोगों की मान्यता है कि हर देश में मूल्य की

अस्थिरता एक दोष है और इस दोष को दूर करने का उपाय अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाई है न कि हर देश का अपनी मुद्रा के मूल्य को लेकर हुज्जत करना। इस विचार-धारा के विरोध में जो लोग हैं उनका विचार है कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-व्यवस्था की स्थापना से भी मूल्य-स्थिरता की दिशा में कोई पक्की चीज नहीं हो सकती। इसके प्रतिकूल हर एक देश समझता है कि उसको जो आर्थिक संकट भोग करना पड़ रहा है वह बाहरी देन है और अगर किसी तरह इन बाहरी दुर्भावनाओं और बाधाओं को निवारित कर सके तो अपने ही ऊपर निर्भर रह जाने से वह इन संकटों से बच सकता है। इसलिए ये लोग विशुद्ध राष्ट्रीय उधार-खाता-नीति (national credit policy) के समर्थक हैं जो सर्वथा स्वतंत्र हो। अगर मुद्रा की स्थिरता की चेष्टा में विनिमय को उठा ही देना पड़े और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी खतम कर देना पड़े तो उसे करना चाहिये क्योंकि स्वतंत्रता का यह मूल्य चुकाना जरूरी है, ऐसा उनलोगों का मत है।

इस अध्याय में हमें इस विवाद को मिटाने की चेष्टा नहीं करनी है पर यह दिखाना है कि ऊपर वर्णित दोनो मत कोई भी पूर्णतः सही नहीं है। इतिहास का जो प्रमाण उपलब्ध है उसमें एक भी ऐसा नहीं है जो इस धारणा की पुष्टि करे कि किसी देश का निर्यात-व्यापार और उसके आन्तरिक उद्योग-धंधों का अभ्युदय दोनो एक दूसरे के प्रतिकूल तत्व हैं। इंगलैण्ड का धन उसके व्यापार पर ही अवलम्बित रहा है और उसके वे उद्योग-धंधे भी जिनका सीधा सम्बन्ध विदेशी व्यापार से कुछ भी नहीं है अपने वर्तमान विस्तार तक नहीं पहुंच सकते थे अगर यह देश अपने को संसार के कारखाने के रूप में परिणत नहीं कर लिया होता। उसी तरह विदेशी व्यापार भी उन्नत नहीं हो सकता है जब तक कि किसी देश की जनता उन्नतिशील और समृद्ध न हो कि वह आयात को खपा सके और उसमें ऐसे सशक्त विभिन्न उद्योग-धंधे न चलते हों जो निर्यात के लिए पर्याप्त माल बनाकर दे सकें। खास-खास उद्योग-धंधे हो सकता है कि आयात के कारण प्रतिद्वन्दिता के संकट में पड़ जायें परन्तु इतिहास की निगाह में,

और तर्क की प्रणाली से भी, विदेशी व्यापार और आन्तरिक औद्योगिक विकास दोनो एक दूसरे के मारक नहीं हैं बल्कि साझेदार हैं।

एक दृष्टान्त दे दिया जाय तो यह तत्व स्पष्ट हो जाय। हमने कई बार पहले बाताया है कि कृषि और उद्योग बिलकुल अलग-अलग ढंगों से मंदी लाने के सम्बन्ध में घात-प्रतिघात करते हैं। जब कृषि-जन्य पदार्थों का दाम गिरता है तो किसान साधारणत: अपना उत्पादन कम नहीं करता पर दाम घटा देता है पर औद्योगिक उत्पादक ऐसी अवस्था में थोड़ा बहुत दाम भले कम कर दे पर प्रधानत: वह उत्पादन कम करने के फेर में ही पड़ जाता है और दाम को नहीं छूता। किसान अपना सारा उत्पादन बेच देता है, चाहे कम दाम में ही बेचे। उत्पादक ऐसा दाम रखता है कि अगर खरीदार हों तो उसमें उसको फायदा रहे पर उसको ग्राहक नहीं मिलते—वह जितना उत्पादन कर सकने की क्षमता रखता है उतना उठाने वाला उसे नहीं मिलता। जब ऐसी स्थिति आ जाती है तब लगता है कि दोनो वर्गों का स्वार्थ एक दूसरे के प्रतिकूल जा रहा है। किसान अधिक दाम की मांग करता है चाहे इसके लिए उसे उत्पादन कम भी करना पड़े, औद्योगिक चाहता है मांग की वृद्धि, मूल्य-स्तर को ऊंचा उठाने की बात छोड़ दे सकता है। इस तरह दोनो की चेष्टायें विपरीत पड़ती हैं।

पर एक अर्थशास्त्री यह देखने से चूक नहीं सकता कि अन्तत: दोनो की उन्नति परस्पर सम्बद्ध है—एक की उन्नति पर दूसरे की उन्नति लगी हुई है। किसान यदि समृद्ध होगा तो उत्पादक को चाहे उसके उत्पादन का अधिक दाम न मिले पर उसका माल अधिक बिकेगा, यह लाभ उसे होगा और जैसे-जैसे उत्पादक की समृद्धि बढ़ेगी किसान को अधिकाधिक दाम मिलेगा।

इसी दृष्टान्त को हम विदेशी व्यापार और आन्तरिक उद्योग-धंधों पर आरोपित कर सकते हैं। जब एक समृद्ध होगा तो दूसरे को भी उसका लाभ मिलेगा, यों एक दूसरे के पूरक रहेंगे। पर जब दोनो डांवाडोल रहेंगे तो दोनो एक दूसरे को कमजोर करेंगे। अगर घरेलू उद्योग-धंधा गिर जाय तो लोगों की

आमदनी गिर जायगी और धन के अभाव से आयात खरीदने के लिए पैसे ही नहीं रहेंगे। और उस समय बाजार को सम्हालने के लिए संरक्षण की मांग पैदा होगी एवं इससे विदेशी विनिमय का संतुलन नष्ट हो जायगा, स्वर्ण-मान के धुर्रे उड़ जायेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घट जायगा। और अगर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार छोड़ दिया जाय तो इसके द्वारा जिन लोगों की जीविका चलती है उनकी गरीबी का मारक प्रभाव उस देश के उद्योग-धंधों पर पड़े बिना नहीं रहेगा। विनिमय की अत्यधिक अस्थिरता से आंतरिक मूल्य-स्थिरता प्राप्त करना असंभव ही होगा और अत्यधिक स्फीति या विस्फीति से देश के अंदर आपसी विनिमय की दर भी स्थिर नहीं हो सकेगी। यह केवल संयोग की बात नहीं है कि सबसे भारी विनिमय-स्थिरता का युग जिस समय रहा है उसी समय सबसे अधिक आंतरिक स्थिरता भी संसार में रही है और इसी समय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी खूब चला है। दूसरी ओर स्वर्ण-मान युद्धकाल की भारी स्फीति और १९२९ की भारी विस्फीति, दोनो सम पर रखने पर भी कायम नहीं रह सका है।

इसलिए आदर्श नीति का लक्ष्य यह होना चाहिये कि बाहरी और भीतरी दोनो तरह के संतुलन को प्राप्त करने की चेष्टा की जाय। शुरू में ही कह देना उचित है कि तुलित अवस्था किसे कहेंगे, यह बताना आसान नहीं है, यह किसी कड़ी परिभाषा में तो समा ही नहीं सकता। हमने अध्याय ५ और ६ में आन्तरिक संतुलन की समस्याओं के सम्बन्ध में विचार किया है और इसमें हमें मिला है कि किसी मूल्य या मूल्य-समूह की पूर्ण स्थिरता को ही आंतरिक संतुलन नहीं कह सकते यद्यपि प्रारंभिक अनुमान के लिए हम यह समझ लें कि संतुलन की अवस्था में मूल्यों की उससे कहीं अधिक स्थिरता रहेगी जितनी संसार ने अब तक देखी है। इसी तरह बाहरी संतुलन का अभिप्राय यह नहीं है कि विभिन्न राष्ट्रों की मुद्राओं के बीच एक सर्वथा स्थिर विनिमय अनुपात रहे। पर इसमें संभवतः यह चीज आती है कि पिछले वर्षों में इस विषय में जो स्थिरता देखी गयी है उससे कहीं अधिक स्थिरता इस दिशा में आ जाय।

इस अध्याय में हम अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन के सम्बन्ध में कुछ गहराई के साथ विचार करेंगे।

ऊपर किसान और उत्पादक का जो दृष्टान्त दिया गया है वह जान-बूझ कर इस तत्व को आगे लाने के अभिप्राय से दिया गया है कि राष्ट्रों के बीच का आर्थिक सम्बन्ध भी प्राय: इससे भिन्न नहीं है। संसार के देशों ने अपने मन से ही स्वभावत: अपने को दो समूहों में बांट लिया है—एक है 'प्राथमिक उत्पादक' राष्ट्र और दूसरा है औद्योगिक राष्ट्र। इतने पर भी कोई देश ऐसा नहीं है जो केवल कच्चा माल ही निर्यात करता हो, जिस तरह कि कोई देश केवल तैयार माल नहीं भेजता। पर साधारणत: हर एक या दूसरी चीज की प्रधानता रहती है और इसी पर उसका नाम पड़ जाता है। उदाहरण के लिए न्यूजीलैंड और चिली से १९२९ में, जो दोनो युद्धों के बीच का सबसे समृद्ध वर्ष रहा है, कच्चा माल और खाद्य पदार्थों का निर्यात, सम्पूर्ण निर्यात माल का क्रमश: ९६·४ और ९५·८ प्रतिशत हुआ था। उधर ब्रिटेन के संयुक्त राज्य (U.K.) और बेल्जियम का निर्यात जो ६९ और ५९·३ प्रतिशत कुल निर्यात का था 'थोड़ा या सम्पूर्ण रूप से तैयारी माल' का था। इतना ही नहीं, यह समतुल्यता तो और आगे बढ़ती है। कृषि-प्रधान देशों पर भी मन्दी की प्रतिक्रिया वही होती है जो अकेले किसान पर होती है अर्थात दूसरे देशों को वे जो माल भेजते हैं उनका परिमाण या वजन अथवा संख्या तो समान होती है पर उनका मूल्य बहुत गिर जाता है। औद्योगिक देशों का अनुभव इससे उलटा होता है। उनके निर्यात का मूल्य भी अवश्य हा गिर जाता है पर वह कच्चे माल की गिरावट के मुकाबले कम होता है। असल में उनके माल का परिमाण ही बहुत अधिक ह्रास को प्राप्त होता है। (क) कृषि-प्रधान देशों में जनता

(क) उदाहरण के लिए १९२९ और ३१ के बीच अस्ट्रेलिया के निर्यात का मूल्य औसतन ४१· प्रतिशत घट गया। पर उसका परिमाण १० प्रतिशत बढ़ गया। इन्हीं दिनो संयुक्त राज्य ब्रिटेन के निर्यात का औसत मूल्य १४½ प्रतिशत गिरा पर उसके परिमाण में ३७ प्रतिशत का ह्रास हो गया।

बेकारी में नहीं पड़ती यद्यपि अर्जन कम होता है, उधर औद्योगिक देशों में ऐसे समय मजदूरी तो घटाने नहीं दी जाती तब बेकारी बढ़ जाती है।

इन दो प्रकार के देशों में एक और बहुत ही महत्वपूर्ण विभेद है। साधारणत: कच्चा माल पैदा करने वाले देश पिछले दिनों औद्योगिक देशों के ऋणखार रहे हैं और कर्ज के ब्याज के रूप में रकम देते रहे हैं। उधर औद्योगिक देश पूंजी देने वाले भी हैं फलत: ब्याज पाते हैं। यह कोई नियम-कानून की बात नहीं है परन्तु वास्तविक प्रयोगों से सिद्ध है—कम से कम यह चीज तब तक सही रही है जब तक कि १९३९-४५ के महायुद्ध के कारण, राष्ट्रों के मध्य जो आर्थिक सम्बन्ध कायम था, वह सब उलट-पलट न गया हो।

अब यहां पर हमलोग फिर पूंजी-निर्माण-समस्या (problem of capital creation) से जूझने की स्थिति में आ गये हैं और इस विषय को समझ लेना भी हमलोगों को अन्तर्राष्ट्रीय अथवा अन्तर्देशीय मुद्रायिक सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझने के लिए आवश्यक है। पर इस बहस को आगे बढ़ाने से पहले राष्ट्रीय तबके पर ऋण देने और लेने का क्या अभिप्राय है इसे अच्छी तरह समझ लेना कर्तव्य है।

आदान-प्रदान की समानता

THE BALANCE OF PAYMENTS

अध्याय ७ में विदेशी मुद्रा-बाजार के वर्णन में प्रथम विषय जिसपर जोर दिया गया था यह था कि इस बाजार के हर एक लेन-देन के दो पक्ष होते हैं। अगर पौंड को किसी दूसरी मुद्रा से परिवर्तित किया जाय तो इसी के साथ किसी तीसरी मुद्रा का भी पौंड से परिवर्तन अवश्य होता है। इससे यह बात निकलती है कि विदेशी मुद्रा-बाजार में पौंड की बिक्री में जितने तत्व प्रविष्ट होते हैं अगर हम उनकी एक सूची बनावें और दूसरी ऐसी सूची बनावें जिसमें उन तत्वों का समावेश किया जाय जो पौंड की खरीदारी की हालत पैदा करते हैं तो हम देखेंगे कि दोनो सूचियों

का योग समान होगा। यह एक स्वयंसिद्ध बात है क्योंकि पौंड तो खरीदा जायगा, तभी बिकेगा। जब स्वर्ण-मान चालू रहता है तो बिना विदेशी विनिमय-बाजार में गये कुछ देना सोने के निर्यात के जरिये सम्पन्न हो जाता है। परन्तु एक सूची में अगर हम इस तरह सुवर्ण के सहारे किये गये प्रदानों को दर्ज करें और दूसरी सूची में उस सोने का मूल्य दर्ज करें जो बाहर से मंगाकर इस ढंग से भेजा गया है तो इन सूचियों के योग भी बराबर मिलेंगे। ये सूचियां जब पूरा हो जायेंगी तो उनसे एक ऐसा लेखा तैयार होगा जिसमें ब्रिटेन के लोगों द्वारा दिये गये सभी तरह के सभी प्रदानों का जिक्र रहेगा और इसमें वह लेखा भी मिलेगा जो अन्य देश के लोग चाहे जिस किसा काम के लिए ग्रेट ब्रिटेन के लोगों को प्रदान करेंगे।

ऐसे लेखा को आदान-प्रदान का लेखा (Balance of Payments) कहेंगे। इस आदान-प्रदान में सबसे महत्व की बात यह होती है कि इसमें दोनो मद संतुलित होता है। यह बात बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि 'संतुलित' शब्द भ्रामक है। अदान-प्रदान के लेखा को बहुधा गलती से व्यवसाय का लेखा (Balance of Trade) समझ लिया जाता है जो एक सूची है जिसमें आयात और निर्यात की रकमों का ब्यारा दर्ज होता है। अब इस व्यवसाय के लेखा में दोनो ओर के मदों का संतुलन प्रायः नहीं ही रहता है—अगर रहे तो इसे संयोग ही समझना चाहिये। और इसमें हर एक देश का या तो आयात अधिक होता है या निर्यात। हमलोग बराबर "व्यवसाय-शेष की प्रतिकूलता" (adverse balance of trade) अथवा आयात की अधिकता और "व्यवसाय-शेष की अनुकूलता" (favourable balance of trade) अथवा निर्यात की अधिकता—ये शब्द सुना करते हैं। इसलिए यह समझ लेना उचित है कि यह संतुलन (balance) शब्द दो अर्थों का द्योतक है—एक तो 'अधिकता' और दूसरा 'समानता'। इसलिए 'प्रदानों का संतुलन' वाक्यांश में इस संतुलन का अर्थ अदान-प्रदानों की समानता समझना चाहिये।

इस व्यवसाय-शेष की अनुकूलता में असल में सबसे महत्वपूर्ण मद 'आदान-प्रदान की समानता' का है क्योंकि जब हम सभी प्रकार के प्रदानों और आदानों की सूची बनाने चलते हैं तो इसमें सबसे पहला मद सामानों की खरीद और बिक्री का ही होता है। इस तरह इस सूची में हम दी गयी रकम को नाम की तरफ लिखेंगे और पायी हुई रकम को जमा की तरफ। व्यवहार में किन्तु यह तरीका चल गया है कि दोनो पक्षों के शेष को ही एक या दूसरी तरफ लिख दिया जाय।

एक और गड़बड़ी इस बात से निकलती है कि इस व्यवसाय-शेष के लेखा में केवल उन सामानों की रकम दर्ज की जाती है जिनकी गिनती, तौल या अन्दाज होता है। इस ढंग से तो इसे "दृष्य व्यवसाय का लेखा" (Balance of Visible Trade) कहना चाहिये। परन्तु राष्ट्रों की आय तथा व्यय में केवल नज़र में आने वाले पदार्थ के व्यापार की रकम ही तो नहीं होती, इसमें वह आमदनी और खर्च भी तो है जो मजदूरी, वेतन आदि अदृश्यमान मदों के रूप में आते-जाते हैं। इस तरह जब कोई अमेरिकी किसी ब्रिटिश जहाज में चढ़कर ब्रिटेन जाता है और उसके लिए ५० पौंड भाड़ा देता है और जब वह इंग्लैण्ड में पहुंच कर होटल खर्चे तथा आने-जाने के खर्चे में ५० पौंड और खर्च करता है तो डालर से बदल कर १०० पौंड लेने की भी ज़रूरत उसी तरह खड़ी होती है जिस तरह वह अमेरिका में रह कर ही १०० पौंड के विलायती माल खरीदता तो होता। इसलिए ऊपर कही गयी सूची में दूसरा मद "अदृश्य व्यवसाय का लेखा (Balance of Invisible Trade) भी होना चाहिये। इसमें जहाज भाड़ा, बीमा की प्रीमियम, भ्रमण-व्यय, सिनेमा फिल्मों की रायल्टी आदि ऐसे विषयों का होना चाहिये जो दिखाई नहीं पड़ते। इसी मद में उन रकमों का भी शामिल करना चाहिये जो एक देश की ओर से दूसरे देश में उपहार के स्वरूप भेजी गयी हो। अमेरिका के मामले में तो यह रकम काफी महत्व की है क्योंकि वर्तमान समय में अमेरिका में ऐसे बहुत-से आगन्तुक रह रहे हैं जो साधारण

समय होने पर अपने घर को पर्याप्त धन भेजा करते हैं। इसके अतिरिक्त पूर्व में अमेरिकी लोग ईसाई पादरियों एवं अन्य दान-धर्म के काम में भी काफी धन देते रहे हैं जो दूसरे देशों को मिलता था। ऐसे मदों की रकमों को भी इस सूची में स्थान मिलना चाहिये क्योंकि ये रकम भी लौट कर आने वाली या बदले में कुछ लाने वाली नहीं हैं। अब इस सूची में जब ऐसी रकमों को रखते हैं जो स्वेच्छा से दी गयी हैं तो इसमें ऐसी रकमों को भी रखना चाहिये जिनके बदले में कुछ नहीं मिलता पर जो मजबूरन देना ही पड़ता है। ऐसे मद हैं युद्ध की क्षति-पूर्ति अथवा हर्जाने। इन अदृश्य अदान-प्रदानों का लेखा-जोखा लेना वास्तव में कठिन है क्योंकि ये दृश्य पदार्थों की तरह से कहीं स्टाक या गोदाम नहीं किये जा सकते जहां पहुँच कर चुंगी-अधिकारी इनकी गिनती, नाप या वजन कर लें और मूल्य निकाल लें। शायद यही एक मात्र कारण है जिससे कि अधिकांश आदान-प्रदानों के लेखा में इनका मद अलग से उठाया हुआ होता है क्योंकि इनका आर्थिक प्रभाव भी ठीक-ठीक उसी तरह का है जैसा आकार युक्त पदार्थों के व्यापार का।

आदान-प्रदानों के लेखा में तीसरा मद ब्याज का होता है जिसे सोच लेना तो आसान है पर जिसका हिसाब लगाना या प्राकूलन (estimate) लेना कठिन है। इस मद में उन सभी मदों को आना चाहिये जो लाभांश (dividend) या ब्याज के रूप में एक देश से दूसरे देश में जाते हैं। इसमें अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा दिये-लिये गये अथवा सरकार द्वारा दिये-लिये गये—दोनो प्रकार के आदान-प्रदानों का समावेश होता है। (क)

(क) किसी-किसी लेखक ने ब्याज को अदृश्य आमदनी में रखा है। यदि कोई देश, मान लो कि १० करोड़ पौंड प्रति वर्ष अपने विदेशी ऋणियों से ब्याज के रूप में पाता है तो इसे अदृश्य निर्यात माना जाता है। पर व्यवहार में यह बात भ्रामक लगती है। यह सही है कि नौकरी का निर्यात (विदेशी को जहाजी नौकरी देना) और ब्याज की आमदनी दोनो इस मामले में एक समान हैं कि वे दोनो के लेखा में जमा की ओर स्थान पाते हैं। पर और दूसरे किसी भी विषय में वे समान नहीं हैं। वे एक बहुत

ये तीन मद मिलकर आदान-प्रदान के लेखा के जमा की तरफ का हिसाब बनाते हैं। (क) जमा की ओर उन सभी आयों को लिखना चाहिये जो देश में बाहर से आये और जो आमदनी की शकल में हो—आमदनी यानी उसकी प्राप्ति से जब देश पर न ऋण बढ़े न पूंजी घटे। और इसी तरह नाम की ओर उन सभी रकमों को लिखना चाहिये जो न पूंजी बढ़ाती हैं और न ऋण को कम करती हैं। ये तीन मद ही—दृश्य व्यापार का लेखा, अदृश्य व्यापार का लेखा और व्याज की आमदनी या खर्च (जिन्हें अंकगणित के मदों में ब्योरे के हिसाब से बांटा जा सकता है)—सम्पूर्ण प्रदानों का लेखा नहीं बनाते हैं क्योंकि ऐसी भी आमदनियां हैं जो आय की परिभाषा में नहीं आतीं। इसलिए आय के लेखा के दोनो ओर की रकमें बराबर न भी हो सकती हैं। उदाहरण से इस विषय को समझाया जा सकता है। १९२८ में ब्रिटेन ने बाहर से अपने निर्यात से ३५,३० पौंड का अधिक माल मंगवाया। (ख) इस तरह दृश्य व्यापार के लेखा में

ही महत्वपूर्ण विषय में विभेद रखते हैं। अदृश्य निर्यात में भेजने वाले देश को कुछ चालू प्रयास भी करना पड़ता है—जहाजों पर आदमी रखना, उनकी मरम्मत करना और चलाना। पर व्याज में ऐसा कोई लटाखा नहीं है। जहाँ तक किसी एक ही साल से मतलब है, वह किसी भी राष्ट्र की आमदनी का सीधा जरिया है। इस किताब में नौकरी का आयात और निर्यात और व्याज की आमदनी की रकम दोनो दो तरह की चीजें हैं। मगर वे लोग जो नया ही नया इस विषय को प्रारम्भ करते हैं उन्हें यह चेतावनी रहनी चाहिये कि बहुत-से लेखकों ने इन दोनो को मिला भी दिया है।

(क) इसे राष्ट्रीय आय समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। राष्ट्रीय आय किसी देश के सभी नागरिकों की कुल आय को कहते हैं।

(ख) इस अध्याय में जितने आंकड़े दिये जा रहे हैं वे "लीग आफ नेशन्स" द्वारा प्रकाशित उसके आर्थिक और मुद्रायिक विभाग द्वारा प्रस्तुत किये गये स्मरण-पत्र (memorandum) के आधार पर दिये जा रहे हैं जिसे "बैलेन्स आफ पेमेन्ट" शीर्षक दिया गया है। या फिर ये आंकड़े ब्रिटेन की व्यापार-समिति और अमेरिकी सरकार के व्यापार-विभाग द्वारा प्रकाशित कागज-पत्रों से लिये गये हैं। जो बाहर के हैं उनके साथ ही उसका जिक्र किया जा चुका है।

(Balance of Visible Trade) यह मिला कि ब्रिटेन ने दूसरे देशों को इतना धन दे दिया। परन्तु इसी साल के अदृश्य व्यापार के लेखा से ज्ञात होता है कि २२५००००००० पौंड उसे मिला। ब्याज के हिसाब में भी आदान-प्रदान से २५००००००० पौंड अधिक रकम का कूता गया था। इसलिए इस साल ब्रिटेन की आय के लेखा को इस तरह लिखा जायगा [(+) चिन्ह आदानों के लिये और (—) चिन्ह प्रदानों के लिए रखा जा रहा है]—

दृश्य व्यापार का नेट शेष	— ३५३०००००० पौंड
अदृश्य व्यापार का नेट शेष	+ २२५०००००० ,,
ब्याज की आय (नेट)	+ २५०००००००० ,,
आय के हिसाब का नेट योग	+ १२२०००००० पौंड

इस तरह से यह १२२०००००० पौण्ड देश की बचत समझा जाना चाहिये। पर शब्दों की गड़बड़ी के कारण अर्थ की गड़बड़ी न हो इसका ध्यान रखना आवश्यक है। आदान-प्रदानों के लेखा में जो आय का लेखा रहता है वह वही चीज नहीं है जिसे राष्ट्रीय आय कहते हैं। राष्ट्रीय आय तो उन सभी आयों की जोड़ को कहते हैं जो उत्पादित पदार्थ के मूल्य, ब्याज, बट्टे तथा नौकरी, भाड़ा आदि की आमदनी तथा उपहार आदि की प्राप्ति के रूप में हर एक नागरिक द्वारा उपार्जित होकर सम्पूर्ण राष्ट्र की जेबों में जाती है, चाहे इसके एवज में सामान या धन उस देश से बाहर जाये या न जाये। परन्तु आदान-प्रदानों के लेखा में आय का लेखा उस देश के नागरिकों के अन्य देश के नागरिकों के साथ हुए उस लेन-देन का रेकार्ड है जिसमें दोनो पक्षों में से किसी के द्वारा न ऋण खड़ा किया जाय और न चुकाया जाय। इसी तरह आय के हिसाब के नेट योग को राष्ट्र की बचत न समझ लेना चाहिये—वह बचत जिसका जिक्र अध्याय ५ में किया जा चुका है और जिससे उस धन का बोध होता है जो राष्ट्र के सभी व्यक्तियों द्वारा चालू पदार्थों पर किये गये व्यय के बाद अतिरिक्त बच जाता है। इसलिए

उपस्थित विषय के वर्णन में सम्पूर्ण रूप से 'बचत' शब्द का वहिष्कार किया गया है। इसी कारण यह भी अच्छा है कि हम इसी प्रसंग में भारी-भरकम आदान-प्रदान के लेखा के आय के हिसाब का नेट योग शब्द न लिखकर केवल उनके एवज में वाह्य अतिरिक्त (External Surplus) शब्द लिखा करें।

'वाह्य अतिरिक्त' और 'बचत' इन दो शब्दों में स्पष्ट रूप से बहुत-सी समानता हैं। अगर हम हर एक राष्ट्र को एक इकाई मानें और इसके व्यक्तिगत नागरिकों के कारबार की ओर ध्यान न दें तो इस मतलब में 'वाह्य अतिरिक्त' का अर्थ दूसरे राष्ट्रों के मुकाबिले अपना 'अतिरिक्त' समझा जायगा। व्यक्ति द्वारा की गयी बचत वह रकम है जो एक ओर उसकी सभी आमदनी और दूसरी ओर उसके सम्पू ै खर्च का शेष अतिरिक्त होता है। अगर यहीं पर इस वाक्य में व्यक्ति के स्थान पर हम राष्ट्र शब्द को रख दें तो हमलोगों को 'वाह्य अतिरिक्त' शब्द का असली मर्म समझ में आ जायगा। इसके अतिरिक्त यह दृष्टान्त और आगे जाता है। कोई आदमी अगर कुछ बचा पाता है तो वह तीन में से कोई एक काम करता है—(१) या तो वह अपनी बचत को मुद्रा के रूप में जमा रख देता है या (२) वह यह धन किसी को उधार लगा देता है (इसमें इस बात का कोई आश्वासन नहीं कि उधार लेने वाला उस धन को लगा देगा या क्या) अथवा (३) वह इस धन को पूंजी के रूप में लगा दे सकता है। एक आदमी इनमें से कोई काम करे इसमें कोई बड़ी बात नहीं है। यह सच है कि ऋण पर उसको व्याज की आय होगी और विनियोग से नगद या अन्य किसी रूप में आय होगी पर धन जमा कर रखने से तो किसी तरह की कोई आय नहीं होगी पर तीनो में मे किसा में भा उसका धन सुरक्षित ही रहता है। पहले दो तरीके उसे भविष्य के लिए किसी वस्तु के स्वामीत्व का अधिकार प्रदान करते हैं जब कि तीसरे तरीके में वह तुरत ही एक स्थायी मूल्यवान पदार्थ का अधिकारी हो जाता है। परन्तु जैसा कि पांचवे अध्याय में कहा गया है समाज के लिए इसमें अधिक सरोकार नहीं है कि व्यक्ति इन तीनो में से कौन-सा अपनाता है। समाज के आर्थिक संतुलन की

शर्त यह है कि बचत का हर एक इकाई के लिए उसी तरह की दूसरी इकाई विनि-योग अथवा सम्पत्ति-अर्जन की भी होनी चाहिये, न कम, न अधिक।

अब जब समाज के पास वाह्य अतिरिक्त इकट्ठा हो जाता है तो इसके सामने भी कई वैकल्पिक मार्ग रहते हैं। यह उस अतिरिक्त को लेकर सोना खरीद कर जमा कर सकता है जिससे कोई आय तो नहीं होती पर यह भविष्य के लिए दूसरे देशों पर खरीदारी के दावे का मूर्त रूप है। अथवा अतिरिक्त धन किसी दूसरे देश को कर्ज पर दिया जा सकता है। हर एक राष्ट्र के लिए अलग-अलग यह बहुत महत्व की बात नहीं है कि वह अपने अतिरिक्त को ऋण पर उठा देता है या सोने के रूप में बदल कर जमा करता है। दोनो ही हालतों में यह अपनी पूंजी कायम ही रखता है। पर अध्याय ५ में जो दलीलें दी गयी हैं उनकी दृष्टान्त-समता के कारण हमारे मन में यह उठता है कि हर राष्ट्र का बाहरी व्यापार से बचा हुआ अतिरिक्त धन न केवल ऋण पर दिया जाय और न जमा रखा जाय बल्कि इसको इस ढंग से कर्ज लगाया जाय कि विनियोग जैसी कोई व्यवस्था बने, यह विश्व के हक में उत्तम है।

प्रश्न यह है कि घर में जिसे हम विनियोग कहते हैं उसके समान अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में क्या चीज है? हमने लिखा था कि विनियोग वह धन-व्यय है जो भविष्य में समाज के लिए माल और नौकरी की पूर्ति बढ़ा देता है। यदि विनियोग के लिए ऋण लिया गया हो तो माल और नौकरी की भावी बढ़ी हुई पूर्ति से ऋण लेने वाला इतना भर सकता है कि वह लिये हुए ऋण का ब्याज आसानी से दे दे और उसे खपत कम करनी न पड़े। इसी तत्व को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू कर के हम कह सकते हैं कि विनियोग के बराबर काम उस वाह्य अतिरिक्त धन को इस तरह से लगा देना है कि राष्ट्र-राष्ट्र के बीच में आज की अपेक्षा कहीं अधिक परिमाण में माल और नौकरी भविष्य में विनिमय के लिए प्राप्त हो सके। व्यक्ति द्वारा अपने ही परिवार या कारखाना या कारबार में, जो उसी के नियंत्रण में हो सीधे धन लगाने के काम की तुलना राष्ट्रों द्वारा अपने उपनिवेशों में लगायी

गयी पूंजी से कर सकते हैं। धन बचाने वाले के द्वारा विनियोग करने वाले को धन देकर जो अप्रत्यक्ष विनियोग किया जाता है उसकी तुलना उस ऋण से की जा सकती है जो एक राष्ट्र दूसरे को देता है और जिससे वह ऋण ऋणी देश को निर्यात-व्यापार बढ़ाने में सहायता देता है। दोनो ही हालतों में—हां अगर विनियोग असफल नहीं हुआ—नतीजा यह होता है कि जिस देश के पास बाह्य अतिरिक्त धन जमा हुआ है वह भविष्य में अपनी बचत से यह फायदा उठावेगा कि वह बाहर से अपने देश के लिए अधिकाधिक माल और नौकरा मंगा सकेगा और उसके लिए उसे और अधिक माल और नौकरी अपने पास से देनी नहीं पड़ेगी। अर्थात बचत करने वाला अपने विनियोग द्वारा उत्पादित माल की अधिकता के द्वारा अपनी जीविका चला जायगा।

यहां पर यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि कोई देश आवश्यकता से अधिक आयात अपने यहां करना नहीं चाहता। यह सही है कि आयात को, खासकर बेकारा के दिनों में, सभी देश बुराई ही मानते हैं। मगर कोई भा आदमी उस आयात को लेने से इनकार नहीं करता जिसका मूल्य उसे चुकाना न हो। ऐसा भा कोई आदमी न होगा जो धन लेने से इनकार करे चूंकि उसकी पहले की कमाई भी उसके पास यथेष्ट है। जितना उसे देना पड़ता है उतने से अधिक प्राप्ति के कारण कोई आदमी गरीब नहीं होता। जो बात व्यक्ति के लिए लागू है, वही देशों के लिए भी। आयात की वृद्धि से किसी खास उद्योग-धंधे को अस्थायी तौर पर कुछ नुकसान हो सकता है। परन्तु हम अभी जिस प्रकार के आयात की चर्चा कर रहे हैं वह सम्पूर्ण रूप से किसी राष्ट्र की हानि नहीं कर सकता। इसका मतलब यह है कि राष्ट्र के सभी नागरिकों को उपभोग-योग्य पदार्थों और सेवाओं की प्रचुरता मिलती है। जो देश अपने पिछले विनियोग के एवज में अथवा ब्याज के एवज में मिली हुई चीजों के आयात को रोकता है, अपने को ही दरिद्र बना रहा है।

इसलिए हम अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग की परिभाषा यह दे सकते है कि यह वह धन है जो एक देश दूसरे देश में इस तरह लगाता है (चाहे कर्ज के रूप में अथवा

सीधे) कि उससे इस देश का निर्यात और उस निर्यात से अपने देश का आयात बढ़ जाय। जो मनुष्य जान-बूझ कर इस परिभाषा को नहीं मानता हो वह निश्चित रूप से किसी भी तरह के विदेशी विनियोग के विरुद्ध है, ऐसा मानना चाहिये। क्योंकि किसी देश को कर्जदार देश से वस्तुओं और सेवाओं के अतिरिक्त और किसी रूप में ब्याज नहीं मिल सकता। यह अदायगी सोना में तो हो नहीं सकती क्योंकि सोने का कोष सीमित ही है। अगर महाजन देश कर्जदार देश के माल और सेवाओं को स्वीकार न करे तो कर्जदार देश को नादेहिन्दी (default) के सिवा और चारा ही क्या है।

इसलिए हमलोग अब अन्तर्राष्ट्रीय बचत और विनियोग के सिद्धान्त के किनारे आ पहुंचे हैं। परन्तु इस विषय पर आगे विचार करने से पूर्व हमें फिर आदान-प्रदानों के लेखा के विषय पर आ जाना चाहिये जो अभी तक पूरा नहीं हो पाया है। हमें अब यह देखना है कि कोई राष्ट्र अपने वाह्य अतिरिक्त को किन भिन्न-भिन्न तरीकों से उपयोग में लाता है।

आय के लेखा (income account) का संगी-साथी पूंजी का लेखा (capital account) है। चूंकि सम्पूर्ण आदान-प्रदानों के लेखा का बाकी शेष शून्य होता है, यह बात निकलती है कि पूंजी के हिसाब का आखिरी योग आय के हिसाब के आखिरी योग के बराबर और उसके सामने होना चाहिये। अगर आय के लेखा का अन्तिम योग +१२२०००००० पौंड हो, तो पूंजी के लेखा का अन्तिम योग भी—१२२०००००० ही होना चाहिये जिससे बाकी शून्य बचे।

किन्तु दिक्कत यह है कि पूंजी के लेखा का इन्दराज निकालना आय के लेखा के इन्दराज के मानिन्द सरल नहीं है। इसके लिए आदर्श तरीका यह है कि नगदी के संचय में तीन मद रखना चाहिये। पहला सीधा आन्तर्राष्ट्रीय विनियोग जो उपनिवेशों में किया गया, दूसरा वह विनियोग जो उपनिवेश-भिन्न अन्य देशों में किया गया पर जिसका प्रधान सूत्र अपने देश में ही रहा आर तीसरा अन्य

देशों को ऋण। इन तीनो मदों में पहला समझना तो आसान है क्योंकि यह सोने के माध्यम से होता है और इस तरह सोने के सम्पूर्ण आयात और निर्यात से उस हद का पता लग जाता है जिस तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का स्टाक घटता या बढ़ता रहता है। (क) यह बात सही है, चाहे स्वर्ण-मान हो या न हो, क्योंकि यदि वर्तमान अनुभव इस सम्बन्ध की सही जानकारी देने वाला हो तो इस हालत में केन्द्रीय बैंक सोने की खरीद-बिक्री चालू रखते हैं, चाहे मुद्रा की परिवर्तनीयता की कानूनी गुंजायश कायम हो या न हो। भेद यही है कि स्वर्ण-मान रहने पर केन्द्रीय बैंक को इस विषय में कोई अधिकार नहीं होता—उसे वाध्य होकर निश्चित दर पर जितनी मांग और पूर्ति हो, देना-लेना पड़ता है। और जब स्वर्ण-मान नहीं रहता तो अपनी इच्छा के अनुसार यह चाहे जिस भाग में या जितना चाहे सोना खरीदे या बेचे। इसलिए पहला मद तो हुआ 'सोना'। (ख)

संयोग से दूसरे दो मद जो हैं उन्हें अलग-अलग पहचाना नहीं जा सकता।

(क) उस 'हद' के अलावे जो हद उद्योग के उपयोग के लिए आयात किये गये या जो महज देश के खान-उद्योग के एक उत्पादन होने के नाते निर्यात किये गये हैं। जहां तक आयात का प्रश्न है, उसमें कौन-से अमुद्रायिक (non-monetary) और कौन-से मुद्रायिक (monetary) आयात हैं, नहीं कहा जा सकता, परन्तु अधिकतम देशों के लिए उनका फर्क बहुत थोड़ा है जिसे छोड़ भी दिया जा सकता है। लेकिन दक्षिण अफ्रिका से सोने के निर्यात के अधिकांश भाग पूंजी के नहीं बल्कि कच्चा लोहा और कोयला के निर्यात के समान ही माने जाते हैं। इसलिए इसे दृश्य व्यापार के लेखा में शामिल करना चाहिये।

(ख) आदान-प्रदानों का लेखा लिखने वाले इस रकम के सम्बन्ध में विभिन्न रुचियां दिखाते हैं—कोई इन्हें आय के लेखा में रखता है, कोई पूंजी के लेखा में और अलग। पर यहाँ जो तरीका रखा गया है वही तर्क-संगत मालूम होता है। पर यह समझ लेना चाहिये कि यह हिसाब लिखने का कोई एक ही तरीका नहीं होता। यहाँ पर जो तरीका रखा गया है वह भिन्न है। यह नहीं कहा जा सकता कि सब से ठीक तरीका यही है, पर हम जो तर्क दे रहे हैं उसका स्पष्ट दृष्टान्त इसी तरीके में मिलता है।

असल में कुछ देश तो इसकी कोशिश हा छोड़ देते हैं कि ऋण देने और लेने के परिमाणों का हिसाब निकाला जाय। वे आय के हिसाब लिखने से जान जाते हैं कि पूंजी का अन्तिम योग कितना होगा और इसी को देखकर वे उधार-खाते के दोनो मदों को हिसाब में रख देते हैं जिससे उसका योग सही निकल आये। ब्रिटेन का सरकार के प्रदानों (payments) का लेखा पहले इसी ढंग से निकाला जाता था—इधर वह बदल गया है। १९२८ के आंकड़े ये हैं—

दृश्य व्यापार का नेट शेष	— ३५३०००००००	पौंड	
अदृश्य व्यापार का नेट शेष	+ २२५००००००	,,	
ब्याज (नेट)	+ २५००००००००	,,	
आय के हिसाब का नेट योग			+ १२२०००००० पौंड
सोना (नेट) (क)	— ५००००००	,,	
पूंजी का चलाचल (नेट) (क)	— ११७००००००	,,	
पूंजी के हिसाब का (नेट) योग			— १२२०००००० पौंड

इन आंकड़ों का खुलासा यह है कि १९२८ में ग्रेटब्रिटेन ने बाहर के देशों से माल और सेवा, जिसके मूल्य की रकम १२८०००००० पौंड अपने यहां के निर्यातित माल और सेवा की रकम से अधिक थी, मंगाया। (इसमें दृश्य व्यापार के ३५३० लाख पौंड का रकम में से २२५० लाख पौंड के अदृश्य व्यापार की रकम बाद गयी।) वह ऐसा अपनी ब्याज की आमदनी के जरिये कर सकी जो इतना बड़ा था कि इसने ब्रिटेन की पूंजी को १२२०००००० पौण्ड से बढ़ाया। इस पूंजी की १२२०००००० पौण्ड रकम को ब्रिटेन की जनता ने ५०००००० पौंड सोने का सोना लिया और शेष रकम ११७०००००० पौंड इसने ऋण में दिया।

(क) ये दोनो मद बाहरी प्रदानों के ही हैं—यानी ये रकम ग्रेट ब्रिटेन द्वारा दूसरे देशों को दी गयीं। पर सोना ग्रेट ब्रिटेन में आया और ११७०००००० पौंड की विनियोग से ब्रिटेन की पूंजी का मूल्य-मान इतना बढ़ा।

दूसरे देशों, खासकर अमेरिका, में यह कोशिश हो रही है कि पूंजी के चलाचल का हिसाब निकाला जाय। यह हिसाब 'अल्पावधि पूंजी' और 'दीर्घावधि पूंजा' इन दो मदों को रख कर हो रहा है। अल्पावधि पूंजी के अन्दर बैंक-कारबार का धन, विनिमय-पत्रकों द्वारा जिनका आदान-प्रदान होता है ऐसे व्यावसायिक ऋण, ऐसे ऋण जिनकी उगाही नहीं हुई है और कुछ अन्य रखे गये हैं। दीर्घावधि मद में ऐसा धन, जो सिक्यूरिटियों की निकासा कर के जो ऋण लिया गया है, आता है, जिनकी वापसी का दिन निश्चित है। अल्पावधि ऋण तो निश्चित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय उधार-खाता में व्यवहृत नहीं होते। हर एक देश में जनता द्वारा बैंकों को दिये गये अल्पावधि ऋणों (डिपाजिट) को कुछ न कुछ विनियोग में लगाया जाता है क्योंकि बैंक यह सही समझते हैं कि सभी ऋण एक ही वार वापस नहीं मांगे जायेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय अल्पावधि ऋणों की बात दूसरी है क्योंकि दोनो महायुद्धों के बीच वाले समय में ऐसा अनुभव हुआ है कि ऐसे ऋणों की तुरत वापसी का जोखिम रहा है। किन्तु यद्यपि यह मान लेना सुरक्षामूलक बात है कि अल्पावधि ऋण अन्तर्राष्ट्रीय ढंग का विनियोग नहीं होता, हम ऐसा मानकर भी गड़बड़ी में पड़ जा सकते हैं कि सभी दार्घावधि ऋण अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग होते हैं। १९१४-१८ के महायुद्ध के पहले ऐसा समझा जाता था पर उस समय भी बहुत-से ऋण तो सरकार की किसी बहुत ही आवश्यक योजना की पूर्ति के लिए ही दिये जाते थे या युद्ध के खर्च के लिए, पर इनका उपयोग किसी भी तरह भावी निर्यात के उद्देश्य से नहीं किया जाता था।

दोनो महायुद्धों के बीच के काल में इस पिछले तरह के ऋण ने प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग को ढंक लिया। इसलिए हम यह नहीं समझ सकते कि अल्पावधि और दीर्घावधि ऋणों में जो विभेद है वह वही है जो अनुत्पादक ऋणों और अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग में है—यह केवल सुविधा की बात है।

अमेरिका के १९२९ के अदान-प्रदान के लेखा को हमलोग इसका दृष्टान्त मान सकते हैं कि किस तरह सीधे-सीधे पूंजा के चलाचल का हिसाब वहां किया जाता

है। इसमें यह देखा जाता है कि दोनो ओर के योग बराबर नहीं हैं इसलिए एक में 'भूल-चूक' (errors and omissions) का भी मद दिया गया है। यह तरीका यद्यपि अधिक ईमानदारी का है पर इसमें आकार-संतुलन (symmetary) नहीं है।

अमेरिका का आदान-प्रदान का लेखा, सन् १९२९

(Balance of Payments of the United States, 1929.)

दृश्य व्यापार का नेट शेष	+ ३८२००००००० डालर	
अदृश्य व्यापार का नेट शेष	— ६८१०००००० ,,	
ब्याज (नेट)	+ ६९९०००००० ,,	
आय के हिसाब का नेट योग (विदेशी बचत)		+४०००००००० डालर
सोना (नेट)	— १२०००००००० डालर	
दीर्घावधि पूंजी का नेट चलाचल	— ९४००००००० ,,	
अल्पावधि पूंजी का नेट चलाचल	— ९५०००००८ ,,	
पूंजी के हिसाब का नेट योग		— ३०९०००००० डालर
भूल चूक		— ९१०००००० डालर

इन आंकड़ों का हाल वैसा ही है जैसा ब्रिटेन के आंकड़ों का बताया गया है। अगर दृश्य अदृश्य दोनो तरह के व्यापार को ले लिया जाय तो १९२९ में अमेरिक ने २९९०००००० डालर के सामान और नौकरी अपने द्वारा दिये जाने से अधिक खरीदी। इससे नौकरी के खाते में जो नाम की भारी रकम आई उसका मुंह सामान के खाते की भारी जमा की रकमों से भरा गया। इस तरह से अमेरिका अपनी ब्याज की आमदनी का ४०००००००० डालर लगाकर अपनी पूंजी को ६९९०००००० डालर कर सका। इस ४०००००००० में उसने १२००००००००

डालर सोने के रूप में लिया और अपने दीर्घावधि ऋण को ९४०००००० डालर से और अल्पावधि ऋण को भी प्रायः इतना ही से बढ़ाया। सके बाद ९१०००००० डालर की रकम को हिसाब जमा-खर्च करने को भी लिखना पड़ा। यह बता देना चाहिये कि अमेरिकी आदान-प्रदानों का लेखा अमेरिकी सरकार के व्यवसाय-विभाग द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसमें अधिक ब्योरे दर्ज किये गये हैं। ऊपर जो आंकड़े दिये गये हैं वे संक्षिप्त हैं और उसमें बहुत-से छोटे-छोटे ब्योरों को एक जगह जोड़ कर रख दिया गया है। ऐसे ब्योरों के मद १०० के ऊपर होंगे। अगर दूसरी सरकारें भी इसी तरह का ब्योरेवार हिसाब तैयार करें तो हमारी जानकारी बहुत बढ़े।

ऊपर जिन दो ब्रिटिश और अमेरिकी आदान-प्रदानों के लेखा दिये गये हैं उनमें आमदनी के हिसाब में नगद आमदनी दिखाई देती है (इसका अभिप्राय यह है कि दोनो देश उस समय महाजन बने हुए थे)। इस कारण यह अच्छा होगा कि अब अस्ट्रेलिया के अदान-प्रदानों के लेखा को भी देख लिया जाय जो कर्जदार देश है। यह हिसाब जुलाई १९२८ से जून १९२९ तक का है। (क)

दृश्य व्यापार का नेट शेष	— ८३८५००० पौंड	
अदृश्य व्यापार का नेट शेष	+ ३९०२००० ,,	
ब्याज (नेट)	— ३४९७७००० ,,	
आय के हिसाब का नेट योग		— ३९४६०००० पौंड
सोना (नेट)	+ ७६८००० पौंड	
पूंजी का नेट चलाचल	+ ३८६९२००० ,,	
पूंजी के हिसाब का नेट योग		+ ३९४६०००० पौंड

इस साल अस्ट्रेलिया ने न केवल आयात की बढ़ोत्तरी के लिए (दृश्य और अदृश्य दोनो के लिए) ४४८३००० पौंड कर्ज लिया बल्कि अपने पिछले ऋण का

(क) ये अनुमान डा० रालैण्ड विलसन के हैं।

ब्याज देने के लिए भी उसे ऋण लेना पड़ा। इसलिए वह ग्रेट ब्रिटेन से प्राय: उलटी स्थिति में रहा क्योंकि ब्रिटेन ने अपनी आय की बढ़ोत्तरी का मूल्य ब्याज की आमदनी से चुकाया फिर भी उसके जास इतनी अधिक आय रही कि उसने १० करोड़ पौंड के करीब ऋण भी लगाया।

अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग

INTERNATIONAL INVESTMENT

अब हमको फिर अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन (international equilibrium) के सिद्धान्त पर आ जाना चाहिये जिसको हम घरेलू बचत और विनियोग सिद्धान्त (domestic Saving-and-Investment principle) की समानता के आधार पर खड़ा कर रहे हैं।

अध्याय ५ में हम यह कह आये हैं कि घरेलू क्षेत्र में विनियोग के ऊपर बचत की जो बढ़ोत्तरी हो तो उससे असंतुलन उत्पन्न हो जाता है—इससे जनता में औद्योगिक उत्पादनों की क्रय-शक्ति में कमी हो जाती है, मूल्य-पतन शुरू हा जाता है और बेकारी बढ़ती हैं। ये चीजें इस कारण होती हैं कि उद्योगोत्पादित वस्तुओं के क्रय के लिए जो धन का प्रवाह बाजार में आता था वह मंद हो जाता है। इस मंदी का कारण बचत की अधिकता है जो उन पदार्थों के उत्पादन-व्यय से अधिक की जाने लगती है या जो उस आमदनी से अधिक हो जाती है जो इन पदार्थों के उत्पादन में व्यय हुई है। बचत वह चीज है जिसमें भावी दावा (financial charge upon the future) सन्निहित है, परन्तु उसके लिए वह कोई उपाय नहीं करती। बचत, जब समाज की पूंजी को बढ़ाये बिना ज़िससे भविष्य में पदार्थों की पूर्ति संतुलित रहे, की जाती है तब ये ही सब गड़बड़ियां पैदा होती हैं। यह बात हर हालत में सही है चाहे बचत को मुद्रा के रूप में परिणत कर तिजोरियों में संचित रखें, बैंक में जमा कर दें या सोना खरीद कर रख दें—वह बेकार पड़ी रहती है। परन्तु

मुद्रा के संचय में तो और एक असुविधा यह है कि इससे मुद्रा का अभाव भी हो सकता है।

यही बात अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी है पर इसे उतना कस कर लागू नहीं किया जा सकता। फिर भी हम कई मनोरंजक समानान्तर खींच सकते हैं। उदाहरण के लिए, जब कि वह देश जिसने वाह्य अतिरिक्त (External Surplus) संचित कर लिया है इसे विनियोग करने देने से इन्कार करता है और इसका सोना खरीद कर रखना चाहता है तब इससे अन्य देशों में सोने की कमी हो जाने का खतरा पैदा हो सकता है। अगर इन देशों में स्वर्ण-मान रहा तो उसको बचाने के लिए ये उधार-खाता पर प्रतिबंध लगाना शुरू कर देंगे और ब्याज-दर बढ़ायेंगे और इस तरह ये आन्तरिक विनियोग के ऊपर घरेलू बचत करने की प्रवृत्ति पैदा करेंगे। इस तरह वाह्य अतिरिक्त और अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग की असमानता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो गोलमाल होगा उसे और बढ़ायेंगे। जो देश स्वर्ण-मान वाले न होंगे वे भी गोलमाल में पड़ेंगे क्योंकि उन्हें भी वाह्य प्रदान (making payment) के लिए वाह्य अतिरिक्त पर निर्भर करना पड़ेगा जिसके लिए उन्हें विदेशी मुद्रा के संचित सुरक्षित कोष में से धन निकालना पड़ेगा। इसलिए वे लाचार होंगे कि अपने आयात को कम करें और इस भांति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिबंध लगाना पड़ेगा।

यदि वाह्य अतिरिक्त वाला देश इस दूसरे तरह के उपाय का अवलंबन करता है यानी जब कि अपने वाह्य अतिरिक्त धन को यह सोना के रूप में नहीं लेता और इसे विदेशियों के पास अपने कर्ज के रूप में छोड़ देता है और इसे अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग में नहीं लगाता तो इसका प्रभाव उतना बुरा नहीं पड़ता। कारण यह है कि जिन विदेशियों के पास यह अतिरिक्त छोड़ दिया जाता है, वास्तव में वे इसे कर्ज ही समझते हैं और उनके उलटे नकारात्मक (negative) वाह्य अतिरिक्त अथवा वाह्य कमी (External Deficit) से महाजन के वाह्य अतिरिक्त का मुंह भरता रहता है। यह वैसे ही है जैसे कि घरेलू क्षेत्र में एक

समूह की बचत दूसरे समूह की फिज़ूलखर्ची से कटती रहे। परन्तु जल्दी तो नहीं लेकिन अन्त में इसका प्रभाव बुरा ही होता है। क्योंकि बचत वालों के पास जो रकम स्थानान्तरित होती है वह मुफ्त नहीं जाती वरन कर्ज के रूप में जाती है। ऋण पर जो ब्याज देना पड़ेगा वह, और फिर ऋण की वापसी के समय एक राष्ट्र का धन दूसरे के पास जायगा ही और चूंकि इस लेन-देन से कर्जदार देश का निर्यात-शक्ति नहीं बढ़ी यह सब देना उसके ऊपर एक भार के मानिन्द ही होगा। इसी तरह बिना देश के उत्पादन बढ़ाने वाली पूंजी दिये, किसी देश को ऋण दे देना ही ब्याजखोरी (usury) है।

पाठकों को इस विषय में अच्छा तरह समझा दिया गया है कि वाह्य अतिरिक्त और अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग के बीच का सम्बन्ध ठीक-ठीक बचत और विनियोग के बीच के सम्बन्ध जैसा नहीं है, परन्तु असमानताओं की अपेक्षा सब मिलाकर समानतायें बढ़ जाती हैं। किसी भी हालत में महत्वपूर्ण विषय यह है कि केवल धन जमा करना अथवा ऋणों का ढेर लगा लेना व्यक्तिगत रूप से अपने को धनी बनाना भले ही हो और राष्ट्र के लिए समृद्ध हो जाना चाहे हो, इससे न समाज धनी हो सकता है और न राष्ट्र-मंडल। चीजों की खपत न करना, जिससे बचत होती है और वाह्य अतिरिक्त उत्पन्न होता है, इस कारण व्यर्थ और आक्षेप-योग्य है। और इनके द्वारा उत्पादित धन को भविष्य के दावे के लिए रखने की चेष्टा सफल न भी हो सकती है जब कि ऋण लेने वाले की भावी खपत को कम किया जाय। ऐसी दशा होने पर ही या तो देनदार दिवालिया हो जाता है अथवा उसको दासता के पट्टे में बंधना पड़ता है।

इसलिए विदेशी ऋण-दान (foreign lending) के दो सिद्धान्त हो सकते हैं। महाजन देश जिनके पास अतिरिक्त धन हो उन्हें ऋण देते समय यह देख लेना चाहिये कि जितना उनके पास अतिरिक्त है उसी हिसाब से वे किसी उत्पादनशील कार्य के लिए अन्य दशों को दीर्घावधि-व्यापा ऋण दें। और उन्हें उस ऋण के ब्याज में कर्जदार देश के उत्पादन और नौकरी को स्वीकार

करने के लिए तैयार रहना चाहिये। उधर ऋणार्थी देश को यह देखना चाहिये कि वह जो कर्ज ले रहा है उसका व्यवहार इस तरह हो कि उसका निर्यात व्यापार बढ़े और जो इतना निर्यात-योग्य माल उत्पादित करे कि वह लिये गये ऋण का ब्याज उससे अदा कर सके। अगर वे ऐसा नहीं करते तो ब्याज भी अदा होने का उपाय इसके सिवा और अन्य नहीं है कि आयात को कम किया जाय अर्थात लोगों की उपभोग-सुविधा में कटौती की जाय।

इन सिद्धान्तों का प्रयोग आसान नहीं है। इस सम्बन्ध में पहली प्रकट कठिनाई यह है कि व्यवहार-योग्य विदेशी विनियोग का परिमाण इस मानी में सीमित है। पिछले तीस साल का अनुभव यह है कि महाजन देशों ने कर्जदार देशों के माल या सेवा को अपने ऋण के ब्याज में भी अपने देश में आने देने का तत्परता नहीं दिखायी है। यह नीति ऐसी है कि इसी से कर्जदार देश ब्याज भी देने में चूक जाता है और इस तरह इससे अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग में भारी बाधा पड़ जाती है। पर यह अतिरिक्त उलझन न भी हो तो भी संसार के अविकसित देशों के निर्यात-व्यापार के शोषण के लिए अनन्त पूंजी लगाना संभव नहीं है। किसी तरह की बाधा न भी हो तो भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार धीरे-सुस्ते होने वाली चीज है। इसी सिद्धान्त की एक उपपत्ति (corollary) यह है कि महाजन देश का वाह्य अतिरिक्त कर्जदार देश की क्षमता से अधिक नहीं होना चाहिये। अगर यह बहुत अधिक हुआ तो सारे कारबार का गला घुंट जायगा।

दूसरी उपपत्ति यह है कि विदेशी ऋण की दिशा और परिमाण सम्बन्धित देशों के आर्थिक अभ्युदय (economic development) से पूरा-पूरा संलग्न होना चाहिये और उनके साथ यह संभावना होनी चाहिये कि इस अभ्युदय से प्रभूत लाभ होगा अथवा यह ध्यान देना चाहिये कि इन देशों की कितनी क्षमता है कि वे हमारे देश से अपने यहां माल मंगाकर उसे हजम कर सकेंगे। कोई देश महाजन बने कि कर्जदार, यह झोंक में आकर नहीं निश्चित होना चाहिये पर इस बात से निश्चित होना चाहिये कि विश्व के आर्थिक संगठन में इस देश का कौन-सा स्थान है।

१९१४ के पूर्व के युग में यह बात इस विचार से निश्चित होती थी कि विभिन्न देशों में इस देश का कितना स्वार्थ है। कई देशों में, जैसे कि अर्जेन्टिना में विकास की संभावनायें बहुत थीं जब कि उनके पास अपनी पूंजी नहीं थी। नतीजा यह था कि ब्याज खूब कड़े थे। ग्रेट ब्रिटेन में इसके उलटे कारणों से ब्याज-दर सस्ती थी। चूंकि अर्जेन्टिना में ब्याज की आमदनी अधिक थी इस कारण ब्रिटेन के लोगों की पूंजी घर के कारबार में न लग कर वहां जाकर लगती थी। विनियोग की आवश्यकता का जांचने के लिए ब्याज-दर का विभेद देखना एक भोंड़ा तरीका है और १९वीं शताब्दी के विदेशी विनियोग का इतिहास अभाव (crises) और असफलताओं से भरा हुआ है। किन्तु इन अपूर्णताओं के भीतर ही एक ऐसा तरीका भी छिपा हुआ है जो उन दिनों की अशांत स्थिति के बहुत उपयुक्त प्रतीत होता है। चाहे अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों को किसी उत्पादन के काम में न भी लगाया जाता रहा हो पर उसकी जो रकम होती थी वह इतनी छोटी होती थी कि उससे विश्व के अर्थ-क्षेत्र में कोई गोलमाल नहीं हो सकता था। उन दिनों ऋण देने की स्थिति वाले देश भी कम ही थे और इंग्लैण्ड उनमें से एक तथा सब का अग्रणी था। इस देश से कर्ज लेने वाले देश मुख्यत: नयी आबादी वाले और उद्योग-धंधों से हीन थे इसलिए इन देशों में पूंजी लगाने से अपना निर्यात व्यापार बढ़ाने के रूप में मुनाफे की अच्छी गुंजाइश हो सकती थी। सब से मुख्य महाजन देश ग्रेट ब्रिटेन स्वतन्त्र व्यापार वाला देश था जिसे माल के रूप में ब्याज लेने में आपत्ति न थी। अन्य बहुत-से देश न महाजन थे, न ऋणार्थी—वे अपने व्यापार को प्राय: संतुलित रखते थे और इस कारण उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय तबके पर पूंजी के चलाचल की आवश्यकता नहीं होती थी।

किसी ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-व्यवस्था की स्थापना के लिए जो ठीक तरह से चल सके, इस बात की आवश्यकता है कि हरेक देश अपने अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन को ही नहीं सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को इस तरह संतुलित कर ले कि वह उसकी उस हैसियत से मेल खा जाय जो विश्व-परिवार में उसकी आर्थिक क्षमता की है।

व्यक्तियों और राष्ट्रों के बीच जो समानता है वह आसानी से पूरा किया जा सकता है और इस मामले में तो वह आवश्यक भी है क्योंकि राष्ट्रों को यदि हम उन्नति की विभिन्न चौकियों पर पहुंचे हुए व्यक्ति कहें तो कोई हर्ज नहीं है। कुछ तो नये हैं और वे अब व्यापार करने निकले हैं, दूसरे वे हैं जो परिपक्वता को पहुँच रहे हैं और कुछ राष्ट्र ऐसे हैं जो मुद्दत से व्यापार-वाणिज्य करते आ रहे हैं। इस विषय को साफ करने के लिए हम उन्नति की ६ भिन्न-भिन्न श्रेणियां निश्चित कर सकते हैं। इनका वर्णन नीचे किया जाता है। इसमें प्रत्येक श्रेणी को एक नाम देने की चेष्टा की जा रही है पर यद्यपि यह नामकरण सर्वथा सही नहीं होगा फिर भी यह हर एक श्रेणी की खास-खास प्रवृत्तियों का परिचय बखूबी दे सकेगा।

राष्ट्रों को उसकी पहली अवस्था में हम अपरिपक्व ऋणी-उधारखोर—ऋण और उधार लेने वाला (Immature Debtor-Borrowers) राष्ट्र कह सकते हैं। ये राष्ट्र नये होते हैं, इनमें उद्योग-धन्धा नहीं होता और ये अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य पर हाल साल में ही निकले हुए हाते हैं। इन्हें जो प्रथम ऋण मिलेगा उससे ये अपने निर्यात से अधिक आयत करेंगे। ऋण काढ़ने से ये इस योग्य हो जायेंगे कि थोड़े दिनों तक ये जितना बेचते हैं उससे अधिक खरीद सकें—वे जितना उत्पादन कर सकते हैं उससे अधिक खपत करें। इसलिए इन राष्ट्रों का व्यवसाय का लेखा नकारात्मक होगा अर्थात प्रतिकूल होगा। यह सही है कि ये अपने ऋण पर ब्याज भी देंगे पर पहले कुछ साल तक जो ब्याज ये देंगे उस रकम से कम ही होगा जो ये वर्ष प्रति वर्ष लिया करेंगे। इस तरह ये देश माल और पूंजी दोनो पदार्थों के आयातक (importer) रहेंगे और ये उन राष्ट्रों की सेवायें भी चाहेंगे। यह कहना फिजूल है कि पूंजी जो आयेगी वह सोने में नहीं बल्कि माल के रूप में आयेगी और उस माल का इस रीति से उपयोग करना होगा कि उससे उन देशों का निर्यात-व्यापार बढ़े। रेल-पथ के सामान, औद्योगिक यन्त्रादि, कृषि के औजार और इसी तरह की अन्य चीजें पहले मंगायी जायेंगी।

इसी तरीके से ब्रिटेन के उपनिवेश और दक्षिण अमेरिकी देश उन्नीसवीं शताब्दी में निकले।

दूसरी अवस्था वह है जिसमें कोई देश परिपक्व ऋणी-उधारखोर (Mature Debtor-Borrowers) होता है। कुछ दिनों तक पहले लिखे गये तरीके से दूरी तय करने के बाद इस नये राष्ट्र के व्यापार के आदान-प्रदान के लेखा में भी परिवर्तन आता है। एक ओर पुराने ऋणों का ब्याज हर साल बढ़ता है और अन्त में वह इतना बढ़ जाता है कि नये ऋण की रकम से कई गुणा बेसी हो जाता है। इस दशा में अब यह राष्ट्र भारी-भारी ब्याज अदा करने लग जाता है। इसके साथ ही साथ यदि पिछले कर्जों की रकमों को किसी उत्पादनक्षम कार्य में लगाया गया हो तो अब उत्पादन में वृद्धि होकर उससे निर्यात के योग्य माल निकलने लगता है। इस तरह ब्याज का देना वह इन मालों के रूप में चुकाता जाता है और इस तरह उसके अनुकूल लेखा तैयार होता है। ये देश अब इस अवस्था में हैं कि यद्यपि अभी तक विदेशों से ऋण लिया करते हैं पर अब उसका ब्याज निर्यात के माल के दाम से चुकाते हैं। ये देश अब पूंजी लेकर माल देने वाले बन गये।

तीसरी ऋणी-उधारदाता (Debtor-Lenders) की अवस्था में आकर कोई देश अन्य राष्ट्रों से ऋण लेना बंद कर देता है किन्तु ऋण और उधार बंद कर देने पर भी इसे पिछले ऋणों का ब्याज और पूर्व में लिये गये उधार-खाते की कीमत भरनी ही पड़ती है। यह रकम वह अपने निर्यात से पूरी करता है क्योंकि अब इसके उद्योग-धन्धों का यह अवस्था है कि वे न केवल ब्याज अदा कर सकते हैं वरन ऋण का कुछ हिस्सा भी लौटा सकते हैं। कभी-कभी तो अपना ऋण अदा करने की अपेक्षा अब ये भी दूसरे देशों को ऋण देने लगते हैं। पर जो कुछ हो, दोनो कामों की आर्थिक गुरुता दो नहीं है। ये देश अपनी सुविधा के लिए ऐसा करते हैं और अब इन्हें हम ऋणी-परिशोधक (Debtor-Repayers) देश कह सकते हैं। इसमें महत्वपूर्ण बात यही है कि ये देश अब पूंजी भी लगाने लग गये हैं क्योंकि इनके

निर्यात के माल का योग इतना अधिक हो गया है कि वह प्रदेय व्याज से बढ़ जाता है।

चौथी अवस्था तो तीसरी का स्वाभाविक विकास है। यह वह अवस्था है जिसमें उस देश को अपरिपक्व महाजन-उधारदाता (Immature Creditor-Lenders) देश कह सकते हैं। इस श्रेणी में वे देश आते हैं जिन्होंने पहले का लिया हुआ अपना ऋण चुका दिया है या चुकाया नहीं भी हो तो इनकी विदेशी सम्पत्ति इतनी हो गयी है कि वह इनके ऋण से कई गुना अधिक है। अपनी विदेशी सम्पत्ति से इन देशों को आय भी होने लगी है पर वह आय अभी उनके ऋण से कम है अर्थात उनके वाह्य अतिरिक्त का मुख्य सूत्र वह धन है जो वह दूसरे देशों को उधार में देते हैं और यह वाह्य अतिरिक्त की अनुकूलता चलती रहती है। ये देश मानो उस व्यक्ति की तरह हैं जो अब अपने धन का विनियोग कर के उससे फायदा उठाना शुरू कर रहा है। पर ये देश अभी भी उस ब्याज पर निर्भर नहीं कर सकते, उन्हें अपनी नयी आमदनी पर ही निर्भर करना पड़ता है। इसलिए ये देश पूंजी और माल दोनो के निर्यात करने वाले हुए।

अब इसके बाद ऐसी अवस्था आती है जिसमें के देश परिपक्व महाजन-उधारदाता वाले (Mature Creditor-Lenders) देश हैं। ये देश वे हैं जिनकी ब्याज की आय बहुत भारी है, इतनी कि ये प्रतिकूल (negative) व्यापार-लेखा भी रख सकते हैं अर्थात अगर ये अपने माल के निर्यात से अधिक आयात भी करें तो भी कुछ हर्ज नहीं है। न केवल ये ऐसा कर सकते हैं, वरन इनको करना पड़ता है। क्योंकि अगर ये इस बात पर अड़ें कि जितना माल हम बाहर से मंगाते हैं उससे अधिक बाहर भेजें तो उससे जो व्यावसायिक अतिरिक्त बचेगा और फिर इनकी जो ब्याज की आमदनी है वह, दोनों ही लेकर इन्हें अन्य देशों में विनियोग करने की ही इच्छा होगी और इस तरह इनके ब्याज की आय दिन-दिन बढ़ती जायगी। यदि कोई राष्ट्र या कोई व्यक्ति बहुत अधिक धन लगा दे जिसके ब्याज की आमदनी इतनी हो जाय कि उसके काम-काज की आमदनी से बढ़ जाय तो क्या होगा? यही होगा कि वह अधिकाधिक उन्नत

जीवन-मान बना लेगा और अपने या दूसरे के माल की अधिकाधिक खपत करेगा। यहीं पर व्यक्ति और राष्ट्र की समता नष्ट हो जाती है। क्योंकि मनुष्य की अन्तिम अवस्था वार्द्धक्य का ह्रास (senile decay) है पर राष्ट्रों में जो परिपक्व महाजन-उधारदाता (Mature Creditor-Lenders) देश हैं उनकी अवस्था में यह खतरा नहीं है। वे अभी भी ऋण लगाते और अपना धन बढ़ाते चले जा रहे हैं और चाहे जिस शान-शौकत से रहें उन्हें चिंता नहीं है, फिर भी वे अपने बूते से बाहर नहीं होते। बहुत-से आदमी के लिए प्रतिकूल व्यापार-लेखा स्वभाव से ही भयजनक लगता है—वे अपने निर्यात से अधिक आयात देखते ही घबड़ाने लगते हैं। परन्तु इसका अभिप्राय इसके अतिरिक्त दूसरा नहीं है कि पिछली मितव्ययिता के परिणाम से अब ये देश माल के बदले माल देने के झंझट से छूट गये हैं और पिछली बचत के प्रभाव से घर बैठे अमीर बन रहे हैं।

देशों की छठी अवस्था वह है जिसमें देश को कुछ ह्रास की झलक दिखायी देने लगती है। यह अवस्था महाजन-उधारखोर (Creditor-Borrowers) की है। ये देश महाजन-देश ही हैं यानी इनके पिछले विनियोग पर इनकी ब्याज की आमद काफी है परन्तु इनके प्रतिकूल व्यापार-लेखा की रकम इतनी भारी पड़ती है कि ब्याज की आमदनी उस खाई को भर सकने योग्य नहीं होती और हिसाब को साफ करने के लिए इन्हें दूसरे देशों से उधार काढ़ना पड़ता है। 'काढ़ना' शब्द का व्यवहार यहां इस अर्थ में किया जा रहा है जो ऋणी-उधारदाता (Debtor-Lenders) के मामले में 'उधार देने' शब्द से निकलता है। जो महाजन-उधारखोर (Creditor-Borrowers) देश हैं वे शांति-काल में शायद ही किसी देश का उधार चढ़ाते हैं—या तो वे अपना कोई ऋण वसूल कर काम चलाते हैं अथवा किसी विदेशी विनियोग को ही बेच देते हैं। इनकी तुलना उस महाजन से की जा सकती है जो औसत से अधिक खर्च करता है और इस तरह अपनी पूंजी खा रहा है। यह अवस्था अधिक दिनों तक चलने वाली नहीं। हम आगे देखेंगे कि परिपक्व महाजन-उधारदाता (Mature Creditor-Lenders) देश भी कभी-

कभी (Creditor-Borrowers) संकट के समय महाजन-उधारखोर देश हो जाते हैं। पर इस हालत में कोई देश अधिक दिनों तक नहीं रह सकता।

ये छओ अवस्थायें ऐसी हैं कि मानो वे एक ही क्रम के विभिन्न हिस्से है जिसमे हो कर हर एक देश को उसी तरह गुजरना ही पड़ता है जैसे कि आदमी के जीवन में लड़कपन, जवानी, बुढ़ापा आदि कई अवस्थायें आती हैं। परन्तु यह कथन बिलकुल सहा नहीं है। कुछ देशों को तो सचमुच ये छओ अवस्थायें झेलनी पड़ी हैं यद्यपि उनके आदान-प्रदान के लेखा से इस चीज को सिद्ध करने लायक आंकड़े नहीं मिलेंगे। आदान-प्रदान का लेखा कुछ ऐसी चीज है जो हाल की सृष्टि है और इसे उस ढंग से लिखा भी नहीं जाता कि इससे सभी बातें निकलें। पर ये छओ अवस्थायें अमेरिका पर पूरी-पूरी घटित हुई हैं, यह हम जानते हैं। १८७० तक अमेरिका अपरिपक्व ऋणी-उधारखोर (Immature Debtor-Borrower) देश था जो बाहर से पूंजी भी लेता था और माल भी मंगाया करता था। परन्तु लगभग १८७३ के बाद अमेरिका के सालाना ब्याज की आमदनी उसके नये सालाना उधार से बढ़ गयी और उधर देश का जो प्रभूत विकास और विस्तार हुआ उससे वह अपने लिये हुए ऋण का व्याज भर देने में समर्थ हो गया। इस समय से १९१४ तक अमेरिका परिपक्व ऋणी-उधारखोर (Mature Debtor-Borrower) देश रहा, साथ ही वह सब से बड़ा निर्यातक भी रहा यद्यपि वह हर साल नया-नया ऋण लिया ही करता था जिसका कुछ भाग उसे ब्याज में दे देना पड़ता था। प्रथम महायुद्ध-काल में १९१४ से १८ तक के ५ वर्षों के छोटे दायरे में ही अमेरिका और दो अवस्थायें पार कर गया। इस काल में उसने इतनी युद्ध-सामग्रियां बाहर के देशों को दी कि उसने न केवल अपने पिछले ऋणों को भरा वरन अब वह खुद उधारदाता बन गया। इतना ही नहीं, उसके ब्याज की आमदनी भी इतनी बढ़ गयी कि वह अपने निर्यात से अधिक माल और सेवा आयात करने लग गया—दूसरे शब्दों में

अमेरिका परिपक्व महाजन-उधारदाता (Mature Creditor-Lender) देश बन उठा। तीसरी अवस्था में वह बहुत दिनों तक नहीं रहा। युद्ध के बाद अंतिम अवस्था में वह जमा कहां? १९२२ में १९२४ में, और फिर १९२८ में भी अमेरिका का व्यवसाय-लेखा, जिसमें दृश्य और अदृश्य दोनो तरह के व्यापार सम्मिलित हैं, बिलकुल ही धनात्मक (positive) था जिससे वह अपरिपक्व महाजन-उधारदाता (Immature Creditor-Lender) देश हो गया था परन्तु इसके बाद के दिनों में यह अवस्था पलट गयी। इस विषय पर जोर देने योग्य है कि इन वर्षों में अमेरिका बिक्री से ज्यादा खरीद ही किया करता था क्योंकि इस विषय में जो विचार लोगों के हैं वे विपरीत हैं। यह गड़बड़ी इस बात से होती है कि लोग दृश्य व्यापार के लेखा पर ही अधिक ध्यान देते हैं और अदृश्य व्यवसाय की बात उन्हें याद नहीं रहती। माल की ब्रिक्री तो अमेरिका ने खरीदारी से अधिक की पर नौकरी के हिसाब से उसने खरीदा ही अधिक, बेचा कम। अमेरिकी लोग घूमना-फिरना अधिक पसंद करते हैं, जिसमें बाहर वालों को पैसा दिया जाता है। अमेरिकी विदेशियों को भाड़ा और बीमा आदि के रूप में धन देते हैं पर वे वास्तविक माल बाहर से खरीद कर बाहर पैसे भेजना पसंद नहीं करते। परन्तु इस तरह से हो या उस तरह से इसका आर्थिक प्रभाव तो समान ही होता है। अब यदि माल और सेवा आदि को एक साथ ले लें तो इन दिनों अमेरिका अधिकता के बल पर ही खरीदार लगता है जैसा कि परिपक्व महाजन-उधारदाता (Mature Creditor-Lender) देश को होना चाहिये।

अमेरिका एक ऐसे देश का उदाहरण है जो हर एक स्थिति से गुजर चुका है। पर बहुत-से देश हैं जो महाजन की तरह ही काम शुरू करते हैं, जैसे ग्रेट बिटेन है या था जिसने दोनो महायुद्धों के पेश्तर संसार से कभी कोई ऋण नहीं लिया था (क)

(क) ऐसे ऋणों को छोड़ कर जो उस अर्थ में होता है जबकि किसी का रुपया डिपाजिट रखा जाता है।

ऐसे देशों की उन्नति तो शीघ्र होती है। ऐसे देश पहले अपरिपक्व महाजन उधारदाता (Immature Creditor-Lender) होते हैं जो दूसरे देशों को अपने निर्यात के अतिरिक्त की रकम पर उधार देते हैं। इसके बाद वे परिपक्व महाजन-उधारदाता (Mature Creditor-Lender) बनते हैं और निर्यात से अधिक आयात करते हैं और ऐसा करने में अपनी व्याज की आय के कारण समर्थ होते हैं। ग्रेट ब्रिटेन अपरिपक्व महाजन (immature lender) से १८५० के आस-पास परिपक्व (mature) महाजन बना और वह १९वीं शताब्दि के अंतिम चरण की गड़बड़ी के काल को छोड़ कर प्रथम महायुद्ध के छिड़ने के समय तक इसी प्रकार महाजन बना रह गया।

अन्तर्युद्ध असंतुलन

INTER-WAR DISEQUILIBRIUM

आगे पृष्ठ ४६८-६९ पर जो टेविल दी जा रही है उसमें संसार के कुछ मुख्य-मुख्य देशों की, १९२७ से १९२९ तक के वीच उनकी जो दशा थी, उसके विचार से श्रेणी-विभाजन करने की चेष्टा की गयी है। सभी अंक लाख डालर के अंकों में किसी खास वर्ष की विशेष स्थिति दिखाते हैं। यह सूची लीग आफ नेशन्स के आर्थिक विभाग द्वारा प्रस्तुत की गयी थी और इनके अधिकतर आंकड़ों को सरकारी तबके से ही प्राप्त किया गया है किन्तु सरकारी होने पर भी इन आंकड़ों पर बहुत अधिक भरोसा नहीं है—वे केवल अनुमान मात्र का काम दे सकते हैं क्योंकि हर देश में आंकड़ा-नियोजन में एक-सी सावधानी बर्ती गयी हो ऐसा नहीं हो सकता। अपनी सभी कमजोरियों के वावजूद यह सूची उन देशों की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति का सही से सही चित्र पेश करती है जो १९२९ में प्रारम्भ हुई भारी मंदी के पहले संसार के मुख्य-मुख्य देशों में रही। वदकिस्मती से कई देशों के आंकड़े चूंकि प्राप्त नहीं हो सके वे नहीं दिये गये हैं।

इस टेबिल का पहला खाना दृश्य, अदृश्य दोनो तरह के व्यापारों का लेखा बताता है। इसमें जो जोड़ (+) का चिन्ह दिया गया है वह बताता है कि व्यापार का लेखा अनकूल बढ़ोत्तरी वाला है और धनात्मक है (अर्थात यह देश आयात से अधिक निर्यात कर रहा है)। जहां घटाव का (—) चिन्ह पड़ा हुआ हो वहां समझना चाहिये कि यह प्रतिकूलता, देनदारी और ऋणात्मकता का द्योतक है। साधारण रूप से समझिये कि जोड़ का चिन्ह पावना का द्योतक है और घटाव का चिन्ह देना का। इस तरह इन दिनों जर्मनी की खरीदारी और माल और सेवा की बिक्री का शेष बाकी ६५८० लाख डालर का देना (out-payment) प्रति वर्ष था। इसके विपरीत अर्जेन्टिना का अतिरिक्त (in-payment) १०६० लाख डालर था, पर यह लेना था। इसका अर्थ यह हुआ कि यह देश जितना माल खरीदता था उससे १०६० लाख डालर अधिक का माल बेचता था।

खाना (२) में इसी तरह ब्याज के देने-लेने का हिसाब है। इसमें जोड़ का चिन्ह आय के लिए है और घटाव का चिन्ह व्यय के लिए। इस खाना के देखने से पता चल सकता है कि देश महाजन है कि कर्जदार। कर्जदार देश ब्याज देते हैं फलतः उनके लिए घटाव का चिन्ह लगाया गया है, महाजन देश ब्याज पाते हैं, इस कारण उनके लिए जोड़ का चिन्ह है।

खाना (३) पहले दोनो खानों को जोड़ कर निकाला हुआ है। यह खाना आमदनी का अंतिम योग या आदान-प्रदान-लेखा का चालू हिसाब बताता है—दूसरे शब्दों में वाह्य अतिरिक्त का संकेत करता है। इस खाना में जो चिन्ह दिये गये हैं वे बताते हैं कि देश उधार लेने वाला है या देने वाला। यदि चिन्ह घटाव का है तो इसका अर्थ यह है कि इस देश के हिसाब का अंतिम योग बाहरी देना बताता है और इसे दोनो मद बराबर करने को बाहर से उधार लेने पड़ते हैं। अगर जोड़ का चिन्ह है तो देश उधार देने वाला है।

राष्ट्रों के ६ विभाग को अब इस तरह पहले तीन स्थानों के निशान से छांट सकते हैं—

	व्यवसाय-शेष दृश्य तथा अदृश्य, दोनो (१)	ब्याज की आमदनी या खर्च (२)	वाह्य अनिरिक्त (३)
अपरिपक्व ऋणी-उधारखोर	−	−	−
परिपक्व ऋणी-उधारखोर	+	−	−
ऋणी-उधारदाता	+	−	+
अपरिपक्व महाजन-उधारदाता	+	+	+
परिपक्व महाजन-उधारदाता	−	+	+
महाजन-उधारखोर	−	+	−

महाजन (creditor) और उधारदाता (lender) और इसी तरह ऋणी (debtor) और उधारखोर (borrower) शब्दों का विभेद ध्यान में रख लेना चाहिये। महाजन और ऋणी शब्द पूर्व के लेन-देन के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है—महाजन वह है जिसने पहले कोई ऋण दिया है और ऋणी वह है जिसने लिया है। मगर उधारदाता और उधारखोर शब्द चालू कारबार के सम्बन्ध में इस्तेमाल किये गये हैं। दुर्भाग्य से इन विभेदों को सभी जगह साफ-साफ करते नहीं चल सकते। पिछले अध्याय में यह सुविधाजनक लगा (यद्यपि एक चेतावनी दे दी गयी) कि कभी-कभा जहां उधारदाता और उधारखोर से मतलब था वहां महाजन और ऋणी लिखने पड़े। परन्तु यह फर्क वास्तविक है, केवल मौखिक शिष्टाचार नहीं; और जब इस विषय पर कुछ गहरा सोच-विचार हो रहा हो तो इस विभेद को ध्यान में रखना होगा। उधारदाता प्रायः ही महाजन होता है और महाजन

राष्ट्रीय आदान-प्रदान का लेखा १९२७–१९२९

NATIONAL BALANCES OF PAYMENTS 1927–1929

[दिये गये आंकड़े १९२७, १९२८ और १९२९, तीन वर्षों के वार्षिक औसत हैं (लाख डालर में)]

The figures are annual averages of the 3 years, 1927, 1928 and 1929 in lacs of dollars.

'देशों का नाम और श्रेणी'	व्यवसाय का शेष, दृश्य और अदृश्य (१)	ब्याज, प्राप्ति या प्रदान (२)	आय के हिसाब का शेष [(१)+(२)] (३)	सोना (४)	पावना (–) या देना (+) (५)	पूंजी के हिसाब का शेष [(४)+(५)] (६)
१. अपरिपक्व ऋणी उधारखोर						
जर्मनी	– ६५८०	– १३६०	– ७९४०	– ५३०	+ ४७०	+ ७९४०
अस्ट्रेलिया (क)	– ३१०	– १७००	– २०१०	+ १३०	+ ८८८०	+ २०१०
पोलैंड	– ४१०	– ३३०	– ७४०	– १६०	+ ११००	+ ७४०
हंगरी	– ४७०	– २५०	– ७२०	– १०	+ ७३०	+ ७२०
जापान	– ३९०	– ७०	– ४६०	+ ६०	+ ४००	+ ४६०
नार्वे	– ३०	– १८०	– २१०	०	+ २१०	+ २१०
फिनलैंड	– ८०	– ९०	– १७०	०	+ १७०	+ १७०
बलगेरिया	– ३०	– ७०	– १००	०	+ १००	+ १००
२. परिपक्व ऋणी-उधारखोर						
चीन (क)	+ २४०	– ११७०	– ९३०	– २०	+ ९५०	+ ९३०
अर्जेन्टिना (ख)	+ १०६०	– १८५०	– ७९०	– १३०	+ ९२०	+ ७९०
दक्षिण अफ्रिका (ग)	+ ३२०	– ७८०	– ४६०	(ग)	+ ४६०	+ ४६०
न्यूजीलैंड (घ)	+ २१०	– ४४०	– २३०	+ ४०	+ १९०	+ २३०
जुगोस्लाविया	+ ८०	– २१०	– १३०	०	+ १३०	+ १३०
भारत (घ)	+ १०७०	– ११६०	– ९०	– ६५०	+ ७४०	+ ९०

कनाडा (ग)	+१६२०	−१६९०	− ७०	(ग)	+ ७०	+ ७०
डेनमार्क	+ १३०	− १५०	− २०	+ ३०	− १०	+ २०
३. ऋणी-उधारदाता						
डच ईस्ट इंडीज	+१४२०	−१४००	+ २०	− ५०	+ ३०	− २०
इटली (ङ)	+ ३३०	− १८०	+ १५०	− ८०	− ७०	− १५०
चेकोस्लोवाकिया	+ ६६०	− १६०	+ ५००	०	− ५००	− ५००
४. अपरिपक्व महाजन-उधारदाता						
स्वीडन	+ ४७०	+ ७०	+ ५४०	− २०	− ५२०	− ५४०
बेल्जियम (च)	+ ५३०	+ ५३०	+१०६०	− ३८०	− ६८०	−१०६०
५. परिपक्व महाजन-उधारदाता						
नेदरलैंड्स (छ)	(−१४४०)	(+ १६०)	(+ १६०)	+(१००)	(− २६०)	(− १६०)
फ़्रांस (ज)	− (झ)	+ (झ)	+४३००	−१९००	−२४००	−४३००
ब्रिटेन (U. K.)	−७१९०	+१२१७०	+४९८०	+ ११०	−५०९०	−४९८०
अमेरिका	−१८६०	+ ७४६०	+५६००	+१०२०	−६६२०	−५६००
६. महाजन-उधारखोर						
कोई नहीं	...	...	...	....	...	...

(क) केवल १९२८–२९ साल।

(ख) दो साल—केवल अक्टूबर १९२७ से सितम्बर १९२९ तक।

(ग) दक्षिण अफ़्रिका और कनाडा से सोने का निर्यात माल के रूप में होता है, मुद्रायिक लेन-देन के रूप में नहीं। इसलिए इसे खाना (१) में सम्मिलित कर लिया गया है।

(घ) तीन साल—अप्रैल १९२७ से मार्च १९३० तक।

(ङ) केवल १९२७ साल।

(च) बेल्जियन कौंगो समेत; केवल १९२९ साल।

(छ) नेदरलैंड्स के ये आंकड़े साधारणतः लगभग आंकड़े से अधिक हैं इस कारण कोष्ठ में दिये गये हैं।

(ज) शेष सभी फ़्रान्सीसी उपनिवेशों सहित (हिन्दचीन को छोड़)।

(झ) फ़्रान्स के आंकड़े समन्वित विषयों के आकड़ों को अलग-अलग कर के नहीं बताते।

प्रायः ही उधारदाता होते हैं। मगर सदा यही बात हो ऐसा कुछ नियम नहीं है। (क)

खानों का दूसरा समूह मिलकर पूंजी का खाता बनाता है। खाना (६), जो पूंजी के हिसाब का अन्तिम शेष है, ठीक खाना (३) के बराबर होना चाहिये पर उसमें विपरीत चिन्ह भी चाहिये। सोने के खाने वाले आंकड़ों को तो व्यापारिक हिसाब-पत्र (trade statistics) से आसानी से निकाल ले सकते हैं। इस खाने में जोड़ का चिन्ह सोने का निर्यात बताता है (अर्थात वह धन की आमद लाता है जो निर्यातित सोने के मूल्य की रकम है) और घटाव का चिन्ह आयात बताता है। खाना (५), जो ऋण-दान और उधार की रकम का योग दिखाता है, ऐसे आंकड़ों में है जो खाना (४) और (६) के बीच की खाई को ठीक-ठीक भर देता है। किसी-किसी देश, खासकर अमेरिका, में हमलोग ऋण और उधार के परिमाणों का ठीक-ठीक सीधा अनुमान लगाते हैं, परन्तु बहुसंख्यक मामलों में यह आंकड़ा केवल दोनों के मिलान से ही निकल सकता है और यह

(क) एक अन्य गोलमाल का विषय भी साफ हो जाना चाहिये। 'उधार देना' (lending) मद के अन्दर 'कर्ज चुकाना' (repaying debt) को भी शामिल करना चाहिये और उसी तरह से 'उधार लाना' (borrowing) के भीतर 'पूंजी को खींचना' (drawing on capital), इसको भी सम्मिलित करना चाहिये। ऋण चुकाना अवश्य ही ऋण देने के विपरीत चीज है पर दोनो को एक ही मद में रखने के बहाने ये हैं—पहला, दोनो का समान ही असर अदान-प्रदानों के लेखा पर पड़ता है, दोनो में पूंजी बाहर जाती है और दोनो धन बढ़ाते हैं (चाहे धन बढ़ा कर या देना को कम कर के) और दूसरे, दोनो को अलग-अलग कर पहचानना व्यवहारतः असंभव है। इसी तरह ऋण लेना और पूंजी में से निकालना दोनो का एक-सा असर ही होता है और दोनो को अलग-अलग कर के नहीं रख सकते। यह बता दिया जा चुका है कि ऋणी-उधारदाता (Debtor Lender) को ऋणी-परिशोधक (Debtor-Repayers) कहने में कोई हानि नहीं है। इसी तरह 'महाजन-उधारखोर' (Creditor-Borrowers) को प्रायः 'महाजन-पूंजीखोर' (Creditor-Drawers-on-Capital) कहना अधिक उपयुक्त होता है।

अच्छा समझा गया है कि इस टेबिल में हर एक देश को एक ही तरह से रखा जाय।

यह सूची ऐसे समय की है जिसे दोनो महायुद्धों के बीच के काल में सबसे अधिक स्थिरता का युग कहा जा सकता है। इस सूची में जिन देशों के नाम आये हैं उनमें से एक को छोड़कर शेष सभी स्वर्ण-मान रखे हुए थे, इनमें मूल्य-स्तर प्रायः स्थिर था और इन देशों की आर्थिक व्यवस्था इस समय खूब ही सुन्दर तरह चल रही थी। फिर भी इसी के बीच असंतुलन के भी तत्व छिपे थे जिन्हें हम एक ही नजर में पकड़ सकते हैं।

पहला विषय (point) इसमें ध्यान देने का वे बड़े-बड़े आंकड़े हैं जो खाना (३) में पड़े हुए हैं। पता लगता है कि इस खाने में ६ महाजन-उधारदाता (Creditor-Lenders) राष्ट्र हैं वे अपने विदेशी मुद्रा के शेष को जमा कर रहे थे, यहां तक कि इनका सम्मिलित योग १६६०० लाख डालर प्रति वर्ष आता है। फिर भी इसमें एक महाजन-उधारदाता देश स्विट्जलैंड का नाम नहीं है। यह विशाल रकम देख कर एक-ब-एक यह संदेह हो उठता है कि इन देशों द्वारा ऋण और उधार का काम इतने बड़े पैमाने पर हो रहा था कि उसे अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग में ठीक तरह से पचाना कठिन हो रहा था।

दूसरा विषय यह है कि खाना (४) में जो रकम हैं वे भी बहुत बड़ी हैं। इस खाने में जो रकम हैं उनका योग खाना (३) के आंकड़ों के योग का १७ प्रतिशत होता था (इसमें विभिन्न चिन्हों का ख्याल नहीं किया गया है)। मोटा-मोटी तौर पर इससे यह निकलता है कि वाह्य अतिरिक्तों का केवल ८३ प्रतिशत ऋण और उधार के जरिये जुटाया जा रहा था और वाकी के लिए सोना दिया जाता था। इसके अतिरिक्त इस खाना के अंक शेष के अंक हैं और वे तीन साल के औसत के हैं जिनमें से कम से कम दो साल की रकम को यदि अलग दिखावें तो देखेंगे कि इनमें औसत से अधिक ही सोना चालान हुआ है। इस तरह से यह स्पष्ट हो

जाता है कि इन दिनों अन्तर्राष्ट्रीय उधार-खाता का परिमाण प्राप्तव्य वाह्य अतिरिक्त से बहुत कम पड़ता था।

तीसरा विषय यह है कि इस सूची के कई देशों की हालत एकदम सन्तोषजनक नहीं थी। उदाहरण के लिए हम कोई पहचान उपस्थित नहीं कर सकते जिससे हम दिखा सकें कि जर्मनी एक अपरिपक्व ऋणी-उधारखोर देश हो गया था। वह न नया देश था न उसके पास निर्यात व्यापार बढ़ाने के लिए नया या कोई विशेष तत्व आ गया था। इस सूची में उसका नाम सब से आगे आना कुछ अस्वाभाविक था जो क्षति-पूर्ति-प्रदान आर स्फीति की अवस्था के परिणाम-स्वरूप था। जर्मनी को जो ऋण दिया जाता था उससे बहुत ही असाधारणता की दशा में यह आशा की जा सकती थी कि वह अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग है जा भविष्य में फलदायक हो सकता है। अस्ट्रेलिया की स्थिति ऐसी अटपटी नहीं है। पर आदमा यह सोच ले सकता है कि अस्ट्रेलिया एक ऋणी-उधारखोर (Debtor-Borrower) की दशा में भी उन्नति कर के परिपक्वता(maturity) तक पहुंच सकता है। दक्षिण अफ्रिका, न्यूजीलैंड अथवा डच ईस्टइंडीज के मुकाबले अस्ट्रेलिया बहुत पिछड़ा हुआ लगता है। इसके अतिरिक्त उसके उधार की रकम भी बड़ी भारी है। प्रथम श्रेणी में जिन देशों का नाम आ गया है उनमें से कई का नाम यहां देखकर अचरज-सा होता है और अगर आर्थिक विकास को श्रेणी-विभाजन की शर्त रखी जाय तो उनमें से किसी का नाम इस प्रथम सूची में न रहे। किन्तु यह याद रखना चाहिये कि कई नये और गरीब देश जो अधिक सम्भावना है कि अपरिपक्व ऋणी-उधारखोर (Immature Debtor-Borrower) ही बनेंगे, उनका हिसाब इस सूची में सम्मिलित नहीं किया जा सका है क्योंकि उनके आंकड़े नहीं मिले। दक्षिण अमेरिका के कई राज्य और कई ब्रिटिश उपनिवेश भी इस दर्जे में शामिल हो सकते हैं अगर उनके हिसाब-किताब का आंकड़ा उपलब्ध हो।

इस सूची से जो बातें गड़बड़ी की निकलती हैं वे यही हैं। इन आंकड़ों के

अन्तराल में और भी गड़बड़ी है और वे दीख नहीं पड़तीं पर लोग उन्हें समझते हैं। यह सूची बताती है कि देशों का वाह्य अतिरिक्त बहुत अधिक था पर उनका अधिकांश भाग लगाया (lent) नहीं जाता था—सोना खरीद कर रख दिया जाता (hoarded) था। इस सूची से और जिस बात का पता नहीं लगता वह यह है कि उतनी बड़ी-बड़ी रकमों में से, जो ली और दी जाती थीं, बहुत कम हिस्सा ऐसा निकलेगा जिसे हम अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग कह सकते हैं। उदाहरण के लिए जर्मनी ने जो ऋण लिया था उसका उपयोग कुछ हद तक अपने उद्योग-धन्धों को तैयार करने के लिए और विश्व-बाजार में उनकी प्रतियोगितात्मक क्षमता को बढ़ाने के लिए किया गया था। पर जर्मनी ने कुछ ऐसे निर्माणों के लिए भी ऋण लिया था जिनके विषय में यह कहा जा सकता है कि वे जर्मनी की भावी निर्यात-क्षमता को बढ़ाने में कोई सहायता नहीं देते थे। उदाहरणार्थ संतरण-दहों आदि (municipal swimming baths) का निर्माण, और बैंकों की पूंजी-वृद्धि की व्यवस्था या सार्वजनिक महल-मकानात बनाने से निर्यात-व्यापार की क्या बढ़ती हो सकती है? अस्ट्रेलिया का ऋण भी अधिकतर अपने बजट की कमी का पूरा करने के लिए ही लिया गया गया था और ऐसे सार्वजनिक कामों की योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए वह रखा गया था जो व्यापार बढ़ाने की दिशा में प्रत्यक्ष रूप से कुछ भी सहायता नहीं देते। न जर्मनी ने और न अस्ट्रेलिया ने यह व्यवस्था की कि ऋण का जो ब्याज होगा उसको अदा करने के लिए इसी ऋण की रकम से कोई योजना बनावें—असल लौटाने की तो बात ही छोड़ दी जाय। और जो बात अस्ट्रेलिया और जर्मनी के लिए कही गयी है वही बात थोड़ी बहुत हेरफेर से सूची में आये हुए अन्य देशों के लिए भी कही जा सकती है जो अपरिपक्व ऋणी-उधारखोर (Immature Debtor-Borrowers) हैं।

अब इसमें केवल कर्ज लेने वालों को ही दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि ऋण देने वाले देश भी इस सम्बन्ध में कम गलती नहीं करते हैं। प्रथम महायुद्ध

के पहले तक ब्रिटेन सब से बड़ा महाजन-उधारदाता (Creditor-Lender) देश था। इस काम को करने के लिए उसने लंदन में एक विस्तृत और सुदक्ष संस्था खोल रखी थी जो विदेशी राष्ट्रों को लम्बी-लम्बी अवधि के ऋण दिया करती थी। मगर १९१८ के बाद उसका वाह्य अतिरिक्त पहले की अपेक्षा बहुत घट गया। इसके दो कारण थे और दोनो का जिक्र किया जा चुका है। वे ये हैं––व्यापार के सूत्रों में रद्दोबदल के कारण, जो युद्ध-काल के परिवर्तनों से हुआ, ब्रिटेन के निर्यात-उद्योग को कई प्रकार की असुविधायें भोगनी पड़ी और दूसरा कारण यह कि १९२५ में पौंड स्टर्लिंग का मूल्य इस तरह निश्चित किया गया कि उसका बहुत ज्यादा अधिकमूल्य-धारण हो गया। युद्ध के बाद ब्रिटेन को चाहिये था कि वह अपने उधार-खाते को अपने वाह्य अतिरिक्त के आकार के अनुसार नियंत्रित कर लेता। पर सिटी आफ लंदन ने जो अपना ध्यान विदेशी ऋण पर लगाया उसके कारण ऐसा न हो सका और युद्ध के पश्चात के बहुत-से दीर्घावधि ऋण ब्रिटेन ने इस तरह लगाये कि वे उसके वाह्य अतिरिक्त से सचमुच बढ़ गये। इसके साथ ही साथ पौंड स्टर्लिंग के अधिकमूल्य-धारण को सुरक्षित रखने की जो चेष्टा की गयी तो उससे बैंक आफ इंग्लैण्ड को ऊंची ब्याज-दर रखने की आवश्यकता पड़ गयी। नतीजा यह हुआ कि थोड़े काल की बहुत-सी पूंजी खिंचकर लंदन में इकट्ठी हो गयी। इस तरह असल में ब्रिटेन ने "अल्पावधि कर्ज लेना और दीर्घावधि देना" शुरू किया और जब उसके अल्पावधि पावनेदारों ने १९३१ में उससे अपने ऋण मांगने शुरू किये तो वह अपने विशाल परन्तु दीर्घावधि विनियोग को पलटाने में सफल न हो सका। ब्रिटेन की यहां तारीफ की जानी चाहिये कि उसने ऐसे वक्त खुद परेशानी उठायी पर दूसरे को परेशान न किया और इस सम्पूर्ण अवधि में ब्रिटेन ने अपने ब्याज के पावने में माल स्वीकार कर के अन्य महाजनों के सामने एक अच्छा नमूना रखा।

प्रथम महायुद्ध और पहली भारी मन्दी के बीच के समय में अमेरिका सब से बड़ा उधारदाता (largest lender) देश था (यद्यपि सब से बड़ा महाजन नहीं

था) और यह अमेरिका के वाह्य अतिरिक्त का भारी परिमाण ही था जिसने अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन के परिमाण को बढ़ा कर संकटजनक सीमा तक पहुंचा दिया था। अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में इधर कुछ वर्षों के भीतर जो परिवर्तन हो गया था, अमेरिका को उसका पता न था। उस का वाह्य अतिरिक्त तो जरूर भारी हो गया था क्योंकि वह यह समझ रहा था कि किसी राष्ट्र का निर्यात अवश्य ही आयात से अधिक होना चाहिये। यह विचार युद्ध के पहले के लिए तो उचित ही था। और अमेरिका ने अपने इसी विश्वास के कारण इतनी ऊंची संरक्षणात्मक चुंगी (protective tariffs) लगा दी थी कि दुनिया में उसका मुकाबला न था। सौभाग्यवश अदृश्य लेन-देन अपनी अदृश्यता के कारण राजनीतिज्ञों की आंख पर नहीं चढ़ा और इसमें अमेरिका जितना लेता था उससे अधिक देता था। अमेरिका का जो इतना बड़ा वाह्य अतिरिक्त बच जाता था वह आपत्तिजनक न होता अगर उसका ठीक उपयोग होता, पर ऐसा हुआ नहीं। ऋण-दान का परिमाण (चाहे वह अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग हो या कुछ दूसरा) बहुत अधिक ह्रास-वृद्धिमय हुआ करता था और एक भारी दरार छोड़ देता था जिसको सोने की आमदनी (import) या रफ्तनी (export) से पाटना पड़ता था। १९२४ में इस देश में २१६० लाख डालर का सोना मंगाया गया और १९२५ में १०२० लाख डालर का बाहर भेजा गया, १९२८ में २७२० लाख डालर का सोना भेजा गया और १२०० लाख डालर का सोना मंगाया गया। प्रथम महायुद्ध के बाद भारी मन्दी के आगमन तक शायद दो ही वर्ष ऐसे थे (१९२० और १९२६) जिनमें अमेरिका की सोने की आमदनी और रफ्तनी १००० लाख डालर से कम थी। पृष्ठ ४६९ पर जो टेबिल दी गयी है उसमें जो १०२० लाख डालर का आंकड़ा दिया गया है वह १९२७ के १५४० लाख डालर, १९२८ के २७२० लाख डालर (निर्यातित) और १९२९ के १२०० लाख डालर (आयातित)का औसत है। इससे भी आगे, जो कुछ भी विनियोग इन दिनों हुआ उसमें अन्तर्राष्ट्रीय ढंग का विनियोग कम ही था। न्यूयार्क को विदेशों की महाजनी का बहुत कम अनुभव था, इसलिए न्यूयार्क के धनी लोग

आनन-फानन नफा के लोभ में झटपट फंस गये और इस बात का परवा नहीं की कि उनके द्वारा विनियाग का धन किस उपयोग में लगाया जायगा अथवा यह भी नहीं पूछा कि ऋण की वापसी की क्या गारंटी होगी। १९२८ में दक्षिण अमेरिकी राज्यों को ही जो ऋण अमेरिकी संयुक्त राज्य ने दिया वह अनुपयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय ऋण का बढ़िया उदाहरण है। इस सम्पूर्ण अवधि में अमेरिकी महाजनी नीति में इस बात की कोई गुंजाइश नहीं रखी गयी कि इस विनियोग का जो स्वाभाविक परिणाम होगा उसका किस प्रकार सामना किया जायगा। वस्तु के रूप में ब्याज की अदायगी भी रोकी गयी, अमेरिकी टेरिफ १९३० में इतना ऊंचा कर दिया गया कि उसका ठिकाना नहीं था।

बड़े महाजन-उधारदाताओं (large Creditor-Lenders) की कड़ी में फ्रांस का स्थान तीसरा है। इसने भी ऐसी ही दुष्टता पूर्ण नीति अपनायी। पौंड स्टर्लिंग का जो अधिकमूल्य-धारण हुआ था उसके उलटे इसने अपनी मुद्रा फ्रांक का भारी अल्पमूल्य-धारण कर दिया। नतीजा यह हुआ कि फ्रान्स का बाह्य अतिरिक्त फ्रांसीसी महाजनों द्वारा जितना विनियोग किये जाने की इच्छा थी उससे कहीं अधिक बढ़ गया था फ्रांसीसी मुद्रा-बाजार की विदेशी ऋण देने की क्षमता जितनी थी उससे बहुत अधिक हो गयी। ऊपर से, फ्रांसीसी सरकार दीर्घावधि विदेशी ऋणों को अनुत्साहित भी करने लगी। इन सब का परिणाम यह निकला कि फ्रांस ने जिसका वाह्य अतिरिक्त ग्रेट ब्रिटेन से कम बड़ा नहीं था (१९२७-२९ के औसत में) उसके आधे से भी कम विनियोग किया और जो बच गया उसका सोना सहेज कर रख लिया। इसपर भी वे रकम जिसे ऋण में ले रहे हैं विनियोग के रूप में क्या थे कि लंदन, न्यूयार्क और अन्य मुद्रा-केन्द्रों के बैंकों में केवल डिपाजिट रख दिये गये थे। असल में अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग, जैसा कि ऊपर बताया गया है, फ्रांस ने इन दिनों बहुत कम ही किये।

इस तरह हम देखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी-बाजार इन दिनों संयत नहीं था। तीनो बड़े महाजन राष्ट्रों में से दो तो अपने विदेशी व्यापार के अतिरिक्त

को कृत्रिम रूप से ऊंचा रख रहे थे—अमेरिका ने इसके लिए ऊंची चुंगी लगा रखी थी और फ्रांस ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर लिया था और ग्रेटब्रिटेन जिसे महाजनी का अनुभव इन दोनो से ज्यादा था ऐसा काम कर रहा था कि अपने ही वादों को पूरा करना उसके लिए कठिन पड़ रहा था। ये तीनो देश अपने लिए करीब १५००० लाख डालर का बाह्य अतिरिक्त हर साल बना लेते थे। यह रकम साधारण नहीं है पर तीनो महाजनों में से दो ने इस तरह खदुक पर बढ़ते जाने वाले अनुत्पादक अथच अलाभकारी (uneconomic) ऋण का कोई उपाय नहीं किया। उलटे वे विनियोग करते ही चले गये। उधर ऋणी खुश थे कि उन्हें माल मिल रहा है। वे बिना इस बात का विचार किये कि कल ऋणों की वापसी का क्या प्रबन्ध होगा ऊंची दर में कर्ज लेते ही चले गये। स्थिति यह हो गयी कि बहुत अधिक उधार मिलने लगा ; उधार का तरीका भी गलत ही रहा और लिया भी जाता रहा गलत कामों के लिए। ऐसी स्थिति बहुत दिनों तक चल नहीं सकती—इसे उसी प्रकार का स्वस्थ महाजन-खदुक-सम्बन्ध नहीं समझ सकते थे जो ब्रिटेन का अपने उपनिवेशों के साथ था या अमेरिकी 'संयुक्त राष्ट्र का कई दक्षिणी अमेरिकी राष्ट्रों के साथ प्रथम महायुद्ध के पहले था। यह महाजनी नहीं थी, सूदखोरी थी—साफ-साफ और गर्हित, और इसका आधार अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के उचित वितरण की अपेक्षा असमान वितरण पर टिका हुआ था।

पिछले अध्याय में लिखा गया है कि स्वर्ण-मान के अन्तर्राष्ट्रीय विघटन के कई कारण थे। परन्तु चाहे जो भी मुद्रा-रीति क्यों न प्रचलित हो, देने और लेने की यह जो नीति प्रचलित थी उससे संसार भर की मुद्रा-व्यवस्था में गड़बड़ी उत्पन्न होनी स्वाभाविक थी। बाह्य अतिरिक्त का योग अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के परिमाण से इतना अधिक बढ़ गया था कि कुव्यवस्था होनी ही था। उस समय तो विनियोग के जोर में आने वाली दशा का स्पष्ट चित्र आंखों के आगे आ नहीं सकता था पर उस समय लेन-देन कुछ इस तरह चल रहा था जैसे कि कोई आदमी अपनी आमदनी की अपेक्षा इतना अधिक खर्च कर रहा हो कि उसके महाजन की

बचत और विनियोग का क्रम उससे गड़बड़ा रहा हो। यह स्थिति खतरनाक थी। इस तरह का उधार तो लगातार चल नहीं सकता ; आज या कल ब्याज देना ही पड़ेगा और अगर ऋण में लिये गये धन का उचित उपयोग उधारखोर देश में नहीं हो रहा हो तो उस देश का निर्यात ब्याज पर बढ़ नहीं सकेगा और ब्याज भी अदा न होगा। और अगर राष्ट्र इस तरह केवल विदेशी ऋण पर निर्भर रहने लगे और यह निर्भरता उद्योग-धंधा बढ़ाने के उद्देश्य से पूंजी के लिए न होकर साधारण उपभोग्य सामग्रियों के आयात का मूल्य चुकाने के लिए हो तो एक न एक दिन अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन रुक ही जायगा और इससे उस राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था सम्पूर्ण रूप से चूरचूर हो जायगी। १९२७ और १९२८ में जो अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग का उतना बड़ा परिमाण हो गया था वह और कुछ नहीं था, अपने गर्भ में गड़बड़ी का बीज लिए हुए था और इसी के भीतर अन्तर्राष्ट्राय पूंजी-बाजार की अस्तव्यस्तता का जखीरा (palliative) पड़ा हुआ था।

इस गर्भ का पर्दा १९२९ के बाद के वर्षों में फट गया। अमेरिका द्वारा दीर्घावधि ऋण देने की परिपाटी १९२८ के बाद रुक गयी। इस समय न्यूयार्क के स्टाक एक्सचेन्ज पर सट्टेबाजी का नशा चढ़ा और वहां इसके लिए जो ब्याज की ऊंची दर मिलने लगी उससे पूंजा को वहीं लग जाने का भारी प्रलोभन मिला। यह प्रलोभन केवल अमेरिकी पूंजी के लिए ही नहीं आया यूरोप की पूंजी भी इससे प्रलुब्ध हुई। १९२९ के शरतकाल में जो वितंडा (crash) हुआ उसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय साख इतनी हिल गयी कि विदेशी ऋण देना रुक ही गया। १९२९ और १९३० के अधिकतर महीनों में अमेरिकी बैंक विदेशी राष्ट्रों को, खास कर जर्मनी को, अल्पावधि वाले ऋण ही देते रहे। ब्रिटेन का उधार-खाता भी इस समय तक अच्छा ही चलता रहा ; १९२९ में विदेशी राष्ट्रों को दिया गया ऋण लन्दन के बाजार में ९४० लाख पौंड और १९३० में १०९० लाख पौंड पहुंच गया। दूसरी तरफ फ्रांस ने अल्पावधि उधार देने से भी हाथ खींच लिया और पहले के लगे हुए अल्पावधि ऋणों को वापस मंगाने लगा। इस तरह

विदेशी उधार का काम बहुत संकुचित हो गया और इसका अत्यधिक परिमाण अल्पावधि ऋण में परिवर्तित होने लगा जिसको अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग में हम लगा ही नहीं सकते। इस तरह स्थिति दिन-दिन बिगड़ती चली जा रही थी।

यह मन्दी १९३१ में पहुंच कर संकट के रूप में बदल गयी। यहां पर हमें मंदी की उस चक्रावर्त आंधी (revolving storm) को चित्रित करना नहीं है जो एक के बाद दूसरे देश को लपेट में लेती गयी। अल्पावधि उधार जो दो साल तक चलते रहे थे अब एकदम बंद ही नहीं हो गये, वे वापस लिये जाने लगे। पहले आस्ट्रिया और हंगरी और तब जर्मनी लाचार हुए कि विदेशी पूंजी की वापसी को बंद कर दें क्योंकि इनके पास अपनी मुद्राओं को बचाने का दूसरा कोई उपाय नहीं रह गया था। ब्रिटेन ने भी अब चौकसी अपनायी और अपने अल्पावधि ऋण का खींचा और चूंकि यह अपने दीर्घावधि ऋण को इकट्ठा नहीं कर सकता था, इसने अपनी मुद्रा का मोल घटा देना कारबार ठप्प कर देने से अच्छा समझा। इन सभी कामों का अन्तिम परिणाम यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय उधार-खाता बिलकुल ही बंद हो गया।

अब ऋण-ग्रस्त और ऋण लेकर काम चलाने वाले देशों को यह जरूरत पड़ गयी कि वे अपना हिसाब बिना विदेशी उधार-पैचा के ही संतुलित करें। इन देशों के आदान-प्रदान के लेखा का एक मद जो इनके देश में धन लाता था सहसा बंद हो गया। बहुत-से उधारखोर देश और खास कर वे देश जो यूरोप से बाहर थे इस बात से और भी अधिक परेशान हो उठे कि उनके प्रधान निर्यात-पदार्थों का मूल्य उन चीजों के मूल्य की अपेक्षा अधिक तेजी से गिर गया जो वे आयात करते थे। इन दो कारणों से उनके लेखा के दोनों मदों के बीच भारी खाई पड़ने लगी। अब इस खाई को दो में से एक तरीके से ही भर सकते थे—या तो निर्यात बढ़ाते या आयात कम करते। विश्व के बाजारों की गड़बड़ी की स्थिति में निर्यात बढ़ाने की जब कोई बात ही नहीं हो सकती थी तब आयात कम करने के सिवा और दूसरा चारा ही क्या

था ? यह काम कई तरह से किया गया—चुंगी की दर को खूब बढ़ा कर; आयात का कोटा स्थिर कर के अथवा उसे एकदम रोककर ; विनिमय पर नियंत्रण बैठा कर जिसमें विदेशी मुद्रा पर, जिसके द्वारा ही आयात का मूल्य चुकाया जा सकता है, राशन-प्रथा लागूकर दी गयी थी ; मुद्रा की कामत घटा कर जिससे आयात और मंहगा पड़ जाय और इस तरह उसमें ह्रास हो।

कर्जदार देशों ने जो कार्रवाइयां की तो उससे महाजन देशों का निर्यात-व्यापार खूब ही घट गया और ऐसा लगने लगा कि उनके आदान-प्रदान के लेखा में भारी दरार पड़ जायगा। १९३१ में ग्रेट ब्रिटेन को नकारात्मक (negative) वाह्य अतिरिक्त था जिसका कारण उसके माल की बिक्री का रुक जाना और बाहर से होने वाले ब्याज की आमदनी का घट जाना था। इस हालत में वह पहली बार १९१४-१८ के महायुद्ध के समय को छोड़ कर परिपक्व महाजन-उधारदाता (Mature Creditor-Lender) के पद से च्युत होकर महाजन-उधारखोर (Creditor-Borrowers) के दर्जे में पहुंच गया। उसने इस स्थिति को सुधारने की कोशिश की। पहले तो उसने अपने पौंड का मूल्य कम किया जिससे आपसे आप ब्रिटिश माल का निर्यात बढ़ गया और आफत कम हुई और दूसरे उसने यह किया कि अपने मुक्त व्यापार की नीति को विदा कर दिया और विदेशी माल के आमद पर टेरिफ बैठाया। पर ब्रिटेन में जो संसार का सबसे बड़ा मुक्त व्यापार-बाजार था, आयात पर जो प्रतिबन्ध बैठाया गया उससे अन्तर्राष्ट्रीय हिसाब-किताब में न केवल उधारखोर देशों के, बल्कि कई महाजन देशों के भी, इतना गोल-माल हुआ कि सम्पूर्ण १९३२ और १९३३ साल में सभी तरह के प्रतिबन्धों और टेरिफों की भरमार हो गयी। इस तरह देशों के हर समूह ने अपने हिसाब को संतुलित करने की चेष्टा में दूसरे देश-समूह के कारबार को बिगाड़ा और आयात कम करने की जो साधारण दौड़ हुई तो उससे निर्यात पर भी उतना ही प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता हो गयी। १९२९ में जितना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार था,

इन सब बातों के कारण १९३३ में उसका तिहाई हो गया पर प्रतिबन्धों की युक्ति से लाभ किसी का नहीं हुआ।

जिस तरह आन्तरिक क्षेत्र में विनियोग के स्थगित होने से बहुत-सा गोलमाल हुआ उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय उधार-खाता की बन्दी से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विस्फीति का भारी दौर शुरू हो गया। दोनो प्रभाव एक दूसरे पर घात-प्रतिघात करने लगे क्योंकि विनिमय की कठिनाई से घरेलू विस्फीति पैदा हुई और घरेलू विस्फीति के कारण लोगों की बाहर उधार लगाने की तत्परता कम हुई।

इस हालत का निदर्शन पृष्ठ ४८४-८५ पर दिये गये टेबिल से स्पष्ट हो जायगा जिसे उसी तरीके से तैयार किया गया है और जिसमें वे ही सब तत्व हैं जो पिछले टेबिल में पृष्ठ ४६८-६९ पर दिये गये हैं। इसमें मन्दी का १९३१,१९३२ और १९३३ साल में कई देशों के आदान-प्रदानों के लेखा का जो हाल था उसका औसत दिया गया है। सभी आंकड़े अमेरिकी स्वर्ण डालरों (क) की लाख की संख्या में हैं और इस तरह दोनो टेबिलों की तुलना हो सकती है।

इस टेबिल और पिछले टेबिल में जो विभेद है वह बिलकुल ही स्पष्ट है। इसमें महाजन देश तो एकदम गायब हो गये हैं। तीन परिपक्व महाजन देशों (Mature Creditor-Lender) में से दो—फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन—तो अपनी पूंजी बढ़ाने के बजाय उसे खींच लेने को बाध्य हो गये हैं। केवल अमेरिका परिपक्व महाजन-उधारदाता (Mature Creditor-Lender) देश की तरह इसमें मौजूद है परन्तु 'उधार' शब्द स्थिति को ठीक-ठीक नहीं बता रहा है क्योंकि अमेरिका से बाहर जो धन गया है वह मुख्यतः उस हर्जाने की रकम है जो अल्पावधि शेष थी और विदेशियों द्वारा न्यूयार्क में जमा रखी गयी थी। अमेरिका ऋण तो दे नहीं रहा था, वह केवल अपना बैंक-देना अदा कर रहा था। (ख)

(क) अर्थात 'पुराने' सुवर्ण डालरों में यानी उस डालर में जिसमें सोने का परिमाण १९३३-३४ में जो डालर का अवमूल्यन हुआ था उससे पहले जैसा ही था।

(ख) इन दिनों अमेरिका के पूंजी के हिसाब-किताब में नीचे दिखायी गयी ह्रास-

वही स्थिति ऋणी-उधारदाता (Debtor-Lenders) देशों की भी है, जो इन मंदी के वर्षों में ऋणी-परिशोधक (Debtor-Repayers) बन गये हैं। खाना (३) में जोड़ का चिन्ह होने पर भी वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय उधार-खाता कुछ होता नहीं था। यह कथन एकदम सही नहीं माना जा सकता जब कि इस टेबिल में कई देशों के नाम पर उधार लिखा हुआ है। कुछ हद तक इस टेबिल में प्रयुक्त उधारखोरी (borrowing) शब्द का अभिप्राय 'पूंजीखोरी' (living on capital) समझना चाहिये और उसी तरह 'उधार देने' का अर्थ ऋण की अदायगी (repaying debt) लेना चाहिये। पर इस टेबिल को गौर से देखने पर यह पता लगेगा कि अर्जेन्टिना को छोड़ कर सब से बड़े उधारखोर ब्रिटिश उपनिवेश ही थे जिनकी लंदन के मुद्रा-बाजार तक पहुंच थी। इनके साथ ही डच ईस्टइंडीज भी उधारखोर देश था जिसका वही सरोकार एमसटर्डम के बाजार से था। परन्तु यह आपसी उधार-खाता भी बहुत छोटे पैमाने पर चल रहा था ; इसलिए इसे साधारण नियम का अपवाद नहीं मान सकते।

वृद्धि हुई। (इसमें जो जोड़ का चिन्ह है उससे धन का आमद बताया गया है और घटाव के चिन्ह से रफ्तनी) —

साल	दीर्घावधि पूंजी	अल्पावधि पूंजी	योग
१९३०	— २२४	— ४६५	— ६८९
१९३१	+ २३३	— ७१९	— ४८६
१९३२	+ २४७	— ४८९	— २४२
१९३३	+ ३९	— ३८३	— ३४४
१९३४	+ २०२	+ १८४	— ३८६

(इन अंकों को सीधे हिसाब से जोड़ा गया है, इसलिए ये मुख्य टेबिल के अंकों से नहीं मिलते।) यह ध्यान में रख लेना चाहिये कि अमेरिका में पूंजी के आयात का जो संकेत (+) चिन्ह से दिया गया है उसका आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं है कि विदेशी जन अमेरिका में अपनी पूंजी भेज रहे हैं। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि अमेरिकी जन जो अपनी पूंजी बाहर रखे हुए थे वे अपने देश में वापस ला रहे हैं।

इस टेबिल में गौर करने का दूसरा विषय खाना (४) के अंकों का भारी आकार है।

जब कि हम कहीं से उधार लेकर हिसाब का जमा-खर्च नहीं कर सकते और अन्तरिम काल (interim period) में जब कि आयात पर प्रतिबन्ध पड़ जाता है, नाम और जमा की भारी खाई को भरने के लिए सोना का निर्यात आवश्यक हो जाता है। इस लाचारी में पड़कर अस्ट्रेलिया, अर्जेन्टिना, कनाडा और जपान सब ने अपने स्वर्ण-कोष का बड़ा-बड़ा हिस्सा संकट-काल के प्रारम्भ में ही बेच दिया। भारत में रुपया के मूल्य कम होने के बाद भी जो सोने का मूल्य ऊंचा रह गया उससे बहुत-सा दिया हुआ सोना बाहर निकला। बाद के तीन वर्षों तक भारत का स्वर्ण-निर्यात उसके औसत नकारात्मक वाह्य अतिरिक्त से कहीं अधिक होता रहा। इससे अतिरिक्त का मुंह भर कर भी इसमें बड़ा अंश बचने लगा। जर्मनी का वाह्य अतिरिक्त नकारात्मक नहीं था पर उसने भी अपना सोना बेचा और इस तरह उसने अपना बहुत-सा देना अदा किया जो अन्य अवस्था में वह नहीं कर सकता था। सबसे बड़ा सोने का खरीदार फ्रांस था जिसने १९३० में ४६०० लाख डालर का, १९३१ में ७२७० लाख डालर का, और १९३२ में ८२६० लाख डालर का सोना खरीदा पर उसने १९३३ में ७८० लाख का डालर बेचा भी। यह टेबिल साफ-साफ दिखाता है कि सोने का यह प्रवाह अनुकूल वाह्य शेष (positive External Balance) की विशालता के कारण नहीं था जैसा कि संकटमय वर्षों के पहले होता था। यह प्रवाह इस कारण था कि ठप्प पड़ी हुई और घबड़ाई हुई फ्रांसीसी विदेशी पूंजी पेरिस की ओर दौड़ पड़ी थी। खाना (४) में अमेरिका के नाम पर जो अंक दर्ज हैं वे कुछ भ्रामक हैं क्योंकि १९३१ और १९३३ में सोने की जो विशाल रफ्तनी (outflow) हुई १९३२ की आमदनी (inflow) से संयमित हो गयी थी। १९३ ५ वर्षों में खोने की आमदनी और रफ्तनी एक साल से उलट-पलट होती रही।

राष्ट्रीय आदान-प्रदान का लेखा १९३१-३३

NATIONAL BALANCES OF PAYMENTS 1931–33

[दिये गये आंकड़े १९३१, १९३२ और १९३३, तीन वर्षों के वार्षिक औसत हैं (लाख डालर में)]

The figures are annual averages of the 3 years, 1931, 1932 and 1933 in lacs of dollars.

देशों का नाम और श्रेणी	व्यवसाय का शेष, दृश्य और अदृश्य (१)	ब्याज, प्राप्ति या प्रदान (२)	आय के हिसाब का शेष [(१)+(२)] (३)	सोना (४)	पावना (—) या देना (+) (५)	पूंजी के हिसाब का शेष [(४)+(५)] (६)
१. अपरिपक्व ऋणी-उधारखोर						
अर्जेन्टिना (क)	— ६००	—१३८०	—१९८०	+ ९००	+१०८०	+१९८०
भारत (ख)	— २०	— ९४०	— ९६०	+१६४०	— ६८०	+ ९६०
हंगरी (ग)	— १०	— १५०	— १६०	— १०	+ १७०	+ १६०
२. परिपक्व ऋणी-उधारखोर						
कनाडा (छ)	+ ८२०	—१७००	— ८८०	(ङ)	+ ८८०	+ ८८०
अस्ट्रेलिया (घ)	+ ९००	—१२५०	— ३५०	+५०० (ङ)	— १५०	+ ३५०
डचईस्टइंडीज	+ २२०	— ५१०	— २९०	+ १५०	+ १४०	+ २९०
न्यूजीलैंड (ङ)	+ १७०	— ३६०	— १९०	+ ५०	+ १४०	+ १९०
जापान (ग)	+ ५०	— ११०	— ६०	+१११०	—१०५०	+ ६०
नार्वे	+ ११०	— १६०	— ५०	+ ३०	+ २०	+ ५०
डेनमार्क	+ १४०	— १४०	— ०(च)	+ ४०	— ४०	०

इन सूचनाओं के बाद यह बताने की तो जरूरत नहीं रह जाती कि इसके बाद राष्ट्रों की खानाबन्दी (listings) में कितना भारी परिवर्तन हुआ होगा। जर्मनी कुछ ही महीनों में पहली श्रेणी से हट कर तीसरी श्रेणी में चला गया और अपने आर्थिक ढांचे में इस तरह सुधार करने को मजबूर हुआ कि अपनी पहले वाली चाल को छोड़कर उसे दूसरी चाल पकड़नी पड़ी—वह पहले निर्यात से अधिक आयात करता था, अब वह आयात से अधिक निर्यात करने लगा। ब्रिटेन का स्थान परिपक्व महाजन-उधारखोर (Mature Creditor-Borrowers) देश से च्युत होकर जो महाजन-उधारखोर (Creditor-Borrowers) में आ गया, इससे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-बाजार पर कम प्रभाव नहीं पड़ा, न यह मामूली चीज हुई। दिये हुए आंकड़े अन्तर्राष्ट्रीय उधार-खाता का सम्पूर्ण रूप से विपर्यस्त हो जाना सूचित करते हैं। उन दिनों उधार-खाते का काम तो मंद पड़ ही गया पर अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग का काम भी रुक गया, यह कहने में कोई हर्ज नहीं है। कुछ राष्ट्रों को ऐसी युक्तियां करनी पड़ी कि उनकी ऋण लेकर काम चलाने की आदत छूट जाये और दूसरे देश इतना डर गये कि उन्होंने विदेशों से अपनी पूंजी खींच ली। परन्तु मतलब चाहे जो कुछ रहा हो, हर देश ने लाचार होकर वाह्य अतिरिक्त बढ़ाने की पगली दौड़ (mad race) में नाम लिखाया और चूंकि सब का उद्देश्य समान था कोई इसमें सफल न हो सका। उस समय अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति ही यह हो गयी कि आयात को रोका जाय। नतीजा यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का गला घुंट गया, हर देश में औद्योगिक गड़बड़ी और बेकारी आ पहुंची और खास कर ये बातें व्यापारी मुल्कों में ही हुई पर इन सब से कोई मतलब नहीं निकला क्योंकि इन उपायों से किसी देश की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति न तो मजबूत हुई और न अनुकूल। इसलिए ये सभी युक्तियां इतनी व्यर्थ सिद्ध हुई कि जिसका ठिकाना नहीं है।

इस युग की दुष्टताओं (idiocies) की निन्दा करने के लिए कोई भी उपयुक्त शब्द नहीं मिलेगा। परन्तु निन्दा से ही कुछ लाभ नहीं है। एक बार

जब घबड़ाहट फैल जाती है तो कोई भी उससे अछूता नहीं बच सकता—ठीक उसी तरह से चारो ओर गड़बड़ी होने लगती है जैसे कि किसी सिनेमा घर में आग लग जाये ; यद्यपि दर्शकों की श्रेष्ठ सुरक्षा इसी में है कि वे ऊधम न मचाकर धैर्य पूर्वक अनुशासन में रहें पर ऐसा होता नहीं है, एक बार जब भीड़ दरवाजे की ओर भागी तो सब लोग उसी पर टूट पड़ते हैं। परन्तु सारा दोष हम इस भयावह दशा को ही नहीं दे सकते। यदि प्रत्येक देश अपने पांव व्यवस्थित ढंग से पीछे हटाते तो जो संकट हुआ उसकी तीव्रता कुछ कम होती परन्तु यह तो आवश्यक ही था कि विदेशी ऋण लगाने की मात्रा कम की जाय और हर देश अपने लेन-देन के लेखा को फिर से संतुलित करे। १९२७-२९ में जिस ढंग पर ऋण लिया जाता था कम से कम वह ढंग तो अब चल नहीं सकता था। उन दिनों वहुत बड़ी-बड़ी रकम उधार मिल जाती थी, यह गलत पार्टी को भी मिलती थी और ऐसे कामों के लिए भी मिल जाती थी जिसमें उसकी वापसी की कोई व्यवस्था नहीं होती थी। अन्तिम विश्लेषण में इस बात का दोष संकट-पूर्व की दुनिया पर देना होगा जिसने सोचा कि असंतुलित अर्थ-व्यवस्था का दोष बाहर से ऋण लेकर मिटाया जा सकता है और इसके लिए कुछ भी सुधार आदि करने की आवश्यकता नहीं है, जिसने अपनी भावी पीढ़ी को पूंजी का धन उत्तराधिकार के रूप में देने के बजाय कर्ज का एक भार छोड़ा और जिसने राष्ट्रीय अर्थ-नीति (economies) में ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-नीति के तत्व घुसाये जिनमें किसी ने भी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिरता को अपना प्राथमिक उद्देश्य बना कर चलने की चेष्टा नहीं की। नतीजा यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय धन का सम्पूर्ण तरीका, जिसने विश्व में सब की समृद्धि बढ़ाने की दिशा में वहुत बड़ा काम किया होता, बिगड़ गया। अब इसके बाद कर्जदारों के मन में यह बात उठी कि हमलोग तो आर्थिक रूप से गुलाम हो ही गये। उनके मन में नादेहिन्दी (default) का भाव भी उठा। उधर महाजनों को धोखा हुआ। सब से पहले तो उन्होंने यह ठान लिया कि अब आगे किसी को उधार देना नहीं है, अब अपना धन अपने पास ही

रखना चाहिये मानो रुपया भी कोई धन हो जब कि उसे फलान्वित (fructify) होने से छिपाते हैं। इसके बाद महाजन और ऋणी दोनो ने अपने को आत्म-निर्भरता की अर्थ-नीति में लपेटा और आपस में ही घृणा-द्वेष फैला जैसे कि प्रत्येक देश में गरीबी फैली हुई थी।

किन्तु धीरे-धीरे सुधार किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय उधार-पैंचा उस दायरा पर तो नहीं हुआ जैसा कि संकट-युग के पहले हुआ करता था, पर वह किसी तरह कम से कम हो कर रहा। परन्तु इस अवधि में हर एक देश इस योग्य हो गया कि अपने आयात-व्यापार को गला घोंट कर मार देने के उपाय से बचकर भी वह नाम-जमा को बराबर कर लेने के योग्य हो जाय। इसके पश्चात व्यवसाय-चक्र का ऊपरी दौर आरम्भ हुआ जिसने बेकारी मिटाकर लोगों के मन से हर एक दोष के लिए विदेशियों को ही अपराधी मानने की प्रवृत्ति निकाल दी और यह संभव कर दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय-वाणिज्य पर जो प्रतिबंध थे वे धीरे-धीरे हलके होते चलें। धीरे-धीरे मूल्य-स्तर भी उठा और व्यवसाय-वाणिज्य का विस्तार भी हुआ। इन संतुलनों के बाद विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान की क्या अवस्था रही इसका हाल पृष्ठ ४९०–९१ पर की टेबिल से ज्ञात होगा। पिछले दो टेबिलों की तरह इसके आंकड़े तीन साल के औसत के नहीं हैं पर केवल १९३७ के हैं जिसे इस युग का सब से उत्कर्षशील वर्ष समझा गया है।

इस टेबिल में सबसे दिलचस्प चीज यह है कि संसार के देश किस तरह सिमट कर टेबिल के मध्य भाग के ऋणी-उधारदाता (Debtor-Lenders) के श्रेणी में आ गये हैं या और ठीक से बोलें तो कहेंगे कि ये ऋणी-परिशोधक (Debtor-Repayers) बन गये हैं। इस समय ऋण देना या लेना तो बहुत कम हो रहा था। ऋण लेने वाले तीन देशों में, जिन्हें टेबिल में रखा गया है, दक्षिण अफ्रिका और आस्ट्रिया एक सुविधा-जनक स्थिति में लंदन के मुद्रा-बाजार से संबन्धित थे और पोलैंड पेरिस की ओर झुका हुआ था। तीन बड़े महाजन-उधारदाता (Creditor-Lenders) देशों में केवल अमेरिका

छूटा हुआ था—वह केवल नाम मात्र के लिए उधारदाता (lender) की श्रेणी का कहा जा सकता है क्योंकि वह तो अपने विदेशी व्यापार के अतिरिक्त में भी दूने मूल्य का सोना सहेज कर मंगा लिया करता था। वास्तव में धन अमेरिका की ओर प्रधावित (flowing) था, अमेरिका द्वारा उसे दूसरे देशों में लगाया नहीं जा रहा था और अमेरिका के हक में अतिरिक्त धन के लिए न केवल सोना ही भेजना पड़ता था पर इसके साथ-साथ अन्य देशों से निकल-निकल कर धन का विशाल परिमाण अतलांतिक पार कर अमेरिका पहुंच रहा था। इस अवस्था का कारण यह है कि यूरोप में युद्ध की आशंका उत्पन्न हो गयी थी और उसके भय से योरोपीय पूंजी भाग-भाग कर जान बचाने को अमेरिका पहुंच रही थी। मोटा-मोटी इस टेबिल की बात यह है कि इसमें कोई नवीन ऋण देने या लेने की बात नहीं है और कर्जदारों द्वारा कुछ अदायगी हुई है, जिसके फल-स्वरूप महाजनों को बाहर पूंजी भेजने के बजाय घर में ही लौटा लाने का मौका मिला और इसी कारण हमलोगों ने उन्हें महाजन-उधारखोर (Creditor-Borrowers) कहा है। यह अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की कोई सशक्त रचनात्मक रीति (dynamic constructive system of international finance) नहीं है, यह तो पाने वालों के हाथ में गोया एक बैंक है।

पौंड और डालर

POUND AND DOLLAR

यह यत्किंचित स्थिरता भी, यद्यपि असन्तोषजनक ही थी, पूरी तरह से युद्ध के कारण ध्वस्त हो गयी। १९३९ में दूसरा महायुद्ध छिड़ा, ६ साल तक युद्ध चला और इस बीच दुनिया के युद्ध-रत देशों की अन्तर्राष्ट्रीय नीति चाहे जो रही हो, यह तो नहीं थी कि एक ठोस स्थायी आर्थिक ढांचा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के आधार पर खड़ा किया जाय। युद्ध-रत देशों ने इस बीच अपनी आक्रमक शक्ति बढ़ाने की सारी चेष्टायें की और यह भी कोशिश की दुश्मन की शक्ति कम हो,

NATIONAL BALANCES

(ये आंकड़े मुख्यतः १९३७ साल के हैं जो

The figures refer in the main to the year 1937 :

	व्यवसाय का शेष, दृश्य और अदृश्य (१)	ब्याज प्राप्ति या प्रदान (२)
१. अरिपक्व ऋणी-उधारखोर		
कोई भी नहीं	...	...
२. परिपक्व ऋणी-उधारखोर		
दक्षिण अफ्रिका (क)	— २३	— ६२
पोलैंड	+ १०	— २०
अस्ट्रेलिया (ख)	+ ७७	— ८७
३. ऋणी-उधारदाता		
न्यूजीलैंड (ख)	+ २२	— २१
चेकोस्लोवाकिया	+ १९	— ११
फिनलैंड	+ १३	— ३
भारत (ख)	+ ८५	— ७२
डेनमार्क	+ २५	— १०
नार्वे	+ २५	— १०
अर्जेंटिना	+ १५१	— ९०
डचईस्ट इंडीज	+ १२१	— ४८
कनाडा (क)	+ २५१	— १४२
४. अपरिपक्व महाजन-उधारदाता		
स्विडन	+ १२	+ १५
अमेरिका	+ २७७	+ १९७
५. परिपक्व महाजन-उधारदाता		
नीदरलैंड्स	— ४०	+ ५२
६. महाजन-उधारखोर		
फ्रान्स	— ३१३	+ १५४
ब्रिटेन (U. K.)	— ७८७	+ ६१३

(क) कनाडा और दक्षिण अफ्रिका सोना पैदा करने वाले हैं। इसलिये इनके मामले में सोना को भी विक्रय-द्रव्य (merchandise) मान लिया गया है।

प्रदान का लेखा १६३७

OF PAYMENTS 1937

१६३३ के पूर्व के स्वर्ण-मान पर आधारित हैं)

they are in dollars of the pre-1933 gold parity.

आय के हिसाब का शेष [(१)+(२)] (३)	सोना (४)	पावना (–) या देना (+) (५)	पूंजी के हिसाब का शेष [(४)+(५)] (६)
...	...	...	...
– ३९	(क)	+ ३९	+ ३९
– १०	– १४	+ २४	+ १०
– १०	+ २७	– १७	+ १०
+ १	+ ३	– ४	– १
+ ८	– १	– ७	– ८
+ १०	+ २	– १२	– १०
+ १३	+ ६२	– ७५	– १३
+ १५	०	– १५	– १५
+ १५	+ ५	– २०	– १५
+ ६१	०	– ६१	– ६१
+ ७३	+ २	– ७५	– ७३
+ १०९	(क)	– १००	– १०९
+ २७	०	– २७	– २७
+ ४७४	– ९६८	+ ४९४	– ४७४
+ १२	– २४२	+ २३०	– १२
– १५७	+ २५५	– ९८	+ १५७
– १७४	– २३१	+ ४०५	+ १७४

(ख) १९३६-३७।

चाहे इसमें कितना भी व्यय हो भविष्य में उनकी आर्थिक अवस्था जैसी भी हो। उधर जो देश तटस्थ थे उन्हें भी इस समय चैन नहीं था। वे इसके लिए खर्च कर परेशान रहे कि अपने को किस तरह सुरक्षित बचा लें और जरूरत की चीजों को कहां से लाकर पूरा करें।

युद्ध का जो प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवहार पर पड़ा उसके सम्बन्ध के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु दुनिया की अर्थिक दशा किस प्रकार की बुरी हो गयी थी उसकी स्पष्ट झलक ग्रेटब्रिटेन और अमेरिका के आंकड़ों से मिलती है। पहले पृष्ठ ४९०–९१ पर जिस टेबिल का जिक्र किया गया है उसमें ब्रिटेन को युद्ध प्रारम्भ हो ने के पहले महाजन-उधारखोर (Creditor-Borrower) देश लिखा गया था। परन्तु इसके 'उधार' का योग (जो वास्तव में पूंजी पर ड्राफ्ट थे) वहां १९३७ के लिए १७४० लाख डालर (१९३३ से पहले के स्वर्ण-मान वाले डालर) दिये गये हैं। १९३८ में सरकारी आंकड़ा ७०० लाख ही था। ब्रिटेन को कोई हक नहीं था कि वह महाजन-उधारखोर (Creditor-Borrower) कहलाता पर रकमें छोटी-छोटी थीं। पर महायुद्ध के काल में ब्रिटेन बहुत बड़ा कर्जदार बन गया। ब्रिटेन का बाहरी पावना (external assets), चाहे वह सरकार का रहा हो या खानगी व्यक्तियों का, जब कभी कोई खरीदार मिला तभी बिक गया पर स्वयं ब्रिटेन की सरकार माल और सेवाओं के वेतन के लिए अपने मित्र देशों का कर्जदार बन गयी। चालू खाते का नेट प्रतिकूल शेष (net adverse balance) जिसे वाह्य घटा (External Deficit) कहा जाता था, ब्रिटेन को इनता था—

१९३९	२५०० लाख पौंड	१९४४	६५९० लाख पौंड
१९४०	८०४० ,, ,,	१९४५	८७५० ,, ,,
१९४१	८१६० ,, ,,	१९४६	३८०० ,, ,,
१९४२	६६३० ,, ,,	१९४७	६७५० ,, ,,
१९४३	६८०० ,, ,,		

इन आठो साल का योग ५१४७० लाख पौंड हुआ। १९३८ में जो अन्तिम पूर्ण शान्ति-कालीन वर्ष बीता इसमें ब्रिटेन द्वारा ब्याज और लाभांश (dividend)

की प्राप्ति २०५० लाख पौंड थी (यह मोटा-मोटी तौर पर जोड़ा गया है, यानी इसमें ब्रिटेन द्वारा अदा किये गये छोटे-छोटे ब्याज के अंक निकाले नहीं गये हैं)। अब अगर यह माना जाय कि इन प्राप्ति का पूंजी-मूल्य (capital value) बीस साल की खरीदगी के आधार पर जोड़ा जाय तो ब्रिटेन के बाहरी पावने का जोड़ १९३८ में ४१००० लाख पौंड आता है। इसलिए यह साफ है कि युद्धकाल में जो ऋण लिये गये वे महज पूंजी पर के ड्राफ्ट से अधिक थे। इन आंकड़ों के बल पर यह लगेगा कि ब्रिटेन महाजन के स्थान से हट कर कर्जदार बन गया है। पर यह बात बिलकुल सही नहीं है। इसी अध्याय में हमने समझाया है कि महाजन वह है जो अन्तिम शेष (balance) पर ब्याज पाता है और कर्जदार वह है जो उसी पर ब्याज देता है। ब्रिटेन अब भी ब्याज पा रहा है, यह विचि ता इसमें है ; १९४७ का सरकारी तखमीना (estimate) बताता है कि उसने १४५० लाख पौंड ब्याज पाया है और ९४० लाख पौंड दिया। इसका कारण यह है कि बहुत-सी बाहरी सम्पत्ति (external assets) जो ब्रिटेन ने रख ली (क्योंकि युद्ध-काल में उनका वारा-न्यारा न हो सका) उससे अभी तक उसे ब्याज और नफ़े की आय हो रही है। उधर जो ऋण लिया जाता है या तो बैंक-डिपाजिट का रूप लेकर आता है जो लंदन में उधार देने वाले देश के नाम पर जमा होता है (अथवा उस धन को अस्थायी रूप से ट्रेजरी-बिल में लगा देते हैं) जिसपर बहुत कम ब्याज दिया जाता है अथवा वह उस रकम में गिनी जाती है जो अमेरिकी सरकार द्वारा १९४५ में ऋण के रूप में दी गयी थी और जिसपर पहले दो-तीन साल तक ब्याज न दिये जाने की पाबन्दी थी। इसलिए ब्रिटेन को अभी भी महाजन देशों में ही गिन सकते हैं, परन्तु ब्रिटेन जिन देशों का ऋण धारता है, वे उतना कम ब्याज पर धन पड़े रहने देने को राजी होंगे कि नहीं, यही सवाल है।

अमेरिका का अनुभव ठीक इसके उलटा है। सम्पूर्ण युद्ध-काल में अमेरिका सभी प्रकार के माल और सेवा का सबसे बड़ा पूर्ति करने वाला था—इस

पूर्ति में खाद्य पदार्थ, कच्चा माल, यातायात के सामान, तैयार माल आदि सभी थे। देशमें जितना सामान आता था उससे कहीं अधिक बाहर भेजा जाता था। इसका नतीजा यह हुआ कि अमेरिका का वाह्य अतिरिक्त पहाड़-सा बन गया (क)—

१९३९	७३२० लाख डालर	१९४४	१२३९५० लाख डालर
१९४०	१६०३० ,, ,,	१९४५	८१९४० ,, ,,
१९४१	२४७४० ,, ,,	१९४६	८१३३० ,, ,,
१९४२	६५६४० ,, ,,	१९४७	११२७६० ,, ,,
१९४३	११३२२० ,, ,,		

युद्ध के प्रारम्भिक दिनों में अमेरिका ने "दाम चुकाओ और ले जाओ" (cash and carry) की नीति रखी थी जिसके अनुसार वह न तो युद्ध-रत राष्ट्रों को स्वयं ही ऋण देता था न अपनी जनता को देने देता था। इसलिए १९३९, १९४० और १९४१ के अधिकांश समय का वाह्य अतिरिक्त अमेरिका की ठेठ बाहरी पूंजी बना; दरअसल इसका अधिकांश ब्रिटिश और फ्रांसीसी स्वर्ण-विक्रय पर बनाया गया था और उन सिक्यूरिटियों के आधार पर था जो अमेरिका के पहले के उद्योग-धंधों में लगाये गये विनियोग के एवज में आये थे। इसलिए इन दिनों अमेरिका के उधार-खाता का अर्थ कुछ अंश में पिछले ऋणों को वापस लेना भी है। १९४१ और उसके बाद से अमेरिका के निर्यात का बड़ा हिस्सा उधार-पट्टा (lend lease) के ढंग पर आया जिसके बारे में अभी यही बताने से काम चल जायेगा कि इसके द्वारा अमेरिका अपना सामान और सेवा दोनो किसी राष्ट्र का दे ही डलता था। फिर भी युद्ध-काल के दिनों में कुछ वाह्य अतिरिक्त अमेरिका के बच जाते थे जो उधार-पट्टा के हिसाब में नहीं आते थे। इस धन के द्वारा

(क) यहां पर वाह्य अतिरिक्त को इस तरह से परभाषित किया गया है कि यह माल और नौकरी के आयात-निर्यात और अमदनी एवं खर्च का बाकी है—अर्थात इसमें एक एकपक्षीय स्थानान्तरण की बात नहीं है जैसा कि उधार-पट्टा-कानून में अथवा सहायता के लिए दी गयी रकमों के सम्बन्ध में है।

अमेरिका की बाहरी पूंजी और बढ़ी। १९४५ के मध्य में उधार-पट्टा-कानून मंसूख कर दिया गया और यद्यपि 'संयुक्त राष्ट्र संघीय सहायता और पुनर्वास समिति' [United Nations Relief and Rehabilitation Administration (UNRRA)] के द्वारा तथा अन्य संस्थाओं की ओर से अमेरिका से सहायक धन कुछ दिनों तक आता रहा, अमेरिका ने अपने वाह्य अतिरिक्त के लिए सोना आदि किसी वास्तविक मूल्यवान चीज की मांग करनी शुरू की। परन्तु अमेरिका इस काम में भी सीमा से बाहर नहीं गया और इस बात के लिए हमेशा तैयार रहा कि अन्य देशों को जितने भी डालर की दरकार होगी हम देंगे। इस तरह से ब्रिटेन पर ही अमेरिका के ३७५०० लाख डालर का कर्ज हो गया। यह जुलाई १९४६ की बात है।

चालू खाते का यह अंतिम शेष जो अमेरिका के हिसाब में अनुकूल और ब्रिटेन के हिसाब में प्रतिकूल था पहले की रकमों से कहीं बड़ा था। पृष्ठ ४६८–६९ पर की टेबिल को गौर से देखा जाय तो पता चले कि जिन आंकड़ों की बात कह रहे हैं वे आकार में कितना बढ़े हुए थे। फिर भी इस टेबिल के सम्बन्ध में यही टिप्पणी की गयी है कि इनमें जो वाह्य अतिरिक्त अथवा कमी दिखाई गई है वह इतनी बड़ी है कि संसार की कोई भी अर्थ-व्यवस्था उसको जज्ब नहीं कर सकती थी—युद्धकाल के आंकड़े तो और भी बढ़े हुए हैं। परन्तु यह नहीं समझ लेना चाहिये कि आंकड़ों में यह वृद्धि युद्ध-कालीन घटना है और युद्ध के समाप्त हो जाने पर वृद्धि का भी लोप हो जायगा। इस विशाल दायरे में जो गड़बड़ी होती है वह अपने बाद भी बहुत दिनों तक के लिए गड़बड़ी छोड़ जाती है। न तो अमेरिकी और न ब्रिटिश आदान-प्रदान का लेखा आसानी से और जल्दी सिकुड़ कर अपने युद्ध-पूर्व काल के आकार में हो जा सकता है। ब्रिटेन की आंकड़ों की कमी (deficit) प्रदर्शित करने का अब कुछ दिनों तक प्रवृत्ति ही रहेगी क्योंकि ब्याज की आय का बड़ा भाग गायब हो गया है और निर्यात-बाजार भी जिसे युद्धकाल में उपेक्षित कर दिया गया था अब एक ही दिन में फिर हाथ में नहीं आ सकता। इसी तरह अमेरिका के

हिसाब में बहुत समय तक अतिरिक्त आता ही जायगा क्योंकि उसकी बाहरी पूंजी (external capital) बढ़ गयी है और युद्ध-काल में अमेरिका के विशाल निर्यात-व्यापार का जो विस्तार हुआ है वह यद्यपि लाचारी जन्य और कृत्रिम था, तो भी उसने अपने लिए अब घर बना ही लिया होगा और वह जल्दी नहीं हट सकेगा। इसलिए अब जैसे डालर की समस्या है वैसे ही पौंड की भी समस्या है। और अगर वह स्थिति लानी हो जिसमें संसार की मुद्रा-व्यवस्था सुचारु रूप से चलती है तो इन दोनो की समस्याओं का सुलझाना होगा।

यह समस्या कितनी बड़ी है इसको ठीक-ठीक हृदयंगम करने के लिए अच्छा है कि १९४७ के आदान-प्रदानों के आंकड़ों को युद्ध-पूर्व के किसी साल के आंकड़ों के साथ रख कर देखा जाय। ब्रिटेन के आंकड़े यों आते हैं—

ब्रिटेन के आदान-प्रदान का लेखा

Balance of Payments of the United Kingdom.

(लाख पौण्ड में)

	प्रदान		प्राप्ति		नेट शेष	
	१९३८	१९४७	१९३८	१९४७	१९३८	१९४७
माल	८३५०	१५७४०	५३३०	११२५०	— ३०२०	— ४४९०
सेवाएं (सरकारी खर्च के साथ)	१४३०	४३७०	२०००	१६००	+ ५७०	— २७७०
ब्याज और लाभांश	३००	९४०	२०५०	१४५०	+ १७५०	+ ५१०
वाह्य कमी					— ७००	— ६७५०

इन आंकड़ों पर गौर करने में यह याद रखना चाहिय कि इन दो वर्षों के बीच के दिनों में साधारण मूल्य-स्तर बहुत उठ गया था। किसी-किसी मामले में तो जो विशाल बाहरी कमी (external deficit) १९४७ में दीखती है वह

युद्ध-काल की अवस्था का परिणाम ही थी और यह आशा की जा सकती है कि वह गत हो जायगा। इस तरह सरकार का सागर-पार का खर्च २११० लाख पौंड से कम नहीं कूता जा सकता। इसके अतिरिक्त माल की खरीदारी की कीमत और उसका बिक्री के बीच का सम्बन्ध कच्चा माल और खाद्यान्न के मूल्यों की वृद्धि से गड़बड़ हो गया था। इसके अतिरिक्त भी स्थिति को बिगाड़ने वाले आर अन्य कारण हैं। १९४७ में आयात के जो आंकड़े हैं वे साधारण अवस्था में जितना उठते उससे बहुत ही नीचे हैं। खाद्य-सामग्री का राशन अभी भी लगा हुआ है और कच्चे माल की कोटा-प्रथा लगी हुई है। इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले कहा गया है कि ब्याज और मुनाफा के खाने में जो ५१० लाख पौंड की अतिरिक्त आय बतायी गयी है, वह आगे भी आती रहेगी कि नहीं इस विषय का कोई निश्चय नहीं है।

ब्रिटेन के सामने अपने बाहरी कमी को मिटाने का काम ही कठिन और गम्भीर है—बाह्य अतिरिक्त जमा करने की बात तो हटा ही दीजिये। उस आयात में और कटौती करने से यह उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता जो १९४७ में इतना ही था कि कम से कम जरूरतों से, जो देश को काम-काज में लगाये रखने के लिए आवश्यक थीं, वह थोड़ा ही अधिक होता था। देश में ही कृषि-जन्य सामानों का उत्पादन बढ़ाने से धीरे-धीरे ब्रिटेन की आयात-निर्भरता छूट सकती है पर वह धीरे-धीरे ही होगा, सीमित दायरे में ही होगा और व्यय-बहुल होगा। इसका एक मात्र स्थायी समाधान यही हो सकता है कि निर्यात की वृद्धि की जाय। यह वृद्धि आयात और निर्यात-मूल्यों के सम्बन्ध के मुताबिक जो भविष्य में होगा और उस हद तक जहां तक आयात को रोका जा सके, २० से ६० प्रतिशत तक होना चाहिये (आकार में)। परन्तु निर्यात-वृद्धि की समस्या का समाधान मानना बहुत तेजी से दौड़ना होगा क्योंकि दो ऐसी समस्यायें हैं जिनका समाधान होना चाहिये, इसके पहले कि यह वृद्धि प्राप्त की जाय। प्रथम, निर्यात के लिए बाजार प्राप्त करना चाहिये और इससे अभी या आगे चल कर ही यह सवाल उठता है

कि पौंड का मूल्य कम निर्धारित हुआ है या ज्यादा। यह है कि यदि बिक्री बढ़ानी हो, तो अधिकमूल्य-धारणा को प्लेग समझ कर त्यागना होगा। जैसे ही दुनिया एक बार फिर "खरीदारों का बाजार" बन जायगी—यानी वह बाजार बनेगी जिसमें खरीदार की बोली चलती है और वह अगणित प्रतिद्वन्दी विक्रयकर्ताओं के बीच जिसके यहां सबसे सस्ता दाम पाता है उसीसे सामान खरीदता है। परन्तु यह कठिन है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष अथवा वह निगरानी जो अन्य देशवाले ब्रिटेन के कार्य-कलापों पर रखते हैं, कभी यह चीज गवारा करेंगे कि निर्यात-वृद्धि के प्रयत्न में ब्रिटेन अपने पौंड का अवमूल्यन कर दे। देश के भीतर दूसरी समस्या उठ खड़ी होगी, क्योंकि यदि ब्रिटेन का अधिक माल बाहर जायगा तो घर के भीतर अभी जितना माल रह जाता है उससे बहुत कम ही रहने पायगा। इसका अर्थ यह होता है कि या तो ब्रिटेनवासियों को अपना जावन-यापन-मान घटाना होगा अथवा अपनी उत्पादन-क्षमता को ही खूब बढ़ाना होगा। परन्तु ये दोनो चीजें, आज की स्थिति में ब्रिटेन की जनता नापसन्द करेगी, अतः कठिन हैं। ये सारी बातें मिल-जुल कर वह चीज बनाती हैं जिसे पौंड की समस्या कहा जाता है।

पौंड की समस्या से डालर की समस्या कम उलझी हुई नहीं है यद्यपि यह अमेरिकियों को तुरत ही उतना बेचैन करने वाली नहीं है। हम लोग इस तत्व को समझने के लिए यहां दाहिनी ओर के पृष्ठ पर दी गयी टेबिल से अमेरिका के आदान-प्रदान के लेखा को १९४७ और युद्धपूर्व के आंकड़ों को एक साथ रख कर अध्ययन कर सकते हैं।

इस टेबिल की पहली तीन पंक्तियां परिचित ढंग से ही आंकड़े पेश करती हैं जिनसे निकला हुआ वाह्य अतिरिक्त चौथी पंक्ति में दिखाया गया है। परन्तु अमेरिका की उस विशेष दशा में जो आज-कल गुजर रही है यह जरूरी है कि १९४७ में एक "एक पक्षीय स्थानान्तरण" (Unilateral Transfers) का खाना भी जोड़ा जाय। इसमें वे रकमें आती हैं जो नगदी या सामान के रूप में उधार-पट्टे के जरिये दी गयी हैं, सहायता के रूप में दी गयी हैं, या ऐसे ही अन्य

ढंगों से दी गयी हैं। (क) ये आदान-प्रदान किसी व्यावसायिक लेन-देन के सिल-सिले में नहीं हुए हैं—ये आदान-प्रदान उस काम का एक हिस्सा हैं जिसे श्री चर्चिल ने "इतिहास का सब से गन्दा काम" कहा है। इसीलिए चालू खाता जिस

अमेरिका के आदान-प्रदान का लेखा

(Balance of Payments of the United States)

(लाख डालर में)

	प्रदान		प्राप्ति		नेट शेष	
	१९३८	१९४७	१९३८	१९४७	१९३८	१९४७
माल	२४५२०	६०४७०	३१२५०	१६०२२०	+६७३०	+ ९९७५०
सेवाएं	८८००	२०५४०	५८६०	२५५५०	−२९४०	+ ५०१०
ब्याज और लाभांश	२१६०	२२६०	५५००	१०२६०	+३३४०	+ ८०००
वाह्य अतिरिक्त (ऊपर के मदों में)					+७१३०	+११२३६०
एक पक्षीय स्थानान्तरण	...	३०२९०	...	५८१०	...	− २४४८०
वाह्य अतिरिक्त (एक पक्षीय स्थानान्तरण सहित)						+ ८८२८०

तरह तैयार किया जाता है, इन रकमों को उसमें दर्ज करना उचित नहीं होगा। दूसरी ओर वे पूंजी का स्थानान्तरण नहीं थे क्योंकि वे दूसरे देशों पर अमेरिका के आर्थिक दावे को कुछ भी बढ़ाते नहीं थे। इसलिए उन्हें इसे रीतिवद्ध लेखा

(क) व्यक्तिगत रूप से भेजी गयी खैरानी तथा अन्य अव्यावसायिक रकम भी इसमें सम्मिलित हैं, जिन्हें युद्ध-पूर्व के वर्षों में सेवाओं में सम्मिलित किया जाता था, जो तर्क-संगत नहीं हैं। इस हद तक युद्ध-पूर्व और युद्धोत्तर आंकड़े पूर्णतः तुलना करने योग्य नहीं हैं। पर दूसरों की तुलना में ये मद अधिक नहीं हैं।

के दायरे के भीतर लाने के लिए यही तरीका है कि उन्हें अलग लिखा जाय और वाह्य अतिरिक्त के लिए दो आंकड़े तैयार किये जायें—एक तो वह जिसमें इन एक पक्षीय स्थानान्तरण का कोई हिस्सा नहीं हो और दूसरा वह जिसमें वह हो और इसमें यह दिखाया जाय कि शेष जो बचता है वह सोने के चलाचल अथवा पूंजी के लेन-देन से पूरा होगा। (क)

जैसा कि हमलोगोंने समझा है कि ब्रिटेन की बाहरी कमी में कुछ ह्रास होगा उसी तरह यह भी समझना चाहिये कि अमेरिका का वाह्य अतिरिक्त युद्धोत्तर-काल के प्रभावों से जब संसार मुक्त हो जायगा तब घटेगा। १९४७ में भी अमेरिका बहुत-सी मुख्य वस्तुओं का अकेला पूर्तिकारक था। पर जैसे-जैसे अन्य देशों में उत्पादन बढ़ेगा, यह समझना चाहिये कि उसी तरह अमेरिका का निर्यात भी कम पड़ने लगेगा और तब वहां आयात भी प्रारम्भ होगा। परन्तु फिर यहीं पर ऐसे कारण उपस्थित हैं जिनसे स्थिति और भी बिगड़ जा सकती है। अमेरिका जो तरह-तरह की सहायता दे रहा है वह सदा तो दी जाती रहेगी नहीं और यह भी तय है कि अमेरिका की फौज जो बाहर तैनात है, आज या कल अपने देश को वापस जायगी। इसके अलावे अमेरिका की ब्याज की आय भी और बढ़ेगी ही।

तब अमेरिका के वाह्य अतिरिक्त को किन उपायों से खींच कर उचित आकार

(क) प्रारम्भिक वर्षों में एक पक्षीय स्थानान्तरण का वाह्य अतिरिक्त पर प्रभाव (जैसा कि पृष्ठ ४९४ पर उल्लेख किया गया है) निम्न प्रकार का था (दस लाख डालरों में)—

	१९४०	१९४१	१९४२	१९४३	१९४४	१९४५
वाह्य अतिरिक्त बिना एक पक्षीय स्थानान्तरण के	+१६०३	+२४७४	+६५६४	+११३२२	+१२३९५	+८९१४
एक पक्षीय स्थानांतरण	२०४	१३१५	६५३९	१३२३७	१३९३५	७०८१
वाह्य अतिरिक्त एक पक्षीय स्थानांतरण के बाद	+१३९९	+११५९	+२५	–१९१५	–५४०	+१११३

में लाया जाय ? प्रथम उपाय यह ज्ञात होता है कि संसार के देशों से अमेरिका में बहुत-सा आयात हो। अमेरिकी सरकार ने प्रेसिन्डेट रूजवेल्ट के समय से इस दिशा में टेरिफ को कम से कम करके प्रशंसनीय काम किया है। यही टेरिफ १९३० में बहुत निरोधक रूप से ऊंचा था। थोड़ी-थोड़ी कमी भी सब एक साथ मिल कर बहुत बड़ी रकम हो जाती है और यह दावा किया जा सकता है कि १९४७ में जो टेरिफ-दर है वह आज से १५ साल पहले जो दर थी उसके आधे से अधिक नहीं है। परन्तु दो बातें ऐसी हैं जो प्रदान-शेष के ह्रास होने की दिशा में यह जो प्रमाण है उसपर पूर्ण भरोसा रखने में कठिनाई पैदा करती हैं। प्रथम यह है कि अमेरिकी कांग्रेस के कहने पर यह जो टेरिफ उठाया गया है वह बिलकुल ही पारस्परिक आधार पर उठाया गया है—यानी हर मामले में यह देखना पड़ता है कि अमेरिका जिस देश के माल के निर्यात पर से आयात-कर उठा रहा है, वह देश भी उसे ऐसी ही सुविधा दे रहा है या नहीं और इससे अमेरिका के निर्यात को भी उतना ही लाभ होगा या नहीं। अब इसमें बात यह है कि दोनो ओर का लेन-देन समान रूप से बढ़ जाय। यह साधारण आर्थिक दृष्टिकोण के हिसाब से तो अच्छी चीज होगी पर इससे निश्चय ही वाह्य अतिरिक्त को घटाने का तो कोई प्रबन्ध नहीं हुआ। इसलिए यदि प्रदान-शेष को आयात की वृद्धि कर के संतुलित कर भी लिया जाय (और यह वृद्धि प्रभूत रूप से करनी होगी) तो भी इसमें कांग्रेसी नीति में परिवर्तन लाने की आवश्यकता होगी। किन्तु अभी इसके लक्षण नहीं हैं।

इस संशयालुता (scepticism) का दूसरा कारण यह है कि अमेरिका का व्यावसायिक बल इतना प्रबल है कि किसी तरह का रक्षणात्मक आयात-कर न भी रहे तो भी शायद आयात अतिरिक्त नहीं हो सकता। अमेरिका की स्थिति युद्ध के पहले ही बहुत दृढ़ थी। १९२९ से १९३८ तक के दस साल के अन्दर अमेरिका का आयात उसके निर्यात का केवल ८४ प्रतिशत रहा है। परन्तु युद्ध का दोहरा प्रभाव हुआ—इसने ऐसे माlों का उत्पादन स्वयं अमेरिका में बढ़ा

दिया जो बाहर से लाये जाते थे अथवा उनके स्थान पर वैसी ही कोई दूसरी चीज तैयार करा दी। युद्ध-काल में सूती वस्त्र और नकली रबर दोनो का उत्पादन बहुत बढ़ गया। और युद्ध ने ही अमेरिका को ऐसे बाजार दिखाये जिन तक वह पहले कभी नहीं पहुँचा था लड़ाई के पहले अमेरिका के दृश्य व्यापार का अनुकूल शेष (favourable balance) का अदृश्य व्यापार के प्रतिकूल (adverse) शेष से मोजरा-मौसूफ (offset) कर दिया जाता था—प्रायः हर साल ऐसा होता था। परन्तु अब यह समझ में नहीं आता कि अदृश्य व्यापार के खाते का नाम (debit) और बढ़ सकेगा। युद्ध-काल में दूसरे देशों के बहुत-से जहाज डुबा दिये गये पर अमेरिका ने बहुत अधिक सौदागरी जहाज बनाये। और संसार का सब से बड़ा जहाजी देश अब इस बात की अवश्य ही चेष्टा करेगा कि जहाजरानी का विशेष भाग अब उसी के कब्जे में रहे और इससे यह निकलता है कि अमेरिका को जहाज के वहन-वाहन (shipping tonnage) का जो भाड़ा होगा, वह और भी बढ़ेगा कम नहीं होगा। अमेरिका से यात्रियों का संसार-भ्रमण के लिए जाने की भी सीमा है और उनके द्वारा विदेशों में जाकर खर्च की भी सीमा है; और चाहे वे उड़कर समुद्र-पार जायें अथवा जहाज द्वारा, इसमें भी वे एक हद तक अमेरिकी कम्पनियों की ही आमदनी बढ़ाते रहेंगे। सब से ऊपर इसकी संभावना कम मालूम पड़ती है कि सरकारी हस्तक्षेप (आयात-कर के रूप में) प्रतिकूल व्यापार-शेष (adverse Balance of Trade) के होने में बाधक होता है। ऐसा नहीं लगता कि यदि बाजार को स्वाधीनता दे दी जाती तो जिस तरह की हालत आयात-निर्यात की होती उसमें जबर्दस्त सरकारी हस्तक्षेप के बिना प्रतिकूल शेष लाया नहीं जा सकता। यह बात सिद्धान्त के लिए मानी जा सकती है कि डालर की कोई संतुलित दर होगी जिससे यह फल प्राप्त हो सकता है। इसलिए यदि डालर का मूल्य उठने दिया जाय और अन्य मुद्राओं का मूल्य गिरने दिया जाय तो आगे चल कर सम्पूर्ण असंतुलन दूर हो जायगा। परन्तु यह बात सिद्धान्त में भी सही नहीं है और व्यवहार में यह निश्चित समझना चाहिये कि इस परिणाम को लाने के लिए विनिमय में जो चला-

चल होगा वह इतना भारी होगा कि सरकारें—अमेरिकी सरकार भी और अन्य सरकारें भी—ऐसा होने नहीं देंगी।

परन्तु यह पूछा जा सकता है कि क्यों अमेरिका के व्यावसायिक वाह्य अतिरिक्त को काटने की आवश्यकता समझी जा रही है? इसको लम्बे ऋण पर लगा कर, अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग देकर, अमेरिका द्वारा खपा क्यों न दिया जाय? उत्तर यह है कि इसका कुछ अंश तो खपाया जा सकता है और खपा दिया जाना चाहिये भी। ऐसा एक फ़ंड होना चाहिये जिससे वे देश ऋण ले सकें जिन्हें ऋण के धन को व्यापार-वृद्धि के काम में व्यय करना हो। ब्रेटन उड्स समझौता के बाद जिस पुनर्निर्माण और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्पाथना हुई थी उसका उद्देश्य पुनर्निर्माण और विकास के कार्यों के लिए धन देना ही था और यद्यपि सिद्धान्त रूप से यह कहीं से भी धन लाकर उधार लगा सकता है, चाहे सरकारों से अथवा खानगी पार्टियों से धन ले सकता है, यह प्रायः निश्चित है कि अभी तो वह डालर की पूंजी ही अर्जित कर सकेगा और उसी को ऋण पर लगा सकेगा। पर यहां पर फिर वही बात आती है कि क्यों उन्नति और विकास के लिए किसी देश को बढ़े हुए डालरों का ऋण दे देना, डालर की समस्या का समाधान नहीं है? पहली बात तो यह है, और हम इसे पृष्ठ ४७५-७६ पर १९२८ में अमेरिका में विदेशी ऋणों की जो तेजी हुई थी उसकी चर्चा करते हुए कह आये हैं कि कर्जदार अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग की किसी पक्की निर्माण व्योजना में जो धन लगायेंगे उसकी भी सीमा है और इस सीमा का अतिक्रमण करने से कर्जदार वादा-शिकन (default) हो जाता और लेन-देन रुक जाता है। यह सीमा कहां पर है, यह कहना तो मुश्किल होगा परन्तु अन्दाज है कि यह प्रतिवर्ष १०००० लाख डालर से लेकर २०००० लाख डालर होना चाहिये। दूसरी बात यह है कि ऋण तो कोई स्थायी समाधान नहीं है क्योंकि हर एक ऋण में व्याज देना और ऋण की वापसी का सवाल लगा रहता है जो महाजन यदि समय पर अदा कराना चाहता है तो उसे माल या नगदी दोनो तरह से लेने के लिए तैयार रहना चाहिये।

इसलिए अमेरिका के वाह्य अतिरिकत को ऋण से नहीं खपा सकते जब तक कि यह साधारण आकार का न हो। और ऐसा होने पर भी वह दिन जब कि प्रतिकूल व्यापार-शेष तैयार होगा, केवल स्थगित ही होता जाता है और उस समय उस प्रतिकूल व्यवसाय-शेष का आकार भा बड़ा होगा।

इस अध्याय में हमें इसकी चर्चा नहीं करनी है कि इन समस्याओं का समाधान क्या हो, हमें केवल यह दिखाना है कि इनका समाधान कठिन है। पहले जो नाम जिन देशों का दिया गया उसमें शक है कि ग्रेट ब्रिटेन को महाजन-उधारखोर देश भी अब कह सकेंगे या नहीं क्योंकि अब तो यह अपरिपक्व ऋणी-उधारखोर देश होने जा रहा मालूम पड़ता है। यह बात दुख की होगी और साथ ही बेहूदी भी क्योंकि आखिर कोई उधारदाता भी तो आगे आये। और उधर अमेरिका के सम्बन्ध में भी सब कुछ निरापद नहीं है क्योंकि अमेरिका भी जिसे सब तरह से परिपक्व महाजन-उधारदाता देश होना चाहिये था, धीरे-धीरे अपरिपक्व महाजन-उधारदाता के स्थान पर खिसकता जा रहा है, यानी वह ऐसा देश हो रहा है जिस का व्यवसाय-शेष (Balance of Trade) उसके अनुकूल होता हो। यह तत्व कुछ ऐसा है जिसे दुनिया बर्दाश्त नहीं कर सकती और इसको काटने के उपाय में वह डालर का खर्च स्थायी रूप से कम करने लगती है। ये ही कुछ सारी समस्यायें हैं जिनका समाधान करने पर ही वह अवस्था आ सकती है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन कह सकते हैं और ऐसे में ही कोई अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-व्यवस्था चल सकती है। और हर हालत में समस्या के समाधान के लिए, सभी प्राविधिक तत्वों के अतिरिक्त किसी सम्बन्धित देश की घरेलू आर्थिक नीति में ऐसा एक संतुलन करना आवश्यक होगा जिसे अधिक संभावना है कि लोग पसंद नहीं कर सकते। ब्रिटेन में अधिक उत्पादन अथवा निम्नस्तरीय जीवन-मान के बीच एक को चुन लेने की अवस्था उत्पन्न हो ही गयी है। अमेरिका में कांग्रेस और साधारण जनता के सामने यह आवश्यक हो जाने वाला है कि अपने बाजारों में वे सस्ती विदेशा चीजें मंगा कर

देशी चीजों के साथ होड़ पैदा कर दें। अमेरिकी लोग इसी चीज को आज तक नापसंद करते आ रहे थे। इतना ही नहीं, चूंकि केवल इसी से काम नहीं चलने वाला है इसलिए उन्हें यह भी सहना पड़ेगा कि शेष संसार ऐसी बाधायें खड़ी करे जिनके कारण अमेरिकी सामानों की उनकी खरीदारी कम से कम हो जाय।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राष्ट्रीय नीति

NATIONAL POLICY IN AN INTERNATIONAL SYSTEM

इस तरह देखा जाता है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली की स्थापना से इस बात की आवश्यकता पैदा हो जाती है कि कोई देश अपनी घरेलू अर्थ-नीति (domestic economic policy) पर कई प्रकार के बंधन लगाये। परन्तु ये सीमायें इस विषय की प्राविधिकताओं (technicalities) के कारण नहीं आ जाती हैं—ये तो उनके भीतर छिपी हुई ही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली का उद्देश्य केवल एक ही है और वह यह है कि संसार के विभिन्न देशों में माल, सेवा और पूंजी का स्थानान्तरण सुविधा पूर्वक होने लगे। किसी घरेलू अर्थ-नीति की तरह ही इसमें भी हर एक राष्ट्र की इच्छा-अनिच्छा की चरितार्थता इस तरह होनी चाहिये कि उससे इसकी स्थिरता और पुख्तगी पर आंच न आने पाये। परन्तु यदि इसे असीमित महत्वाकांक्षाओं का भंडार बना दिया जाय तो कोई भी अर्थ-नीति न घर में चल सकती है न संसार में। यदि किसी राष्ट्र का हर आदमी यह चेष्टा करे कि वह दूसरे के धन पर दावा प्राप्त कर के अपने को धनी बनावे (अर्थात वह विनियोग किये बिना बचत करने लगे) अथवा यदि संसार का हर एक देश यह कोशिश करने लगे कि वह अधिक से अधिक माल बेचे, कम से कम खरीदे और किसी दूसरे देश को कुछ भी उधार-पैंचा न दे, तो कोई भी मुद्रा-व्यवस्था चाहे वह कितनी भी चतुरता से कायम की गयी हो और चाहे उसे कितनी ही दक्षतापूर्वक चलाया जा रहा हो, मूर्खता से बुद्धिमत्ता और गोलमाल के भीतर से संतुलन नहीं पैदा कर सकती। जो लोग यह दलील

पेश करते हैं कि विशुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-नीति पर लौट आने से, जैसे कि स्वर्ण-मान आदि फिर से जारी कर लेने से, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-व्यवस्था की गड़बड़ी को संभाला जा सकता है और फिर जो लोग यह दलील देते हैं कि राष्ट्र को अपनी अर्थ-नीति निश्चित करने में पूर्ण स्वाधीनता और सर्वोपरि सत्ता प्राप्त रहे जिसमें यह वाध्यता नहीं रहे कि अपनी मुद्रा की परिवर्तनीयता रखी जाय या नहीं अथवा जो लोग यह स्वाधीनता चाहते हों कि अपनी मुद्रा की विनिमय-दर चाहे जैसी इच्छा हो वैसी रखें, वे सभी समान रूप से गलती पर हैं।

स्वर्ण-मान अथवा कोई भी स्थिर मूल्य की युक्ति तब तक काम में नहीं आ सकती जब तक हर एक राष्ट्र अलग-अलग विभिन्न आर्थिक इकाइयों में विभाजित है और इनमें से हर एक अपना हित दूसरे के हित से आगे रखता है। ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है कि स्वर्ण-मान हटाये जाने के जिन कारणों का ऊपर वर्णन किया गया है उनमें से कोई भी हट चुका है। बल्कि उनमें से कोई-कोई तो पहले से भी प्रबल पड़ गया है। असल बात यह है कि कोई भी देश अपनी आर्थिक व्यवस्था को संसार का औसत आर्थिक दशा के प्रभावान्तर्गत रखकर चलाने को तैयार नहीं होता। हर राष्ट्र इस बात की चेष्टा करता रहता है कि वह अपनी आर्थिक सार्वभौमता को जहां तक अधिक हो सके सुरक्षित रखे और अपने अधिक से अधिक लाभ का उपाय जहां तक ज्यादा हो सके करे। जब तक संसार की यह मनोदशा रहेगी तब तक स्वर्ण-मान अथवा कोई भी ऐसी युक्ति, जिसमें विनिमय-मूल्य का स्थिरता रखा गयी हो, नहीं चल सकती। जब युद्ध समाप्त हो जाने पर संसार शांति-सौध में प्रवेश करे और जब सुवर्ण का यथेष्ट भंडार रख लिया जाय तब स्वर्ण-मान रख लिया जा सकता है और यह कुछ दिनों तक चल भी सकता है। परन्तु सर्वदा यह तभी कायम रह सकता है जब कि विश्व-अर्थ-व्यवस्था के नाम पर संसार के हर एक देश की राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था को परस्पर संतुलित रखने का चेष्टा छोड़ दी जाय। इन राष्ट्रीय अर्थ-प्रणालियों में जहां

इतना प्रभेद बढ़ जायगा कि उसे सुवर्ण के चलाचल से ढंका न जा सके, वहीं स्वर्ण-मान का ढांचा चूर-चूर हो जायगा।

इसलिए राष्ट्रों की आर्थिक नीतियों में बिना भारी परिवर्तन किये, हम स्वर्ण-मान को अक्रियात्मक कहकर छोड़ दे सकते हैं। परन्तु एक ऐसी मुद्रा जिसका विनिमय-मूल्य गिरता-उठता रहे और जिसकी अच्छी तरह "व्यवस्था" की जाय यदि मान ली जाय तो वह कुछ कम असन्तोषजनक हो सकती है। ऊपर से देखने में यह प्रस्ताव उतना नहीं जंचता है पर इसमें बात यही है कि इस मानी हुई मुद्रा में टूटने-फूटने को कुछ नहीं है—इसमें स्वर्ण-मान की तरह कोई ऐसा तत्व भी नहीं है जिसे तुरत माना या खारिज कर दिया जा सके। किन्तु यदि किसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली का काम प्रत्येक देश के पारस्परिक लेन-देन में सुविधा लाना है तो कहना पड़ेगा कि १९३१ के बाद संसार में जो मुद्रा-प्रणाली चली वह इस उद्देश्य-सिद्धि में उसी भांति पूर्णतया विफल रही जिस भांति स्वर्ण-मान। अलबत्ता प्रत्येक देश अपने मन की नीति अपनाने में इसमें स्वच्छन्द रहा परन्तु निर्यात-व्यापार में जो हजारों-लाखों लोग बेकार हो गये उसने इस बात की गवाही दी कि एक विशुद्ध राष्ट्रीय आन्तरिक नीति, वह चाहे जितनी भी सुविचारित और सुव्यवस्थित क्यों न हो, इस उद्देश्य के साधन के लिए अयोग्य ही रहेगी। ह्रास-वृद्धिमय विनिमय-दरों के कारण राष्ट्रों के आदान-प्रदान के लेखा में संतुलन न आ सका और इस कारण विदेशी वाणिज्य पर गला-घोंटू रोक-थाम लगाने की जो प्रवृत्ति बनी वह भी न हट सकी।

यह सोचना शिक्षाप्रद हो सकता है कि १९२९ में यदि स्वर्ण-मान न होता तो घटनावली का रूप क्या होता जब कि अन्तर्राष्ट्रीय उधार-पैंचा का प्रचलन एकदम बन्द हो गया था। ऋण में महाजन अपनी मुद्रा देता है और ऋणी की मुद्रा लेता है। अब इस बात की बन्दी से ऋणग्रस्त देशों की मुद्रा में सहसा मूल्य-पतन और महाजन देशों की मुद्रा में जाम लग सकता था। महाजन देश उस समय अपना माल बेचने में अक्षमता का अनुभव करने लगते क्योंकि उनकी मुद्रा

मंहगा हो जाती और उनके देश में ऋणी देशों का सस्ता माल आकर भरने लगता। इसकी प्रतिक्रिया यह होती कि ये देश आयात पर भारी टेरिफ बैठाते और निरोधात्मक कोटा-प्रणाली चलाते जिससे उनकी मुद्रा का विनिमय-मूल्य और ऊंचा और ऋणी देशों की मुद्रा का मूल्य और नीचा होकर दोनो के बीच का वर्तमान विभेद और गहरा होता। इसमें कुछ ऋणी देशों को कुछ सुविधा भी हो सकती थी यदि मंदी के प्रारम्भ में ही उनकी मुद्रा का मूल्य-पतन होने दिया जाता परन्तु अधिक देशों का तो लाभ इसी में था कि विनिमय-दर सुनिश्चित रहे। यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि ऊंचे टेरिफ, ऋण अथवा ब्याज की अदायगी में चूक (escape) और उत्तरोत्तर रोक-थाम से बचने अथवा शीघ्रता पूर्वक संतुलन स्थापित करने के लिए ह्रास-वृद्धिमय विनिमय-प्रणाली अच्छी चीज होती।

दूसरी ओर अगर भीतरी दशा समुचित संतुलन की हो तो दोनो एकान्त उपाय (extreme system)—परिपूर्ण कड़ाई अथवा विनिमय-दर की असीम लोच—दोनो चल सकते हैं। दोनो में अपने-अपने कुछ दोष तथा कुछ गुण हैं और दोनो के लाभ का तुलनात्मक अध्ययन कर के तब उन्हें चुनना चाहिये। स्वर्ण-मान राष्ट्रीय मुद्रा-नीति की स्वाधीनता को सीमायत्त करता है परन्तु यह राष्ट्र की कुव्यवस्थित अपरिवर्तनशील मुद्रा की अत्यधिक अस्थिरता में रक्षा भी करता है। इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के चलाचल में सहायता देता है और इस तरह सम्पूर्ण संसार के प्राकृतिक एवं मानवीय साधनों का समन्वय करके धन की वृद्धि में यह बड़ी भारी सहायता करता है। दूसरी तरह मानी हुई मुद्रा-प्रणाली, यद्यपि राष्ट्रों के बीच के उधार-खाता और व्यवसाय सम्बन्ध में कठिनाई पैदा करती है और इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन जिस सीमा तक पहुँचना चाहता है, वहां तक उसे जाने नहीं देती, हर अलग-अलग राष्ट्रों को संसार में हुए परिवर्तन के सदृश अपनी मुद्रा में भी परिवर्तन लाकर उसे संतुलित करने के भार से नहीं पर कुछ छोटे-मोटे

हेर-फेर करने के भार से मुक्त कर देती है जिनके द्वारा संसार के व्यवसाय-धारा के ज्वार और भाटे के साथ उसका उचित सम्बन्ध कायम रहे। इस तरह से यह हर देश को इस काबिल बनाती है कि वह ऐसी नीति अख्तियार करे जिसमें उसके घरेलू उद्योग-धन्धों की दशा पक्की हो सके। अगर दोनो बातों को एक ही वाक्य में कहने की आवश्यकता हो तो यह कह सकते हैं कि चाहे कुछ अधिक अस्थिरता के भीतर से अथवा किसी देश को कुछ अधिक कष्टकर परिवर्तन में डाल कर ही सही, स्वर्ण-मान संसार को सम्पूर्ण रूप से कुछ अधिक तीव्रगामी उन्नति की ओर ले चलता है, जब कि व्यवस्थित मुद्रा-प्रणाली कुछ धीरे-धीरे होने वाले सर्वांगीन उन्नति की राह में रोड़े अटका कर भी मुद्रा सम्बन्धी अनियम को दूर कर देती है।

अब इन दोनो प्रकार की उग्रतम (extreme) युक्तियों में से एक के चुनाव करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इस बात पर अब सम्पूर्ण संसार एकमत है कि सबसे अच्छा रास्ता दोनो युक्तियों को मिला कर चलने का है और एक ऐसी युक्ति पकड़ने का है जिसमें दिनानुदिन अथवा वर्षानुवर्ष विनिमय-स्थिरता के साथ-साथ ऐसी भी व्यवस्था हो कि किसी आधारभूत असंतुलन के उत्पन्न हो जाने पर उसमें समानता के तत्व को भी आसानी से परिवर्तित किया जा सके।

यह प्रणाली अब यह आशा बंधा रही है कि एक ऐसे आधार-मंच (foundation) की प्रतिष्ठा हो सकेगी जिसपर नयी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली को खड़ा किया जा सके। पर हमलोगों ने देखा है कि नये आर्थिक महल के निर्माण में कठिनाई कम नहीं है। ग्रेटब्रिटेन और अमेरिका के आदान-प्रदानों का लेखा—और अन्य देशों के लेखा भी—संतुलन की स्थिति में जाने के पहले ठीक करना होगा और ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाय तभी कोई प्राविधिक युक्ति इसमें सफल हो सकती है। जैसा कि हम पहले दिखा चुके हैं ऐसा करने के लिए सरकारों को अपनी आर्थिक नीति में भारी-भारी अदल-बदल करना और पहले से चली आती परिपाटी को छोड़ना पड़ेगा। सके अतिरिक्त ये सब परिवर्तन कर भी दिये गये

तो भी पूरे नहीं हुए। इसमें राष्ट्रों को अपनी स्वच्छन्दता का भी कुछ अंश गंवाना पड़ेगा। उदाहरण के लिए कहें कि वे अपनी मुद्रा का विनिमय-मूल्य चाहे जब अपनी इच्छा से ही बदल न पायेंगे। एक दूसरी मुद्रा के साथ जो हिसाब मुद्राओं का बैठा हुआ है, उसको बदलना चाहेंगे तो दोनो पक्षों की अनुमति लेनी होगी और इसलिए कुछ ऐसी शर्तें होंगी जिन्हें दोनो पार्टी मानते हों और दोनो का उद्देश्य भी समान होगा। उदाहरण के लिए इस बात पर राजी होना होगा कि किसी देश को अपनी मुद्रा की समतुल्यता और विनिमय-दर इस हिसाब से बदलना चाहिये कि उसके आन्तरिक मूल्य-स्तर के चालू चलाचल से मेल खा सके, इस हिसाब से नहीं कि उसके कारण मूल्य-स्तर में कोई नया चलाचल आ जाय। दूसरे शब्दों में, समतुल्यता का परिवर्तन इस ढंग से करना चाहिये कि मुद्रा की विनिमय-दर को यह आन्तरिक मूल्य-स्तर द्वारा संकेतित संतुलित दर की ओर ले जाय, इस ढंग से नहीं कि वह प्रचलित दर में गड़बड़ी मचा कर कोई दूसरा मूल्य-स्तर कायम करने की चेष्टा करे। पुनः परिवर्तन इस ढंग से करना चाहिये कि उससे देश के वाह्य अतिरिक्त और जितनी बाहरी विनियोग अथवा ऋण वह करना चाहता है उसके बीच समानता पैदा हो जाय। इससे ऐसा नहीं होना चाहिये कि केवल निर्यात की सुविधा प्राप्त हो जिसका अनिवार्य उपांग (corollary) वाह्य अतिरिक्त होता है। थोड़े में, इस तरह का कोई ढंग केवल तभी चल सकता है जब कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग हो जिसकी प्रेरणा पारस्परिक विश्वास से हुई हो और इस सहयोग में व्यक्तिगत समझ के अनुसार काम करने की स्वच्छन्दता भी देशों को मिली हुई हो। यह आशा की जाती है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के संचालक इन गुणों को अपने में धारण करें और उनकी सरकारें उन्हें ऐसा करने की इजाजत दे देंगी।

इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन की आवश्यकता विशुद्ध मुद्रा-नीति के क्षेत्र से बाहर का चीज है। इसमें केन्द्रीय बैंकों की मुद्रायिक युक्तियों को छोड़ कर सरकारों की आर्थिक नीति का विषय आता है। अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन की आधार-

भूत शर्त को बहुत आसानी से बताया जा सकता है, वह यह है कि बाह्य अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग के परिमाण के बराबर होना चाहिये। पर इस सिद्धान्त की जो उपपत्तियां (corollaries) हैं असल में वे ही कठिनाइयां उत्पन्न करने वाली होती हैं। उदाहरणार्थ, सरकारों को समझना चाहिये कि उनकी आर्थिक नीति की सफलता की माप उनके विदेशी व्यापार के बाह्य अतिरिक्त से नहीं होनी चाहिये। इसी को अनुकूल शेष (favourable balance) कहा जाता है। इसके उलटे, १९३० के आस-पास जो अर्थ-संकट संसार में उपस्थित हुआ था उसके कारण यही मानना चाहिये कि १९२० के बाद जो विशाल बाह्य अतिरिक्त बचने लगा वही इसकी जड़ था।

अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन का पीछा करने पर सरकारों के सामने कुछ स्वेच्छाचार-पूर्ण और असुविधाजनक कर्तव्य नहीं आ जाते—इसमें केवल यही भार आता है कि वे अपने निर्णयों के तर्क पूर्ण आधार लिया करें। उन्हें यह समझना चाहिये कि बहुत बड़ा बाह्य अतिरिक्त खड़ा करने की चेष्टा करना और ऐसा हो जाने पर विदेशी राष्ट्रों को ऋण देने से इनकार करना बेवकूफी है। राष्ट्र को यह अधिकार तो है कि वह किसी बाहरी राष्ट्र को ऋण देने से इनकार कर दे परन्तु यदि वह ऐसा करता है तो उसे अपने इनकार का तर्कपूर्ण कारण रखना चाहिये और ऐसा रखते हुए भी उसे चाहिये कि वह अपने बाह्य अतिरिक्त को घटा कर शून्य पर ले आये। (इस तरह की नीति हास्यास्पद नहीं है। यह संभव है कि हम लोग एक ऐसी विश्व-व्यवस्था कायम करें जिसमें न उधार देना हो न लेना हो। ऐसी दुनिया में तरक्की की रफ्तार उस दुनिया की बनिस्बत बहुत धीमी होगी जिसमें खुले खजाने पूंजी इधर से उधर आ जा सकती है। यह ठीक उसी तरह की बात है जैसे कि उस देश के भीतर भी उन्नति की गति धीमी रहेगी जहां उधार का देन-लेन नहीं चलता हो और पूंजी-संचय का काम सम्पूर्ण रूप से उसके हाथ में छोड़ दिया गया हो जो तभी विनियोग करेंगे जब उन्हें बचत होगी। किन्तु इस दुनिया में संतुलित अर्थ-व्यवस्था जो होगी तो समें उस तरह ह्रास की स्फीतिमय बरबादी देखने में नहीं

आयेगी जैसा कि १९२९-३१ में देखी गयी थी) अथवा यदि इसे ही अच्छा समझा जाय तो सरकारें विशाल वाह्य अतिरिक्त का लक्ष्य भी रख सकती हैं परन्तु उस देश में उन्हें इस बात की युक्ति कर लेनी चाहिये कि यह सारा धन विदेशों में ऋण देने में ही नहीं लग जाता है पर ऐसे विनियोग में लगता है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग कह सकते हैं। उन्हें जो नहीं करना चाहिये वह यह है कि भारी वाह्य अतिरिक्त भी खड़ा करना चाहें और उसमें से किसी देश को उधार-पैंचा भी न दें।

न अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन में पूर्ण विमुक्त व्यापार (free trade) ही आता है। यह जो कुछ चाहता है वह यह है कि कुछ जोड़-तोड़ किया जायगा जिसमें तट-कर (tariff) इतना ज्यादा न लाद दिया जाय कि उपस्थित दशा की तब-दीली का हर एक प्रयत्न व्यर्थ हो जाय। अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन की नीति की मांग है, राष्ट्र अकेले उस चीज को करने की चेष्टा नहीं करेंगे जो सामूहिक रूप से भी असम्भव है।

ये साधारण शर्तें उधार देने वाले और लेने वाले दोनो पर लागू होती है। यह तब भी लागू है जब कि स्वर्ण-मान हो या जब कि 'व्यवस्थित' मुद्रा की व्यवस्था की गयी हो अथवा इन दोनो के समझौते से कोई व्यवस्था निकाली गयी हो जैसी कि ब्रेटन उड्स समझौते में दर्ज की गयी थी। इन दोनो तरीकों में जो विभेद है वह सिद्धान्त के प्रयोग में है, स्वयं उस सिद्धान्त में नहीं है। स्वर्ण-मान की दशा में व्यवस्थापकों का काम यह देखना है कि आंतरिक मूल्य-ढांचा में वह फेर-फार जो उसे विश्व-मूल्य के मेल में लाने के लिए आवश्यक है जितना जल्दी हो उसे करा लिया जाय जब कि विनिमय-दर घटने-बढ़ने को स्वतन्त्र हैं, इसका काम यह देखना है कि विनिमय ठीक उस हिसाब से मिलता-जुलता चलता है जो मुद्रा की वास्तविक संतुलित दर है। और यदि उमझौते का ढंग चल रहा हो तो इसका काम भी इसी तरह मिला-जुला है। किसी भी तरीके में इस बात की गारन्टी होनी चाहिये कि मुद्रा के आन्तरिक और वाह्य मूल्य दोनो मेल खाते हों।

इन कर्तव्यों से उस विशुद्ध आंतरिक स्थिरीकरण-नीति की एक सीमा बंध जाती है जिसका वर्णन अध्याय ६ में किया गया है। बाहरी दुनिया चूंकि आर्थिक विचार से अस्थिर है निश्चय ही राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों के बीच एक द्वन्द चलता है। यह बात दुर्भाग्य की है पर इसकी हम चाहे जितनी भी निन्दा कर लें यह छूटती नहीं है। जब तक किसी देश का सरोकार ऐसे अस्थिर संसार के साथ है, यह अपने घरेलू मामलों में भी आर्थिक स्थिरता नहीं पा सकता, जब तक कि यह एक काम न करे—इसकी आर्थिक नीति, यह देश अगर दुनिया से कट कर अलग रहता तब क्या होती और दुनिया के साथ इसके स्थिर आर्थिक सम्बन्ध क्या होते—इन दोनो के समझौते से तैयार होनी चाहिये। इस छौ-पांच से बचने का उपाय ह्रास-वृद्धिमय विनिमय-दर नहीं है यद्यपि इसकी उलटी बात लोग कहा करते हैं। पौंड स्टर्लिंग के विनिमय-मूल्य के परिवर्तन का पता ग्रेट-ब्रिटेन में होने वाले मूल्य-स्तर के परिवर्तन से लगता है जब कि दूसरी-दूसरी मुद्राओं के विनिमय-मूल्य की घटी-बढ़ी से ब्रिटेन के व्यापार पर गहरा प्रभाव होगा और तब इस तरह उसकी आंतरिक आर्थिक स्थिति पर प्रभाव पड़ेगा। घटने-बढ़ने वाले विनिमय का तरीका रखने से अन्तर्राष्ट्रीय तत्वों की अपेक्षा राष्ट्रीय तत्वों पर अधिक प्रकाश पड़ता है और कोई स्थिर विनिमय-प्रथा रखने से राष्ट्रीय से अधिक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का ख्याल करना पड़ता है। परन्तु दोनो के बीच जो विभेद है वह डिगरी का है, प्रकार का नहीं। स्वर्ण-मान-प्रथा के कारण घरेलू नीति पर अपरिवर्तनीयता-प्रथा की बनिस्बत अधिक संकीर्ण दायरा रखा जायगा। पर सीमा-बंधन तो दोनो में रहेगा। आदर्श की दृष्टि से, अब इसमें यह चुनाव करना पड़ गया कि सम्पूर्ण रूप से संसार के साथ लम्बी अवधि वाला निकट आर्थिक सम्बन्ध रखा जाय जिसमें समृद्धि की वृद्धि का लाभ मिलने की जल्दी से जल्दी संभावना है अथवा अल्पावधि सम्बन्ध रखा जाय जिसमें आदमी दुनिया के आर्थिक उत्थान-पतन से उतना बंधा हुआ नहीं रहता है। आज के कल-कारखाना वाले देशों के लिए जिन्हें विदेशी व्यापार पर अधिक

निर्भरता रहती है और जिनके भीतर कठिन सामाजिक ढांचा कायम रहता है, दोनो ढंग आपत्ति-मूलक हैं—स्थिर स्वत: चालित स्वर्ण-मान-प्रथा अथवा न बदली जाने वाली मुद्रा जो विदेशी व्यापार के स्वार्थों की कुछ परवाह नहीं करती दोनों ही उनके लिए उपयुक्त नहीं होते।

भावी उन्नतिक्रम तीन मार्गों से चलता है। पहला युक्ति तो यह है कि ब्रेटन उड्स विचार-विमर्श के बाद अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के विधान में दोनो समझौते से जिस अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कार्य-विधि का उन्नयन हुआ है उसको भली भांति विकसित किया जाय ; दूसरी बात यह है कि ऐसे उपाय ढूंढ़े जायें जिनसे हर एक देश अपने-अपने माल और सेवा को दूसरे के साथ अदल-बदल करने के लिए किसी स्थिर सुविधा पूर्ण बाधा-बंधन रहित युक्ति को मान ले और आपस में सहयोग से चले। एक देश जो अपनी आंतरिक मुद्रा-व्यवस्था में स्थिरता लाने की चेष्टा करता है साथ ही विदेशी व्यवसाय की ह्रास-वृद्धिमय अवस्था को देख कर भयभात भा है, अगर अकेला ही है तो उसके लिए एक ही रास्ता है, वह अपने विदेशी व्यापार को कम कर के इतने पर ले आवे जो अनिवार्य, और इस कारण, स्थिर हो। अगर सभी देश मिल-जुलकर कार्य करें, पारस्परिक दीर्घावधि व्यवस्था कर के या अन्य किसी उपाय से, ऐसे ढंग निकाल सकते हैं कि अपने विदेशी व्यवसाय को नीचे से नीचे स्तर पर लाकर रखने की अपेक्षा ऊंचे से ऊंचे स्तर पर लाकर रख दे सकते हैं ; और तीसरा उपाय यह है कि हर एक देश में उन नीतियों का पालन किया जाय जो आंतरिक और अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन—जिस अर्थ में यह शब्द अभी तक इस पुस्तक में प्रयुक्त होता आया है—कायम करने में अधिक से अधिक सहायक हो सके। क्योंकि यदि बाहरी दुनिया में स्थिरता आ जाय तो सारा छौ-पांच मिट जाय। यही अंतिम विश्लेषण-प्रक्रिया में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रायिक रीति स्थापित करने के लिए सब से प्रबल दलील है। बिना संसार में स्थिरता आये कोई ही ऐसा अकेला देश निकल सकता है जो अपने यहां स्थिरता की आंतरिक नीति [illegible]रत सके।

इस तरह से मुद्रा के विशाल क्षेत्र का हमारा निरीक्षण एक महत्वाकांक्षा के साथ समाप्त होता है और वह महत्वाकांक्षा जैसे घरेलू दायरे में है वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय दायरे में भी। हमलोगों ने अपने विचार में यह पाया है कि व्यक्तियों और राष्ट्रों के बीच एक ऐसी नीति का सुझाव हम मोटा-मोटी सिद्धान्त के रूप से रख सकते हैं जिसको पालन कर के मुद्रा-व्यवस्था को पागल करने और संसार में फैली हुई अन्य अस्तव्यस्तताओं के साथ अपने खुराफात को भी जोड़ने से बचा ले सकते हैं। परन्तु दोनो ही क्षेत्रों में हमें दो तत्व बताने होंगे। पहला तो यह कि धन कोई ऐसी चीज नहीं है जो आर्थिक पागलपन के बीच खुद होश पैदा कर दे। अनैतिक दुनिया को अपने कृत्यों के फलाफल से बचाने के लिए धन कोई रक्षा-कवच नहीं है। यह तो एक बात हुई। दूसरी बात यह कि दुनिया चतुर और तर्क-संगत भी हो तो भी, अभी तक हमलोग धन-व्यवस्था का कोई पर्याप्त सुचल (smooth) और तीव्र गतिशील (rapid) ढंग नहीं निकाल पाये हैं। इस पुस्तक के अन्तिम कुछ पृष्ठों में तो हमने और भी यह अनुत्साहित करने वाला तत्व लिख दिया है कि एक क्षेत्र की जो उत्तम नीति है वही दूसरे क्षेत्र के लिए अनुत्तम भी हो सकती है।

इसलिए बिना कोई 'रामवाण' (panacea) इलाज बताये ही हम अपनी 'रामायण' खतम कर रहे हैं। इस प्रस्ताव में भविष्य के लिए कोई कार्यक्रम नहीं दर्ज किया गया है। यह उस मार्ग की निर्देशिका पोथी होने का भी दावा नहीं करती जो आगे पड़ा हुआ है। परन्तु इसमें उस मार्ग का वर्णन है जिसको पार कर हमलोग आज तक पहुंच गये हैं। यदि आज हम इस विषय को कई विषयों में सन्देह डाल कर भी छोड़ रहे हैं तो इसका मतलब यही है कि हम स्वीकार करते हैं कि धन-सम्बन्धी आदर्श व्यवस्था का ज्ञान अब भी हमलोगों को नहीं हुआ और यह व्यवस्था अभी अपूर्ण ही है।

मनुष्य के सामाजिक आविष्कारों में धन का आविष्कार अन्यतम है। किन्तु यह उसी का आविष्कार है, उसी का निर्माण है, अतः मनुष्य ही उसका स्वामी है।

हमारे विचार से जो सबसे मुख्य तत्व निकलता है वह शायद यही है। क्योंकि यदि हम इस भ्रम से मुक्त हो सकें कि धन में कोई जादू है, यदि हम अपने मन से यह भावना निकाल दें कि सुख और उन्नति केवल धन पर निर्भर करती है, यदि हम धन को इसके समुचित स्थान में लाकर इसे इस भांति मानें कि मनुष्य ने जो 'आर्थिक छकड़ा' (economic mechanism) बनाया है और जिसको उसका परिश्रम खींचता है, धन उसके पहियों को सुगमता से चलाने के लिए केवल तेल जुटाने वाला है, तो धन की असली हकीकत को समझने की दिशा में हम लम्बा सफर तय कर चुके होते हैं। और ऐसा हो जाय तो हम अपने धन की व्यवस्था बहुत अच्छी तरह से कर सकें।

परिशिष्ट

अग्रिम विनिमय

FORWARD EXCHANGE

[निम्नांकित अनुच्छेद पुस्तक के प्रथम संस्करण में अध्याय ७ का ही एक अंश था। इसे यहां परिशिष्ट में इस कारण ले आया गया है कि लगता है, युद्धोत्तर काल की दुनिया में अब इसका ऐतिहासिक से अधिक कोई मूल्य नहीं है।]

अध्याय ७ में यह बताया गया है कि भिन्न-भिन्न मुद्राओं में विनिमय की दर मांग और पूर्ति के हिसाब से घटती-बढ़ती रहती है। इसमें यह भी बताया गया था कि यह स्वाभाविक और साधारण स्थिति है।

अध्याय ८ और ९ में वर्णित तरीकों से विनिमय की ह्रास-वृद्धि को बिना सीमित किये भी, विदेशी विनिमय-बाजार में उन दिनों, जब कि इसपर किसी तरह का शासन नहीं होता था, कई तरह के मनोरंजक और नायाब तरीके इस ह्रास-वृद्धि के अनपेक्षित रूप से आ जाने से होने वाले नुकसान से बचने के लिए चले हुए थे। यह काम 'अग्रिम विनिमय' के जरिये होता था।

विदेशी विनिमय-बाजार के व्यापारियों का पहला काम विदेशी मुद्रा की खरीद और बिक्री हुआ करता था—इसमें विदेशी केन्द्रों के बैंकों में जमा रकम आती थी, जिससे लेन-देन का भुगतान तुरत हो जाया करे। ऐसा विनिमय 'वहीं पर' (on the spot) होता है और या तो उसी दिन इसका भुगतान हो जाता है जिस दिन बातचीत होती है अथवा देर हुई तो अधिक से अधिक दूसरे दिन हो जाता है। इसलिए इसे 'तत्क्षण विनिमय' (Spot Exchange) का सौदा कहते हैं। मुख्य विचार इस पुस्तक में ऐसे ही कारबार का हुआ है। परन्तु एक अनियंत्रित विनिमय-बाजार में व्यापारी लोग ऐसा सौदा भी बेचने-खरीदने को तैयार रहते हैं जिसे 'अग्रिम विनिमय' कहते हैं। यानी वे कोई भी विदेशी मुद्रा खरीदने या बेचने का सौदा एक महीना, दो महीना या तीन

महीना अग्रिम ही 'आज के भाव' में कर सकते हैं चाहे निश्चित अवधि के दिन उसका भाव जो कुछ हो। यह भाव ठीक 'आज का भाव' नहीं होता—उसमें और 'अग्रिम भाव' (forward rate) में थोड़ा-सा भेद होता है। इस तरह यदि लंदन और न्यूयार्क के बीच 'तैयार भाव' (spot rate) ५ डालर=१ पौंड के हो तो १ महीना आगे के सौदे का भाव ५·०२ डालर=१ पौंड हो सकता है या शायद ४·९८ डालर=१ पौंड हो सकता है; दो महीने का अग्रिम भाव या तो ५·०४ डालर=१ पौंड अथवा ४·९६ डालर=१ पौंड; और तीन महीने का अग्रिम भाव ५·०६ या ४·९४ डालर, जैसी तेजी-मंदी की अवस्था हो, हो सकता है। साधारणतः इन दरों को "इतने सेन्ट की छूट (discount) या लगान (premium)" कहते हैं। इस तरह ५·०६ डालर जो तीन महीने का अग्रिम भाव है जब कि तैयार भाव ५ डालर है, उसको प्रायः ऐसा कहेंगे कि तीन महीने का अग्रिम भाव ६ सेंट की छूट का है। (क)

अब यह सुविधा व्यापारी के बड़े काम की चीज है। अध्याय ७ में दिये गये साधारण उदाहरण पर पलट चलें तो वह यों होगा कि न्यूयार्क का व्यपारी ब्राउन पौंड के लिए तीन महीने का अग्रिम सौदा सुभीता से कर सकता है यदि उसे अन्दाज हो जाय कि तीन महीने बाद कितने डालर में पौंड पा जाने की स्थिति रहेगी। यदि १ जनवरा को १० हजार गज कपड़े का सौदा १ शिलिंग प्रति गज की दर से उस समय हो जब कि विनिमय का तैयार भाव ५ डालर=१ पौंड हो, तो ब्राउन अपने बैंक से तीन महीने का अग्रिम ५०० पौंड, मान लें कि ५·०५ डालर के भाव से अगर अग्रिम डालर में छूट हा तब, और ४·९५ के भाव से अगर अग्रिम डालर पर लगान हो तब, खरीद सकता है (यानी उसका बैंक उसे

(क) पाठकों को इस बात से भ्रम नहीं होना चाहिये कि ऊपर का भाव छूट बताता है, क्योंकि जो आंकड़े दिये गये हैं वे डालरों के नहीं बल्कि पौंड के हैं और ५·०६ की दर का अभिप्राय यह है कि पौंड के लिए अधिक डालर देने पड़ेंगे। अग्रिम पौंड लगान पर है और अग्रिम डालर छूट पर।

आगामी १ अप्रिल को इन्हीं किसी दर में ५०० पौंड देने का वायदा कर सकता है)। दोनो ही हालतों में ब्राउन को पता है कि १ अप्रिल को उसे डालरों में कितना देना पड़ेगा अर्थात २५२५ डालर एक हालत में और २४७५ दूसरी में। इसी तरह से कोई विलायती व्यापारी जिसे तीन महीने में डालरों में भुगतान देना है, इतने दिन का अग्रिम डालर खरीद कर के यह जोड़ ले सकता है कि असल में उसे पौंड में कितना लग जायगा। दोनो में से किसी व्यापारी को फिर इससे कोई मतलब नहीं रह जाता कि तैयार भाव कितना रहता है, सौदा जब कि पक्का हो गया।

परन्तु यदि अग्रिम विनिमय की युक्ति विनिमय-हानि के भार से उन्हें मुक्त कर देती है (और इसी तरह लाभ से भी छुटकारा मिल जाता है) जो अग्रिम सौदा कर लेते हैं, ये हानि या लाभ नष्ट नहीं हो जाते, वे केवल इधर से उधर हो जाते हैं। तब यह कैसे होता है कि बैंक वाले इस काम के लिए सुविधा देते हैं और इस तरह के अग्रिम सौदे के लिए वे छूट या लगान का रकम कैसे निश्चित करते हैं।

इसका उपाय यह है कि बैंक वाले एक व्यापारी के लेन-देन का दूसरे व्यापारी के लेन-देन से मोजरा-मौसूफ कर देते हैं। मानलें कि स्मिथ ने बैंक से यह अनुरोध किया कि वह उसके लिए १ लाख डालर का तीन महीने का अग्रिम सौदा करे; उधर जोन्स ने १ लाख डालर तीन महीना अग्रिम बेचने का आर्डर बैंक को दे रखा है। अब बैंक इन दोनो के आर्डर को एक दूसरे से मोजरा-मौसूफ कर के सौदा कर देगा और मुद्रा-बाजार की विचित्र शब्दावली में इस काम को 'सगाई कराना' कहेंगे। अब तैयार भाव चाहे जो कुछ भी हो, तीन महीने की अवधि में एक हिसाब से जो नुकसान होगा, वह दूसरे के लाभ से पूरा हो जायगा और इस तरह हिसाब बराबर रहेगा (क)। परन्तु यह तो संयोग

(क) अलबत्ता बैंक दोनो व्यापारियों को कुछ ऊंची-नीची दर बतावेगा—यों समझें कि वह स्मिथ को ५·०५$\frac{१}{८}$ का और जोन्स को ५·०५$\frac{३}{८}$ की दर कहेगा जिससे कि किसी भी हालत में उसे खर्च निकालने के लिए पर्याप्त नफा मिल जाय।

की ही बात होगी कि जनता की अग्रिम खरीद और बिक्री सब बराबर ही होंगे। यह निश्चित है कि कभी तो एक बढ़ा रहेगा कभी दूसरा। और यह बैंक का काम नहीं है कि विनिमय को ह्रास-वृद्धि का जोखिम वह उठाता फिरे। अगर आज के डालर के तैयार भाव में इसने जितना अग्रिम डालर लिया है उससे अधिक बेचा है तो डालर के विनिमय मूल्य की वृद्धि से बैंक को नुकसान रहेगा। इसी तरह अगर इसने अग्रिम डालर का सौदा किया है तो डालर-मूल्य के पतन से इसे नुकसान होगा। इस हालत में बैंक इस स्थिति को ढंकने के लिए उपाय करेगा। अगर बैंक ने १० लाख डालर का तीन महीने का अग्रिम सौदा किया है तो वह फौरन तैयार भाव में उतना डालर बाजार में खरीदेगा और सौदे की मियाद तक उस रकम को वह न्यूयार्क में रख देगा। परन्तु इस रकम को न्यूयार्क के बैंक में डिपाजिट रखने से लंदन के बैंक की अपेक्षा ब्याज की आमदनी में घटी पड़ सकती है। यदि ऐसी अवस्था है तो बैंक अग्रिम डालर बेचने के लिए कुछ लगान लेगा यानी अग्रिम डालर 'लगान पर' रहेगा। परन्तु यदि न्यूयार्क की बैंक-दर लंदन की अपेक्षा ऊंची है तो जो अधिक ब्याज इस तरह से मिलेगा उसके कारण बैंक अग्रिम डालर की बिक्री कुछ और सस्ते भाव पर करेगा यानी अग्रिम डालर इसमें 'छूट पर' रहेगा।

इस तरह तैयार आर अग्रिम भाव में जो फर्क होता है वह दोनो देशों के सम्बन्धित ब्याज-दर के स्तर पर निर्भर करता है। साधारण नियम यह है कि उस देश की मुद्रा जहां ब्याज दर ऊंची है, अग्रिम सौदे के बाजार में तैयार भाव के मुकाबिले छूट पर रहेगी।

यदि अग्रिम विनिमय का सौदा केवल असली व्यापार और लेन-देन के जोखिम को संभालने के लिए किया जाता और यदि इस प्रकार के सभी लेन-देनों का जोखिम विनिमय-बाजार के अग्रिम सौदा वाले भाग में उठाया जाता तो अग्रिम सौदे की छूट और लगान शायद कभी उस रकम से नहीं बढ़ती जो दो स्थानों की विभिन्न

प्रकार की ब्याज-दरों के फर्क के हिसाब से वाजिब होती। परन्तु ऐसा न था। १९२० और १९३० की दशाब्दि में असल में यह काम सट्टेबाजों और जुआ खेलने वालों के हाथ का शिकार रहा। किसी मुद्रा की अग्रिम बिक्री करना सट्टेबाजी का सबसे आसान तरीका है जब कि इसका दाम गिरा हुआ हो और इसके खेलाड़ी को कुछ भी धन तब तक लगाना नहीं पड़ता है जब तक कि उसका सौदा तैयार नहीं (mature) होता। इस तरह वह केवल एक बाजी लगा रहा होता है। विपरीत दशा में उस मुद्रा की ये सट्टेबाज झट अग्रिम खरीद कर लेते हैं जिसका मूल्य उठ रहा होता है। इससे मांग अथवा पूर्ति में एक तरफा झोंक आ जाता है जो साधारण अवस्था में दोनो तरफ बराबर होना चाहिये। इसके अतिरिक्त जिन लोगों को वास्तविक सौदा भी रखना (hedge) होता है, ऐसा करने से वंचित रह जाते हैं यदि वे ऐसा समझते हैं कि तैयार भाव का चलाचल उनके लिए लाभजनक होने वाला है। यह भी करीब-करीब वैसी ही फाटकेबाजी है जैसी कि वह आदमी जो केवल विनिमय-दर पर फाटका खेलता है, क्योंकि कोई व्यापारी जब संभालने लायक जोखिम को उठाने में चूक कर देता है और जो उसके व्यापार का आवश्यक अंग नहीं होता, सट्टा कर रहा होता है चाहे जाखिम अनुकूल दिखे या नहीं।

इससे यह निकलता है कि ऐसे समय जब कि विनिमय में कठिनाई रहती है और सट्टेबाजी धड़ल्ले से चलती होती है अग्रिम सौदे की दर तैयार भाव से बहुत भिन्न रहती है। १९३३ के शरदान्त में जब यह सारी दुनिया में समझा जा रहा था कि डालर का मूल्य कम होगा, तीन महीने का डालर का अग्रिम मूल्य १२ सेंट की छूट पर था जब कि डालर का तैयार भाव ५·०५ डालर = १ पौंड था। इस तरह की दर का यह अभिप्राय हुआ कि सट्टेबाजों के नाक घुसेड़ने के कारण कोई भी जो डालर का पौंड के साथ कुछ दिनों आगे चल कर असली विनिमय का सौदा करने को था (जो उदाहरणार्थ इस तरह पैदा हुआ था कि ब्रिटेन के माल को अमेरिका भेजना था अथवा अमेरिका में लगे विनियोग के ब्याज के रूप में